तीर्थंकर महावीर

स्मृतिग्रन्थ

सम्पादक

रवीन्द्र मालव

संयोजक, महावीर निर्वाण महोत्सव समिति
सदस्य-महासभा, विद्यापरिषद सामाजिक विज्ञान संकाय

कला पक्ष

विश्वमित्र वासवानी

प्रकाशक

अजयकुमार भट्टाचार्य कुल सचिव,

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

मुद्रक

साधना प्रेस, ग्वालियर-१

क्रम

द्वितीय खण्ड जिनवाणी (9—22)

तृतीय खण्ड भगवान महावीर, जीवन-दर्शन-देन (23—76)

चतुर्थ खण्ड— जैन धर्म-दर्शन (77—152)

पचम खण्ड जैन संस्कृति एवम् कला, (153—214)

षष्टम् खण्ड जैन साहित्य (215—270)

सप्तम खण्ड वैज्ञानिक सन्दर्भों में जैन धर्म (271—302)

अष्टम खण्ड— ग्वालियर और जैन धर्म (विविध सन्दर्भ) (303—360)

नवम खण्ड— विविधा (361—410)

आमुख

भारत की गौरवशालिनी सांस्कृतिक संरचना की निर्मिति मे सहस्राब्दियो की अविच्छिन्न परम्परा के तत्व सन्निहित हैं। संभवत: संसार के अन्य किसी भी देश का इतिहास हमारी तरह सास्कृतिक सातत्य की विशिष्टता से अनुप्राणित नही है। यही कारण है कि आर्थिक-भौतिक निर्धनताओ के सत्रास में भी भारत भूमि की अस्मिता अपराजित और गर्वोन्नत रहती चली आई है, और तमस्-प्रताडित मानवता ने सदैव ही उसकी ओर आस्था तथा विश्वास की प्रकाश किरणो के लिए आशा भरी दृष्टि से देखा है।

भारत का वैविध्य पूरित सांस्कृतिक व्यक्तित्व यो तो अनेक सश्लिष्ट तत्वो की पारस्परिक क्रिया-विक्रिया का परिणाम है, तथापि इसकी समग्र रचना को सुदूर अतीत में दो महापुरुषों ने सर्वाधिक प्रभावित किया, वह थे महावीर और गौतम बुद्ध, जिनके उदात्त चिन्तन के सस्पर्श भारतीय मनीषा पर इतने सुस्पष्ट और स्थायी थे कि शताब्दियों बाद, एकदम भिन्न और वैज्ञानिक-आधुनिक संसार में एकबार फिर व्यापक सर्वानुमति और स्वीकृति प्राप्त करने वाले महापुरुष महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में उसी चिन्तन का परावर्तन परिलक्षित हुआ। सांस्कृतिक सातत्य का यह अनुपम उदाहरण था।

तीर्थंकर महावीर के महानिर्वाण की पच्चीसवी शती-पूर्ति के अवसर भारत मे ही नही ससार भर मे समारोहों का आयोजन सपन्न हुआ, उनके धार्मिक-नैतिक मूल्यो के पुनरावलोकन का उपक्रम किया गया और उनके द्वारा प्रदर्शित जीवन-पद्धति की समकालीन सदर्भों मे प्रासगिकता एकबार फिर से केन्द्रीभूत चिन्तन का विषय बनी। वस्तुत यह हम सबके लिए श्लाघा का ही विषय है कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर का भी इस सबमे एक विनम्र योगदान रहा। मेरे पूर्ववर्ती कुलपति श्री गोविन्द नारायण टन्डन के कार्य-काल मे यह आयोजन सपन्न हुए और उनके तथा उनके सहयोगियो के परिश्रम, लगन तथा उत्साह के प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत स्मृतिग्रथ इतने सुन्दर स्वरूप मे आपके हाथो मे सोपने का दायित्व अनायास ही सद्भाग्यवश मुझे मिला है, जो मेरे लिए व्यक्तिगत प्रसन्नता और सुख का कारक है। स्मृति ग्रथ की विषय सूची पर प्रथम दृष्टिपात ही यह बता देता है कि इसकी सामग्री कितनी गहन, शोधपूर्ण, बहुआयामी और स्थायी महत्व की है, निस्सदेह इसका आयोजन, सकलन और प्रकाशन श्रम और धीरज का परीक्षाकाल रहा होगा। अत इस सफल परिणति के अवसर पर मैं इस समायोजन से सम्बद्ध समस्त सहयोगियो के प्रति साधुवाद संबोधन के अवसर को नही छोडना चाहता।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत स्मृतिग्रंथ जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा तीर्थंकर महावीर की स्मृति मे समर्पित एक ऐसी श्रद्धाजलि है, जो ज्ञानराशि के सचित कोष मे अपना योगदान सार्थक करेगी और जिसे प्रबुद्ध जनो की सराहना मिलेगी। तीर्थंकर महावीर के चरणो में इस श्रद्धा सुमन को आप तक भेजते हुए मुझे इतना ही निवेदन करना है।

तीर्थंकर महावीर निर्वाण दिवस
वीर निर्वाण सम्वत् २५०४
दिनांक ११ नवम्बर, १९७७

हरस्वरूप
कुलपति
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

प्रस्तुति

तीर्थंकर महावीर की स्मृति में प्रकाशित इस स्मृति-ग्रन्थ को पाठको को प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्याधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। जीवाजी विश्वविद्यालय के लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि वह अपने इस प्रकाशन को, एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर अपने कर्तव्य निर्वहन के क्षेत्र में एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि को प्राप्त कर सका।

तीर्थंकर महावीर के पच्चीस सौ वे महापरिनिर्वाण वर्ष के अवसर पर जब विश्वव्यापी स्तर पर विविध कार्यक्रमो का आयोजन हो रहा था, तब विश्वविद्यालय परिवार के कुछ प्रमुख सदस्यों के मन मे भी इस अवसर पर कुछ रचनात्मक कार्य करने की कल्पना उजागर होने पर इसके क्रियान्वयन की समस्या उत्पन्न हुई। विकास की शैशवावस्था से गुजर रहे, प्रगति पथ पर गतिशील इस विश्वविद्यालय के समक्ष कुछ आर्थिक कठिनाइयाँ थी। विश्वविद्यालय ने इस हेतु मध्यप्रदेश शासन द्वारा गठित महावीर निर्वाण समिति, मध्यप्रदेश के सम्मुख एक पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला के आयोजन का प्रस्ताव भेजकर आर्थिक सहायता की मांग की। यद्यपि विश्वविद्यालय की ओर से प्रस्ताव भेजने में कुछ विलम्ब हो गया था, तथापि विश्वविद्यालय महासभा के सदस्य श्री सरदारसिंहजी चौरड़िया तथा

श्री रवीन्द्र मालव ने व्यक्तिगत रुचि लेकर प्रदेश समिति की बैठक के अवसर पर मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री प्रकाशचन्द्रजी सेठी तथा प्रदेश समिति के सदस्यो से, इस व्याख्यानमाला को सहयोग के लिए विशेष आग्रह किया, जिसे समिति ने उदारतापूर्वक स्वीकार कर विश्वविद्यालय की कठिनाई हल कर दी।

प्रदेश समिति से प्राप्त आर्थिक सहायता से जीवाजी विश्वविद्यालय ने निर्वाण महोत्सव वर्ष के समापन समारोह के अवसर पर दिनांक 6 नवम्बर से 10 नवम्बर 1975 तक एक पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला आयोजित की, जिसमें विविध विषयों पर राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानो एव शिक्षा मनीषियो के व्याख्यान हुए।

व्याख्यानमाला की समाप्ति के पश्चात सयोजक श्री रवीन्द्र मालव, ने व्याख्यानमाला मे हुए व्याख्यानो, तथा आयोजन के सिलसिले मे प्राप्त ऐसे शोध पत्रो, जिनके रचियताओ के व्याख्यान विभिन्न सीमाओ तथा कठिनाइयो के कारण व्याख्यानमाला में आयोजित नही किये जा सके थे, को संकलित कर, प्रकाशित करने की योजना निर्मित कर जब कुलपतिजी तथा अन्य अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत की तो यह अत्यन्त दुष्कर कार्य प्रतीत होता था। क्योंकि व्याख्यानमाला के पश्चात इस कोष मे अत्यल्प राशि ही शेष थी, जिससे मुख्य व्याख्यानो को भी प्रकाशित करना सभव नही था। परन्तु श्री मालव ने इस योजना को क्रियान्वित करने हेतु संकल्पवद्ध रहकर कार्य करने तथा साधन जुटाने का विश्वास दिलाया तो कुलपतिजी ने इस महत्वपूर्ण कार्य में विशेष रुचि लेकर इसे अपना आशीर्वाद प्रदान कर दिया। योजना कार्य परिषद में प्रस्तुत होने पर, उसने भी इसकी पुष्टि कर दी, तथा व्याख्यानमाला के सयोजक श्री रवीन्द्र मालव को ही इस ग्रन्थ के सम्पादन का भार सौंपा गया।

मुझे प्रसन्नता है कि जिस विश्वास के साथ उन्हें यह कार्य सौंपा गया था, उससे भी अधिक निष्ठा के साथ उन्होंने अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण वर्ष इस ग्रन्थ को समर्पित कर, जहाँ इसके लिए आचार्यों, राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानो, शिक्षा मनीषियो तथा शोधार्थियों से उच्चस्तरीय शोधपूर्ण लेख एवं निबन्ध एकत्रित कर और उन्हें योजनावद्ध रूप से सकलित एव सम्पादित कर इस ग्रन्थ को सुन्दर स्वरूप प्रदान किया वहाँ निरन्तर प्रयास कर आर्थिक साधन जुटाने और इसके प्रकाशन को सुलभ बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य मे उनका कठिन परिश्रम, दृढ सकल्प और निश्चित उद्देश्य के प्रति कार्य करने की असीम निष्ठा निहित है।

प्रबुद्ध पाठकों के हाथो में "तीर्थंकर महावीर स्मृति-ग्रन्थ" के रूप मे विभिन्न शीर्षकों से नौ विविध खण्डो मे विभाजित तथा चालीस शोधपत्रों एवं निबधों तथा अन्य उपयोगी ज्ञानवर्द्धक सामग्री वाला यह संकलन तीर्थंकर महावीर, उनके दर्शन और उनकी परम्परा तथा जैन साहित्य एवं सस्कृति के अध्ययन, मनन तथा इन विषयो पर उपलब्ध विशाल ज्ञान भण्डार के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालने तथा विविध पक्षों पर शोध-कार्य करने हेतु शोधार्थियों को आकर्षित करने के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में सफल हो सकेगा। ऐसा मुझे विश्वास है।

अजयकुमार भट्टाचार्य
कुल सचिव
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

गांधी जयन्ती
2 अक्टूबर 1977

प्राक्कथन

मानव सभ्यता के उदयकाल से ही भारत की पुण्य-भूमि महान आदर्शों की प्रतिपालक रही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रतीक, प्रतिमाएँ और अवशेष भारत की महान् आध्यात्मिक परम्पराओ के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। वे इस बात के भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारतीय चिन्तन ने सदैव, भौतिक तत्वों पर आत्मिक तत्वों की श्रेष्ठता, पर बल दिया है तथा वह आध्यात्मिक पक्ष की ओर अधिक केन्द्रित रहा है।

यही कारण है कि आज से तीन सहस्त्राब्दि पूर्व जब मानव चिन्तन प्राकृतिक अध्ययन से हटकर मानवीय चिन्तन की ओर अग्रसर हुआ और विश्व क्षितिज पर यूनान मे पीथागोरस, सुकरात और अफलातून; जूडिया मे पैगम्बरो की परम्परा; चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशस व ईरान में जरतुश्त का उदय हुआ; तब भारत मे तीर्थंकर महावीर, महात्मा गौतम बुद्ध तथा उपनिषदों के रचयिता पावन ऋषियों का उदय हुआ, जिन्होंने व

केवल मानव-जगत् मे चिंतन के नये आयाम स्थापित किये, वरन् ऐसे मानवतावादी दर्शन को जन्म दिया जिससे आनेवाली सभ्यता भी हजारों-हजारों वर्षों तक प्रेरणा तथा दिग्दर्शन प्राप्त कर सके।

मानव जाति के इन महापुरुषो मे से एक "महावीर", वैशाली के राजकुमार वर्द्धमान के रूप मे एक सम्पन्न राज परिवार में जन्मे। वे भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श कर, उसके उपभोग में भी एक गम्भीर रिक्तता का अनुभव कर, उनसे मुक्त हो क्रान्तिपुरुष के रूप में उभरे और धार्मिक जड़ता, अन्ध–श्रद्धा, जाति एवं वर्गभेद तथा सामाजिक वैषम्य की सीमाओ को तोड़कर आत्म-विजेता बने। उन्होने अपने युग में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, बौद्धिक, एव आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो में नव-क्रान्ति का सूत्रपात किया। वे सांसारिक युद्धों से विमुक्त रहकर, आत्मिक सग्राम मे विजयी हो "जिन" अर्थात् विजेता कहलाए।

यही नहीं उन्होंने अपने व्यापक एवं सर्वाङ्गीण दर्शन द्वारा भावी चिन्तन का मार्ग प्रशस्त कर सकने योग्य मौलिक एवं सुदृढ़ आधारों की स्थापना की। यदि हम आज बीसवी सदी में मानव चिन्तन को प्रभावित करनेवाली प्रमुखतम विचारधाराओ, समाजवाद और गांधीवाद के मूल में झांकें तो पाएँगे कि जिन आधारों पर इन दो प्रमुख विचारधाराओं का विकास हुआ, उनकी परिकल्पना तीर्थंकर महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही की थी।

बीसवीं सदी के क्रान्तिकारी विचारक तथा वर्तमान समाजवादी विचारधारा के प्रेरक तथा उन्नायक कार्ल मार्क्स के दर्शन के मूलाधार वर्गसंघर्ष, तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की परिकल्पना तीर्थंकर महावीर के जीवन-दर्शन में स्पष्टत: परिलक्षित होती है। उन्होने सग्रह वृत्ति का विरोधकर आवश्यकतानुसार सग्रह पर बल दिया और अपरिग्रह दर्शन की स्थापना की। उन्होने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास आवश्यक सम्पत्ति या परिग्रह रखने का परिमाण करे और शेष सम्पत्ति दूसरो के हित मे दे डाले। आवश्यकता और परिमाण से अधिक सम्पत्ति रखने को उन्होने पाप निरूपित किया।

जिस प्रकार बीज की निष्पत्ति 'पेड' है, और पेड़ की निष्पत्ति फल उसी प्रकार दर्शन की निष्पत्ति धर्म है और धर्म की निष्पत्ति नैतिकता पूर्ण व्यवहार; इसी को बाहर से देखने पर नैतिक-व्यवहार से धर्म और धर्म से दर्शन की निष्पत्ति प्रतीत होती है। इस परिप्रेक्ष्य मे तीर्थंकर महावीर का दर्शन अन्तर से बाहर की ओर अग्रसर होता है। उन्होने सम्यक धर्म, दर्शन एव चरित्र पर बल दिया। जिसका दृष्टिकोण सम्यक है, वह व्रती होगा। ऐसा व्रती अहिंसक रहेगा और अपने आश्रितो एव कर्मकारों के प्रति सद्-व्यवहार करेगा तथा उनकी आजीविका अर्जन में विघ्न नही डालेगा। वह सत्य व्रत का पालन करेगा और विश्वासघात नही करेगा, छलपूर्ण व्यवहार, विलासिता, पूर्ण सामग्री से विमुक्त रहकर जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति योग्य ही सग्रह कर नैतिकता-पूर्ण जीवन व्यतीत करेगा। उन्होंने जाति, वर्ण एवं वर्गभेद का तीव्र विरोधकर उसे ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था कहनेवाली धारणाओं का खण्डन किया तथा इसे मनुष्य-जन्य काल्पनिक एवं भेदपूर्ण व्यवस्था कहा। यही नही, वरन् उन्होंने तत्कालीन समाज में पूर्व प्रचलित सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं के विरुद्ध जन-जागरण किया।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर का दर्शन अहिंसक परिवेश में समाजवादी व्यवस्था के उन सभी मूलाधारों को सँजोये हुए है, जिन पर आज का समाजवादी दर्शन टिका है। मार्क्स ने जो बाद मे कहा, उसे उन्होंने बहुत पहले देखा। उन्होंने अपरिग्रहवाद की स्थापना कर श्रावक के परिग्रह की मर्यादा निश्चित की तथा अपरिग्रह के रूप में किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व को भी त्यागने तथा स्वानुशासन का पालन कर मर्यादा के

अनुरूप समान वितरण, आचार-विचार मे समन्वय और स्वेच्छिक अनुशासन पर बल दिया तथा श्रम भाव की प्रतिष्ठा की। स्वयं उनके जीवन मे इन्द्र द्वारा अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करने पर उन्होंने उसे अस्वीकार कर कहा कि मैं अपने श्रम, बल एव पुरुषार्थ से ही सिद्धि प्राप्त करूंगा, किसी अन्य का सहयोग प्राप्त करके नही। उन्होंने कहा कि श्रम कभी निष्फल नही जाता। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीर श्रमण कहलाए और उनकी परम्परा को श्रमण सस्कृति का नाम निरूपित किया गया।

भारतीय दर्शन पर तो तीर्थंकर महावीर द्वारा स्थापित मानदण्डो का तीव्र प्रभाव पड़ा, और उसमे अहिंसक प्रवृत्तियाँ तीव्रता से प्रतिष्ठित हुई। बीसवी सदी में महात्मा गाँधी के रूप में जिस भारतीय विचारक ने अहिंसक स्वतन्त्रता संग्राम की सफलता से, अणु आयुधो की कगार पर बैठी मानव सभ्यता को नया मानवता वादी जीवन सन्देश दे सम्पूर्ण विश्व को चौंका दिया, उनके मूल प्रेरणा स्रोतो मे गाँधीजी के स्वय के अनुसार तीर्थंकर महावीर का मानवतावादी दर्शन प्रमुख था।

सर्वाङ्गीण प्रतिभा के धनी वर्द्धमान महावीर ने कठोर साधना के द्वारा जहाँ त्याग और तपस्या के अन्त में उच्चतम मानदण्डो की स्थापना की वहाँ उनके मानवतावादी दर्शन ने मानव चिन्तन को एक नई दिशा दी। अपने विचारो को जन-जन तक पहुँचाने के लिये उन्होंने तत्कालीन समाज में, सुदूर क्षेत्रो की पदयात्रा कर लोकभाषा में अपने मानव धर्म का प्रचार किया और कठोर साधना के पश्चात् ज्ञान का जो विपुल भण्डार अर्जित किया था उसे जन-सामान्य मे बिखेर दिया। हजारों-लाखो नर-नारी उनके मतानुसार दीक्षित हो गए।

आज से पच्चीस सौ वर्षों पूर्व निर्वाण को प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थंकर महावीर ने जो परम्परा छोडी उसने उनके मानवदर्शन का और व्यापक प्रचार कर, विशेषकर अहिंसा दर्शन के उच्चतम शिखरों की स्थापना के माध्यम से मानव जाति की महान् सेवा की है। उनकी परम्परा ने जहाँ, तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का व्यापक प्रचार किया, वहाँ शैक्षणिक एवं साहित्यिक दृष्टि से उनके सिद्धान्तो की व्याख्या कर तथा उन्हें लोकभाषाओं में लिपिबद्ध कर जैन वाङ्गमय को इतना अधिक सम्पन्न बना दिया कि ज्ञान की कोई भी विधा, इनसे अछूती न रही। प्राय: सभी प्रचलित एव लुप्त भारतीय भाषाओ मे आज जो भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उसका एक बड़ा भाग जैन वाङ्गमय से सम्बन्धित है।

मानव सभ्यता के उदयकाल से ही मानवतावादी चिन्तन में संलग्न गौरवमयी भारतीय सभ्यता ने जहाँ अनेकों उच्च आदर्शों एव मानदण्डो की स्थापना एवं उत्कृष्ट कला तथा साहित्य की रचना की वहाँ दुर्भाग्य-वश इस देश मे इतिहास लिखने और प्राचीन स्मारकों, कलात्मक प्रतीकों एव ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियो की सुरक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस देश की प्राचीन सभ्यता की प्रतीक बहुत-सी पुरातत्विक सम्पदा और प्राचीन साहित्य, सुरक्षा के अभाव मे नष्ट हो गयी, बहुत कुछ विदेशी शासको द्वारा नष्ट कर दी गयी, तथा कुछ उनके साथ विदेश चली गई।

प्रसन्नता की बात है कि स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त इस दिशा में कुछ प्रयास प्रारम्भ हुए हैं। पुरातत्विक सम्पदा की सुरक्षा और पुरातत्व तथा साहित्यिक क्षेत्र में शोध-कार्य की दिशा में भी प्रयास प्रारम्भ हुए हैं, तथापि, इस देश की महान सभ्यता, विपुल पुरातत्विक सम्पदा तथा विशाल वाङ्गमय को दृष्टिगत रखते हुए यह प्रयास अक्षुण्य ही है, इसमे तीव्रता लाने, प्राचीन ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण तथा उन पर शोध-कार्य को सम्पादित करने की नितान्त आवश्यकता है।

जीवाजी विश्वविद्यालय ने अपने सीमित साधनो के अनुरूप इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किये हैं।

इनकी एक कड़ी के रूप मे मध्यप्रदेश शासन द्वारा गठित महावीर निर्वाण महोत्सव समिति के आर्थिक सहयोग से इस विश्वविद्यालय द्वारा 6 से 10 नवम्बर 1975 तक भगवान महावीर के 2500 वें महापरिनिर्वाण के अवसर पर एक व्याख्यानमाला आयोजित कर एक लघु प्रयास किया था, जिसमे अनेको राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों के व्याख्यान आयोजित किये गये।

व्याख्यानमाला की सफलता से प्रभावित होकर जब समिति ने इस व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानो तथा पठित शोधपत्रों के प्रकाशन की योजना निर्मित की तब यह कार्य काफी कठिन प्रतीत होता था, तथापि विश्वविद्यालय ने इस प्रयास को आगे बढ़ाते हुए इन व्याख्यानो को प्रकाशित करने का निश्चय किया। साथ ही यह भी निश्चय किया कि इसमें इन व्याख्यानों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण विषयो पर, जिन पर किन्ही कारणो से व्याख्यान आयोजित नही हो सके थे, राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों तथा प्रतिष्ठित लेखकों आदि से शोधपत्र एव निबन्ध प्राप्त कर, उनको भी सम्मिलित कर एक ऐसे स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जावे जिसमें विविध क्षेत्रो में तीर्थंकर महावीर एव जैन संस्कृति की देन एव उपलब्धियो से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर शोधपत्रो का संकलन हो।

मुझे प्रसन्नता है कि विश्वविद्यालय की यह कल्पना आज साकार हो रही है। ग्रन्थ के सम्पादन, सामग्री सकलन एव प्रस्तुतीकरण में बहुत अध्ययन और चिन्तन से काम लिया गया है, जिसका प्रमाण इसके प्रत्येक पृष्ठ पर मिलता है। सम्पादक ने ग्रन्थ को व्यापक तथा सर्वाङ्गीण स्वरूप प्रदान करने मे कुशल बुद्धि का परिचय दिया है। इस हेतु इस ग्रन्थ के सम्पादक और जीवाजी विश्वविद्यालय की महासभा के सदस्य श्री रवीन्द्र मालव बधाई के पात्र हैं, जिनकी तीव्र लगन एवं कर्त्तव्यनिष्ठा तथा अथक परिश्रम एव सहयोग से विश्वविद्यालय अपने इन प्रयासों को मूर्त रूप प्रदान कर सका। विश्वविद्यालय के इस प्रयास को गतिशील बनाने के मूल में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। मुझे इस बात की भी प्रसन्नता है कि विश्वविद्यालय के विकास एवं प्रकाशन विभाग ने भी इस कार्य में पूर्ण रुचि लेकर ग्रन्थ के प्रकाशन में सक्रिय सहयोग दिया।

जिस कल्पना को लेकर इस स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का विचार निर्मित हुआ था, यह ग्रन्थ उससे भी कहीं उत्तम स्वरूप में प्रकाशित हो रहा है यह अत्याधिक हर्ष का विषय है। मेरा विश्वास है कि इसमें प्रकाशित सामग्री से जैन दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के अनेकों अज्ञात तथ्य उजागर होंगे, साथ-ही-साथ यह ग्रन्थ शोध छात्रों एवं प्रबुद्ध पाठकों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा।

अनन्त चतुर्दशी
वीर निर्वाण स० 2503
26 सितम्बर 1977

गोविन्द नारायण टण्डन
कुलपति

पूर्वा

भारत की पावन भूमि पर आज से दो हजार पाँच सौ तिहत्तर वर्ष पूर्व जन्मे तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, भारतीय जनमानस के ही नही, सम्पूर्ण मानव समाज के लिये, गौरव, प्रतिष्ठा और सम्मान के परमाधिकारी महामानव थे। उनके परमोदात्त चरित्र और पवित्र उपदेशो ने भारतीय परम्परा को गौरवान्वित किया। उनकी तपो:निष्ठा (तप-तितीक्षा), आत्म विजय, व्यापक मैत्री भावना और निर्वाण प्राप्ति ने प्राणीमात्र को आलोकित किया।

हिंसा, बलि, पाखड, बैर घृणा और विषमता के युग मे जन्मे वर्द्धमान ने वैचारिक, सामाजिक एव आर्थिक क्रान्ति के माध्यम से तत्कालीन मानव समाज को अहिंसा और सह-अस्तित्व पर आधारित नवीन जीवन-दर्शन प्रदान कर तत्कालीन समाज-व्यवस्था को झकझोर दिया। उनके उपदेशों ने युगप्रवाह को बदल-कर नवीन युगप्रवर्तन किया जिसके कारण तत्कालीन समाज का एक बहुत बड़ा भाग उनके मानवता,

भ्रातृत्व दया, प्रेम और आत्म-कल्याण के सन्देश से प्रभावित हुआ, और एक नवीन समाज की रचना सम्भव हुई।

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ढाई हजार वर्ष पश्चात्, आज भी जब हम उनके जीवन और दर्शन पर दृष्टिपात करते हैं, तो आज भी हमे उसमें आशा और विश्वास की वैसी ही किरण परिलक्षित होती है, जो उनके समकालीन मानव समाज को उनसे प्राप्त हुई होगी। अणु आयुधो के कगार पर बैठी तथा पारस्परिक बैर और वैमनस्य से विचलित विश्व मानवता आज भी तीर्थंकर महावीर के अहिंसा दर्शन से अहिंसा और विश्वशान्ति पर आधारित मानवतावादी समाज की रचना की सुमति प्राप्त कर सकती है। उनका दर्शन आज भी मानवमात्र की हित-साधना में उतना ही सक्षम है।

तीर्थंकर महावीर ने कहा था कि सच्ची वीरता अपने पर विजय प्राप्त करने मे है, किसी अन्य पर विजय प्राप्त करने में नहीं। विजयी वही होता है, जो आत्म विजय करता है। उन्होंने अपने जीवन में समाज दर्शन को एक नवीन दिशा ही नही दी, वरन् जो कुछ कहा उसकी सार्थकता भी सिद्ध की। एक क्षत्रिय राज परिवार में जन्मे वर्द्धमान ने अपने त्याग, तप और साधना के माध्यम से स्वय पर विजय प्राप्त की। राग-द्वेष को नष्ट कर वे आत्मविजेता बने और "जिन" अर्थात् स्वय को जीतनेवाले कहलाए। उन्होंने अपने आत्मज्ञान से जो कुछ अर्जित किया, वह सब मे बराबर बांट दिया। उनके पचव्रत—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; 'समस्त मानव समाज के लिये उपयोगी हैं। उन्होंने जो कुछ भी विचारा और अनुभव किया, उसकी सत्यता का स्वय पर परीक्षण किया। परीक्षण में जो खरा उतरा उसे अर्जित किया। समस्या उत्पन्न हुई तो समस्या निदान हेतु प्रयोग [illegible] के रूप मे तप किया। उनका सम्पूर्ण जीवन सर्वतोमुखी था। कैवल्य प्राप्ति होते ही वे अपने आप को एकान्त से हटाकर समाज मे ले आए। वे बैठे नही, निरन्तर चलते ही गए। उन्होने जो कुछ भी अर्जित किया सब मे बाँट दिया। यही नही, उन्होंने ग्रहण करनेवालो से भी दो टूक बात कही, कि—"जो कुछ भी मैं कहता हूँ, उसे ही प्रमाण रूप या आज्ञा से मान्य तब तक न करो, जब तक तुम्हें स्वय आभास या ज्ञान न हो जाय कि यह सत्य है।" उनका यह विशाल दृष्टिकोण उनके चिन्तन की व्यापकता और वैज्ञानिकता को सिद्ध करता है।

ईश्वरवाद और अवतारवाद की पूर्वमान्य धारणाओ की लीक से हटकर उन्होंने आज्ञा प्रधान के स्थान पर परीक्षा या विवेक प्रधान दर्शन प्रदान किया; और जातिवाद, वर्णभेद, विषमता, व धर्म, के नाम पर हिंसा का खण्डन किया तथा दलितों एव पीड़ितों के प्रति उदारता का सन्देश दिया। आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर पर पहुँचकर वर्द्धमान महावीर ने आत्मविजय की सहायता से, तैरकर सांसारिक सागर के पार करने, का सन्देश देकर "नवीन धर्म तीर्थ" अर्थात् "तैराकर पार उतारनेवाले धर्म" की स्थापना की। इसी कारण वर्द्धमान महावीर; तीर्थंकर, अर्थात तीर्थ की स्थापना करने वाले कहलाए।

नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना कर तीर्थंकर महावीर ने धर्मतीर्थ की स्थापना के साथ-साथ वैचारिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति को जन्म दिया और इनके मूलभूत सामाजिक मूल्य के रूप में उन्होने अहिंसा, अपरिग्रह, तथा अनेकान्त और स्याद्वाद को ग्रहण किया। इनमें अहिंसा दर्शन तीर्थंकर महावीर के जीवन-दर्शन की आत्मा; अपरिग्रह हाथ-पैर; अनेकान्त मस्तिष्क एव नेत्र; तथा स्याद्वाद मुख हैं।

अहिंसा के बिना उनका दर्शन एक क्षण भी खड़ा नही रह सकता। अहिंसा मानव जाति को उनकी अमूल्य देन है; जिस पर उन्होंने सब से अधिक बल

दया । महावीर की अहिंसा जीवात्माओ की सत्ता और स्वाधीनता को स्वीकारती है। वस्तुतः यह बोध अप्रमत्त अथवा निरन्तर जागरुक अवस्था के ऊपर निर्भर करता है। जिस अश में हृदय एव मस्तिष्क की जागरुकता उत्पन्न होती है, उसी अनुपात मे जीवात्माओं की सत्ता और स्वाधीनता का बोध भी उत्पन्न होता जाता है। इस पावन उन्नति का चरमोत्कर्ष ही अहिंसा है। तीर्थंकर महावीर ने प्रत्येक क्षेत्र मे इसकी महत्ता को मानते हुए "अहिंसा परमोधर्मः" का दर्शन दिया। उनकी अहिंसा सार्वभौमिक एव सार्वलौकिक है, जिसकी सार्थकता इस युग में अहिंसा दर्शन के कट्टर अनुयायी महात्मा गाँधी द्वारा सिद्ध की जा चुकी है। महावीर की अहिंसा, हिंसा से विरत रहने का ही नाम नही है, वरन् उसमे, मन में भी हिंसक विचार न लाने का सकल्प निहित है। महावीर ने वैचारिक हिंसा को भी जीव हिंसा के समान ही दूषित माना। उनकी अहिंसा में प्रेम, और सह-अस्तित्व भी समाहित है। उनका "जिओ और जीने दो" का सन्देश इसकी पुष्टि करता है।

आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र मे महावीर की उक्ति "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" की चर्चा की है, जिससे तात्पर्य है कि "समस्त जीवो का परस्पर उपकार हो।" इसमे भ्रातृत्व का अभूतपूर्व सन्देश है, सम्भवतः इसी कारण पच्चीससौ वे निर्वाण महोत्सव हेतु निर्धारित प्रतीक के साथ ध्येय वाक्य के रूप में इसी उक्ति का चयन किया गया है। यह सन्देश सह अस्तित्व का सन्देश है। महावीर की अहिंसा और सह-अस्तित्व एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सह-अस्तित्व सामाजिक जीवन की धुरी है तो अहिंसा मानव जीवन की। इस प्रकार महावीर की अहिंसा अपने मे अत्यन्त व्यापक अर्थ समेटे हुए है। इसी कारण कहा है—

तेसि अच्छण जो एव, निच्च होय व्वय सिया।
मणसा कायवक्केण, एव हवइ सजय॥

अर्थात्—"मन वचन और काया, इनमें से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवो की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही सयमी जीवन है, और ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है।" इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने मन, वचन और काय तीनों के द्वारा हिंसा, या उसकी कल्पना, सभी को हिंसा कहा। वे स्वय सदैव अहिंसा के इस कट्टरतम स्वरूप के पालक रहे।

स्वयं तीर्थंकर महावीर सारे जीवन मानवतावादी समाज-रचना तथा विश्वशान्ति की खोज मे लगे रहे। उन्होने इसके मूल मे मुख्य कारक के रूप मे असमानता को पाया। असमानता से पीडित मानव समाज से वर्द्धमान की आत्मा कुंठित हो उठी। जीवन के आर्थिक पक्ष पर भी उनके पावन सन्देश मुखरित हुए। उन्होंने ममत्व को कम कर अनावश्यक सग्रह न करने का सन्देश दिया और कहा कि ससार मे झूठ, चोरी, अन्याय हिंसा, छल, कपट आदि जो पाप होते हैं, उनके मूल मे व्यक्ति की परिग्रह बढाने की भावना है। अतः मूलभूत रूप से इन सारे पापों से मुक्ति का एक ही मार्ग है "अपरिग्रह", अर्थात् – परिग्रह का त्याग। इस दृष्टि से अपरिग्रह-परिग्रह का नकारात्मक पक्ष है। सासारिक वस्तुओं एवं सम्बन्धो के प्रति आसक्ति से व्यक्ति (जीवात्मा) जितने अशो में मुक्त होता जाता है, उतने अश में ही अपरिग्रह भाव विकसित हो जाता है। यह विकास प्रारम्भिकी स्तर अणुव्रत से, उच्चतम स्तर महाव्रत तक होता है। इसलिये उन्होने साधुओ को अपरिग्रह तथा श्रावको को परिग्रह परिमाण व्रत के पालन की शिक्षा दी। जैन धर्म का अपरिग्रह दर्शन जिसकी तीर्थंकर महावीर ने विस्तृत व्याख्या की है, मानव जाति को उनकी अपूर्व और अनूठी देन है। आज विश्व में जिस साम्यवादी और समाजवादी विचार-धारा की धूम मची है, उसमें क्रान्ति और कानून के माध्यम से समाजवाद लाने की बात है। महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही अनादि, जैन दर्शन की

सर्वप्रथम, विस्तृत एवं सूक्ष्मतम व्याख्या कर मानवमात्र से, अपरिग्रह व्रत को ग्रहण कर, समाज की इकाई के माध्यम से समाजवादी समाज रचना की दिशा दी। इस दृष्टि से वे उग्र समाजवादी विचारधारा के जनक थे। उनके द्वारा जीवन के आर्थिक पक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया, वह वर्तमान समाजवादी विचारधारा से भी अधिक उग्र और प्रगतिशील था। अन्तर केवल इतना ही है कि उनका यह दर्शन अहिंसात्मक आधार पर खड़ा है, जबकि समाजवाद की वर्तमान विचारधाराओ मे अहिंसा को या तो कोई स्थान दिया ही नही गया, या दिया भी गया है, तो अत्यन्त गौण। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर का आर्थिक दर्शन अहिंसक साम्यवाद का उन्नायक है।

तीर्थंकर महावीर सर्व धर्म समभाव मे विश्वास करते थे। इसकी पुष्टि उनके अनेकान्त दर्शन से होती है, जिसका तात्पर्य, बोध में विभिन्न दृष्टियो के समन्वय से है। दर्शन के इस वैचारिक पक्ष के साथ उन्होंने वाणी के द्वारा उन दृष्टिकोणों की समन्वित अभिव्यक्ति के रूप में, स्याद्वाद दर्शन प्रतिपादित किया।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याणार्थ एक सम्पूर्ण एवं सार्थक जीवन-दर्शन प्रदान किया जो सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक है। तीर्थंकर महावीर के दर्शन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि—"व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक न्याय दोनों की मानव कल्याण के लिये जरूरत है। हम किसी एक की तरफदारी या दूसरे की अवहेलना कर सकते हैं, लेकिन जो जैनमत के अनुसार अनेकान्त, सप्तभंगी नय या स्याद्वाद का आचरण करता है, उसमें सास्कृतिक आग्रह का अभाव होगा, उसमे सद्विवेक बुद्धि होगी तथा वह विरोधी दृष्टिकोण में भी समन्वय खोजने की कोशिश करेगा। ऐसे दृष्टिकोण को हमें अपनाना चाहिये। हम भगवान महावीर के चरित्र से संयम, अहिंसा की साधना, परमत सहिष्णुता आदि कुछ शिक्षा सीख सकते हैं।"

तीर्थंकर महावीर ने अपने जीवन-दर्शन के क्रियात्मक सूत्र के रूप मे "सम्यक दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" का विचार देकर रत्नत्रय धर्म की प्रतिपादना की। उन्होने इस सूत्र के माध्यम से ईश्वरवाद एवं अवतारवाद तथा कर्म और मोक्ष के सम्बन्ध मे पूर्व प्रचलित धारणाओं का दार्शनिक विवेचन कर, खण्डन किया। उन्होने आदर्श दर्शन, आदर्श ज्ञान एवं आदर्श चरित्र को ही मोक्षप्राप्ति का मार्ग कहा। कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में भी नवीन एवं वैज्ञानिक विचार देते हुए उन्होने कहा कि कोई भी मनुष्य अपने कर्मों का स्वयं ही बन्ध है, अशुभ कर्मों के बन्ध से मुक्ति और शुभ कर्मों के क्रियान्वयन के द्वारा ही वह कर्मबन्ध से छुटकारा पाकर अपना आत्म-कल्याण करते हुए मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। उन्होने भाग्यवाद की धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि मनुष्य स्वयं ही अपने कर्मो का सचालक है। कोई अन्य शक्ति उसका न तो निर्धारण ही करती है, न उसके अशुभ कार्यों से उसे मुक्ति दिला सकती है। मनुष्य स्वय के कृत्यो से ही अपनी आत्मा को शुद्ध बना सकता है। "शुद्ध आत्मा से परमात्मा" की उक्ति उनके इस दर्शन का मूल मन्त्र है।

इस प्रकार आत्मविजेता तीर्थंकर महावीर जन-जन के शिक्षक बन गए। उन्होंने पूर्व धारणाओ एव परम्पराओं को तोड़, लोकभाषा में अपने उपदेश दिये। इस सम्बन्ध में शूब्रिग ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि—"तीर्थंकर महावीर शिक्षक के नाते बड़े ही सफल रहे और उनकी विवेचन शैली अवैयक्तिक रही। अवैयक्तिक तथा कठोर रहना शायद उनके स्वभाव की विशेषता थी।" उनकी सभाओ में राजा से रक तक, ब्राह्मण से शूद्र तक तथा धनिकों से दीनों तक सभी वर्गों और वर्णों के, नर-नारी ही नहीं, पशु-पक्षी और अन्य जीव भी, उनके द्वारा मुखरित वाणी को ग्रहण करते थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उसका हो गया।

तीर्थंकर जहाँ जिन कहलाते थे वहाँ इनके अनुयायी जैन, और इनका दर्शन एव सस्कृति जैन दर्शन एवं जैन संस्कृति कहलाए। इस प्रकार जैन से तात्पर्य है कि जो जिन धर्म में अर्थात् स्वय को विजय करने मे विश्वास करे अर्थात् आत्मविजेता बनने का प्रयास करे। सन् 1897 में एक कन्वैन्शन लैक्चर में एनी बेसेण्ट ने जैन धर्म का सार स्पष्ट कर कहा था कि—"जैन धर्म का वातावरण एक वचन मे ग्रहित किया जा सकता है। यह वचन हमे सूत्रकृताग मे मिलता है कि मानव किसी जीव को दुःख न पहुँचाकर निर्वाण की शान्ति प्राप्त करता है। यह एक वचन है जो जैन दर्शन का सारा दर्शन साथ में लिये हुए है। शान्तिः मानव, मानव में शान्ति, मानव और पशुओ मे शान्ति, सब जगह और सब वस्तुओ मे शान्ति, सब जीवो मे पूर्ण बन्धुता जैन धर्म का ऐसा ही आदर्श है और इस आदर्श को हर जैन, ससार मे मूर्त स्वरूप में लाने की कोशिश करता है।"

तीर्थंकर महावीर का यह जीवन-दर्शन अपने वैज्ञानिक स्वरूप और तार्किकता के कारण उस काल के प्रमुख चिन्तको और बुद्धिजीवियो के बहुत बडे भाग को भी अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ। उनके पश्चात् तीर्थंकरो के विचार एव दर्शन को उनके अनुयायी जैन धर्मावलम्बियों ने लिपिबद्ध किया, उसकी विस्तृत व्याख्याएँ कीं तथा उन पर टीकाएँ लिखी गईं। उनकी स्मृति को चिरस्थायी स्वरूप प्रदान करने के लिये उनकी विशाल प्रतिमाओ का निर्माण एव चित्रो का अकन प्रारम्भ हुआ। शनैः-शनैः मन्दिर और मठ भी निर्मित होने लगे।

जैन धर्म की अहिंसा ने जहा मानव हृदय को मार्दव प्रदान किया, वहा जैन धर्म की प्रेरणा ने भारतीय शिल्प को, पत्थर को मोम बना देने की अद्भुत क्षमता दी—जैन स्थापत्य इसका स्पष्ट प्रमाण है। जैन वाङ्मय जैन शिल्प से भी अधिक सम्पन्न है। अर्द्धमागधी, अपभ्रंश, संस्कृत तथा मध्ययुगीन और अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओ मे जैन धर्म का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। सम्भवत ज्ञान का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो जैन वाङ्मय से अछूता हो। अनेक भाषाओ में तो यह इतना सम्पन्न है, कि यदि इसे पृथक् कर दिया जाय तो उसकी आत्मा ही नष्ट हो जाएगी। इस दृष्टि से जैन वाङ्गमय भारत का सम्पन्नतम वाङ्गमय है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर के जीवन-दर्शन ने जहां—मानवता को नया प्रकाश दिया वहा जैन वाङ्मय ने साहित्य को प्रचुर मात्रा मे ज्ञान का भण्डार प्रदान किया। जैन सस्कृति और सभ्यता ने भी अहिंसा के व्यापक प्रचार और विश्वशान्ति एव मानवता की दिशा में किये गए प्रयासो द्वारा मानव समाज की उतनी ही सेवा की है। विश्व इतिहास में जैनों द्वारा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने या धर्म के नाम पर किसी भी प्रकार के हिंसात्मक कृत्यो के सम्पादन का रंच मात्र भी उदाहरण, आज तक, उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से भी जैन सस्कृति गौरवशाली एव अद्वितीय है। तथापि तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ढाई हजार वर्ष पश्चात् हम यदि सम्पूर्ण जैन सस्कृति का पुनर्मूल्याकन करें तो पाएँगे कि इस बीच जहा—एक ओर जैन धर्मावलम्बियों ने जैन संस्कृति एव जैन वाङ्गमय का परिवर्द्धन, विकास एव सरक्षण कर मानव जाति की बडी महत्वपूर्ण सेवा की है, वहा—दूसरी ओर इस बीच विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव तथा समयानुकूल परिस्थितियो के कारण अपने को महावीर का अनुयायी कहनेवाले जैनों में भी उनके द्वारा प्रदर्शित जीवन-पद्धति का स्वरूप कुछ विकृत हो गया है। अपने वस्त्रों, आभूषणो और राजपाट आदि सभी परिग्रहो का त्यागकर पूर्ण अपरिग्रह को प्राप्त तीर्थंकर महावीर की मूल्यवान पत्थरो व धातुओ की प्रतिमाओ तथा मन्दिरों के निर्माण पर अधिक बल दिया जाने लगा है। तीर्थंकर महावीर ने जहा अहिंसा के वैचारिक एवं आचारिक पक्ष पर बल देते हुए प्राणी मात्र के प्रति दया, भ्रातृत्व एव प्रेम पर अधिक बल दिया

थिा वहां वर्तमान में सामान्य जैन धर्मावलम्बियों के मध्य अहिंसा का तात्पर्य अब खानपान मे जीवो की हिंसा न करने मात्र से समझा जाने लगा है। इस प्रकार उनके मध्य अहिंसा का स्वरूप रसोईघर तक ही सिमटकर रह गया है। अपरिग्रह उनके मध्य मात्र दर्शनशास्त्र एव व्याख्यानों का तत्व बनता जा रहा है। परिग्रह, लोभ, क्रोध, माया, मोह, द्वेष व घृणा पर आधारित कर्मों मे सलग्न व्यक्ति भी खानपान में हिंसा से विरत रहने के आधार मात्र पर अपने को पूर्ण अहिंसक मानकर महावीर के कट्टर अनुयायी होने का दम भरते हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि इसके पालन मात्र के समक्ष उनके अन्य सभी दोष क्षम्य हैं।

यह भी दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायगा कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व तीर्थकर महावीर के जिस जीवन-दर्शन ने ईश्वरवाद एवं अवतारवाद की धारणा के खण्डन और अपने वैज्ञानिक कर्म दर्शन के कारण, जन-सामान्य मे अत्याधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी, वह अब जैनेतर व्यक्तियो में अपने प्रसार के अभाव मे पूर्वानुरूप लोकप्रियता प्राप्त नही कर पा रहा है। "मनुष्य जन्म से नही कर्म से महान है" का दर्शन देने वाले तीर्थंकर महावीर के अनुयायी, जन्म के आधार पर जैन लिखने और कहने में सलग्न हो गए हैं। जिन दोषों और कुरीतियो के विरुद्ध तीर्थकर महावीर ने सामाजिक क्रान्ति की प्रतिपादना की, उनमें से बहुत-सो की कालिमा ने जैन दर्शन और सस्कृति के मूल स्वरूप के एक बड़े भाग को, प्रभावित कर जैन धर्मावलम्बियों मे प्रचलित वर्तमान आचरण पद्धति एव मान्यताओं को दूषित कर संकुचित कर दिया है।

आज यह नितान्त आवश्यक है कि पच्चीस सौ वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर ने मानवमात्र के कल्याणार्थ जो दर्शन दिया तथा तत्कालीन समाज मे प्रचलित दुर्व्यवस्थाओ एवं मान्यताओ के विरुद्ध सघर्ष कर जिस सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया उसके वास्तविक स्वरूप को पुनः अधिकाधिक उजागर कर उसे जन-सामान्य मे प्रचलित किया जाकर मानव मात्र के कल्याणार्थ एव स्थायी विश्वशान्ति के प्रयोजनार्थ ब्रह्मास्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जावे।

सम्भवत इस विचार ने देश के बुद्धिजीवियो के एक बडे वर्ग को प्रभावित किया, और यही कारण है कि तीर्थ कर महावीर के निर्वाण के पच्चीससौ वे वर्ष को उपयुक्त अवसर मानकर इस दिशा मे राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से प्रयास स्वरूप विभिन्न कार्यक्रमो का आयोजन एवं योजनाओ का प्रारम्भ किया गया। अनेकों प्राचीन एव दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन, जैन धर्म, दर्शन व सस्कृति के विभिन्न पक्षों पर शोध कार्यों; संगोष्ठियो, व्याख्यान मालाओ का प्रकाशन तथा इस दिशा में स्थायी रूप से तथा द्रुतगति से कार्य, पच्चीस सौं वें निर्वाण महोत्सव वर्ष की महत्वपूर्ण उपलब्धिया ही कही जावेंगी।

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा 6 नवम्बर 1975 से 10 नवम्बर 1975 तक आयोजित पांच दिवसीय व्याख्यानमाला, इस वर्ष के विभिन्न कार्यक्रमों की शृंखला में एक कडी ही कही जाएगी, जिसमें विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर देश के कुछ चुने हुए विद्वानो के शोधपूर्ण व्याख्यान आयोजित हुए। अन्य कई विषयों पर व्याख्यान साधनों तथा समय के अभाव मे उस समय चाहकर भी आयोजित न हो सके परन्तु इस सम्बन्ध में विशिष्ट सामग्री किस प्रकार प्रकाश मे लायी जाए और व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानों को लिपिबद्ध कर उनके प्रकाशन के द्वारा उन्हे किस प्रकार स्थायी स्वरूप प्रदान किया जा सके, यह विचार निरन्तर ही मन को कचोटता रहा। व्याख्यानमाला हेतु प्रदेश शासन से प्राप्त अनुदान का अल्पांश ही शेष था, और उसके सदुपयोग की समस्या भी बनी हुई थी। परन्तु इस अत्यल्प राशि से व्याख्यानमाला में हुए दस व्याख्यानों का प्रकाशन भी सम्भव न था। इन सब परिस्थितियों में

जब विज्ञापनो से कुछ धनराशि प्राप्त कर, विभिन्न विषयों पर देशभर के मूर्धन्य विद्वानो तथा प्रतिष्ठित लेखकों से कुछ चुने हुए विषयो पर अप्रकाशित शोध-पत्रों एव निबन्धो के एक संग्राह्य सग्रह प्रकाशित करने का विचार जागृत हुआ, तो उसका क्रियान्वयन अत्याधिक दुष्कर प्रतीत होता था, तथापि एक पवित्र कार्य मानकर, प्रत्येक दशा में इस कल्पना को साकार बनाने का निश्चय कर लिया और इस योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा बनाकर दो सौ के लगभग पृष्ठ–सख्या वाली एक स्मारिका प्रकाशित करने का विचार कुलपति जी के सम्मुख प्रस्तुत किया। विश्वविद्यालय के अधिकारियों को आर्थिक साधनो के सग्रहण का कार्य अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हो रहा था, चू कि विश्वविद्यालय के लिये किसी भी मद से इसके लिये धन व्यय करना सम्भव नही था। परन्तु जब कुलपतिजी को यह विश्वास दिलाया कि योजना के लिये सम्पूर्ण साधन जन-सहयोग से जुटाए जाएंगे तो उन्होने तत्काल स्वीकृति दे दी।

प्रकाशन के निश्चय के साथ ही देश के अनेक गणमान्य विद्वानो एव लेखको को इस हेतु शोधपत्र एव निबन्ध प्रस्तुत करने को निवेदन किया तो अधिकाश ने अत्याधिक समयाभाव के उपरान्त भी मेरे निरन्तर आग्रह को स्वीकार कर योजना को अपना आशीर्वाद दे दिया। प्रकाशनार्थ प्राप्त सभी शोधपत्र और निबन्धो के लिये पूर्व विचारित आकार अपर्याप्त था, परन्तु सभी रचनाएं अप्रकाशित, उच्चस्तरीय तथा महत्वपूर्ण होने के कारण मैं उनमे से किसी के भी अप्रकाशित रहने का दु:साहस, तथा सभी के सदुपयोग का लोभ सभरण भी नही कर सकता था। अतः योजना का विस्तार एव परिवर्द्धन कर स्मारिका के स्थान पर "महावीर स्मृति ग्रन्थ" के प्रकाशन का निश्चय कर, लिया, परन्तु इसके साथ ही और अधिक साधन जुटाने की समस्या उत्पन्न हो गयी, किन्तु साध्य की पवित्रता तथा उसे प्राप्ति के प्रति तीव्र निष्ठा के कारण साधन भी सुलभ होते गए। हा, इस सब के कारण ग्रन्थ का मुद्रण अवश्य, कई बार स्थगित करना पडा, जिस कारण अनेको सहयोगियो मे अधीरता बढने लगी और ऐसा अनुभव होने लगा कि सम्भवत यह प्रकाशन पूर्ण न हो सके।

मुझे प्रसन्नता है कि दो वर्ष पूर्व आयोजित व्याख्यानमाला के प्रकाशन के रूप में संजोया विचार "महावीर स्मृति ग्रन्थ" के वृहद् रूप में परिणित हो, पूर्ण हो रहा है। इसके क्रियान्वयन मे मुझे विभिन्न सहयोगियों से प्राप्त प्रेरणा एवं आशीर्वाद के लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रमुखत: लेखको का, जिन्होने मेरे निवेदन को स्वीकार कर ग्रन्थ हेतु नवीन एव अप्रकाशित शोधपत्र अथवा निबन्ध प्रस्तुत कर इस ग्रन्थ की योजना को मूर्तरूप देने मे सक्रिय सहयोग दिया।

मैंने भरसक प्रयास किया है कि उपलब्ध साधनों का अधिकतम दोहन कर ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी बनाया जा सके, उसे ऐसा स्वरूप प्रदान किया जा सके जिससे बह दुर्लभ एव लुप्त ज्ञान भण्डार के कुछ महत्वपूर्ण पक्षो पर उपादेय एवं स्थायी महत्व की संग्रहणीय तथा शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर सकें; साथ ही उन अथवा उन जैसे विषयो पर शोध-कार्य करने हेतु शोधार्थियो को आकर्षित कर सके।

ग्रन्थ अपने उद्देश्यो की पूर्ति में कितने अंशों मे सफल हुआ है, इसका वास्तविक मूल्याकन तो विज्ञ पाठक एव समीक्षक-समालोचक ही करेंगे। मैं तो यही कह सकता हूँ कि, मैंने अपने वर्तमान जीवन की महत्वपूर्ण साध मानकर पूर्ण निष्ठापूर्वक, उपलब्ध साधनों में, ग्रन्थ को अधिकाधिक उपयोगी एव सग्रहणीय स्वरूप प्रदान करने का यथाशक्ति प्रयास किया है,

तदुपरान्त भी सम्पादन की दृष्टि से यदि कोई त्रुटियां शेष रह गयी हो, तो उसके लिये मैं सहृदय पाठको एवं समीक्षकों से सविनय क्षमाप्रार्थी हूं।

अपनी इस साध की पूर्ति के रूप मे यह ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए मुझे जिस अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है, वह अनिर्वचनीय है।

तीर्थंकर महावीर जयन्ती
२ अप्रेल १९७७

प्रेम शान्ती भवन
फालके बाजार, ग्वालियर-४७४००१

रवीन्द्र मालव—सम्पादक

सयोजक—"महावीर स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशन समिति
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर
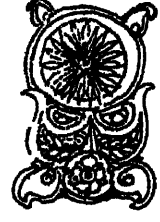
आभार

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण की पच्चीसवी शती की पूर्ति के अवसर पर विश्वभर में आयोजित कार्यक्रमों की श्रृंखला में व जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला के क्रम मे "तीर्थंकर महावीर स्मृति-ग्रन्थ" आपके हाथों मे प्रस्तुत है। इस अवसर पर ग्रन्थ के प्रकाशन में विश्वविद्यालय को विभिन्न महानुभावो एव संस्थानों से प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

सर्वप्रथम मैं ग्रन्थ की प्रकाशन समिति के संयोजक एव ग्रन्थ के सम्पादक तथा विश्वविद्यालय महासभा के सदस्य श्री रवीन्द्र मालव के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना परम् कर्तव्य समझता हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उनका दृढ निष्ठापूर्ण विश्वास एवं कड़ा परिश्रम निहित है। विश्वविद्यालय के इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकाशन में उनसे प्राप्त सक्रिय एवं रचनात्मक सहयोग के लिये विश्वविद्यालय उनका आभारी है।

ग्रन्थ में प्रकाशित विभिन्न सामग्री के लेखकों के प्रति भी विश्वविद्यालय अत्याधिक कृतज्ञ है, जिन्होंने विश्वविद्यालय के निवेदन को स्वीकार कर अपने व्यस्त जीवन में से कुछ बहुमूल्य समय निकालकर ग्रन्थ हेतु

अप्रकाशित शोधपत्र एव निबन्ध लिखने तथा भेजने की कृपा कर, कृतार्थ किया। उनके कारण ही यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप को ग्रहण कर सका है।

ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु साधन जुटाने मे श्री सरदार सिंह जी चौरडिया का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके सहयोग से ही इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ "श्री 2500वा भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास" से एक हजार रुपयो का आर्थिक अनुदान भी प्राप्त हो सका। विश्वविद्यालय समस्त विज्ञापनदाताओं का भी आभारी है, जिन्होंने अ।। सस्थानो के विज्ञापन उपलब्ध कराकर, ग्रन्थ प्रकाशनार्थ साधन सग्रहण में सहायता की।

ग्रन्थ की साज-सज्जा की दृष्टि से ग्रन्थ का कलेवर तथा वर्तमान स्वरूप सम्पादक श्री रवीन्द्र मालव, सदस्य महासभा एव विद्या परिषद; प्रो. विश्वमित्र वासवाणी, विभागाध्यक्ष, शासकीय ललित कला महाविद्यालय, तथा मुद्रक—साधना प्रेस के सर्वश्री नारायणसिंह वर्मा एव लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, तथा उनके सहयोगीयो के अथक परिश्रम एव लगन का ही परिणाम है। विश्वविद्यालय के विकास विभाग मे लिपिक श्री भास्कर विश्वनाथ जोशी ने ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी कार्यालयीन दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वहन कर उल्लेखनीय सहयोग दिया है। इसके लिये मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

विश्वविद्यालय, जैन समाज के प्रमुख प्रतिनिधियो सर्वश्री मानिकचन्द्र गगवाल, निर्मल कुमार जैन, मानिकचन्द जैन, मिश्रीलाल पाटनी, रामजीत जैन, ज्ञानचन्द्र जैन, देवेन्द्र कुमार कोठारी, पदमचन्द्र जैन एवं रामचन्द्र जैन आदि महानुभावो का भी आभारी है जिन्होने व्याख्यानमाला के आयोजन एव ग्रन्थ के प्रकाशन मे उल्लेखनीय सहयोग प्रदान कर कृतार्थ किया। व्याख्यानमाला के आयोजन मे वित्त अधिकारी श्री आर के पितले, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री पी. के. बैनर्जी, विकास विभाग के कार्यालय अधीक्षक श्री एल. एन. शर्मा तथा लिपिक श्री आर. के. गुप्ता; कुलपति के सचिव श्री पी. सी. जैन, विश्वविद्यालय यन्त्री श्री के. एल. महाजन ने भी विविध दायित्वो का अत्यधिक लगनपूर्वक निर्वाह कर सहयोग प्रदान किया तदर्थ ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

विश्वविद्यालय की ओर से मैं उन सभी सहयोगियों का भी हार्दिक आभारी हूँ जिन्होने इस प्रकाशन को सुलभ बनाने मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग प्रदान किया। उन सभी के सद्प्रयासों के कारण ही आज इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। मेरा विश्वास है कि जिन आकाक्षाओं के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया है, उनकी पूर्ति में यह पूर्ण सफल होगा।

विश्व मैत्री दिवस (क्षमावाणी पर्व)
वीर निर्वाण स. 2503
दिनांक 28 सितम्बर 77

घनश्याम गौतम
उप कुलसचिव (विकास एव प्रशासन)
जीव.जी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

भारत के उपराष्ट्रपति के सचिव
नई दिल्ली-110011

प्रिय महोदय,

उपराष्ट्रपति जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप जीवाजी विश्व-विद्यालय, ग्वालियर की ओर से भगवान महावीर जी के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला में पठित शोध पत्रों एवं व्याख्यानों को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए एक "स्मारिका" प्रकाशित करने जा रहे हैं। उपराष्ट्रपति जी आपके विश्वविद्यालय की इस "स्मारिका" की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभ कामनाएं भेजते हैं।

आपका
बि० फड़के

संदेश

RAJ BHAVAN

प्रिय रवीन्द्र जी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, श्रीभगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष पर शोधपत्रों और व्याख्यानों के प्रकाशनार्थ "स्मारिका" के प्रकाशन का निश्चय किया गया है। आपके इस प्रयत्न के द्वारा सर्व-साधारण को भगवान महावीर के सदुपदेशों की जान-कारी सुलभ होगी।

मैं आपके सत्प्रयत्नों की सफलता चाहता हूँ, और इस सुअवसर पर शुभ कामना प्रकट करता हूँ।

आपका
मोहनलाल सुखाड़िया
राज्यपाल

राज भवन
भोपाल-3

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था और उक्त अवसर पर पठित शोधपत्रों और व्याख्यानों का संकलन स्मारिका के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, यह प्रकाशन भगवान महावीर के आदर्शों और विचारों तथा जैन धर्म के अध्येताओं और शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

शुभकामनाओं सहित।

सत्यनारायण सिंह
राज्यपाल
मध्य प्रदेश

संदेश

मन्त्री
रसायन एवं उर्वरक
भारत शासन

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा तीर्थंकर महावीर के पच्चीस सौं वे निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर आयोजित व्याख्यानमाला को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि इसमें व्याख्यानमाला में हुए व्याख्यानों के अतिरिक्त राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों के शोधपत्र तथा निबन्ध भी प्रकाशित किये जावेंगे। मेरा विश्वास है यह ग्रन्थ बुद्धिजीवी पाठकों को उच्चकोटि की सामग्री प्रदान करेगा।

इस अवसर पर मैं हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

प्रकाश चन्द्र सेठी

मुख्य मन्त्री
भोपाल

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित व्याख्यानमाला में पठित शोधपत्रों एवं व्याख्यानों को स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

मैं आशा करता हूँ कि इस प्रकाशन से व्याख्यानमाला में व्यक्त विद्वानों के मतों एवं धारणाओं को स्थायित्व प्राप्त होगा और भविष्य में भी हम उनसे मार्गदर्शन लेते रहेंगे।

स्मारिका के लिये शुभ कामनाएँ।

श्यामाचरण शुक्ल

संदेश

उपमन्त्री
शिक्षा तथा समाज कल्याण
भारत
नई दिल्ली-1

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के तत्वावधान में श्री २५००वें भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के शुभ अवसर पर व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया एवं उक्त पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला में श्रोतावृन्द को अनेक विद्वजनों के विचार सुनने का शुभ अवसर मिला। अहिंसा एवं सत्य के नये प्रतिमानों का आज के इस वातावरण में क्या महत्व है इस पर प्रबुद्धजनों के विचार-विमर्श से लोगों को सही मार्गदर्शन मिला होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

उक्त उच्च विचारों का स्मारिका हेतु प्रकाशन सदा के लिए स्थायी स्वरूप प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

मैं स्मारिका की सफलता की कामना करता हूँ और समझता हूँ कि आम जनता को जानकारी देने में लाभदायक सिद्ध होगी।

अरविन्द नेताम

वित्त मन्त्री, राजस्थान
जयपुर

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता हो रही है कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा २५००वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित पाँच दिवसीय व्याख्यानमाला में पठित शोधपत्रों एवम् व्याख्यानों को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के लिए स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। महावीर भगवान के सिद्धान्तो की आज के युग में बड़ी आवश्यकता है। उपरोक्त आयोजन के अवसर पर प्रकट किए गए विचारो को स्मारिका में प्रकाशित कर समिति आनेवाली पीढ़ी की बड़ी मदद कर रही है। इस अवसर पर मैं अपनी शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

चन्दन मल बैद

संदेश

बसंतराव उयके
मन्त्री, शिक्षा
मध्यप्रदेश

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर ने भगवान महावीर के २५००वे निर्वाण महोत्सव के सन्दर्भ में आयोजित व्याख्यानमाला के व्याख्यानो को स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया है, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई।

मैं आशा करता हूँ कि विद्वानो द्वारा दिए गए इन भाषणो से पाठको को भगवान महावीर के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में सहायता मिलेगी। मेरी शुभ कामनाएँ।

बसंतराव उयके

गुलाब चन्द्र तामोट
मन्त्री
लोक निर्माण
भोपाल

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर ने भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित पांच दिवसीय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत पठित शोधपत्रों और व्याख्यानों को एक स्मारिका के रूप मे प्रकाशित करने का निश्चय किया है। व्याख्यानमाला के अन्तर्गत विद्वानो द्वारा पठित इन भाषणों की अपनी उपादेयता है और मुझे विश्वास है कि स्मारिका में संकलित होने से इन्हें स्थायी स्वरूप प्राप्त हो सकेगा।

इस सद्प्रयास के लिए मेरी शुभ कामनाएँ।

गुलाब चन्द्र तामोट

Achal Singh
M. P.

87 North Avenue, New Delhi

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव पर आप एक महान ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। इससे जैन दर्शन व साहित्य एव इतिहास पर एक बहुमूल्य ग्रन्थ तैयार हो जावेगा। इससे देश व समाज की सेवा होगी।

आपके प्रयास की मैं सराहना करता हूँ। आपके शुभ कार्य के लिए मेरी शुभ कामनाएँ है।

आपका
अचलसिंह

श्री रवीन्द्र मालव

जीवाजी विश्वविद्यालय की ओर से आपने व्याख्यानमाला आयोजित की और इसके उपलक्ष्य मे एक "स्मृति ग्रन्थ" का प्रकाशन कर रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

इस "स्मृति ग्रन्थ" द्वारा आप लोग भगवान महावीर के उपदेश को समाज में प्रचार करने में सफल हों, ऐसी मैं शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ। प्रणाम।

कस्तूरभाई लालभाई
अध्यक्ष,
भगवान महावीर २५०० वें निर्वाण महोत्सव महासमिति

अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय

कुलपति	रीवा (म. प्र.)

प्रिय महोदय,

मुझे यह जानकर विशेष आनन्द है कि जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित व्याख्यानमाला से सम्बन्धित शोधपत्रों एव व्याख्यानों को एक स्मारिका के माध्यम से महोत्सव-समिति द्वारा स्थायी स्वरूप प्रदान किया जा रहा है।

यह सही है कि सभी धर्मों की उत्पत्ति इस संसार में मानव कल्याण के लिए ही हुई है। परन्तु यह भी एक कटु सत्य ही है कि स्वार्थ में लिप्त हो जाने के कारण मनुष्य धर्म के मूल तत्वों को बार-बार भूलता रहा है। भ्रमित मानव-समाज ने भले ही सदैव धर्म-वृक्ष के पल्लवो को सीचा हो, अथवा उसके आवरण को सजाया हो, परन्तु, धर्म की जड़ों को बहुधा सुखाया ही है। अवतारी पुरुषों ने अपने जीवन, कृतित्व और शिक्षा के माध्यम से बार-बार इस पृथ्वी पर आकर भ्रमित समाज को प्रकाश, दिशा और प्रेरणा दी है, तथा समाज की डूबती नौका को अपने सबल हाथों द्वारा डूबने से बचाया है।

भगवान महावीर ने भारतीय समाज का धर्म के मूल तत्वो की ओर ध्यान आकर्षित किया, हिंसामय समाज में परम धर्म अहिंसा की पुनर्स्थापना की, तथा दीन-दुखियों को राहत और सहारा दिया। मुझे विश्वास है कि यह ऋणी भारतीय समाज उनके जीवन और आदर्शों से सदैव शिक्षा और प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा। विद्वान वक्ताओं और लेखकों के विचारों का स्मारिका के माध्यम से स्थायीकरण नि:सन्देह रूप से अनेकों पाठकों को आगे आनेवाले वर्षों में लाभ पहुँचाता रहेगा।

मैं इस सद्प्रयास की हृदय से सराहना करता हूँ, तथा प्रकाशन की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

नारायण सिंह

संदेश

कुलपति	विश्वविद्यालय भवन, इन्दौर

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव पर पठित शोधपत्रों को स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने जा रहा है। मैं प्रयास की सफलता हेतु कामना करता हूँ।

पु. ग. देव

कुलपति

Gulab Chand Jain
Vice-Chancellor

Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
KHAIRA GARH (M. P.)
Pin : 491881

मुझे यह जानकर अत्यंत ही प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा, भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव पर आयोजित ५ दिवसीय व्याख्यानमाला में पठित शोध-पत्रों तथा व्याख्यानों को स्थायी स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से एक "स्मारिका" प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है।

जीवाजी विश्वविद्यालय का यह निश्चय नि.सन्देह अत्यंत ही प्रशंसनीय कार्य है क्योंकि स्मारिका के प्रकाशन के माध्यम से विद्वतजनों के शोधपत्रों से जन-समाज को बड़ा लाभ मिलेगा जो वास्तव में एक स्तुत्य कार्य होगा।

मैं निर्वाण महोत्सव समारोह की सफलता के लिये अपनी शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

गुलाबचन्द जैन
कुलपति

संदेश

जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय
जबलपुर, मध्यप्रदेश

आर. एल. कौशल
कुलपति

कृषि नगर
जबलपुर-४८२००४ (म. प्र.)

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर द्वारा २५०० वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर पठित शोधपत्रों एवं व्याख्यानों को स्थायी रूप प्रदान करने की दृष्टि से "स्मारिका" का प्रकाशन किया जा रहा है। शोधकर्त्ताओं एवं संकलनकर्त्ताओं के व्यावहारिक ज्ञान के उद्देश्य से यह एक उत्तम प्रयास है। आशा है, यह स्मारिका धर्म में रुचि रखनेवाले सभी व्यक्तियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

स्मारिका प्रकाशन की सफलता हेतु मंगल शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

आर. एल. कौशल

श्री रवीन्द्र जी

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा "महावीर स्मृति ग्रन्थ" का प्रकाशन, भगवान महावीर के जीवन और दर्शन के विविध पक्षों पर रचित, शोधपत्रों व लेखों के माध्यम से, भगवान के उपदेशों को जनसामान्य तक पहुँचाने, और बुद्धिजीवियों को चिन्तन हेतु दिग्दर्शन के अपने उद्देश्यों में सफल हो, इस हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

साहू शान्ती प्रसाद जैन

श्री रवीन्द्र जी मालव

भगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण महोत्सव के अवसर पर जीवाजी विश्वविद्यालय "महावीर स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशित कर रहा है यह जानकर प्रसन्नता हुई। इस अवसर पर मैं हार्दिक शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

लालचन्द्र हीराचन्द्र

संदेश

SHRIYANS PRASAD

"NIRMAL" 3Rd Floor
Nariman Point
Bombay-400021

प्रिय श्री रवीन्द्र मालव

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि अहिंसा के सन्देशवाहक, स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रणेता भगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में "महावीर स्मृति ग्रन्थ" का प्रकाशन किया जारहा है। यह भी हर्ष का विषय है कि आप इस ग्रन्थ में सामयिक विषयों पर राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों के लेख एवं शोधपत्रों की व्यापक सामग्री का संकलन करेंगे। वस्तुतः यह जीवाजी विश्वविद्यालय का प्रशंसनीय कार्य है।

भगवान महावीर विश्व इतिहास के उन महान ज्योति स्तम्भों में से हैं, जिनके बताए हुए सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के सन्मार्ग पर उन्मुख होकर शान्ति प्राप्त की जा सकती है। भगवान महावीर की सबसे बड़ी शिक्षा है, अपने को जानो, यानि "आत्मा को जानो"।

वर्तमान संदर्भ में, भगवान महावीर के सन्देश लोकोपयोगी हैं एवं जन-जन के जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। इन सन्देशों के प्रचार-प्रसार द्वारा राष्ट्र की युवा पीढी को अनुशासन, सदाचार तथा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाये रखने की दिशा मे अवश्य प्रेरणा मिलेगी।

ग्रन्थ के सुन्दर एवं सफल प्रकाशन के लिये मेरी अनेक मंगल कामनाएं।

आपका
श्रेयांस प्रसाद जैन

काव्यांजली
प्रथम खण्ड

मं - ९

णमो अरहंताणं ।	अर्हंतों को नमस्कार।
णमो सिद्धाणं ।	सिद्धों को नमस्कार।
णमो आयरियाणं ।	आचार्यों को नमस्कार।
णमो उवज्झायाणं।	उपाध्यायों को नमस्कार।
णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥	लोकवर्ती सर्वसाधुओं को नमस्कार।
एसो पंचणमोक्कारो,	यह पंच नमस्कार मंत्र,
सव्व पावप्पणासणो ।	सब पापों का विनाश करनेवाला है।
मंगलाणं च सव्वेसिं,	और समस्त मंगलों में,
पढमं हवई मंगलं ॥२॥	प्रथम मंगल है ॥
चत्तारि मंगलं	चार मंगल हैं।
अरहंता मंगलं ।	अर्हंत मंगल हैं।
सिद्धा मंगलं ।	सिद्ध मंगल हैं।
साहू मंगलं ।	साधु मंगल हैं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥३॥	केवलि-प्रणीत धर्म मंगल है।
चत्तारि लोगुत्तमा ।	चार लोकोत्तम हैं।
अरहंता लोगुत्तमा ।	अर्हंत लोकोत्तम हैं।
सिद्धा लोगुत्तमा ।	सिद्ध लोकोत्तम हैं।
साहू लोगुत्तमा ।	साधु लोकोत्तम हैं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥४॥	केवलि-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है।
चत्तारि शरणं पव्वज्जामि ।	चारों की शरण लेता हूं।
अरहंतो शरणं पव्वज्जामि ।	अर्हंतों की शरण लेता हूं।
सिद्धे शरणं पव्वज्जामि ।	सिद्धों की शरण लेता हूं।
साहू शरणं पव्वज्जामि ।	साधुओं की शरण लेता हूं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि ॥५॥	केवलि-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूं।

महावीर स्तवन

प्राकृत—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोइ घाइ कम्ममलं। पणमामि वड्ढमाणं तित्थं-धम्मस्सकत्तारं।
वीर विसाल णयण रत्तुप्पल कोमलस्समप्पाय। तिविहेण पणमिऊण सील गुणाण णिगामेह।
तिलोए सव्वजीवाणहिदं धम्मोवदेसिणं। वड्ढमाणं महावीरं वंदित्ता सव्ववेदिणं॥
णमिऊण जिणवीरं अणंत वर णाणदसण सहावं —कुन्दकुन्दाचार्य

अनुवाद—

सुर, असुर और मनुष्यो के इन्द्रो (राजाओ) से वन्दनीय, घातिया कर्म रूपी मल को धोकर नष्ट कर दिया जिन ने, और जो धर्म रूपी तीर्थ के कर्त्ता हैं, उन श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ।

(बाह्य मे) जिनके विशाल नेत्र हैं। और चरण लाल कमल जैसे कोमल हैं, (अन्तरंग में, जो केवल ज्ञान रूपी विशाल नेत्रो के धारक हैं, और जिनकी रागद्वेष रहित कोमल वाणी रागद्वेष को दूर करनेवाली है, शील गुणो की प्राप्त्यर्थ उन श्री वीर प्रभू को, मन-वच-काय मे प्रणाम करता हूँ।

तीन लोकों के समस्त जीवो का हित करनेवाले धर्मोपदेशक सर्वज्ञ वर्द्धमान महावीर की वन्दना करता हूँ। अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन स्वभाव से युक्त महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार हो।

संस्कृत—

त्वया नाथ जगत्सुप्तं महामोह निशागतम्। ज्ञान भास्कर बिम्बेन बोधितं पुरुतेजसा॥
नमस्ते वीतरागाय सर्वज्ञाय महात्मने। याताय दुर्गमं कूलं संसारोदन्वन: परम्॥
भवता सार्थवाहेन भव्य चेतन वाणिजा:। यास्यन्ति वितनुस्थानं दोष चौरैरलुण्टिता:॥
प्रवर्तितस्त्वया पन्था विमल: सिद्धगामिनाम्। कर्मजालं च निर्दग्धं ज्वलित ध्यानवन्हिना॥
निर्बन्धूनामनाथाना दु:खाग्नि परिवर्तिनाम्। बन्धुर्नाथश्च जगतां जातोऽसि परमोदय:॥
कथं कुर्यात्तव स्तोत्रं यस्मान्तपरिवर्जिता:। उपमानेन निर्मुक्ता गुण: केवलिगोचरा:॥ —रविषेणाचार्य:

अनुवाद—

हे वीरनाथ! महामोह रूपी निशा के मध्य सोये पड़े इस संसार को आपने अपने अमित तेजपूर्ण ज्ञान सूर्य द्वारा जगाया है।

हे भगवान! आप वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, महात्मा हो, और संसार रूपी सागर के दुर्गम अन्तिम तट पर पहुँच गए हो, अत: आपको नमस्कार हो। आप ऐसे उत्तम सार्थवाह हो कि भव्य जीव रूपी अनेक व्यापारी आपके नेतृत्व मे आपके साथ निर्वाणधाम को प्राप्त होंगे, और राह मे दोष रूपी लुटेरे उन्हे नही लूट सकेंगे।

आपने मोक्षाभिलाषियो को निर्मल मोक्ष का मार्ग दिखाया है, और ध्यान रूपी अग्नि से कर्मों के समूह को भस्म कर दिया है।

जिनका कोई बन्धु नही है, जिनका कोई नाथ नही, उन दु:खरूपी अग्नि में जलते हुए संसारी जीवों के आप ही बन्धु हो, आप ही नाथ हो, और आप ही उन्हें परम अभ्युदय प्राप्त करानेवाले हो।

हे भगवन्! हम आपके गुणों का स्तवन कैसे कर पावें, जबकि वे अनन्त है, उपमा रहित है, और केवल ज्ञानियो के विषय हैं।

वन्दना

हत्थीसु एरावणमाहु णाते, सीहो मिगाण सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु या गरुल वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ १ ॥

हाथियो मे एरावत, पशुओ मे सिंह, नदियों में गंगा
पक्षियो मे वेणुदेव गरुण श्रेष्ठ हैं, वैसे ही निर्वाणवादियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २ ॥

योद्धाओ मे वासुदेव, पुष्पो मे अरविन्द
क्षत्रियों में दतवाक्य श्रेष्ठ है, वैसे ही ऋषियो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

थणितं व सद्दाण अणुत्तर इ, चंदे व ताराण महाणुभावे ।
गधेसु वा चदणमाहु सेट्ठ, एव मुणीण अपडिण्ण माहु ॥ ३ ॥

शब्दो मे मेघ का गर्जन, ताराओ मे चन्द्रमा,
गध वस्तुओ मे चन्दन श्रेष्ठ है, वैसे ही मुनियो मे महावीर श्रेष्ठ है।

जहा सयभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठ ।
खोओदए वा रस वेजयते, तहोवहाणे मुणि वेजयते ॥ ४ ॥

समुद्रो मे स्वयम्भू, नागदेवो मे धरणेन्द्र,
रसो मे इक्षु रस श्रेष्ठ है, वैसे ही तपस्वियो में महावीर श्रेष्ठ हैं।

दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण, सच्चेसु या अणवज्ज वयति ।
तवेसु वा उत्तम बभचेर, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ ५ ॥

दानो मे अभयदान, सत्य मे निरवद्य वचन
तप मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही श्रमणो मे महावीर श्रेष्ठ हैं।

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ।

धर्मों मे निर्वाणवादी धर्म श्रेष्ठ है
वैसे ही ज्ञानियो मे महावीर श्रेष्ठ है। उनसे अधिक कोई ज्ञानी नही है।

भगवान महावीर के चरणों में

हे ज्योतिपुंज जयवीर ! सत्य का ज्ञाता द्रष्टा तू ।
हे महाप्राण ! मूर्च्छित जनमन का जीवन स्रष्टा तू ।।
हे जिन ! प्रभात तू सघन तमस् से घिरती संसृति का ।
हे निर्विकार ! परिशोधक मानवता की संस्कृति का ।।

तूने अपने अन्तस्तम का सोया देव जगाया ।
तूने नर से नारायण तक अपने को पहुँचाया ।।
सीमित नरतन में असीम की ज्ञान चेतना जागी ।
जन्म-जन्म की घूमित कलुषित मोह चेतना जागी ।।
तेरी वाणी जग कल्याणी, प्रखर सत्य की धारा ।
खण्ड-खण्ड हो गयी दम्भ की, अन्धाग्रह की कारा ।।
'सत्य एक है' उस पर, तेरे मेरे का क्या अंकन ।
विश्व समन्वय कर देता है, तेरा यह उद्बोधन ।।
तू उन अन्धों की आँख, भटकते ठोकर खाते जो ।
तू उन अबलों की लाठी, प्रताड़ित अश्रु बहाते जो ।।
मानवता के महामन्त्र का जो दाता, तू गुरुवर है ।
अस्तगत जो कभी न होगा, ऐसा तू दिनकर है ।।
जाति-पंथ-भेदों से ऊपर, तू सबका सब तेरे ।
देशकाल वह कौन तुझे, जो सीमाओं में घेरे ।।
तू अनन्त है, अजर अमर है, तेरा जीवन दर्शन ।
अखिल विश्व का तव चरणों में हो निर्वाणगामी वन्दन ।।

—उपाध्याय अमरमुनि

मनोयोग द्वारा सुनो वीर वाणी

कल्याणकुमार जैन "शशि"

महाशक्ति का स्रोत
तुममे भरा है
तुम्ही से तरंगित उदित
यह धरा है
कहा, वीर ने आपको
जान जाओ
सरल पथ, वसु-कर्म की
निर्जरा है ।

○

स्वयम् का अहम् यदि मनुज
जान जाये
सफल विश्व उसको सहज
मान जाये
मनोयोग द्वारा सुने
वीर वाणी
यही मान टिकेगा जगत
छान आये

○

स्वयम् मे सिमट, आत्म को
यदि निहारा
प्रदर्शित मिलेगा यहाँ
विश्व सारा
कहा वीर ने, भटकनें
तब मिटेंगी
चलें यदि इसी मार्ग पर
ज्ञान द्वारा

○

समझाना पड़ेगा
सदाचार क्या है
समझना पड़ेगा
अहंकार क्या है
अनेकान्त का भेद
विज्ञान जाने
तिरस्कार क्या है
पुरस्कार क्या है

"भाव पुष्पांजलि"

कर दिया आलोक मे जगमग ये सारा विश्व ही जब, दीपकों की ज्योति मे क्या आरती तेरी उतारूँ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ मे, हे, प्रभू जी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पांजलि सवारूँ।

विश्व के हो देव प्रभु महिमा कहूँ कैसे तुम्हारी,
जगत की उत्कृष्टता ना छू सकी सीमा तुम्हारी,
क्रोध माया मान मत्सर लोभ, सब ही हैं पराजित,
काम जैसे वीर ने भी ध्वस हो जय की तुम्हारी,
नाश कर अज्ञान का अंधेर पाया ज्ञान अनुपम, जगमगाया विश्व, उसको दीप मैं कम उजारूँ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ मे, हे, प्रभू जी, हर चरण पर निज हृदय का भाव पुष्पांजलि सवारूँ ॥१॥

तोड कर दु:खदेय बधन विश्व के, तुमने प्रभूजी,
कर्म आठो को किया चकचूर ज्यो रिपु क्रूर हैं वे,
बे अनन्ते काल से जो मोह और ममता के बधन,
काट दीने क्षणक मे तुमने ज्यो कच्चे सूत हैं वे,
दु:ख भरा जग छोड कर प्रभु जा रहे सुखगार को, तुम छोड कर जिसको चले कैसे वहा जीवन गुजारूँ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ मे हे, प्रभूजी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पाजलि सवारूँ ॥२॥

जा रहे हो तुम प्रभू, कैसे रहूँ मैं ? यह बताओ,
देख कर यह दु:ख भरा जग, हूक उठती है हृदय मे,
किन्तु यह सतोष मुझको, जगत के उद्धार कर्त्ता !
ज्योति जो तुमने दिखाई, छा रही है अब हृदय मे,
है अलौकिक और अनुपम ज्ञान का आलोक मन मे,जगमगाती जा रही रत्नत्रयी निधि को सँभालू।
चाहता हूँ मै तुम्हारे चरण पथ मे हे, प्रभूजी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पाजलि सँवारूँ ॥३॥

कामना कुछ है नही, बस प्रार्थना इतनी प्रभूजी,
शक्ति का ऐसा उदय हो जाय अब मेरे हृदय मे,
चल सकूँ हर कदम व कदम मग तेरे चरण पथ के,
हो अमिट चिंतन निराकुल-शाति का मेरे हृदय मे,
तोड़ जग के नेह बधन चल पडूँ सुखधाम को, जहाँ पा चतुष्टय मैं अनन्तानन्त युग सुख को सँभालूँ।
चाहता हूँ मैं तुम्हारे चरण पथ पर हे, प्रभूजी, हर चरण पर निज हृदय की भाव पुष्पाजलि सवारूँ ॥४॥

☐ शान्तीलाल जैन "मधुकर"

जिनवाणी

द्वितीय खण्ड

अन्तरात्मा—

अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसकप्पो ।
कम्मकलक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ।।

इन्द्रिय समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाला बहिरात्मा है। आत्म सकल्प-देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा है। कर्म कलंक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है।

अपरिग्रह—

मुच्छा परिग्गहो वुत्ती

मूर्च्छा-ममता भाव परिग्रह है।

अब्भंतरबाहरिए सव्वे गथे तुम विवज्जेहि

भीतर और बाहर की सम्पूर्ण ग्रन्थियो के उन्मोचन का नाम अपरिग्रह है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते

मनुष्य धन से अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

परिग्गहनिविट्ठाण वेर तेसि पवड्ढई ।।

जो परिग्रह में फँसे हुए हैं, वे बैर को बढाते हैं।

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्सगो णिब्भओ य सव्वत्थ

परिग्रह से रहित व्यक्ति स्वाधीन और निर्भय रहता है।

अभय दान—

ज कीरइ परिरक्खा, णिच्च मरण-भयभीरु-जीवाण ।
त जाण अभयदाण, सिहामणि सव्वदाणाण ।।

मृत्युभय से भयभीत जीवों की रक्षा करना ही अभयदान है। यह अभयदान सब दानो का शिरोमणि है।

अभोगी—

भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई ।

भोगी जन्ममरण के चक्र से नही छूटता। अभोगी मुक्त हो जाता है।

अरहंत—

ससरीरा अरहता, केवलणाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम-सुक्ख-सपत्ता ।।

केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को जाननेवाले स-शरीरी जीव अर्हत हैं तथा सर्वोत्तम सुख (मोक्ष) को संप्राप्त ज्ञान-शरीरी जीव सिद्ध कहलाते हैं।

अस्तेय (अचौर्य)—

वज्जिज्जा तेनाहड-तक्करजोग विरुद्धरज्ज च ।
कूडतुलकूडमाण तप्पडिरूव च ववहारं ।।

अचौर्यव्रती श्रावक को न चोरी का माल खरीदना चाहिये, न चोरी में प्रेरक बनना चाहिये। न ही राज्य विरुद्ध अर्थात् कर आदि की चोरी व नियम-विरुद्ध कोई

कार्य करना चाहिये। वस्तुओं मे मिलावट आदि नही करना चाहिये। जाली सिक्के या नोट आदि नही चलाना चाहिये।

इच्छा, मुच्छा, तण्हा गेहि असजमो, करवा।
हृत्य लहुत्तर्ण परहृड तेणिक्कं कूडया अदत्ते॥

परधन की इच्छा, मूर्च्छा, तृष्णा, गुप्ति, असयम, काक्षा, हस्तलाघव। (हाथ की सफाई) परधन हरण, कूट-तोल-माप और बिना दी हुई वस्तु लेना यह सब कृत्य चोरी हैं।

चितमंतमचित्र वा अप्पं वा जइ वा वहुं।
दतसोहणमित्तपि उग्गह सि अजाइया॥

चाहे कोई सचेतन वस्तु हो या अचेतन-जड। अल्पमोली वस्तु हो या बहुमोली। बिना उसके स्वामी की आज्ञा लिये बिना नही लेना चाहिये, और तो क्या, दांत कुरेदने के लिये एक तिनका भी बिना आज्ञा के न लेवे।

अहिंसा—

सव्वे पाणा पिआउया।

सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है।

सुहसाया दुक्खपडिकूला।

सुख सबको अच्छा लगता है और दु.ख बुरा।

अप्पियवहा, पियजीवणो।

वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय।

जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।
नाइवाएज्ज कचण।

सब प्राणी जीना चाहते हैं। कुछ भी हो, सबको जीवन प्रिय है। अत: किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

एय खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव एतावन्तं वियाणिया॥

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करें। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है, बस इतनी बात सदैव ध्यान मे रखनी चाहिये।

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवह घोर, निग्गंथा वज्जयंति ण॥

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नही। इसलिये प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

जहते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दय॥

जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नही है, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नही है—ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, आत्मौपम्य की दृष्टि से सब पर दया करो।

जीववहो अप्पवहो, जीवदय अप्पणो दया होई।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥

जीव का वध अपना ही वध है। जीव की दया अपनी ही दया है। अतः आत्महितैषी (आत्मकाम) पुरुषो ने सभी तरह की जीवहिंसा का परित्याग किया है।

तुगं न मदराओ, आगासाओ विसालय नत्थि।
जह तह जयमि जाणसु, धम्ममहिंसा सम नत्थि ॥

जैसे जगत मे मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नही है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नही है।

हिंसा पाव ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो।

हिंसा पाप है, क्योकि दया सब धर्मों में प्रधान है।

तुमसि नाम स चेव ज हतव्व ति मन्नसि।

तू जिसे मारना चाहता है (जिसको कष्ट व पीड़ा पहुँचाना चाहता है) वह अन्य कोई तेरे समान ही चेतनावाला प्राणी है, ऐसा समझ। वास्तव में वह तू ही है।

आरभजं दुक्खमिण।

ससार में जितने भी दु ख हैं, वे सब आरंभज-हिंसा से उत्पन्न होते हैं।

आचार्य—

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, दिप्पति पर च दीवेंति ॥

जैसे एकदीप से सैकड़ो दीप जल उठते हैं, और वह स्वय भी दीप्त रहता है, वैसे ही आचार्य दीपक के समान होते हैं। वे स्वय भी प्रकाशवान् रहते हैं, और दूसरो को भी प्रकाशित करते हैं।

आत्मतत्व—

तच्चाण परम-तच्चं जीव जाणेह णिच्छयदो।

सभी तत्वो मे परम तत्व 'आत्म तत्व' को 'निश्चय' दृष्टि से जानो।

आत्म विजेता—

अप्पा चेव, दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य ॥

स्वयं पर ही विजय प्राप्त करना चाहिये। अपने पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है। आत्म विजेता ही इस लोक और परलोक मे सुखी होता है।

आत्म श्रद्धा—

अत्थि मे आया उववाइए।
ये आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।

यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है, आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी

सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाला ही वस्तुत. आत्म वादी, लोकवादी, कर्मवादी एव क्रियावादी है ।

जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोग अब्भाइक्खति ।

जो अपनी आत्मा का अपलाप (अविश्वास) करता है, वह लोक (अन्य जीव समूह) का भी अपलाप करता है ।

आत्म शुद्धि—

विसोहि-मूलाणि पुण्णाणि

पुण्यकर्म का मूल आत्मशुद्धि है ।

आत्मा

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता (भोक्ता) है । सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है ।

जीवा सिय सासया सिय असासया,
दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया ।

जीव (आत्मा) शाश्वत भी है, अशाश्वत भी । द्रव्यदृष्टि (मूल चेतन स्वरूप) से शाश्वत है । भाव दृष्टि (मनुष्य-पशु आदि पर्याय) से अशाश्वत है ।

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया त पडुच्च पडिसंखाए ।।

जो आत्मा है वह विज्ञाता है । जो विज्ञाता है, वह आत्मा है । जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है ।

अरसमरूवमगंध, अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ।।

शुद्ध आत्मा वास्तव में अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चैतन्य-गुणवाला, अशब्द, अलिङ्गग्राह्य (अनुमान का अविषय) और संस्थान रहित है ।

आत्मज्ञान—

जो अप्पाण ना णदि, सो सत्थं जाणदे सव्वे ।

जो आत्मा को जानता है वह सब शास्त्रो का ज्ञाता है ।

विसए विरत्तचित्तो जोई, जाणेइ अप्पाणं ।

विषयों से विरक्त चित्तवाला योगी आत्मा को जान लेता है ।

त झायह ससहावं ससरण जेण णासेइ ।

आत्मा के अपने (शुद्ध) स्वभाव को ध्याओ, ताकि जन्ममरण से छुटकारा मिल सके ।

उद्देसो पासगस्स नत्थि ।

आत्मज्ञानी को उपदेश की आवश्यकता नही।

आचरण—

णाणे णाणुवदेसे अवट्टमाणो उ अण्णाणी

जो ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार आचरण नहीं करता, वह ज्ञानी भी वास्तव मे अज्ञानी है ।

धम्म आयरह सया पावे दूरेण परिहरह ।

धर्माचरण मे प्रवृत्त रहो और पापोचरण से दूर रहो ।

आचार—

सीलगुणवज्जिदाण निरत्थय माणुस जम्म

आचार (शील) हीन मनुष्य का जन्म निरर्थक है।

आर्जव

जो चिंतेइ ण वकं, ण कुणदि वंक ण जपदे वकं ।
ण य गोवदि णियदोस, अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥

जो कुटिल विचार नही रखता, कुटिल कार्य नही करता, कुटिल वचन नही बोलता और अपने दोषो को नही छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है।

उपभोग—

कदप्प कुक्कुइय, मोहरिय सजुयाहिगरण च ।
उवभोगपरीभोगा-इरेयगय चित्थ वज्जइ ॥

अनर्थदण्ड-विरत श्रावक को कन्दर्प (हास्यपूर्ण अशिष्ट वचन प्रयोग), कौत्कुच्य (शारीरिक कुचेष्टा), मौखर्य (व्यर्थ बकवास), हिंसा के अधिकरणो का सयोजन तथा उपभोग-परिभोग की मर्यादा का अतिरेक नही करना चाहिये ।

कर्म—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण फला भवति ।

अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है ।

जहा कड कम्म, तहासिभारे ।

जैसा किया हुआ कर्म है, वैसा ही उसका भोग है।

रागो य दोसो विय कम्मवीय, कम्मं च मोहप्पभव वयति ।
कम्म च जाइमरणस्स मूल, दुक्ख च जाइमरण वयति ॥

रोग और द्वेष ये दोनो कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियो का कथन है । कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण दु.ख की परम्परा का कारण है ।

कषाय—

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे ।
माय चज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥

क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स ।

ये चार कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) जन्म-मरण रूपी लता के मूल को सीचने हैं । कपाय से जन्म-मरण की परम्परा बढती है ।

कसाया अग्गिणो वुत्ता सुय सील तवो जलं ।

कषाय अग्नि है, श्रुत (ज्ञान), शील (सदाचार) और तप उसे बुझाने वाले जल हैं ।

केवल ज्ञान—

समिन्न पासतो, लोगमलोग च सव्वओ सव्व ।
त नत्थि ज न पासइ, भूय भव्व भविस्सं च ।।

केवल ज्ञान लोक और अलोक को सर्वत: परिपूर्ण रूप से जानता है । भूत, भविष्य और वर्तमान मे ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे केवलज्ञान नहीं जानता ।

केवली—

केवलणाणदिवायर-किरणकलाव-प्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम-पावियपरमप्पववएसो ।।
असहायणाणदसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो, अणाइणिहणारिसे वुत्तो ।।

केवलज्ञान रूपी दिवाकर की किरणो के समूह से जिनका अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है, तथा नौ केवललब्धियों (सम्यकत्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दान, लाभ, भोग व उपभोग) के प्रकट होने से जिन्हें परमात्मा की सज्ञा प्राप्त हो जाती है, वे इन्द्रियादी की सहायता की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और काय योग से युक्त होने के कारण सयोगी केवली (तथा घातिकर्मो के विजेता होने के कारण) जिन कहलाते हैं । ऐसा अनादिनिधन जिनागम मे कहा गया है ।

चारित्र—

चरण हवइ सधम्मो, धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।

चारित्र धर्म है । यह धर्म आत्मा का साम्य भाव है ।

एयं चयरित्तकर चरित्त होइ आहियं ।

कर्मों के चय-राशि को रिक्त (शून्य) करने के कारण इसे चारित्र कहा गया है ।

जीव—

नाणं च दसण चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरिय उवओगो-य एव जीवस्स लक्खणं ।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं ।

तप—

भवकोडी-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ।

जैसे तालाब का जल सूर्य-ताप से अथवा उलीचने से रिक्त हो जाता है, वैसे ही तप के द्वारा करोड़ों भवो के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्ख ।

इच्छाओं का निरोध करना तप है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तीर्थ—

रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तम तित्थ ।
संसारं तरइ जदो, रयणत्तय-दिव्व-णावाए ।।

(वास्तव में) रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम तीर्थ (तट) है, क्योकि वह रत्नत्रय रूपी दिव्य नौका द्वारा ससार-सागर से पार करता है।

द्रव्य—

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खण पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ।।

द्रव्य, गुणो का आश्रय या आधार है। जो एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं। पर्यायों का लक्षण द्रव्य या गुण दोनों के आश्रित रहना है।

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पण्णतो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।

परमदर्शी जिनवरो ने लोक को धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इस प्रकार छह द्रव्यात्मक कहा है।

दुःख—

अण्णाणं परम दुक्खं ।

अज्ञान परम दुःख है।

धर्म—

धम्मेण होदि पुज्जो ।

धर्म से प्राणी पूज्य होता है।

देवा वि तं नमस्सति, जस्स धमते सदा मणो

देवता भी धर्मात्मा व्यक्ति को नमस्कार करते हैं।

चत्तारि धम्मदारा

धर्म के चार द्वार हैं—

खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

क्षमा, सतोष, सरलता और विनय।

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तय च धम्मो, जीवाणं रक्खण धम्मो ।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से यह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यक दर्शन-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र) तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है।

उत्तमखममद्दवज्जव-सच्चसउच्च च सजम चेव ।
तवचागमकिंचण्हं, बम्ह इदि दसविहो धम्मो ॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं ।

ध्यान—

जं थिरमज्झवसाण, तं झाण जं चलंतय चित्तं ।
त होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥

स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है । और जो चित्त की चचलता है, उसके तीन रूप हैं—भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता ।

परमाणु—

अतादिमज्झहीणं, अपदेस इदि एहिं णहु गेज्झ ।
ज दव्व अविभत्तं, त परमाणु कहंति जिणा ॥

जो आदि मध्य और अन्त से रहित है, जो केवल एक प्रदेशी है—जिसके दो आदि प्रदेश नही हैं और जिसे इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता, वह विभाग विहीन द्रव्य परमाणु है ।

परमात्मा—

जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥

जीव आत्मा मे तीन प्रकार का है:—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । परमात्मा के दो प्रकार हैं:—अर्हत और सिद्ध ।

अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥

इन्द्रिय-समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाला बहिरात्मा है । आत्मसकल्प-देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा है । कर्म-कलक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है ।

परिग्रहण—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नाय पुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा ॥

ज्ञात पुत्र भगवान महावीर ने (वस्तुगत) परिग्रह को परिग्रह नही कहा है । उन महर्षि ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है ।

पर्याय—

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥

द्रव्य, गुणों का आश्रय या आधार है । जो एक द्रव्य में आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं । पर्यायों का लक्षण द्रव्य या गुण दोनों के आश्रित रहना है ।

प्रमाण—

गेह्णइ वत्थुसहावं, अविरुद्धं सम्मरूव ज णाणं ।
भणिय खु त पमाण, पच्चक्खपरोक्खभेएहिं ।।

जो ज्ञान वस्तु-स्वभाव को—यथार्थ स्वरूप को—सम्यक रूप से जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं । इसके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

पुद्गल—

सद्दन्धयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इवा ।
वण्ण रस गन्ध फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुदगल के लक्षण हैं ।

भय—

सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्सका ।।

सम्यग्दृष्टि जीव नि.शक होते हैं और इसी कारण निर्भय भी होते हैं । वे सात प्रकार के भयो—इस लोक का भय, परलोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मृत्यु भय, वेदना भय और अकस्मात भय—से रहित होते हैं, इसीलिये नि:शक होते हैं । (अर्थात् नि:शकता और निर्भयता दोनो एक साथ रहने वाले गुण हैं ।)

भाषा—

असच्चमोस सच्च च अणवज्जमकक्कस ।
समुप्पेहमसदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवे ।।

बुद्धिमान को ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जो व्यवहार मे सत्य हो, तथा निश्चय मे भी सत्य हो निरवद्य हो, अकर्कश-प्रिय हो, हितकारी हो तथा असदिग्ध हो।

मार्दव—

कुलरूवजादिवुद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारव किंचि ।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्म हवे तस्स ।।

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का तनिक भी गर्व नही करता, उसके मार्दवधर्म होता है ।

मोक्षमार्ग—

धम्मादी सद्दहण, सम्मत्तं णाणभगपुव्वगद ।
चिट्ठा तवंसि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ।।

छह धर्म (छह द्रव्य) तथा तत्वार्थ आदि का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । अगों और पूर्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्चारित्र है । यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है ।

लोभ—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है माया मैत्री को नष्ट करती है, और लोभ सब कुछ नष्ट करता है ।

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे ।
माय चऽज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥

क्षमा से क्रोध का हनन करें, मार्दव से मन को जीतें, आर्जव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतें ।

विनय—

बिणओ मोक्खद्दारं, विणयादो सजमो तवो णाण

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम तप और ज्ञान प्राप्त होता है ।

ब्रह्मचर्य—

सील मोक्खस्स सोपाण ।

ब्रह्मचर्य मोक्ष की सीढी है ।

श्रमण—

समणो त्ति संजदो त्ति य, रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति ।
णामाणि सुविहिदाण, अणगार भदंत दंतो त्ति ॥

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग अनगार, भदन्त, दान्त-ये सब शास्त्र-विहित आचरण करने वालों के नाम हैं ।

श्रमण धर्म—

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बंभचेखाऐ ।

श्रमणधर्म दस प्रकार का है, यथा (1) क्षमा, (2) निर्लोभता (3) सरलता (4) मृदुता (5) लघुता, (6) सत्य, (7) संयम, (8) तप, (9) त्याग, (10) ब्रह्मचर्य ।

संत—

निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएस, तऐसु थावरेसु य ॥

संत, ममता रहित, अहंकार से मुक्त, सब प्रकार की आसक्ति (संग) से दूर, गौरव (मद) का त्याग कर त्रस एवं स्थावर सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखता है ।

संयम—

वय-समिदि-कसायाण, दंडाण तह इदियाण पचण्ह ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ सजमो भणिओ ॥

व्रत धारण, समिति पालन, कषाय निग्रह, मन-वचन-काया की प्रवृति रूप दण्डो का त्याग, पंचेन्द्रिय-जय-इन सबको सयम कहा जाता है।

समता—

चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

वास्तव मे चरित्र ही धर्म है। इस धर्म को शमरूप कहा गया है। मोक्ष व क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ही शम या समतारूप है।

सत्य—

अविस्सासो य भूयाण
तम्हा मोस विवज्जए ।

झूठ बोलने वाला सभी लोगों का विश्वास खो बैंठता है, इसलिये असत्य भाषण करना उचित नही।

सच्च हि तवो सच्चम्मि संजमो तह्व य ऐसया वि गुणा
सच्चं णिवंधण हि य गुणाणमुदधीव मच्छाण ॥

सत्य ही तप है। सत्य मे ही संयम और शेष सभी गुण समाहित हैं। जैसे समुद्र मछलियो का आश्रय स्थल है, वैसे ही सत्य सभी गुणो का आश्रय स्थल है।

असच्चमोस सच्च च अणवज्जमकक्कस ।
समुप्पेहमसदिद्ध गिर भासेज्ज पन्नव ॥

बुद्धिमान को ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जो व्यवहार मे सत्य हो, तथा निश्चय में भी सत्य हो, निर्बाध हो, अकर्कश प्रिय हो, हितकारी हो तथा असदिग्ध हो।

सम्यकत्व—

जीवादि सद्दहण, सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्त ।
ववहारो णिच्छयदो, अप्पा ण हवइ सम्मत्त ॥

व्यवहार लय से जीवादि तत्वो के श्रद्धान को जिन देव ने सम्यक्तव कहा है। निश्चय से तो अत्मा ही सम्यग्गर्शन है।

तहियाण तु भावाण सब्भावे उवएसण ।
भावेण सद्दहतस्स सम्मत्त त वियाहिय ॥

स्वयं ही अपने विवेक से अथवा किसी के उपदेश से सद्भूत तत्वों के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा, विश्वास करना सम्यक्त्व कहा गया है।

सम्यक दर्शन—

ज मोण त सम्म, ज सम्म तमहि होइ मोणं ति ।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्म सम्मत्तहेऊ वि ॥

निश्चय से जो मौन है वही सम्यग्दर्शन है, और जो सम्यग्दर्शन है, वही मौन है। व्यवहार से जो निश्चय सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, वे भी सम्यग्दर्शन हैं।

सम्यक ज्ञान—

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥

आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है वही सम्यग्ज्ञान है, और उसमें स्थित रहना ही सम्यक् चारित्र है।

सम्यक चारित्र—

णिच्छयणयस्य एव, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सोलइ णिव्वाणं ॥

निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिये तन्मय होना ही (निश्चय) सम्यक चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

ज्ञान—

णाणं णरस्स सारो
णाणुज्जावस्स णत्थि पणिद्यादो।

ज्ञान मनुष्य का सार है
ज्ञान के प्रकाश को कोई नष्ट नहीं कर सकता।

भगवान महावीर
जीवन-दर्शन-देन

तृतीय खण्ड

भगवान महावीर
जीवन और दर्शन

—पं कैलाश चन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य

भगवान महावीर, जिनके निर्वाण की पच्चीसवी रजत शती की पूर्ति के अवसर पर सर्वत्र महोत्सव मनाये गये हैं, जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। और प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे। उन्ही के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

जब भगवान ऋषभदेव को पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्होंने अपने उपदेश मे कहा कि मेरे पश्चात् तेईस तीर्थंकर और होंगे तो किसी ने प्रश्न किया—क्या यहाँ उपस्थित जन समुदाय मे कोई ऐसा व्यक्ति है जो भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है? भगवान ने उत्तर दिया—भरत का पुत्र मरीचि अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह बात मरीचि ने भी सुनी। और भगवान की वाणी अन्यथा नहीं हो सकती, इस विश्वास के आधार पर अपना तीर्थंकरत्व सुनिश्चित जान वह मदमत्त हो उठा। और उसने अपने कर्मानुसार अनेक गतियो मे भ्रमण किया। प्राचीन जैन आगमो मे भगवान महावीर के पूर्वजन्मो का इतिवृत्त विस्तार से वर्णित है। एक बार वह सिंह की पर्याय मे एक मृग पर झपटते हैं। उधर से जाते हुए मुनिराज की दृष्टि उन पर पडती है। अपने ज्ञान से यह जानकर कि यह जीव भविष्य मे तीर्थंकर होनेवाला है, वे उसे सम्बोधते हैं और यहीं से उनके जीवन का उत्थान प्रारम्भ होता है, और अन्त मे वह वैशाली के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ मे अवतरित होकर महावीर के रूप मे जन्म लेते हैं। और 28 वर्ष की युवावस्था मे प्रव्रजित होकर 12 वर्ष तक कठोर साधना के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर होते हैं और सर्वत्र विहार करके अपने धर्म का उपदेश करते हैं। अन्त मे विहार प्रान्त के ही पावानगर मे उनका निर्वाण होता है। उसी के उपलक्ष मे जैन शास्त्रो में दीपावली का त्यौहार प्रवर्तित होने का उल्लेख मिलता है। यतः भगवान महावीर का निर्वाण अमावस्या को ब्राह्म मुहूर्त मे हुआ था, अतः अन्धकार दूर करने के लिये दीपक जलाये गये थे। वे भगवान के ज्ञान-दीप के प्रतीक भी थे।

भगवान महावीर का यह जीवनदर्शन उनके दर्शन का भी परिचायक है। भगवान महावीर के दर्शन मे अवतारवाद को स्थान नही है।

और प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बन सकने की शक्ति से सम्पन्न माना है। अपने ही दुष्कर्मों से जीव दुर्गति का भागी होता है और अपने ही पुरुषार्थ से निर्वाण प्राप्त करता है। ईश्वरवादी दर्शन जीव को कर्म करने में स्वतंत्र और उसका फल भोगने मे परतंत्र मानते हैं। कहा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः ।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

अर्थात्—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग अथवा नरक मे जाता है।

किन्तु भगवान महावीर के दर्शन में इस प्रकार के ईश्वर की कोई स्थिति नही है। इस दृष्टि से उनका दर्शन निरीश्वरवादी है। जैसे शराब पीने से नशा स्वयं होता है और दूध पीने से स्वयं शरीर में पुष्टि आती है, उसमे ईश्वर का कोई हाथ नही है। उसी तरह दुष्कर्म करने वाले मनुष्य की परिणति स्वयं ऐसी होती है कि वह अपने कर्म से प्रेरित होकर नरक जाता है और शुभकर्म करनेवाला स्वर्ग जाता है। जैन सिद्धान्त में कर्मसिद्धान्त अपना एक विशिष्ट स्वतन्त्र स्थान रखता है। उसकी प्रक्रिया को समझ लेने पर फलदान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जगत का समस्त व्यापार बिना किसी नियन्ता के कार्यकारण भाव की परम्परा पर स्वयं चलता रहता है। जगत की प्रक्रिया ही ऐसी है। उसे न कोई बनानेवाला है और न कोई विनष्ट करने-वाला है।

प्रत्येक वस्तु स्वतः स्वभाव से ही परिणमनशील है। किन्तु वह परिणमन ऐसा नही होता कि वस्तु का सर्वथा विनाश हो जाये या एक तत्व बदलकर दूसरे तत्व रूप हो जाये। दर्शनशास्त्र का एक सामान्य नियम है—सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता। फिर भी वस्तु में प्रति समय उत्पाद-विनाश हुआ करता है।

अनेकान्त—

जैनागम के अनुसार भगवान महावीर के मुख मे जो प्रथम वाक्य निस्सृत हुआ, वह था 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइवा, धुवेइ वा' अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव होती है। इसे जैन दर्शन मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहते हैं। ये तीनो प्रत्येक वस्तु मे प्रति समय सदा हुआ करते हैं। तभी वस्तु सत् होती है। अतः जैन दर्शन मे सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। इसी मे तत्वार्थ सूत्र में कहा है—'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'।

उदाहरण के लिये – जब कुम्हार चाक घुमाकर मिट्टी का बरतन बनाता है तो प्रति समय मिट्टी की पुरानी दशा नष्ट होकर नई दशा उत्पन्न होती है और मिट्टी रूप अवस्था ध्रुव रहती है। पुरानी दशा के नष्ट होने और नई दशा के उत्पन्न होने मे काल भेद नही है, पुरानी दशा का विनाश ही नई दशा का उत्पादन है।

विनाश के बिना उत्पाद नहीं, उत्पाद के बिना विनाश नहीं, और ध्रौव्य के बिना उत्पाद विनाश नही तथा उत्पादन विनाश के बिना ध्रौव्य नहीं। अतः जो उत्पाद है वही विनाश है। जो विनाश है वही उत्पाद है, जो उत्पाद विनाश है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद विनाश है। जैसे घड़े की उत्पत्ति ही मिट्टी की पिण्ड अवस्था का विनाश है क्योंकि भाव भावान्तर के अभाव रूप से अवभासित होता है। जो मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही घट का उत्पाद है क्योंकि अभाव भावान्तर के भावरूप से अवभासित होता है। तथा जो घट का उत्पाद और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही मिट्टी की ध्रुवता है क्योंकि अन्वय का

प्रकाशन व्यतिरेक मुख से ही होता है। तथा जो मिट्टी की ध्रुवता है वही घट का उत्पादन और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रमण नही करता।

यदि ऐसा न माना जाये तो उत्पाद भिन्न, विनाश भिन्न और ध्रौव्य भिन्न ठहरता है। ऐसी स्थिति मे केवल घट का उत्पाद कोई चाहे तो घट उत्पन्न नही हो सकता क्योंकि मिट्टी के पिण्ड का विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नही होता। वही उसका कारण है। उसके बिना तो असत् का उत्पाद मानना होगा और तब आकाश के फूल जैसे असभव वस्तुओ का भी उत्पाद होगा। तथा केवल विनाश चाहने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश नही होगा क्योंकि आगामी पर्याय के उत्पाद के बिना पूर्वपर्याय का विनाश नहीं होता। यदि ऐसा हो तो सत् का विनाश मानना होगा।

पूर्वपर्याय से युक्त द्रव्य उपादान कारण होता है और उत्तरपर्याय से युक्त वही द्रव्य उपादेय कार्य होता है। आप्तमीमासा मे कहा है—

'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक्'। उपादान का पूर्व आकार रूप से विनाश कार्य का उत्पाद है क्योंकि जो कार्य के उत्पाद का कारण है वही पूर्व आकार के विनाश का कारण है। इस प्रकार पूर्व-पर्याय उत्तर पर्याय का कारण होती है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य होती है। इस तरह वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों कालो के प्रत्येक समय मे कार्यकारण भाव हुआ करता है। जो पर्याय अपनी पूर्व पर्याय का कार्य होती है वही पर्याय अपनी उत्तर पर्याय का कारण होती है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है। कार्यकारण की यह परम्परा प्रत्येक द्रव्य मे सदा प्रवर्तित रहती है। उसका अन्त नहीं होता। अत वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक कहा है क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय नही और पर्याय के बिना द्रव्य नही होता, जैसे उत्पाद व्यय के बिना ध्रौव्य और ध्रौव्य के बिना उत्पाद व्यय नही होते। उत्पाद व्यय पर्याय या परिणमन का सूचक है और ध्रौव्य स्थिरता या द्रव्यरूपता का सूचक है।

द्रव्य स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। यदि प्रत्येक वस्तु को सर्वथा सत् माना जाय तो सब वस्तुओं के सर्वथा सत् होने से उनमे जो भेद है उसका लोप हो जायेगा और उसके लोप होने से सब वस्तुएँ परस्पर मे एक हो जायेंगी। उदाहरण के लिये घट और पट ये दो वस्तु हैं। जब हम किसी से घट लाने को कहते हैं तो वह घट ही लाता है पट नहीं लाता, और जब पट लाने को कहते हैं तो पट ही लाता है घट नही लाता। इससे सिद्ध है घट घट ही है और पट पट ही है। न घट पट है और न पट घट है। अतः घट घट रूप से है और पट रूप से नही है। इसी को दार्शनिक भाषा मे कहते हैं घट है और नहीं है। उसका विश्लेषण होता है घट घट रूप से है पट रूप से नही है और पट पट रूप से है घट रूप से नही है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वरूप से है और पर रूप से नही है। अत संसार में जो सत् है वह किसी अपेक्षा असत भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। अत एक ही समय मे द्रव्य सत् भी है और असत् भी है। स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य है क्योंकि द्रव्य रूप का नाश नहीं होता और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है क्योंकि पर्याय विनाशशील है। विश्व के दार्शनिकों की भी दृष्टि में आकाश नित्य है और दीपक क्षणिक है। किन्तु जैन दृष्टि से दीपक से लेकर आकाश द्रव्य तक सम-स्वाभावी हैं। द्रव्य रूप मे दीपक भी नित्य है और पर्याय रूप से आकाश भी क्षणिक है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु एक भी है और अनेक भी है। पर्याय की अपेक्षा अनेक है क्योंकि वस्तु प्रति समय परिणमनशील है और द्रव्य रूप से वस्तु एक है। तथा एक ही समय मे वस्तु भेद रूप भी और अभेद रूप भी है। द्रव्य रूप से अभेद रूप है और गुणों तथा पर्यायों के भेद से भेद रूप है। इस तरह वस्तु परस्पर मे विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मात्मक होने से अनेकान्तात्मक है। अन्त शब्द धर्मवाचक है। यो तो सभी दार्शनिक वस्तु मे अनेक धर्म मानते है। केवल एक ही धर्म वाली कोई वस्तु नही है। किन्तु जैन दर्शन अपेक्षा भेद या दृष्टि भेद से एक ही वस्तु मे ऐसे अनेक धर्म मानता है जो परस्पर मे विरुद्ध जैसे प्रतीत होते हैं—जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि। आचार्य समन्त भद्र ने अपने आप्त-मीमांसा प्रकरण में और आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति प्रकरण में इसकी व्यवस्थापना की है।

अकलंक देव ने अपनी अष्टशती मे कहा है—

'सदसन्नित्यानित्यादि सर्व थैकान्त प्रतिक्षेपल क्षणो अनेकान्त'। सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि सर्वथा एकान्त का प्रतिक्षेप लक्षणवाला अनेकान्त है अर्थात् सर्वथा एकान्त का निषेधक है किन्तु अपेक्षा भेद से एकान्त को स्वीकार करता है। यदि एकान्त को सर्वथा न माना जाये तो अनेकान्त भी नही बन सकता क्योंकि एकान्तो का समूह ही तो अनेकान्त है। कहा है—

'एयतो एयणओ होइ अणेयत तस्स समूहो'
नयचक्र १८०।

एक दृष्टि को एकान्त कहते हैं और उसका समूह अनेकान्त है। अनेकान्त को समझाने के लिये शास्त्रकारो ने दो लौकिक दृष्टान्त दिये हैं। एक ही पुरुष मे पिता, पुत्र, पौत्र, भानेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक ही समय मे वह पिता भी होता है और पुत्र भी। एक का पिता और पुत्र होना परस्पर विरुद्ध जैसा लगता है किन्तु वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता है, अतः एक का पिता होने से वह सब का पिता या पुत्र नही होता। और न इन बहुत सम्बन्धों का पुरुष के एकत्व के साथ विरोध है। इसी तरह अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्म भी एक वस्तु मे निर्विरोध रहते हैं।

दूसरा दृष्टान्त दिया है अन्धो और हाथी का। कुछ अन्धे एक ही हाथी के एक-एक अग को स्पर्श द्वारा जानकर अपने जाने हुए हाथी के एक अग को ही हाथी मानकर परस्पर मे झगड़ते हैं। तब एक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति जिसने पूरा हाथी देखा है उन्हें समझाता है कि तुमने हाथी का एक-एक अग देखा है, वह असत्य नही है। हाथी की सूड [illegible] [illegible] होती है अतः हाथी वैसा भी है। उसके पैर स्तम्भ जैसे होते हैं अतः हाथी स्तम्भ जैसा भी है। इस तरह वह सबका समन्वय करके पूर्ण हाथी उन्हे बतला देता है। इसी तरह वस्तु के सब धर्मों का दर्शन अनेकान्त है और एक धर्म का दर्शन एकान्त है। यदि वह एकान्त अन्य धर्मों का निषेध न करके उनकी सापेक्षता स्वीकार करता है तब वह एकान्त सम्यक् है और यदि वह अपने को ही सम्यक् मानता है और अन्य एकान्तो को असत्य ठहराता है तो वह एकान्त मिथ्या है। अनेकान्तवादी जैन दर्शन सम्यक् एकान्तो को स्वीकार करता है किन्तु मिथ्या एकान्तो का खण्डन करता है।

एक अनेकात्मक होता है यह प्रायः अन्य दर्शनो ने भी माना है। साख्य दर्शन मे सत्व रज और तम की साम्यावस्था को प्रधान कहा है। सत्त्वगुण का स्वभाव प्रसाद और लाघव है। रजोगुण का स्वभाव शोष और ताप है। तमोगुण का स्वभाव आवरण और सादन है। इस प्रकार इन भिन्न स्वभाववाले गुणों का न तो परस्पर में विरोध है और न प्रधान रूप से विरोध है क्योंकि साख्य दर्शन में कहा है कि इन गुणो से भिन्न

कोई अलग प्रधान नही है किन्तु साम्य अवस्था को प्राप्त वे ही गुण प्रधान नाम से कहे जाते हैं। अत प्रधान के अवयव रूप गुणो का और उनके समुदाय रूप प्रधान का परस्पर मे कोई विरोध नही है।

वैशेषिक दर्शन मे सामान्य को अनुवृत्ति रूप और विशेष को व्यावृत्ति रूप माना गया है। किन्तु पृथिवीत्व आदि को सामान्य विशेष रूप स्वीकार किया है। एक ही पृथिवीत्व अपने भेदो मे अनुगत होने से सामान्य रूप और जलादि से व्यावृत्ति कराने से विशेष रूप माना गया है, इसी से उसे सामान्य विशेष कहा गया है।

विज्ञानाद्वैतवादी एक ही विज्ञान को ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और सवेदनाकार इस प्रकार तीन आकार रूप स्वीकार करते हैं। तथा सभी दार्शनिक पूर्व अवस्था को कारण और उत्तर अवस्था को कार्य स्वीकार करते हैं। अत एक ही पदार्थ मे अपनी पूर्व और उत्तर पर्याय की दृष्टि से कारण और कार्य का व्यवहार निर्विरोध होता है। उसी तरह सभी पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओ से अनेक धर्मवाले होते हैं। इसे ही अनेकान्त कहते हैं।

इस अनेकान्तवाद का खण्डन बादरायण के सूत्र 'नैकस्मिन्नसभवात्' (2/5/33) मे मिलता है। इसकी व्याख्या मे स्वामी शकराचार्य ने अनेकान्तवाद पर जो सबसे बडा दूषण दिया है वह है 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है और नही भी है' ऐसा कहना अनिश्चितता को बतलाता है। और अनिश्चितता सशय को पैदा करती है। किन्तु ऊपर स्पष्ट किया गया है कि वस्तु स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है। यह निश्चित है—इसमे अनिश्चितता को स्थान नही है। देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी है, इसमे जैसे कोई अनिश्चितता नहीं है क्योकि वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, उसी तरह वस्तु सत् भी है और असत् भी, इसमे कोई अनिश्चितता नही है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होती है यह निश्चित है। इसके बिना वस्तु व्यवस्था नही बनती। वस्तु का वस्तुत्व दो मुद्दो पर स्थापित है—स्वरूप का ग्रहण और पर रूपो का त्याग। यदि इनमे से एक भी मुद्दे को अस्वीकार किया जाय तो वस्तु का वस्तुत्व कायम नही रह सकता। यदि वस्तु का अपना कोई स्वरूप न हो तो बिना स्वरूप के वह वस्तु नहीं हो सकती। इसी तरह स्वरूप की तरह यदि वह पर रूप को भी अपनाले तो भी उसकी अपनी स्थिति नही रहती। वह तो सर्वात्मक हो जायेगी।

स्याद्वाद—

इस प्रकार जब वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों का समूह है तो उसको जानना उतना कठिन नही है जितना उसे कहना कठिन है। क्योकि एक ज्ञान अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है किन्तु शब्द के द्वारा एक समय मे वस्तु के एक ही धर्म को कहा जा सकता है। उस पर भी शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों मे से किसी एक धर्म को मुख्य करके बोलता है। जैसे देवदत्त को उसका पिता पुत्र कहकर बुलाता है और पुत्र पिता कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता है और न केवल पुत्र है। वह तो दोनो है। किन्तु पिता की दृष्टि से देवदत्त का पुत्रत्व धर्म मुख्य है और पुत्र की दृष्टि से पितृत्व धर्म मुख्य है। शेष धर्म गौण है क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य और शेष धर्म गौण होते हैं। अत वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने और शब्द मे एक समय मे उन सब धर्मों को कहने की शक्ति न होने से तथा वक्ता का अपनी-अपनी दृष्टि से वचन व्यवहार करते देखकर, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने मे श्रोता को कोई धोखा न हो, इसलिये अनेकान्तवाद मे से स्याद्वाद का आविष्कार हुआ।

आचार्यों ने अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहा है। 'स्याद्वाद' के अनुसार वक्ता वस्तु के जिस धर्म को कहता है उससे इतर शेष धर्मो का सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से सम्बद्ध रहता है जो बतलाता है कि वस्तु में केवल वही धर्म नही है जो कहा जा रहा है किन्तु उसके सिवाय अन्य भी धर्म है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथञ्चित्' या किसी 'अपेक्षा से' है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेय विशेषक॥

—आप्तमीमासा—१०४।

अर्थात् 'कथञ्चित्' कथञ्चन आदि स्याद्वाद के पर्याय हैं, स्याद्वाद को कहते हैं। यह स्याद्वाद अनेकान्त को विषय करके सात भगो और नयों की अपेक्षा से स्वभाव और परभाव से सत् असत् आदि की व्यवस्था का कथन करता है।

अतः वाक्य के साथ प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द प्रकृत अर्थ के धर्मों को पूर्ण रूप से सूचित करता है। इस तरह अकलक देव के अभिप्राय से 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का सूचक है और उनके व्याख्याकार आचार्य विद्यानन्द के अभिप्राय से अनेकान्त का द्योतक भी है क्योकि निपात द्योतक भी होते हैं। यदि केवल 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाये तो अनेकान्त सामान्य की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः उसके साथ जीव आदि पद का प्रयोग किया जाता है यथा 'स्यात् जीव' अर्थात् कथचित् जीव है—स्वरूप की अपेक्षा जीव है तथा पररूप की अपेक्षा जीव नहीं है। स्यात् शब्द के बिना अनेकान्त अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु लोक मे और शास्त्र में प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् पद का प्रयोग तो नही देखा जाता। तब उसके बिना अनेकान्त की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर मे आचार्य विद्यानन्द ने कहा है—स्यात् पद का प्रयोग नही होने पर भी उसको जाननेवाले उसे समझ लेते हैं।

कोई-कोई आधुनिक विद्वान शायद को स्यात् का स्थानापन्न समझते हैं किन्तु यह ठीक नही है। 'शायद' शब्द तो सन्देह को व्यक्त करता है किन्तु 'स्यात्' शब्द सन्देहपरक नही है। वह केवल इस बात का सूचक या द्योतक है कि वक्ता विवक्षावश वस्तु के जिस धर्म को कहता है वस्तु में केवल वही एक धर्म नही है अन्य भी प्रतिपक्षी धर्म हैं।

उपयोग—

यह स्याद्वाद या अपेक्षावाद न केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही उपयोगी है किन्तु लोकव्यवहार भी उसके बिना नही चलता। इसके लिये दो लौकिक दृष्टान्त ऊपर दिये गये हैं। यह अनेकान्तवाद की देन है और एक वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखनेवाले विभिन्न व्यक्तियों में सामन्जस्य स्थापित करना इसका काम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही दृष्टिकोण को उचित और दूसरो के दृष्टिकोण को गलत मानता है। यदि वह अपने दृष्टिकोण की तरह दूसरे दृष्टिकोणों को भी सहानुभूतिपूर्वक अपनाये तो पारस्परिक विवाद समाप्त हो जाता है। यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दार्शनिक क्षेत्र की देन हैं और इनका उपयोग भी दार्शनिक क्षेत्र के विवादों को सुलझाने में ही हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी एकान्तवादों मे दोष दिखाकर यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि यदि इनका समन्वय स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है तो ये विरोधी वाद भी अविरुद्ध हो जाते हैं। भावैकान्त अभावैकान्त, नित्यैकान्त अनित्यैकान्त, भेदैकान्त अभेदैकान्त, अद्वैतैकान्त द्वैत-

कान्त, आदि सभी विरोधी एकान्तवादो का जब समन्वय सभव है तब कौनसी ममस्या इसके द्वारा हल नही की जा सकती। किन्तु उसका प्रयोग करने की आवश्यकता है। इसके लिये मूल में महावीर की अहिंसक भावना होना आवश्यक है। अहिंसक भावना की ही देन अनेकान्त और स्याद्वाद है। विचार के क्षेत्र मे जो हिंसा का ताण्डव होता था उसे मिटाने के लिये ही अनेकान्त और स्याद्वाद का सर्जन हुआ। इनके बिना विचार के क्षेत्र मे प्रवर्तित हिंसा का मिटना अशक्य है। अत: अहिंसा का ही एक नाम अनेकान्त और स्याद्वाद है यदि ऐसा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही है। इसे हम सत्याग्रह भी कह सकते हैं क्योकि अनेकान्ती सत्य के प्रति आग्रही होता है। जो सत्य है वह अनेकान्त रूप है और जो अनेकान्त रूप है वही सत्य है। अनेकान्त दृष्टि के बिना सत्य तक पहुँचना सभव नहीं है। अत सत्य के खोजी को अनेकान्त दृष्टि से सम्पन्न होना चाहिये तभी वह सत्य द्रष्टा हो सकता है।

तीर्थंकर महावीर और उनकी सामाजिक क्रान्ति

चन्दनमल वैद

वैशाली के राजकुमार वर्द्धमान एक ऐसे क्रान्ति-दृष्टा युग पुरुष थे जो कठोर साधना के परिणाम स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त कर आत्मविजयी हो महावीर बने जिन परिस्थितियों ने वर्द्धमान को महावीर बनने को प्रेरित किया उनके मूल में मुख्यत: तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियां ही थीं, जिनमें राजनीतिक अस्थिरता, हिंसा, कलह, तथा शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था, ईश्वरवाद, पाखंडवाद, अन्ध विश्वास व बलि प्रथा पर आधारित धार्मिक व्यवस्था तथा इनकी प्रतिक्रिया स्वरूप दास प्रथा, भेदभाव पूर्ण वर्ण व्यवस्था का प्राधान्य था जिसके कारण सामाजिक एवम् चारित्रिक मानदण्ड चरमरा रहे थे। राज्य शासक वर्ग में तीव्र विद्वेष के कारण हिंसामय वातावरण व्याप्त था, दासी को पशु तुल्य तथा नारी को भोग्य सामग्री समझा जाता था, जिसके कारण सम्पूर्ण देश और सभ्यता पतन के गर्त में समाती जा रही थी।

वर्द्धमान ने जब यह सब देखा तो उनका मन घृणा और ग्लानि से द्रवित हो उठा और वह राज परिवार छोड़ क्रान्तिपथ पर अग्रसर हो गए। निरन्तर बारह वर्ष तक कठोर साधना के उपरान्त केवलज्ञान को प्राप्त वर्द्धमान ने देश के कोने-कोने में भ्रमण कर जन-मत जाग्रत किया और तत्कालीन समाज में व्याप्त दोष-पूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध अहिंसक क्रान्ति का सूत्रपात कर ऐसी सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया जिसने सम्पूर्ण देश की सामाजिक परिस्थितियों को झकझोर कर जन-जन में आत्म विश्वास की लहर जगा दी।

भगवान महावीर ने तत्कालीन समाज में, धार्मिक क्षेत्र में धर्म प्रमुखों द्वारा प्रचलित उन समस्त विचार-धाराओं और अन्ध विश्वासों को खण्डित किया जिसके अनुसार धर्मगुरुओं ने ईश्वरवाद की धारणा प्रचलित कर राजा को ईश्वर का अवतार, ब्राह्मण को ईश्वर का प्रवक्ता तथा पराजित व्यक्ति को दास और विजेता को स्वामी माना जाता था। महावीर ने कहा कि राजा देव या ईश्वरीय अवतार नहीं है, वह एक शक्ति सम्पन्न पुरुष मात्र है। ईश्वर या उसके अवतार जैसी किसी चीज का कोई अस्तित्व नहीं है। विश्व में कोई दूसरी ऐसी शक्ति नहीं है जो व्यक्ति की गतिविधियों को

शासित या निर्धारित करती हो अथवा संसार को चलाती हो। मनुष्य स्वय अपना स्वामी है, वह जो कुछ करता है उसका परिणाम उसे स्वय को ही जन्म जन्मान्तर मे भोगना होगा। कोई दूसरी शक्ति उसे इससे मुक्त नही करा सकती, इससे तो वह स्वय के ही सदकर्मों से मुक्ति पा सकता है।

तीर्थंकर महावीर और उनसे पूर्व तीर्थंकरों द्वारा अवतारवाद की धारणा का खण्डन कर उन पर मानवीय मूल्यो की महत्ता, उनके धर्म का विशिष्ट गुण है। अन्य सस्कृतियो में जहा विभिन्न महापुरुषो को धर्म गुरुओ ने ईश्वरवाद के चौखटे मे जड, मानव से अलग कर उन्हें ईश्वरीय अवतार के रूप मे प्रतिष्ठित किया और उनके व्यक्तित्व को विकृत कर अवतारवादी ढाचे मे जड दिया। वहा तीर्थंकर महावीर के अनुयायीयों की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि ही कही जायगी कि उन्होने अपने को इससे मुक्त रख महावीर को तीर्थंकर या महा मानव के रूप में ही प्रतिष्ठित किया जिसके कारण मानवीय मूल्यों की स्थापना में जैन सस्कृति अग्रणी मानी जाती है।

तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन भारत में प्रचलित वर्ण व्यवस्था तथा दास व्यवस्था पर भी प्रहार किया जिसमें मनुष्य की जन्मगत महानता स्थापित होती थी। उन्होने कहा कि सभी मनुष्य एक से पैदा होते हैं, सभी को अपना विकास करने का समान अधिकार है। मनुष्य की प्रतिष्ठा और स्थान जन्मगत विशेषताओ के आधार पर नही वरन उसके गुणो एवम् सदकर्मों पर आधारित हो, इसलिये उन्होने जन जागृति का माध्यम अपनाया उन्होंने अनेकों शूद्रो को दीक्षित किया तथा दासो को मुक्त कराकर उन्हें सम्मान जनक स्थान दिया। उनके उपदेशो के समय सभी जाति, वर्ग और वर्ण के नर-नारी ही नही वरन सभी प्रकार के जीव साथ बैठकर उपदेश सुनते थे। अनेकों नारियो को दीक्षित कर उन्होने नर के समान सम्मान एवम् स्थान प्रदान किया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने साम्प्रदायिक भेदों को समाप्त कर पाखडवाद व वर्ण एव वर्ग भेद की ज जीरो को तोडकर प्राणी मात्र के सहअस्तित्व व लोककल्याण का, तथा मनुष्य की जन्मगत महानता के स्थान पर सदकार्यों से उनकी महानता व ईश्वर सम्बन्धी अवतार वादी विचार के स्थान पर शुद्ध आत्मा ही परमात्मा का विचार देकर मानव धर्म की स्थापना कर मानवीयता को नई दिशा दी।

तीर्थंकर महावीर ने अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण समाज व्यवस्था के सभी कारको को आन्दोलित कर नवीन स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को पुरुषार्थ प्रदर्शित करने को प्रेरित किया तथा श्रम को जीवन का आवश्यक अग बताते हुए उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर तत्कालीन समाज मे आर्थिक विषमता के कारण उत्पन्न वर्ग भेद पर भी प्रहार किया जिसके कारण तत्कालीन समाज दो वर्गों में बट गया था, एक कुलीन तथा शोषक वर्ग और दूसरा निम्न तथा शोषित वर्ग। तीर्थंकर महावीर स्वय राजपुत्र होने के नाते सग्रहवृत्ति से उत्पन्न दोषों तथा समस्याओं से परिचित थे। इस व्यवस्था के विकल्प मे उन्होने अपरिग्रह दर्शन दे, मनुष्य को अपनी मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु परिग्रह व्रत धारण करने की शिक्षा दी।

इस प्रकार जहा तीर्थंकर महावीर ने सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन कर आदर्श समाज की स्थापना पर बल दिया वहा सम्पूर्ण जीवन दर्शन प्रदान कर आदर्श परिवार पर भी बल दिया था तथा ग्रहस्थ एव साधु के लिये प्रथक-प्रथक आचार संहिता दी। उन्होने इकाई के सुधार पर बल देते हुए प्रत्येक व्यक्ति को दशलक्षण धम तथा पच महाव्रतों के पालन का

उपदेश दे स्वय अनुशासन बद्ध जीवन पद्धति के पालन का उपदेश दिया। इसके लिये उनके सर्वाङ्गीण शिक्षा पर बल दिया जिसके आधार पर धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना तथा आदर्श विश्व का निर्माण हो सकता हैं।

तीर्थंकर महावीर के सिद्धान्त और उपदेश पूर्ण शास्वत एव मौलिक होने से आज भी उतने ही उपयोगी हैं। जिन-सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं ने उन्हें तत्कालीन समाज में सामाजिक क्रान्ति को प्रेरित किया था उनमे से अनेक दोष परिवर्तित परिवेशों मे वर्तमान समाज में भी व्याप्त होते जा रहे हैं। आर्थिक असमानता, अस्प्रश्यता एवं भेदभाव, विद्वेष, सामाजिक असतुलन तथा शोषकवृत्ति आज भी नवीन स्वरूपो मे समाज के कोढ की तरह विद्यमान है, जिनके विरुद्ध तीव्र किन्तु अहिंसक सामाजिक क्रान्ति की नितान्त आवश्यकता है। युग पुरुष महात्मा गाधी ने तीर्थंकर महावीर के विचारो को नवीन परिवेशो मे स्थापित कर वर्तमान भारत मे जिस सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया तथा स्वाधीनतोपरान्त हमारे नवीन सविधान, मे वर्णित निर्देशक सिद्धान्तो ने जिसे गति दी है, उनकी पूर्ति के लिये तथा आदर्श समाज की स्थापना के लिये आज तीर्थंकर महावीर के सिद्धान्तो के प्रचार व प्रसार की जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नही थी।

वर्तमान युग में महावीर के उपदेशों की सार्थकता

महावीर कोटिया

सन् 1969 में जब महात्मा गाँधी का जन्म-शताब्दी समारोह देश-विदेश मे मनाया गया था, कुछ व्यक्तियो ने खुले आम कहा था कि अब लोगों के सोचने का ढग कुछ और हो गया है, समाज की मान्यताएँ बदल गई हैं, देश का मुंह दूसरी ओर हो गया है, ऐसी दशा में गाँधी जी के नाम और सिद्धान्तो का ढिढोरा पीटने से लाभ क्या है ? उन लोगो की धारणा यह थी कि गाँधीजी के उसूल पुराने पड गये हैं, और आज युग के लिए उनकी कोई सार्थकता नही है। पाठक भूले नही होंगे कि इस सदर्भ में बहुत-सी गोष्ठियाँ आयोजित की गई, समाचार-पत्रों में लेख लिखे गये, काफी साहित्य का प्रकाशन किया गया और यह सिद्ध करने की भरपूर कोशिश की गई कि गाँधीजी के सिद्धान्त आज भी उपयोगी हैं और कि वे युग-युगान्तर तर्क सगत एव उपयुक्त रहेंगे।

जिनके निधन को मुश्किल से 27 वर्ष हुए हैं, उन गाँधीजी के बारे में जब ऐसा कहा जा सकता है, तब भगवान महावीर के विषय मे यही बातें कही जाएँ तो आश्चर्य क्या, जिनके निर्वाण को 2500 वर्ष हो गये। सच यह है कि हमारे देश मे महापुरुषो के सिद्धांतों की मूल आत्मा को समझकर आत्मदर्शन करने का प्रयास बहुत कम हुआ है। यही कारण है कि महापुरुषो का निरन्तर गुणानुवाद करके भी हम उनके आत्म-शोधक तथा लोककल्याणकारी मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाये।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव को 13 नवम्बर, 1974 से 15 नवम्बर 1975 तक देश विदेश में मनाने की योजना बडी भावना, उमग और उत्साह से बनाई गई। राष्ट्रीय समिति बनी, जैन महासमिति का गठन हुआ, विभिन्न प्रान्तो मे समितियों का निर्माण किया गया, छोटी-बडी अन्य सस्थाओ ने भी अपने-अपने क्षेत्र मे, अपने-अपने साधनों के अनुसार इस महायज्ञ में अपना हविर्भाग अर्पित करने की चेष्टाएँ कीं। योजनाएँ

बनीं, उन्हें क्रियान्वित करने के लिए निजी एव सामूहिक प्रयास भी हुए। कुछ योजनाए पूरी हुईं, कुछ अधूरी रह गईं, शायद भविष्य मे पूरी हो। लेकिन कुल मिलाकर मुझे ऐसा लगता है कि इतनी भावना और साधना के बाद भी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर महावीर और उनके सिद्धान्तों का जो प्रभाव पड़ना चाहिए, वह पड़ा दिखाई नही देता।

इसका मुख्य कारण यह है कि महावीर की भूमिका के बाह्यरूप पर तो बल दिया गया, लेकिन उनके आन्तरिक रूप को गहराई से समझने और पकडने की कोशिश नहीं की गई। इसमें कोई सन्देह नही कि आज युग की धारा अत्यन्त उद्दम गति से भौतिकता की ओर प्रवाहित हो रही है और उसकी दिशा को बदलना आसान नहीं है, फिर भी यदि महावीर के सिद्धान्तो के स्थूल प्रतिपादन के साथ-साथ उनकी भूमिका को समझकर उसका वैयक्तिक एव सामूहिक जीवन में प्रवेश कराने के लिए प्रयत्न किये गये होते तो आज स्थिति कुछ और ही होती।

आइये, आज के बदले संदर्भों में हम महावीर के उपदेशों की उपयोगिता को देखने और समझने का प्रयत्न करें।

पाठक जानते हैं कि महावीर राज-घराने में जन्मे थे। उनके चारों ओर विपुल सम्पदा थी, अपार वैभव था, अतुलित सत्ता थी; लेकिन धन-सम्पदा अथवा सत्ता के द्वारा उन्होंने समाज का भला करने की बात क्यों नहीं सोची?

इस प्रश्न का उत्तर उनके जीवन की एक घटना देती है।

एक दिन महावीर कहीं जा रहे थे। अचानक बस्ती के एक भवन से उन्हें किसी का क्रन्दन सुनायी दिया। राजपुत्र ने अपने परिचारक से पूछा, "यह क्या है? जाओ पता लगाकर आओ।" परिचारक गया, थोड़ी देर मे लौटकर उसने बताया, 'मालिक अपने दास को पीट रहा है।"

"क्यो?" महावीर ने आकुल होकर पूछा।

"इसलिए कि वह खरीदा हुआ है।"

क्या हमारे शासन ने यह अधिकार दे रखा है कि एक आदमी दूसरे को खरीद ले?"

"जी हाँ, खरीदने का ही नही, बल्कि दास को मारने तक का भी अधिकार शासन ने दे रखा है।

महावीर का सम्वेदनशील हृदय इस घटना से मर्माहत हो उठा। ऐसा शासन किस काम का, जो एक व्यक्ति को दूसरे को खरीदने और मारने का अधिकार दे?

हमारा इतिहास बताता है कि अरिष्टनेमि पशुओं का चीत्कार सुनकर अहिंसा के मार्ग के पथिक बन गये थे, पार्श्वनाथ ने जलती लकड़ी में सांपों के एक जोडे को अर्द्धदग्ध देखकर जीवन की नई दिशा में मोड दिया था, बुद्ध संसार से रोग, जरा और मृत्यु की मुक्ति का मार्ग खोजने के लिए गृह-त्याग कर साधना में लीन हो गये थे। महावीर के मन मे भी इस घटना से राज-सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हुई और उनका मन ऐसा जीवन जीने के लिए आतुर हो उठा, जिसमें न कोई किसी का स्वामी हो, न कोई किसी का दास हो, बल्कि जिसमें मानवीय मूल्यों की प्रधानता हो। धन-सम्पदा मे बचपन से ही उन्हें रस नहीं था, इस छोटी-सी घटना ने उन्हें सत्ता से भी विमुख कर दिया। उनके हृदय मे स्वतत्रता की लौ प्रदीप्त हो उठी। मुनि नथमल जी 'श्रमण महावीर' में लिखते हैं, "वह लौ इतनी उद्दम थी कि, ऐश्वर्य की हवा की प्रखर झाकी

भी उसे बुझा नही पा रही थी। कुमार घर की दीवारो में बन्द रहकर भी मन की दीवारो का अतिक्रमण करने लगे। किसी वस्तु मे बद्ध रहकर जीने का अर्थ उनकी दृष्टि मे था स्वतन्त्रता का हनन। उन्होने स्वतन्त्रता की साधना के तीन आयाम एक साथ खोल दिये, एक था अहिंसा, दूसरा सत्य और तीसरा ब्रह्मचर्य। अहिंसा की साधना के लिए उन्होने मैत्री का विकास किया। उनसे सूक्ष्म जीवो की हिंसा भी असभव होगी। सत्य की साधना के लिए वे ध्यान और भावना का अभ्यास करने लगे। मैं अकेला हूं, इस भावना के द्वारा उन्होंने अनासक्ति को साधा और उसके द्वारा आत्मा की उपलब्धि का द्वार खोला। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होंने अस्वाद का अभ्यास किया। शरीर के ममत्व से मुक्ति पा ली, अब्रह्मचर्य की आग अपने-आप बुझ गई।"

वर्तमान युग मे हम धन-सम्पत्ति और सत्ता की प्रभुता देखते हैं, लेकिन महावीर ने उन्हे त्यागा क्योंकि उन्होने इस सचाई को भली प्रकार हृदयगम कर लिया कि सच्चा सुख ऐसा जीवन व्यतीत करने में है, जिसमे छोटे-बडे, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन आदि का भेद-भाव न हो और व्यक्ति आत्मिक सम्पदा का उत्तरोत्तर विकास करे।

हमारी सारी मनोभूमिका आज इस प्रकार की हो गयी है कि हम पदार्थ को सुख का साधन मान बैठे हैं और उसी की उपासना कर रहे हैं। हम यह भूल गये हैं कि जो नाशवान है वह स्थायी सुख कभी दे नही सकता। महावीर ने कहा था, "यदि धनधान्य से परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाए, तो भी उसे सन्तोष होने का नही।"

"हाथ मे दीपक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामने का मार्ग दिखाई नही देता, उसी तरह धन के असीम मोह मे मूढ मनुष्य न्यायमार्ग को देखता हुआ भी नही देख सकता।" इसलिए उन्होने आव्हान किया :

> वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं
> ममत्तबधं च महब्भयं।
> सुहावहं धम्मधुरं अनुत्तरं,
> धारेज्ज निव्वाण गुणवहं महं॥

"धन को दुख बढानेवाला, ममत्व-बन्धन का कारण और भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम और महान धर्मधुरा को धारणा करो, जो निर्वाण-गुणो को वहन करने वाली है।

हमारे दु खों का मूल कारण मन की चंचलता है। सोते-जागते, उठते-बैठते, दिन-रात, मन दौड लगाता रहता है। उसे जितना दो, उतना ही वह और मांगता है। कभी सन्तुष्ट नही होता। उसकी चाह बढती ही जाती है। इसलिए महावीर ने सबसे पहला कदम मन को वश मे करने के लिए उठाया। उन्होने घर मे साधना की और समय आने पर सारी सम्पदा और वैभव को त्याग, राजसत्ता को तिलाजलि दी और मन को नियत्रित करके पूर्ण स्वतत्रता अर्जित करने के लिए कठोर साधना के मार्ग पर चल पडे। वस्त्रों तक का त्याग, एकान्त-वास, खान-पान की उपेक्षा, ध्यान में तल्लीनता आदि-आदि उनके प्रयास उसी दिशा के थे। मन पर जैसे-जैसे नियंत्रण होता गया, वैसे-वैसे प्रकाश से जगमगाते एक नूतन लोक मे वह प्रविष्ट होते गये।

सब जानते हैं कि मन की सबसे अधिक उछलकूद उस समय होती है, जब कि वह किसी भी प्रकार के मद से आक्रान्त होता है। बीते युग की स्मृतियाँ और भविष्य की कल्पनाएँ मानवमन को सतत आलोडित करती रहती हैं। महावीर ने उन स्मृतियो और कल्पनाओ के कुच्चक्र से अपने मन को मुक्त करने का उपक्रम किया और ज्यो-ज्यो उनसे उनका नाता टूटता गया,

उनका मन निर्भीक होता गया। बारह बर्ष के उनके साधनाकाल की कैसी-कैसी भयकर घटनाएँ पढने को मिलती हैं। पढ कर रोंगटे खडे हो जाते हैं। मेरी मान्यता है कि उन पर हाथी, नाग आदि के जो आक्रमण हुए, वे उनके अपने विकार ही थे। व्यक्ति विकार-ग्रस्त तभी होता है, जब उसका मन उसके नियन्त्रण मे नही होता। महावीर के मन के नियन्त्रित होते ही उनके विकारो के लिए कोई स्थान न रहा। अतः यह स्वाभाविक ही था कि निराश्रय हो जाने पर विकारों ने कुपित होकर महावीर को भयंकर-से-भयकर यातनाएँ पहुँचाई थी। नाग आदि तो प्रतीक मात्र थे। महावीर को अपने विकारों से किस हद तक जूझना पडा होगा, उसकी सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे रहता और जीता है। किसी के साथ उसका राग होता है, किसी के साथ द्वेष। जिन्हे वह प्रेम करता है, जो उसके काम आते हैं, उनके साथ उसका राग होता है; जिनसे वह घृणा करता है, जो उसे सहयोग नहीं देते, उनके प्रति वह द्वेष रखता है। लेकिन महावीर का मन जैसे ही नियन्त्रण में आया उनके लिए अपने और पराये का भेद जाता रहा, सब उनके अपने हो गये, सबके साथ उनका आत्मीयता का नाता जुड गया। वह वीतराग और वीत-द्वेष हो गये। उनके अन्तस् में सबके प्रति प्रेम का निर्मल-पावन स्रोत फूट उठा। सबके साथ समता-भाव स्थापित हो गया। उन्होने कहा :

"राग-द्वेष ऐसे दो पाप हैं, जो सारे पाप कर्मों को जन्म देते हैं।"

"राग द्वेष को पैदा करने मे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श ये पाँच वस्तुएँ विशेष सहायक होती हैं।" महावीर ने उस सम्बन्ध में मानव की दुर्बलता को ध्यान में रखकर मार्ग सुझाते हुए कहा।

"शब्द श्रोतेन्द्रिय का विषय है। कान में पड़े हुए शब्दों को न सुनना शक्य नहीं। काम मे पडे हुए शब्दों में राग-द्वेष का परित्याग करो।

"रूप चक्षु का विषय है। आँखों के सामने आये हुए रूप को न देखना शक्य नही। आँखो के सामने आये हुए रूप मे राग-द्वेष का परित्याग करो।

"गन्ध नाक का विषय है। नाक के समीप आयी हुई गन्ध को न सूँघना शक्य नही। नाक के समीप आई हुई गन्ध मे राग-द्वेष का परित्याग करो।

"रस जिह्वा का विषय है। जिह्वा पर आये हुए रस का आस्वाद न लेना शक्य नही। जिह्वा पर आये हुए रस मे रागद्वेष का परित्याग करो।

"स्पर्श शरीर का विषय है। स्पर्श का विषय उपस्थित होने पर उसमें राग-द्वेष न करो।"

देश-काल के अनुसार सन्दर्भ बदलते रहते हैं, युग नया परिवेश धारण करता है। लेकिन शाश्वत मूल्यों में कभी परिवर्तन नही होता। भगवान महावीर ने जिन मूल्यो की प्रतिष्ठा की, वे शाश्वत हैं। उनका आरम्भ वैयक्तिक जीवन से होता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश जब तक व्यक्ति के जीवन में नही होगा, वे समाज में प्रविष्ट हो ही नही सकते। इसीलिए कहा गया है कि वैयक्तिक साधना समाज का अधिष्ठान बनती है।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव को मनाने की योजना बनाते समय एक कमी यह रह गयी कि महावीर के सिद्धान्तों को समाज में स्थापित करने पर जितना बल दिया गया, उतना व्यक्ति के जीवन में उन्हें स्थापित करने पर नही दिया गया। यही कारण है कि पूरा वर्ष बीत जाने पर भी हमारे प्रयत्नो का प्रत्यक्षतया विशेष परिणाम सामने नहीं आ पाया।

सन्दर्भ कितने ही बदलें लेकिन महावीर के सिद्धांत हिमालय की तरह अटल हैं, गंगा की तरह पावन हैं। अतः हम स्मरण रखें कि भगवान महावीर को जब तक अपने आन्तरिक जीवन में प्रतिष्ठित नहीं करेंगे तब तक न हमारा मंगल हो सकता है, न समाज का, न राष्ट्र का।

भगवान महावीर और नारी-मुक्ति[१]

पद्मश्री पं. सुमतीबाई शहा

मानव समाज के विकास मे स्त्री व पुरुष दोनो को समान स्थान प्राप्त है। स्त्री और पुरुष दोनों होने से एक घटक को अधिक महत्व दिया जाता है तो समाज सर्वागीण उन्नती नही कर सकता। इसलिए समाज की निर्मिती व मानव का विकास और सामाजिक प्रगति के लिए नारी पुरुष के साथ बराबर काम करती रही है।

अन्य किसी भी धर्म की अपेक्षा जैन धर्म में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसी धर्म ने पुराने मूल्यो को बदल कर उसके स्थान पर परिष्कृत मूल्यो की स्थापना की है। जैन धर्म की दृष्टी से नर और नारी दोनो समान है। भगवान महावीर ने प्रत्येक जीव की स्वतत्रता स्वीकार की है। इसलिए व्रत धारण करने का जितना अधिकार श्रावक को दिया गया है, उतना ही अधिकार श्राविका का बताया है। जैन शास्त्रों मे नारी जाति को गृहस्थ जीवन मे धम्मसहाया (धर्म सहायिका) धर्म-सहचारिणी, देव गुरुजनसकाशा इत्यादि शब्दो मे जगह जगह प्रशसित किया है। नारी को समाज मे सम्मानीय और आदरणीय माना गया है।

महिलाओ को सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में दिए हुए समान अधिकार का बीज जैन धर्म के अत्यन्त प्राचीन काल मे ऋषभनाथ तीर्थंकर ने बोया था। उन्होने गृहस्थावस्था मे ब्राम्ही और सुन्दरी इन दोनो कन्याओ को अक्षरविद्या और अध्यात्मविद्या प्रदान की थी। इतना ही नही भ. वृषभनाथ से उन दोनों ने आर्यिकाव्रत की दीक्षा ली थी। चतुर्विध सघ के आर्यिका सघ गणिनी (प्रमुख) आर्यिका ब्राम्ही ही थी। दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार स्त्रियो को उस काल मे प्राप्त होना यह आध्यात्मिक जगत में क्रान्ति ही थी। यह परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप मे चली आ रही है।

राजा अग्रसेन की कन्या राजुलमती नेमिनाथ के दीक्षा ग्रहण करते ही अर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर हुई। वैशाली के चेटक राजा की कन्या चन्द्रासनी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर भगवान महावीर से दीक्षा ली। सती चन्दनबाला ने वैवाहिक बधन में न बधकर भगवान महावीर से आर्यिका की दीक्षा ली और साध्वियो की प्रमुख

बनी। इस प्रकार जब अन्य धर्म मनीषियो ने स्त्रीयों को पुरुषो का अनुवर्ति माना उस समय भगवान महावीर ने स्त्रियों की स्वतत्रता और उनके समान अधिकार की घोषणा की। आज भी भारत मे हजारो साध्वियाँ आर्यिका का कठिन व्रत धारण कर आत्मकल्याण के साथ-साथ महिलाओ मे आत्मिक जागृती का कार्य कर रही है।

सामाजिक कार्य और जैन नारी :—जैन शास्त्रो के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महावीर के समय मे और उसके पूर्व महिलाओं को आजन्म अविवाहित रहकर समाजसेवा और आत्मकल्याण करने की अनुज्ञा थी। आदिपुराण पर्व 18 श्लोक 76 के अनुसार इस काल मे पुरुषो के साथ ही कन्याओ पर भी विविध सस्कार किये जाते थे। राज्य परिवार से सबधित महिलाओं को विशेषाधिकार प्राप्त थे। कन्या पिता की सपत्ति में से दान भी कर सकती थी। उदाहरण के लिए सुलोचना ने अपनी कौमार्यावस्था मे रत्नमयी जिन प्रतिमा की निर्मिती की थी और उन प्रतिमाओ को प्रतिष्ठा करने के लिए बडे ढग से पूंजीभिषेक विधि का भी आयोजन किया था।

कुछ जैन महिलाएँ राज्य व्यवहार में पूर्ण निपुण थी साथ में उन्होंने राज्य की रक्षा के लिए युद्ध मे प्रत्यक्ष भाग लिया था। इसके लिए अनेक ऐतिहासिक उदाहरण दिए जा सकते है। पजिरि देश के प्रसिद्ध 'सुविध राजा की कन्या अर्धांगिनी ने खारवेल राजा के विरुद्ध किये गये आक्रमण मे उसे सहयोग दिया था। इतना ही नहीं उसने इस युद्ध के लिए महिलाओं की स्वतत्र सेना भी खडी की थी। युद्ध मे राजा खारवेल के विजय पाने पर खारवेल राजा के साथ उसका विवाह हुआ था। गग घराने के सरदार नाम की लडकी और राजा विक्षर लोक विद्याधर की पत्नी सामिमबने युद्ध की सभी कलाओं में पारंगत थी। सामिमबने के मर्मस्थल पर बाण लगने से उसे मूर्च्छा आ गई और भगवान् जिनेन्द्र का नाम स्मरण करते उसने इहलोक की यात्रा समाप्त की।

विजय नगर की सरदार चपा की कन्या रानी भैरवदेवी ने राज्य नष्ट होने के बाद अपना स्वतत्र राज्य स्थापित किया था और वहाँ मातृसत्ताक पद्धति से कई बरसो तक राज्य चलाया था। नालजकोड देशके अधिकारी नागार्जुन की मृत्यु के बाद कदबराज ने उनकी देवी वीरागना जक्कमव के कधो पर राज्यकार्य भार की जिम्मेदारी रखी। आलेखो मे इसे 'युद्ध-शक्ति मुक्ता और 'जिनेंद्र शासन भक्ता' कहा गया है। अपने अत काल तक उसने राज्य कार्य भार की जिम्मेदारी संभाली।

गग राजवश की अनेक नारियों ने राज्यकार्य भार की जिम्मेदारी सभालकर अनेक जिन मदिर व तालाब बनाए। चम्पला रानी का नाम जिन मंदिर निर्मिती और जैन धर्म की प्रभावना के लिए अधिक प्रसिद्ध है। उसी प्रकार श्रवण बेल गोल शिला लेख क्र. 496 से पता चलता है कि णिक्कमब्बे शुभचन्द्र देव की शिष्या थी। योग्यता और कुशलता से राज्यकार्यभार करने के साथ ही धर्म प्रचार के लिए इन्होने अनेक जैन प्रतिमाओं की स्थापना की थी।

जैन नारियों के द्वारा शिल्प व मदिरों का निर्माण किया गया। इसका उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। कलिंगपति राजा खारवेल की रानी ने कुमारी पर्वत पर जैन गुफाओं का निर्माण किया था। सोरे की राजा की पत्नी ने अपने पति का रोग हटाने के लिए एक मदिर व तालाब का निर्माण किया था। यह मदिर आज भी 'मुक्तक्नेरे' नाम से प्रसिद्ध है। आहवमल्ल की राजा के सेनापति मल्लम की कन्या 'अंतिमबब्बे' दानशूर व जैन धर्म पर श्रद्धा रखने वाली थी। उसने चाँदी और सोने की अनेक जैन प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। उसने लाखों रुपयों का दान दिया था। उसे अनेक

ग्रथो में 'दानचिंतामणी' पदवी से विभूषित किया गया है। विष्णुवर्धन राजा की रानी शातल देवी ने सन् 1123 मे श्रवणबेलगोल में भगवान जिनेन्द्र की विशालकाय प्रतिमा स्थापित की थी। सन् 1131 मे सल्लेखना व्रत का पालन कर शरीर-त्याग किया था।

साहित्य क्षेत्र में कार्य :—अनेक जैन नारियो ने लेखिका और कवियित्री के रूप मे साहित्य जगत मे प्रसिद्धि प्राप्त की है। सन 1566 मे कवियित्री 'रणमति' ने 'यशोधर काव्य' नामका काव्य लिखा। आर्यिका रत्नमती की 'समकितरास' यह हिन्दी-गुजराती मिश्रित काव्य-रचना उपलब्ध है। महाकवियित्री रत्न ने अपनी अमरकृति अजितनाथ पुराण की रचना दान चितामणी अतिमब्बे के सहकार्य से ही ई स 993 मे पूर्ण की थी। श्वेताम्बर साहित्य मे चारदत्त-चरित्र लिखने वाली पद्मश्री, कनकावली-आख्यान लिखनेवाली हेमश्री महिलाएँ प्रसिद्ध है। अनुलक्ष्मी, अवन्ती, सुन्दरी, माधवी आदि विदुषियाँ प्राकृत भाषा मे लिखने वाली प्रसिद्ध कवियित्रीयाँ है। उनकी रचनाएँ प्रेम, संगीत, आनद, व्यथा, आशा-निराशा। जिनेन्द्र भक्ति आदि गुणो से युक्त है।

इसके अलावा नृत्य, गायन, चित्रकला, शिल्पकला आदि क्षेत्रो मे जैन महिलाओ ने असामान्य प्रगति की है। प्राचीन ऐतिहासिक काल मे जैन नारी ने जीवन के सभी क्षेत्रो मे अपना सहयोग दिया है। समाज उसे सम्मान की दृष्टी से देखता था। समाज ने नारी को उसकी प्रगति के लिए सब सुविधाएँ दी थी। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए उसकी प्रगति अपने पुत्र-पुत्रियो को सुसंस्कारित करना, राजकार्य, समाजकार्य, धार्मिक कार्य मे सक्रिय सहयोग देना वह अपना कर्त्तव्य समझती थी।

इस प्रकार भगवान महावीर या उनके पूर्व की सामाजिक परिस्थिति यदि देखी जाएँ तो उस प्रतिकूल परिस्थिती में जैन नारियों ने जो महत्वपूर्ण कार्य किए उनका मूल्य बढ जाता है। उन्हे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति करने के अवसर प्राप्त होना यह भगवान महावीर के द्वारा स्त्री मुक्ति की घोषणा के कारण ही सभव हो सका, यदि ऐसा कहा जाए तो अतिशयोक्ति नही होगी। जिस युग में स्त्रियाँ वेद या धार्मिक साध्वी वेश धारण करके मुक्ति-मार्ग पर नही चल सकती थी। उसे सामान्य क्रान्ति ही कही जा सकती है। स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त करने के लिए सैकडो वर्ष स्त्रियो को सघर्ष करना पडा है। परन्तु जैन धर्म के मनीषियो ने बहुत पहले ही स्त्री-स्वातत्र्य की घोषणा कर दी थी। यह जैन धर्म का स्त्री-पुरुष को अलग न मानने का दृष्टिकोण अर्थात् दोनो को प्रत्येक क्षेत्र मे कार्य करने के अवसर प्रदान करना विशेष उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

इस प्रकार प्राचीन काल में जैन महिलाएँ प्रत्येक क्षेत्र मे अग्रसर थी। परन्तु मध्ययुग मे विदेशी आक्रमणो के कारण स्त्रियो को सुरक्षित रखने के नाम पर समाज ने स्त्रियो पर अनेक बन्धन लगाए। इसका प्रभाव जैन महिलाओ पर भी पडा। परन्तु भगवान महावीर की स्त्री-मुक्ति की घोषणा के कारण ऐसी परिस्थितियो मे भी अनेक जैन महिलाओ ने कार्य किए है। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। फिर भी उनकी स्वतन्त्रता और स्वविकास मे बाधा अवश्य आई। इसी कारण शिक्षा, धर्म-सस्कार तत्वज्ञान आदि में नारी बहुत पीछे रही। एक बार लगे हुए बन्धन आजादी मिलने पर भी टूट न सके।

आज फिर से सारे जगत में नारी जागृति की लहर आई है। महिला-वर्ष का आयोजन इसी जागृतिका परिचायक है। इसका प्रभाव जैन महिलाओ पर भी पडा है। इस वैज्ञानिक युग मे जैन महिलाओ ने अनेक क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से श्रीमती रमा जैन ने साहित्य और धार्मिक

क्षेत्र में जो कार्य किए हैं उन्हें कौन भुला सकता है। श्रीमती कंकुबाई के दातृत्व और नेतृत्व के कारण अनेक शैक्षणिक संस्थाएँ और अस्पताल आज समाज की सेवा कर रहे हैं। श्रीमती कस्तूरबाई के द्वारा स्थापित कस्तूरबाई ट्रस्ट के द्वारा आज अनेक संस्थाऐं कार्यरत है। सोलापुर में क्षु. राजुलमतीबाई द्वारा स्थापित 'श्राविका संस्था नगर' आज शैक्षणिक धार्मिक व सामाजिक कार्य मे अग्रसर है। चन्दाबाई के द्वारा जैन बालाश्रम आरा की स्थापना जैन महिलादर्श का सपादन, अखिल भारतीय महिला परिषद की स्थापना आदि महत्वपूर्ण कार्य किये गए है।

साहित्य निर्माण मे भी अनेक जैन महिलाएँ आज महत्वपूर्ण स्थान बना रही है। उदाहरण के लिए साध्वी चन्दनादर्शनाचार्य के द्वारा अनेक ग्रंथों का लेखन और संपादन किया गया है। सौ. सुरेखा शहा के उपन्यास प्रसिद्ध मासिकों में प्रकाशित हो रहे हैं। श्रीमती कलत्रेअक्का, श्रीमती लेखवती जैन (हरियाणा विधान सभा अध्यक्षा) सौ. लीलावती मर्चन्ट, श्रीमती इंदुमती सेठ, श्रीमती औमप्रकाश जैन आदि महिलाएँ राजनैतिक क्षेत्र में अग्रसर रही है। इतना ही नहीं औद्योगिक क्षेत्र मे भी वे कार्य कर रही है।

संक्षिप्त मे भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले जो नारी में मुक्ति की घोषणा की थी, वह आज फिर से नारी-समाज में गुंजित हो रही है। हमे उस स्वर को सुनने की आवश्यकता है। अभी भी अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज आदि कुप्रथाएँ नारी-विकास के मार्ग मे रुकावटें हैं इन्हे हटाना हमारा कर्त्तव्य है। उसी प्रकार नारी को भी अपने अतीत के खोए हुए गौरव और अधिकार को पाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। नारी-जागरण के लिए हर सुशिक्षित क्रान्तिकारी व प्रगतिशील विचार की नारी को आगे आना चाहिए। नारीयो ने अधिकारो की माँग तो करनी ही चाहिए परन्तु पाश्चात्य जगत् के प्रभाव से फैशन आदि के रूप में जो नई कुरीतीयाँ स्त्रियों में आ रही हैं उन्हे रोकना भी जरूरी है। नारी-क्रान्ति का अर्थ केवल बाह्य वेश-भूषा या उच्छृंखल विचारों की क्रान्ति नहीं है। प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के शब्दों मे 'महिला-मुक्ति' भारत के लिए मौज की वस्तु नहीं है। बल्कि एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। ताकि, राष्ट्र भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक संतोषजनक जीवन की ओर अग्रसर हो सके।

❀ ❀

महावीर की वाणी का मंगलमय क्रांतिकारी स्वरूप

भगवान महावीर ने जिस धर्म एव दशन का प्रचार प्रसार किया, जिस सत्य की सुस्पष्ट व्याख्या की, जिन दार्शनिक प्रतिपत्तिकाओ को सुव्यवस्थित ढग से अभिव्यक्त किया, उनके सूत्र यद्यपि भारतीय प्राक्-वैदिक युग से ही पोषित एव विकसित होते आये हैं तथापि महावीर ने श्रमण-दर्शन की निग्रन्थ परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर तथा ऐतिहासिक व्यक्तित्व पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म के स्थान पर "पच महाव्रत" का उपदेश देकर तथा आत्मजय की साधना को अपने ही पुरुषार्थ एव चरित्र से सिद्ध करने की विचारणा को लोकोन्मुख बनाकर भारतीय मनीषा को नया मोड दिया। उन्होंने धर्म के उत्कृष्ट मगलमय स्वरूप की व्याख्या ही नही की; "धम्मो मगलमुक्किट्ठ" कहकर धर्म को मगलमय साधना का पर्याय बना दिया। उनका जीवन आध्यात्मिक चिंतन मनन एवं सयमी जीवन का साक्षात्कार है, निष्कर्मदर्शी के निष्कर्म आत्मा को देखने का दर्पण है; आत्मा को आत्मसाधना से पहचानने का मापदण्ड है तप द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्म स्वभाव में रमण करने की प्रक्रिया है तथा सबसे बडी बात यह कि किसी के आगे झुककर अनुग्रह की बैशाखियो के द्वारा आगे बढने की पद्धति नही प्रत्युत अपनी ही शक्ति एव साधना के बल पर जीवात्मा के परमात्मा बनने की वैज्ञानिक प्रयोगशाला है।

डा० महावीर शरण जैन

भगवान महावीर के युग में भौतिकवादी एव सशयमूलक जीवन दर्शन के मतानुयायी चिन्तको ने समस्त धार्मिक मान्यताओं, चिर सचित आस्था एव विश्वास के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया था। पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुध

कच्चायन, संजय वैलटि्ठपुत्र आदि के विचारों को पढने पर हमको आभास हो जाता है कि उस युग के जनमानस को संशय, भ्राम, अविश्वास, अनास्था, प्रश्ना-कुलता आदि वृत्तियो ने किस सीमा तक आबद्ध कर लिया था। ये चिन्तक जीवन मे नैतिक एव आचार-मूलक सिद्धान्तो की अवहेलना करने एव उनका तिर-स्कार करने पर बल दे रहे थे। मानवीय सौहार्द एव कर्मवाद के स्थान पर घोर भोगवादी, अक्रियावादी एव उच्छेदवादी वृत्तियाँ पनप रही थी।

इन्ही परिस्थितियो में भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए, अपने ही प्रयत्नों द्वारा उच्च-तम विकास कर सकने का आस्थापूर्ण मार्ग प्रशस्त कर अनेकान्तवादी जीवन दृष्टि पर आधारित, स्याद्वाद्वादी कथन प्रणाली द्वारा बहुधर्मी एव बहुगुणी वस्तु को प्रत्येक कोण, दृष्टि एव सभावनाओ द्वारा उनके वास्त-विक रूप मे जान पाने एव पहचान पाने का मार्ग बतलाकर सामाजिक जीवन के लिए अपरिग्रहवाद आदि का संदेश दिया।

आज भी भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति मानवीय चेतना को जिस स्तर पर ले गयी है वहाँ उसने हमारी समस्त मान्यताओं के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया है। समाज में परस्पर घृणा एव अविश्वास तथा तथा व्यक्तिगत जीव मे मानसिक तनाव एव अशान्ति के कारण विचित्र स्थिति उत्पन्न होती जा रही है।

आज के और पहले के व्यक्ति और उसके चिन्तन में अन्तर भी है। सम्पूर्ण भौतिक साधनो एव जीवन की अनिवार्य वस्तुओ से वचित होने पर भी पहले का व्यक्ति समाज से लड़ने की बात नहीं सोचता था, भाग्यवाद एव नियतिवाद के सहारे जीवन को काट देता था। अपने वर्तमान जीवन की सारीं मुसीबतों का कारण विगत जीवन के कर्मों को मान लेता था। अथवा अपने भाग्य का विधाता "परमात्मा" को मानकर उसके प्रति श्रद्धा एवं अनन्यभाव के साथ "अनुराग" एव "समर्पण" कर सतोष पा लेता था।

आज का व्यक्ति स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित है। आज व्यक्ति परावलम्बी होकर नही, स्वतन्त्र निर्णयो के क्रियान्वयन के द्वारा विकास करना चाहता है। अन्धी आस्तिकता एव भाग्यवाद के सहारे जीना नहीं चाहता अपितु इसी जीवन मे साधनो का भोग करना चाहता है, समाज से अपनी सत्ता की स्वीकृति तथा अपने अस्तित्व के लिए साधनों की माग करता है तथा इसके अभाव मे सम्पूर्ण व्यवस्था पर हथौडा चलाकर उसे नष्ट भ्रष्ट कर देना चाहता है।

मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए जब हम उद्यत होते हैं तो हमारा ध्यान धर्म की ओर जाता है। इसका कारण यह है कि धर्म ही ऐसा तत्व है जो व्यक्ति की असीम कामनाओ को सीमित करता है तथा उसकी दृष्टि को व्यापक बनाता है। इस परिप्रेक्ष्य मे हमें यह जान लेना चाहिए कि रूढिगत धर्म के प्रति आज का मानव किंचित भी विश्वास जुटाने मे असमर्थ है। शास्त्रों मे यह बात कही गयी है कि केवल इसी कारण आज का मानव एव विशेष रूप से बौद्धिक समुदाय एवं युवक उसे मानने के लिए तैयार नही है।

आज वही धर्म एवं दर्शन हमारी समस्याओ का समाधान कर सकता है जो उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा दे सके। भगवान महावीर ने मानवीय एव वैज्ञानिक सत्यान्वेषण मे अनवरत प्रवृत्त श्रमण परम्परा के धार्मिक सूत्रों के सहारे भटके हुए मानव को नवीन दिशा एव ज्योति प्रदान की। बाहरी प्रदर्शन एव दिखावे की प्रवृत्तियो पर प्रहार किया। निर्भय होकर घोषणा की कि प्रातः स्नानादि कर लेने से मोक्ष नही होता; जो प्रातः संध्या जल स्नान कर लेने से मुक्ति बतलाते हैं वे अज्ञानी हैं, बहुत से मुक्ति बतलाने वाले भी अज्ञानी हैं। बलि देनेवालो के काले कार-नामो को उजागर करते हुए उन्होंने घोषणा की कि

जीवों को दुःख देना मोक्ष का मार्ग नही है। धर्मो के आपसी भेदो के विरुद्ध आवाज उठायी तथा धर्म को आरोपित सीमाओ के घेरे से बाहर लाकर खडा किया तथा कहा कि धर्म के पवित्र अनुष्ठान से आत्मा का शुद्धिकरण होता है। धर्म न कहीं गाँव मे होता है ओर न कहीं जंगल मे बल्कि वह तो अन्तरात्मा में होता है। उन्होंने धर्म साधनो का निर्णय विवेक और सम्यग् ज्ञान के आधार पर करने की बात कही। जीवात्मा ही ब्रह्म है यह महावीर का अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार था जिसके आधार पर वे यह प्रतिपादित कर सके कि बाह्य जगत की कल्पित शक्तियो के पूजन से नहीं अपितु अन्तरात्मा के दर्शन एव परिष्कार से ही कल्याण सम्भव है। उनका स्पष्ट मत था कि वेदो के पढने मात्र से उद्धार सम्भव नही है। उन्होने व्यक्ति को सचेत किया कि यदि हृदय मे परमाणु मात्र भी राग-द्वेष है तो समस्त आगमो का निष्णात होते हुए भी आत्मा को नही जान सकता। उन्होने आत्मा द्वारा आत्मा को जानने की बात कही।

इस प्रकार महावीर की वाणी ने व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाया, चिंतन के लिए सतत् जागरूक भूमिका प्रदान की, आत्म साधना के निगूढतम रहस्य द्वारो को वैज्ञानिक ढग से आत्म-बल के द्वारा खोलने की प्रक्रिया बतलायी तथा सहज भाव से सृष्टि के कण-कण के प्रति राग-द्वेष की सीमाओ के परे करुणा एव अपनत्व की भावभूमि प्रदान की।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो प्राणी मात्र को प्रभावित कर सके एवं उसे अपने ही प्रयत्नो के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नही होना चाहिए जो आदमी-आदमी के बीच दीवारें खडी करके चले धर्म को पारलौकिक एव लौकिक दोनो स्तरो पर मानव की समस्याओं के समाधान के लिए तत्पर होना होगा। प्राचीन दर्शन ने केवल अध्यात्म साधना पर बल दिया था और इस लौकिक जगत की अवहेलना हुई थी। आज के वैज्ञानिक युग मे बौद्धिकता का अतिरेक व्यक्ति के अन्तर्जगत की व्यापक सीमाओ को सकीर्ण करने एव उसके बहिर्जगत की सीमाओ को प्रसारित करने मे यत्नशील है। आज के धार्मिक एव दार्शनिक मनीषियो को वह मार्ग खोजना है जो मानव की बहिर्मुखता का भी विकास कर सके। पारलौकिक चिन्तन व्यक्ति के आत्म विकास मे चाहे कितना ही सहायक हो किन्तु उससे सामाजिक सम्बन्धो की सम्बद्धता, समरसता एव समस्याओ के समाधान मे अधिक सहायता नही मिलती है। आज के भौतिकवादी युग मे केवल वैराग्य से काम चलनेवाला नही है। आज हमे मानव की भौतिकवादी दृष्टि को सीमित करना होगा; भौतिक स्वार्थपरक इच्छाओ को सयमित करना होगा, मन की कामनाओं मे त्याग का रंग मिलाना होगा। आज मानव को एक और जहाँ इस प्रकार का दर्शन प्रभावित नही कर सकता कि केवल ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है वहाँ दूसरी ओर भौतिक तत्वो की ही सत्ता को सत्य माननेवाला दृष्टिकोण जीवन के उन्नयन मे सहायक नही हो सकता। आज भौतिकता और आध्यात्मिकता के समत्व की आवश्यकता है। इसके लिए धर्म एव दर्शन की वर्तमान सामाजिक सदर्भो के अनुरूप एव भावी मानवीय चेतना के निर्णायक रूप मे व्याख्या करनी है। इस सदर्भ मे आध्यात्मिक साधना के ऋषियो एवं मुनियो की धार्मिक साधना एव गृहस्थ सामाजिक व्यक्तियो की धार्मिक साधना के अलग अलग स्तरो को परिभाषित करना आवश्यक है।

धर्म एव दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिको की प्रतिपत्तिकाओं को खोजने का मार्ग एव धार्मिक मनीषियो एव दार्शनिक तत्व-चिन्तको की खोज का मार्ग अलग-अलग हो सकता है, किन्तु उनके सिद्धान्तो एव मूलभूत प्रत्ययो मे विरोध नही होना चाहिए।

आज के मनुष्य ने प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था को आदर्श माना है। हमारा धर्म भी प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति के अनुरूप होना चाहिए।

प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। इस पद्धनि के स्वतन्त्रता एव समानता दो बहुत बडे जीवन-मूल्य है। इसके समानान्तर दर्शन के धरातल पर भी हमे व्यक्ति मात्र की समता एव स्वतन्त्रता का उद्घोष करना होगा।

आज ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो समाज के सदस्यो मे परस्पर सामाजिक सौहार्द एव बधुत्व का वातावरण निर्मित कर सके। यदि यह न हो सका तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था एव शासन पद्धति से समाज में शान्ति स्थापित नही हो पायेगी।

इस दृष्टि से हमें यह विचार करना है कि भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व अनेकान्तवादी चिन्तन पर आधारित अपरिग्रहवाद एव अहिंसावाद से सयुक्त जिस ज्योति को जगाया था उसका आलोक हमारे आज के अंधकार को दूर कर सकता है या नहीं।

परिवर्तित युग के समयानुकूल धर्म एव दर्शन के संदर्भ मे जब हम जैन दर्शन एवं भगवान महावीर की वाणी पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि जैन दर्शन समाज के प्रत्येक मानव के लिए समान अधिकार जुटाता है। सामाजिक समता एव एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्व है। इस परम्परा मे मानव को मानव के रूप मे देखा गया है; वर्ण, वादों, सम्प्रदायो आदि का लेबिल चिपकाकर मानव को बांटनेवाले दर्शन के रूप मे नही। मानव महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है वह अनुपम है। भगवान महावीर ने आत्मा की स्वतन्त्रता की प्रजातंत्रात्मक उद्घोषणा की। उन्होने कहा कि समस्त आत्मायें स्वतन्त्र हैं; प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। उसके गुण और पर्याय भी स्वतन्त्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणा एव पर्यायो का अन्य द्रव्य या उसके गुणो और पर्यायो के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है।

इस दृष्टि से सब आत्मायें स्वतन्त्र हैं, भिन्न-भिन्न हैं, पर वे एक-सी अवश्य हैं। इस कारण उन्होंने कहा कि सब आत्मायें समान हैं, पर एक नही।

स्वतन्त्रता एवं समानता दोनों की इस प्रकार की परस्परावलम्बित व्याख्या अन्य किसी दर्शन मे दुर्लभ है।

महावीर ने उस मार्ग का प्रवर्तन किया जिससे व्यक्ति-मात्र अपने ही बल पर उच्चतम विकास कर सकता है; प्रत्येक आत्मा अपने बल पर परमात्मा बन सकती है। उन्होने प्रतिपादित किया कि जीव अपने ही कारण से ससारी बना है और अपने ही कारण से मुक्त होगा। व्यवहार से बध और मोक्ष के हेतु अन्य पदार्थ को जानना चाहिए किन्तु निश्चय से यह जीव स्वय बध का हेतु है और स्वय मोक्ष का हेतु है। आत्मा अपने स्वय के उपार्जित कर्मों से ही बंधती है। आत्मा का दुख स्वकृत है किन्तु व्यक्ति अपने ही प्रयास से उच्चतम विकास भी कर सकता है क्योंकि आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्धलोक में सिद्धपद प्राप्त करने की क्षमता रखती है।

इसी कारण भगवान ने उद्घोष किया कि पुरुष तू स्वय ही अपना मित्र है 'पुरिसा! तुममेव तुमं मित्त।' उन्होने जीव मात्र को आस्था एव विश्वास का अमोघ मत्र दिया, कि बधन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ में है।

किन्तु इसके लिए आत्मार्थी साधक को जितेन्द्रिय होना पडता है; समस्त प्रकार के परिग्रहो को छोड़ना पडता है; रागद्वेष रहित होना पड़ता है। सत्य के साधक को बार-बार बाहरी प्रलोभन अभिभूत करते रहते हैं। साधना का पथ बार-बार विलासिता की रगीन चादर ओढ़ना चाहता है। धर्म की आड में अपने

स्वार्थ की सिद्धि चाहनेवाले दलाल आध्यात्म के सत्य को भौतिकवादी व्यवस्थाओ से बार-बार ढँकने का प्रयास करते हैं। शताब्दी मे एकाध व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो धर्म के क्षेत्र मे व्याप्त पाखण्ड, कदाचार, अमानवीयता पर प्रहार कर वास्तविक सत्य का उद्घाटन करते हैं। उपनिषद्कार के युग मे भी याज्ञिक धर्म की विकृतियाँ इतनी उजागर हो गई थी कि उसे कहना पडा कि अमृत तत्व सोने के पात्र से ढँका हुआ है। मध्ययुगीन सतो ने भी धर्म के बाह्याडम्बरो पर चोट की। सन्त नामदेव ने 'पाखण्ड भगति राम नही रीझै' कहकर धर्म के तात्विक स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट किया तो कबीर ने 'जो घर जारे आपना, चले हमारे साथ' का आह्वान कर साधना पथ पर द्विधारहित सशयहीन मन स्थिति से कामनाओ का सर्वथा त्याग कर आगे बढने की बात कही। पडित लोग पढ-पढकर वेद बखानते हैं, किन्तु उसकी सार्थकता क्या है? जीवन की चरितार्थता तो इसमे है कि आत्मविचार पूर्वक समदृष्टि की साधना की जावे और ऐसी साधना के बल पर ही दादूदयाल यह कहने मे समर्थ हो सके कि "काया अन्तर पाइया, सब देवन को देव।" उपनिषदो मे जिस 'तत्वमासं' सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है जैन-दर्शन मे उसी विचारणा की विकसित एव नवरूपायित अभिव्यक्ति है जहा प्राणी मात्र की स्वतत्रता, समता एव स्वावलम्बित स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है।" ससार में अनन्त प्राणी हैं और उनमे से प्रत्येक मे जीवात्मा विद्यमान है। कर्मबध के फलस्वरूप जीवात्मायें जीवन की नाना दशाओ, नाना योनियो, नाना प्रकार के शरीरो एव अवस्थाओं में परिलक्षित होती हैं किन्तु सभी मे ज्ञानात्मक विकास के द्वारा उच्चतम विकास की समान शक्तियाँ निहित हैं।

जब सभी प्राणी अपनी मुक्ति चाहते हैं तथा स्वयं के प्रयत्नों से ही उस मार्ग तक पहुँच सकते हैं तथा कोई किसी के मार्ग मे तत्वतः बाधक नही तब फिर किसी से सघर्ष का प्रश्न ही कहाँ उठता है? शारीरिक एव मानसिक विषमताओ का कारण कर्मों का भेद है। जीवन शरीर से भिन्न एव चैतन्य का कारण है। जब सर्व कर्मों का क्षय होता है तो प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा एव अनन्त शक्ति से स्वत सम्पन्न हो जाता है। महावीर ने व्यक्ति के चरम पुरुषार्थ को ही नही जगाया, प्रज्ञा, विवेक एव आचरण के बल पर अध्यात्म पथ का अनुवर्तन करनेवाले धार्मिक मानव को देवताओ का भी उपास्य बना दिया। उन्होने कहा कि अहिंसा, सयम एव तप रूप धर्म की साधना करनेवाले साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं।

इसके अतिरिक्त जैन दर्शन मे अहिंसावाद पर आधारित, क्षमा-मैत्री, स्वसयम तथा परप्राणियो को आत्म तुल्य देखने की भावना पर बहुत बल दिया गया है। आत्म स्वरूप को पहचानने मे अपने को गलाना पडता है, ममत्व भाव को त्यागना पडता है और उस स्थिति मे आत्मा को जानने का अर्थ 'सम्भाव' हो जाना होता है।

आत्मानुसधान प्रक्रिया मे यदि व्यक्ति अपने को ससार की पूजा-प्रतिष्ठा का अधिकारी मान बैठता है तो साधना का दम्भ सारी तपस्या को निष्फल कर देता है। उसे सदैव सयत, सुव्रत, तपस्वी एव आत्म-गवेषक रहना चाहिये। सतत् आत्मानुसधान ही साधना है। ऐसे साधक के मन मे अपनी प्रशसा सुनने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता क्योकि वह सत्कार तथा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा ही नही रखता, नमस्कार तथा वदना कराने की भावना ही नही रखता 'स्व' को पूरी तरह से त्यागकर आत्म-गवेषक एक को जानकर सब को जान लेता है। एक को जानने का अर्थ ही है सबको जानना तथा सबको जानना ही एक को जानना है। यह दर्शन साधना की परम्परा अविछिन्न रही और इसने 'इकाई' को परम परमार्थता, अनन्तता एव सर्वव्यापकता के गुण प्रदान किये। जब शकराचार्य 'अहं ब्रम्हास्मि' की बात करते हैं या कबीर "मैं सबहिन्ह

मांहि औरनि मैं हूँ सब" का स्वर गुंजाते हैं तो जैन दर्शन की इस विचारधारा के समीप पहुँच जाते हैं जहाँ जीव ही परमेश्वर हो जाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ शंकराचार्य एवं कबीर पिण्ड में ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड मे पिण्ड की बात करते हैं वहाँ जैन दर्शन मे आत्मायें अनन्तानन्त हैं तथा परिणामी स्वरूप हैं किन्तु चेतना स्वरूप होने के कारण एक जीवात्मा अपने रूप में रहते हुए भी ज्ञान के अनन्त पर्यायों का ग्रहण कर सकती है।

व्यक्ति की इच्छायें आकाश के समान अनन्त हैं। आत्मार्थी साधक आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनो परिग्रहों को त्याग देता है। कामनाओ का अन्त करना ही दुख का अन्त है—

उस स्थिति में साधक को वस्तु के प्रति ममत्व भाव नही रह जाता। अपने शरीर से भी ममत्व छूट जाता है।

उसी स्थिति मे साधक की दृष्टि विस्तृत से विस्तृत-तर होती है और उसे पता चलता है कि स्वरूपत सभी आत्मायें एक हैं।

इसी कारण भगवान ने समस्त जीवो पर मैत्रीभाव रखने एव समस्त ससार को समभाव से देखने का निर्देश किया। 'श्रमण' की व्याख्या करते हुए उसकी सार्थकता समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखने मे बतलायी। समभाव की साधना व्यक्ति को श्रमण बनाती है।

भगवान ने कहा कि जाति की कोई विशेषता नही; जाति और कुल से त्राण नहीं होता; प्राणी मात्र आत्म-तुल्य है। इस कारण प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो; आत्मतुल्य समझो, सबके प्रति मैत्री भाव रखो, समस्त ससार को समभाव से देखो। समभाव के महत्व का प्रतिपादन उन्होंने यह कहकर किया कि आर्य महापुरुषो ने इसे ही धर्म कहा।

अपने को बाँधकर ही प्रेम का विस्तार होता है। यह कर्मों का बधन नही; सयम का सहज आचरण है। मन के कपाट खुल जाते है, जगत के समस्त जीवो में अपनी आत्मतुल्यता दृष्टिगत होने लगती है, राग-द्वेष की सीमाओ से ऊपर उठकर व्यक्ति सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन एव सम्यग् चारित्र्य से युगों-युगो के कर्म-बधन काट फेंकता है। इसी कारण भगवान ने कहा कि जो ज्ञानी आत्मा इस लोक में छोटे-बडे सभी प्राणियो को आत्मतुल्य देखते हैं, षटद्रव्यात्मक इस महान् लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्त-भाव में संयम में रत रहते हैं—वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं। इसी कारण आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के उपदेश को "सर्वोदय तीर्थ" कहा है।

आधुनिक बौद्धिक एवं तार्किक युग मे दर्शन ऐसा होना चाहिये जो आग्रह-रहित दृष्टि से सत्यान्वेषण की प्रेरणा दे सके। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का अनेकान्त-वाद व्यक्ति के अहकार को झकझोरता है; उसकी आत्यन्तिक दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है। अनेकान्तवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ मे विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नही हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण-धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न कोणों से देखने पर एक ही वस्तु हमे भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न दृष्टाओं की प्रतीतियाँ भिन्न हो सकती हैं। भारत में जिस क्षण कोई व्यक्ति "सूर्योदय" देख रहा है, ससार में दूसरे स्थल से उसी क्षण किसी व्यक्ति को 'सूर्यास्त" के दर्शन होते हैं। व्यक्ति एक ही होता है—उससे विभिन्न व्यक्तियो के अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। एक ही वस्तु में परस्पर दो विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व सम्भव है। इसमें अनिश्चितता की मन:स्थिति बनाने की बात नही है; वस्तु के सापेक्ष दृष्टि से विरोधी गुणों को पहचान पाने की बात है। सार्वभौमिक

दृष्टि से देखने पर जो तत्स्वरूप है, एक है, सत्य है, नित्य है, वही सीमित एव व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर अतत्, अनेक, असत्य एव अनित्य है ।

पदार्थ को प्रत्येक कोण से देखने का प्रयास करना चाहिये। हम जो कह रहे हैं—केवल यही सत्य है—यह हमारा आग्रह है। हम जो कह रहे हैं—यह भी अपनी दृष्टि से ठीक हो सकता है। हमे यह भी देखना चाहिये कि विचार को व्यक्त करने का हमारे एव दूसरे व्यक्तियो के पास जो साधन है उसकी कितनी सीमाए हैं। काल की दृष्टि से भाषा के प्रत्येक अवयव मे परिवर्तन होता रहता है। क्षेत्र की दृष्टि से भाषा के रूपो मे अन्तर होता है। हम जिन शब्दो एव वाक्यों मे सप्रेषण करना चाहते हैं उसकी भी कितनी सीमाए हैं। "राधा गाने वाली है" इसका अर्थ दो श्रोता अलग-अलग लगा सकते हैं। प्रत्येक शब्द भी "वस्तु" को नही किसी वस्तु के भाव को बतलाता है जो वक्ता एव श्रोता दोनो के सन्दर्भ में बुद्धिस्थ मात्र होता है। "प्रत्येक व्यक्ति अपने घर जाता है" किन्तु प्रत्येक का "घर" अलग होता है । ससार मे एक ही प्रकार की वस्तु के लिए कितने भिन्न शब्द हैं--इसकी निश्चित सख्या नही बतलायी जा सकती। एक ही भाषा मे एक ही शब्द भिन्न अर्थों और अर्थ-छायाओ मे प्रयुक्त होता है, इसी कारण अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति न करा पाने पर वक्ता को श्रोता से कहना पडता है कि मेरा यह अभिप्राय नही था अपितु मेरे कहने का मतलब यह था—दूसरे के अभिप्राय को न समझ सकने के कारण इस विश्व मे कितने सघर्ष होते हैं? स्याद्वाद वस्तु के विरोधी गुणों की प्रतीतियो द्वारा उसके अन्तिम सत्य तक पहुच सकने की क्षमता एव पद्धति प्रदान करता है। जब कोई व्यक्ति खोज के मार्ग मे किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अपने "सन्धान" को अन्तिम मानकर बैठ जाना चाहता है, तब स्याद्वाद सभावनाओ एव शक्यताओ का मार्ग प्रशस्त कर अनुसन्धान की प्रेरणा देता है। स्याद्वाद केवल सम्भावनाओ को ही व्यक्त करके अपनी सीमा नही मान लेता प्रत्युत समस्त सम्भावित स्थितियों की खोज करने के अनन्तर परम एव निरपेक्ष सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास करता है ।

स्याद्वादी दर्शन मे "स्यात्" "निपात" "शायद", "सम्भवत", "कदाचित्" का अर्थवाहक न होकर समस्त सम्भावित सापेक्ष्य गुणो एव धर्मों का बोध कराकर ध्रुव एव निश्चय तक पहुच पाने का वाहक है, "व्यवहार" में वस्तु में अन्तर्विरोधी गुणो की प्रतीति कर लेने के उपरान्त "निश्चय" द्वारा उसको उसके समग्र एव अखण्ड रूप मे देखने का दर्शन है। हाथी को उसके भिन्न-भिन्न खण्डो से देखने पर जो विरोधी प्रतीतियाँ होती हैं उसके अनन्तर उसको उसके समग्र रूप मे देखना है। इस प्रकार यह सदेह उत्पन्न करनेवाला दर्शन न होकर सन्देहो का परीक्षण करने के उपरान्त उनका परिहार कर सकनेवाला दर्शन है। यह दर्शन तो शोध की वैज्ञानिक पद्धति है। "विवेच्य" को उसके प्रत्येक स्तरानुरूप विश्लेषित कर विवेचित करते हुए वर्गबद्ध करने के अनन्तर सश्लिष्ट सत्य तक पहुँचने की विधि है। विज्ञान केवल जड का अध्ययन करता है। स्याद्वाद ने प्रत्येक सत्य की खोज की पद्धति प्रदान की है। इस प्रकार यदि हम प्रजातन्त्रात्मक युग मे वैज्ञानिक ढग से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो अनेकान्त से दृष्टि लेकर स्याद्वादी प्रणाली द्वारा ही वह कर सकते हैं।

महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन का सापेक्षवाद एव जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद वैचारिक धरातल काफी निकट है। आइन्स्टीन मानता है कि विविध सापेक्ष्य स्थितियो मे एक ही वस्तु में विविध विरोधी गुण पाये जाते हैं। "स्यात्" अर्थ की दृष्टि से "सापेक्ष्य" के सबसे निकट है।

आइन्स्टीन के मतानुसार सत्य दो प्रकार के होते हैं—(1) सापेक्ष्य सत्य, और (2) नित्य सत्य।

आइन्स्टीन के मतानुसार हम केवल सापेक्ष सत्य को जानते हैं; नित्य सत्य का ज्ञान तो सर्व विश्वदृष्टा को ही हो सकता है।

जैनदर्शन एकत्व एवं नानात्व दोनो को सत्य मानता है। अस्तित्व की दृष्टि से सब द्रव्य एक हैं, अतः एकत्व भी सत्य है, उपयोगिता की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं अतः नानात्व भी सत्य है।

वस्तु के गुण-धर्म चाहे नय-विषयक हो चाहे प्रमाण- विषयक, वे सापेक्ष होते हैं। वस्तु को अखण्ड भाव से जानना प्रमाण-ज्ञान है तथा वस्तु के एक अंश को मुख्य करके जानना नयज्ञान है।

विज्ञान की जो अध्ययन-प्रविधि है, जैन-दर्शन मे ज्ञानी की वही स्थिति है। जो नय-ज्ञान का आश्रय लेता है वह ज्ञानी है। अनेकान्तात्मक वस्तु के एक-एक अश को ग्रहण करके ज्ञानी ज्ञान प्राप्त करता चलता है। एकान्त के आग्रह से मुक्त होने के लिए यही पद्धति ठीक है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने जिस जीवन-दर्शन को प्रतिपादित किया है, वह आज के मानव की मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक दोनो तरह की समस्याओ का अहिंसात्मक समाधान है। यह दर्शन आज की प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एव वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिन्तन के भी अनुरूप है। इस सम्बन्ध मे सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का यह वाक्य कि "जैन-दर्शन सर्वसाधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है" अत्यन्त सगत एव सार्थक है। "अहिसा परमो धर्मः" को चिन्तन-केन्द्रक मानने पर ही समार युद्ध एव हिंसा का वातावरण समाप्त हो सकता है। आदमी के भीतर की अशान्ति, उद्वेग एव मानसिक तनावो को यदि दूर करना है और अन्ततः मानव के अस्तित्व को बनाये रखना है तो भगवान् महावीर की वाणी को युगीन समस्याओ एव परिस्थितियों के सदर्भ मे व्याख्यायित करना होगा। यह ऐसी वाणी है जो मानव-मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करती है; सापेक्षवादी सामाजिक सरचनात्मक व्यवस्था का चिन्तन प्रस्तुत करती है; पूर्वाग्रह-रहित उदार दृष्टि मे एक-दूसरे को समझने और स्वय को तलाशने-जानने के लिए अनेकान्तवादी जीवन दृष्टि प्रदान करती है; समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एवं स्व-प्रयत्न से विकास करने का साधन जुटाती है।

□ □

महावीर का साम्यवाद

आजकल साम्यवाद की बडी चर्चा है और बहुत से लोग जानना चाहते हैं कि महावीर का मत इस विषय मे क्या है। साम्यवाद के लिये "सोशलिज्म" शब्द सबसे पहले सन् 1838 में फ्रास के पियर लूरे ने गढा था। इसका सक्रिय रूप बनाने में 18-19 वीं सदी मे सेंट साइमन, टाम पेन, विलियन गोडविन और विलियन गौडविन ने भूमिका तैयार की थी। फ्रास के फूटियर तथा इग्लैड के रौबर्ट औवेन ने इसकी रूप रेखा तैयार की पर इसका वास्तविक रूप कार्लमार्क्स तथा फ्रीडरिश एजीला के सन् 1848 की विज्ञप्ति में प्रकट हुआ। इसी को, इसी साम्यवाद को "कम्यूनिज्म" कहते हैं। चूंकि कम्यूनिज्म मे ईश्वर को कोई स्थान नहीं है इसीलिये कुछ लोगो का विचार है कि जैन साम्यवाद के अधिक निकट हैं। पर इसी विदेशी साम्यवाद के लिये जर्मन कवि हीनरिश हीन (1797-1856) ने लिखा था कि "यह भूख ईर्ष्या तथा मृत्यु का दूत है।" आज की स्थिति में यह बात सत्य से दूर नही है। एक अमेरिकन पादरी एफ. डी. हटिंगटन (1819-1904) ने लिखा था कि "साम्यवाद स्वतत्रता तथा समानता के लिये अधी भूख है।" एबनेजेर इलियट (1781-1849) नामक ब्रिटिश कवि ने इसे "अपना एक पैसा देकर आपका एक रुपया छीनने वाला" वाद कहा था। आजकल लोग क्या कहते हैं, यह हम देना नही चाहते। राजनीति पर हम नहीं लिख रहे हैं।

महावीर का साम्यवाद इन सभी दोषों से मुक्त है। जब वे कहते हैं कि हर एक में प्राण हैं, जीव है, किसी को कष्ट न दो, सबको अपने समान समझो, "जीओ और जीने दो", "धन का संचय मत करो", "अपरिग्रह धारण करो", "धन देने के लिये है", सम्मृद्धि का अभिमान छोड दो, दान करो, अपना धन बांट दो, मन बचन या कर्म से भी न किसी का कुछ अपहरण करो, न कष्ट पहुँचाओ, तब साम्यवाद में और क्या बाकी रहा। दूसरे की सम्पत्ति छीनना

अस्थायी साम्यवाद है। हिंसक साम्यवाद है। अपनी सम्पत्ति दूसरो में बाँटकर उपयोग करना अहिंसक साम्यवाद है। महावीर कहते हैं :—

जहाँ लाहो तहाँ लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकंय कज्ज कोडीए वि न निट्ठिय ॥

जैसे लाभ होता है वैसे लोभ होता है, लाभ से लोभ बढता है। दो माशे सोने से पूरा होने वाला काम करोड से भी पूरा नही हुआ।

वे कहते है —

सुवण्ण रूप्पस्स तु पव्वया भवे,
सिया हु कैलास समा असख्या।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा उ आगास समा अणन्तिया॥

कदाचित् सोने और चाँदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत हो जायें तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

पुन. कहा है :—

"धणेण किं धम्मधुराहिगारे।"
धन से धर्म की गाड़ी कब चलती है।
"न ए नित्तासए परम।"
दूसरों को त्रस्त मत करो।

महावीर के अनुसार :—

सले कामी विसे कामा आसी विसोवमा।
कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दो गई।

"काम भोग शल्य हैं, विष हैं और आशी विष सर्प के तुल्य है। काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त करते हैं।"

जिस धर्म में केवल अपने आपको जीतना सबसे बडी विजय हो, वह वास्तविक साम्यवादी धर्म है। आज के लौकिक साम्यवाद से न कही सुख है, न कही शान्ति, केवल अशान्ति का एक हाहाकार मचा हुआ है। वह साम्यवाद संघर्षवाद बन गया है। अहिंसा और स्याद्वाद मे श्रद्धा रखने वाला अपहरणकर्ता नही हो सकता। भगवत् गीता मे वर्णित ममत्व की भावना तथा भगवान महावीर का समभाव ही असली साम्यवाद है।

महावीर ने कितना सुन्दर बचन कहा है :—

निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समोयो सब भूएसु तसेसु थावरेसु य॥

"ममत्व रहित, अहकार रहित, निर्लेप गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवो में समभाव रखने वाला मुनि होता है।"

युग का वरदान

जैन धर्म के मनोयोग, बचनयोग तथा काययोग के सिद्धान्त को कोई नहीं काट सकता, हठयोग की कोई भी क्रिया बिना इन तीन के पूरी नहीं हो सकती। जीव में दो प्रकान के योग होते हैं—अभिसधिभोग—जिसमे वह अपने से काम करता है जैसे चलना, उठना, काम करना, तथा दूसरा है अनुभिसधि योग जो कार्य निद्रा, ध्यान, चिन्तन के समय होता रहता है। जीव का यही चैतन्यत्व है। जीव अजीव का संभोग, जीव पुद्गल तथा पर्याय के सिद्धान्त, पदार्थ द्वारा कर्म बधन इनको वैज्ञानिक रूप से भी जिसने समझने की चेष्टा की, वह इस "सत्य" की गरिमा को स्वीकार करेगा, चाहे वह किसी धर्म के सम्बन्ध में भी विवेचन करे। जैन दर्शन ने दुष्कर्म का विचार उठाना भी पाप और बन्धन का कारण बतलाया है। आज का न्याय शास्त्र "विचार या नीयत" पर बहुत जोर देता है। बौद्ध धर्म में "गुप्त गुण" कहा गया है जिसमें कि मनुष्य बिना किसी की जानकारी के सद्विचार रखता है और उसका पालन करता है।

जैन धर्म के सदाचार मे सद्विचार परम आवश्यक है। महावीर ने पर्याय की, द्रव्य की पुद्गल की जो व्याख्या की है तथा जीव-अजीव, जीव तथा पदार्थ की जिस मिलीजुली सत्ता का विवेचन किया है, उसी को दूसरे शब्दो मे तपस्वी अरविन्द घोष ने भी स्वीकार किया है।

जैन धर्म की प्राचीनता के बारे मे अब कोई विवाद भी नही रहा। जैकोबी के अनुसार पार्श्व ऐतिहासिक सत्य हैं। लेखक कीथ के अनुसार पार्श्व का जन्म ईसा-पूर्व 740 मे हुआ था। जैन महापुराण (उत्तर पुराण, पर्व 74, पृष्ठ 462) के अनुसार पार्श्व महावीर के पूर्व 23वें तीर्थंकर थे। पार्श्व के शिष्य श्री कुमार ने महावीर के पिता को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। डा. बाथम ने पार्श्व द्वारा जैन धर्म के प्रचार का वर्णन किया है। डा. ग्लैसेनेप ने अपने ग्रंथ मे लिखा है कि बौद्ध धर्म के बहुत पहले से जैन धर्म भारत मे प्रचलित था।

महावीर ने पुरानी श्रमण परम्परा को और जागरूक और परिपक्व किया है। डा अलफ्रेड पार्कर के शब्दो मे :—

"महावीर के विचार—मानव कर्त्तव्य शास्त्र की उच्चतम अभिव्यक्ति हैं। अहिंसा का महान नियम, सबसे बलवान मौलिक सिद्धान्त है जिसके आधार पर मानव मात्र के कल्याण के लिये एक नैतिक जगत की रचना हो सकती है।"

इतालियन विद्वान डा अलबर्टो पोगी लिखते हैं —

"महावीर के उपदेश एक उस विजयी आत्मा के विजय गान के समान हैं जिसने इसी संसार में छुटकारा स्वतन्त्रता तथा मुक्ति प्राप्त कर ली है—उनके आदेश हर एक के लिये अनिवार्य नही हैं। जो बिना उनको स्वीकार किये भी अनुभव से ज्ञान प्राप्त किये बिना ही उस मार्ग पर चलने लगते हैं, वे भी अपनी आत्मा की एकस्वरिता नष्ट होने से और उसके गन्दला होने के भय से बच जाते हैं।"

डा फैलिक्स वाल्वो लिखते हैं :—

"बिना किसी शका या सन्देह के, निश्चय पूर्वक महावीर अपने ही उदाहरण से यह दिखला देते हैं कि मानव के मस्तिष्क को किस प्रकार सयम मे लाया जा सकता है और उस पर ऐसा अनुशासन हो सकता है कि एक ही जीवन मे उच्चतम बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सीमा पर पहुच जाय।"

उत्तर पुराण (74/2) के अनुसार इनके बाल्यकाल मे ही वर्धमान का दर्शन कर उनके तेज को देखकर सजय तथा विजय नामक दो तपस्वियो ने उनका नाम "सन्मति" रखा था। महावीर कलियुग के वरदान हैं। हम उनसे "सन्मति" की याचना करते हैं।

आज मनुष्य पुन विचार करने लगा है कि आत्म-चिन्तन तथा एकान्त में स्वरूप लक्षण कितना आवश्यक है। बिना आत्म-चिन्तन हम असली तत्व तक नहीं पहुँच सकते। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने सन् 1975 मे ही प्रकाशित अपनी पुस्तक मे लिखा है कि बिना आत्म-चिन्तन के आत्म ज्ञान नही हो सकता। पूरी मीमासा के साथ जैन मत यही कहता है।

विश्व शान्ति के सन्दर्भ में तीर्थंकर महावीर का सन्देश

O यू० एन० बाच्छावत

सम्पूर्ण विश्व आज अशान्ति और असुरक्षा के गम्भीर दौर मे गुजर रहा है। सम्पूर्ण मानव समाज युद्ध की विभीषिका से भयग्रस्त है। विकास के कालचक्र मे मानव सभ्यता को भौतिक प्रगति के क्षेत्र मे उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त कर जहाँ एक ओर भौतिक दृष्टि से सशक्त एवं विकासशील बनाया है वहाँ दूसरी ओर मानवीय पक्ष की दृष्टि से वह नित्य प्रति निर्बल होती जा रही है। भौतिक प्रगति की दौड मे अंधी वर्तमान सभ्यता का रुख मानव कल्याण से हटकर शक्ति उपार्जन की ओर हो जाने के परिणामस्वरूप मानवीय आधारों पर भौतिक प्रगति की स्थापना की दिशा से हटकर, मानवीय समाज व्यवस्था भौतिक आधारों पर निर्भर होती गई। भौतिक प्रगति के नित नए कीर्तिमानों की स्थापना की होड में मानव सभ्यता जितना अधिक भौतिकवादी जजाल में फँसती रही, मानवीय मूल्य उतने ही अधिक नष्ट होते रहे।

यो तो इतिहास के पृष्ठ सत्ता लिप्सा के कारण होनेवाले युद्धों, नर-सहार और रक्तपात जैसी हिंसात्मक घटनाओ से भरे पडे हैं। घृणा, द्वेष और सत्तालिप्सा के कारण समय-समय पर तथाकथित योद्धाओं एव राजनेताओ द्वारा राजनीतिक एव धार्मिक कारणों से "शान्ति के लिये युद्ध" की दुहाई देकर जन-शक्ति को युद्ध की विभीषिका में झोंककर मानवीय मूल्यो का गला घोंटा जाता रहा है। इसी शताब्दी में पिछले दो विश्वयुद्ध भी इसी आधार पर लडे गए, परन्तु इन सबके बावजूद भी मानव सभ्यता के अस्तित्व को इतना बड़ा खतरा कभी नहीं रहा जितना आज है।

प्रजातन्त्र की रक्षा और स्थायी शान्ति की स्थापना के नाम पर लडे गए द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दौर मे अमरीका द्वारा नागाशाकी और हीरोशिमा पर बमवर्षा के माध्यम से युद्ध विजय का मार्ग प्रशस्त हो जाने के बाद से विश्व की प्रमुख शक्तियो मे अणु आयुधों की ऐसी होड मची, जिसने आज उन्हें प्रगति के उस सोपान तक पहुँचा दिया है, जहाँ से कुछ क्षण में ही सम्पूर्ण मानव सभ्यता को समाप्त किया जा सकता है। परिणामस्वरूप विश्व के प्रमुख शक्तिशाली देश दो खेमों मे बँट गए, और कई छोटे और अशक्त देश असुरक्षा के भय से उनके साथ हो लिये।

विश्वविजय की दुष्कल्पना की अंधी दौड मे इन विश्व शक्तियो ने ऐसे अस्त्र-शस्त्र निर्माण कर लिये हैं, जिससे जितना विपक्षी के अस्तित्व को भय है, उनके स्वय के अस्तित्व को भी उससे कम भय नहीं है। आज यह स्पष्ट है कि यदि तीसरा विश्वयुद्ध हुआ तो उसमें इन संहारक आयुधो का प्रयोग निश्चित है, जो सम्पूर्ण मानव सभ्यता को नष्ट कर देगा। परिणामस्वरूप वडी शक्तियाँ भी विश्वयुद्ध से बचने को तत्पर तो रही, पर उनके मध्य व्याप्त घृणा, द्वेष, स्वार्थ पोषण, सत्ता लिप्सा तथा

वैचारिक सघर्ष ने "शीत युद्ध" को जन्म दिया। जिस मानवीय स्वरूप मे इसका सचालन हुआ है उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि शीतयुद्धो और गृहयुद्धो का बिस्तार आज किसी भी समय ऐसे विश्वयुद्ध का रूप ले सकता है जो सम्पूर्ण मानव सभ्यता को नष्ट कर दे।

अशान्ति और सुरक्षा के इस खतरनाक दौर के मूल मे झाँकने और उसके निदान पर विचार करने पर बरबस ही हमारी दृष्टि उन सारी बातो पर ही जाकर ठहरती है जो तीर्थंकर महावीर ने आज से पच्चीस शताब्दियो पूर्व कही थी। तीर्थंकर महावीर का युग भी हिंसा, घृणा, द्वेष, विषमता और वैमनस्य के विषाक्त वातावरण से ग्रस्त था। वर्द्धमान महावीर इसी वातावरण से प्रेरणा ग्रहण कर, राजपाट छोड, मानव समाज को अशान्तिपूर्ण वातावरण से मुक्त कराने का मार्ग खोजने को सकल्पबद्ध हो, स्थायी शाति की खोज मे निकल पडे। अनेको वर्षों की कठोर साधना और चिन्तन के पश्चात् केवलज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याणार्थ जो सन्देश दिया, उसका मूलाधार उनका सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, सहअस्तित्व, अपरिग्रह, अनेकान्तबाद और स्याद्वाद का शाश्वत सन्देश है।

तीर्थंकर महावीर ने कहा कि "सभी प्राणियो को अपना जीवन प्यारा है, सुख सबको अच्छा लगता हैं, दु.ख बुरा। सभी जीवो के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए। ससार मे जितने दु ख हैं, वे सब हिंसा से उत्पन्न हैं, अत किसी की हिंसा मत करो, किसी को त्रास मत पहुँचाओ" उन्होने न केवल मनुष्य पर वरन प्राणीमात्र पर दया का उपदेश दे, हिंसा को ही सभी दु.खो का कारक तत्व बताया। इस कारण उन्होने जीवन मे अहिंसा व्रत का पूर्ण पालन करने को प्रेरित कर कहा, "जो स्वयं के लिए तुम्हें नहीं रुचता है, उसका व्यवहार दूसरो के लिए मत करो। किसी भी प्राणी का घात मत करो। जिस प्रकार तुम्हे सुख-दु ख का अनुभव होता है उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी सुख-दु ख का अनुभव करते हैं।" इस प्रकार महावीर ने प्राणीमात्र पर दया करने और उनसे समान व्यवहार का विचार देकर उच्चतम अहिंसक प्रतिमानो की स्थापना की।

अहिंसा व्रत के पालन में उन्होने प्राणीमात्र पर दया करने और वैचारिक एव व्यावहारिक दोनो ही स्वरूपो मे प्रत्येक जीव के प्रति दयामय रहते हुए उनसे समान व्यवहार करने पर बल दिया। उन्होने अहिंसा की सकारात्मक व्याख्या की और कहा कि "सभी प्राणी समान है, सभी जीवो की आत्मा एक-सी है, कोई किसी से ऊँचा या नीचा नही है। इस कारण सभी जीवो को दूसरे प्राणियो से वैसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि वह दूसरो से अपेक्षा करता है।" इस प्रकार महावीर ने समाज की इकाई मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन मे अहिंसक रहने, सदाचरण का पालन कर सच्चरित्र बनने पर बल दिया।

आज विश्व शान्ति को खतरा होने का मूल कारण यही है कि उसमे राष्ट्र या वर्ग के अस्तित्व पर तो अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है, उसकी प्रगति की बात की जाती है, परन्तु उसके समक्ष व्यक्ति को, अर्थात् मानवीय जीवन और चरित्र को गौण बना दिया गया है। महावीर ने प्रत्येक इकाई के सुधार पर बल दिया और सभी के प्रथक् प्रथक् अस्तित्व को स्वीकारा महावीर ने न केवल प्राणीमात्र की रक्षा पर वरन् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवो की रक्षा पर भी बल दिया। उन्होंने किसी प्राणी की हत्या को ही हिंसा नही कहा, वरन् मन मे या वैचारिक दृष्टि से किये गये हिंसक कार्यों के समर्थन को भी हिंसा कहा। आज जब कहीं शान्ति की बात की जाती है, वहाँ केवल युद्ध को टालने अथवा मानवीय हिंसा से विरत रहने को ही अहिंसा मानकर विचार होता है, जबकि मन की हिंसा या वैचारिक हिंसा पर न तो विचार ही होता है, न ही कोई उसे छोडने को तैयार है। यही कारण है कि स्थायी विश्व शान्ति की स्थापना की दिशा मे किए गये प्रयास विफल हो जाते हैं।

आज मे राजनीतिज्ञ युद्ध को स्थायी शान्ति स्थापना के लिए प्रयास निरुसूति करने लगे हैं, और युद्ध विराम को शान्ति स्थापना। उनकी नजर में युद्ध विजय गे बडी वीरता और युद्ध विराम से बडी शान्ति नही है। यही सबसे बडा भ्रम है। यही सबसे बडा छल है, जो राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ मानवता के साथ खेल रहे अर्थशास्त्रों के बल पर युद्ध क्षेत्र में निर्बल पर विजय प्राप्त कर लेने में कौन-सी बहादुरी है, बहादुरी तो हिंसक के सम्मुख भी निश्चल, निष्काम भाव से निडर होकर स्थिर रहने और बुराई तथा हिंसा का आत्मबल के द्वारा मुकाबला करने में है। इस प्रकार अहिंसा वीरो का अस्त्र है, आज मानव जाति को इसके पालने की नितान्त आवश्यकता है। हिंसा से निर्मिक शान्ति, मरघट की ही शान्ति हो सकती है, किन्तु स्थायी शान्ति केवल अहिंसा के द्वारा ही संभव है।

अहिंसा के अतिरिक्त जिन अन्य बातों पर महावीर ने सर्वाधिक बल दिया वह है समतावाद और अपरिग्रहवाद। उन्होने कहा कि सभी जीव समान हैं, उनमें आत्मा का समान अस्तित्व है, अतः सभी के अस्तित्व को स्वीकारा जाना चाहिए। महावीर का समतावाद, आज भी विश्व के कई क्षेत्रों मे व्याप्त रगभेद, वर्गभेद जाति एव वर्णभेद का सर्वोत्तम हल है। ये भेद आज भी विश्वशान्ति के मार्ग में बाधा और मानवता के माथे पर कलक के रूप में बाधक आर्थिक वैषम्य एव शोषण प्रकृति से मुक्ति के लिये महावीर ने अपरिग्रहवाद का सन्देश दिया। उन्होने वस्तु या धन से लगाव या ममत्व को अपरिग्रह कह इससे विमुक्त रहने पर बल दिया और कहा कि आवश्यकता से संग्रह मत करो, साथ ही अपनी आवश्कताओ को भी सीमित बनाओ। आज के वैचारिक जगत् मे क्रांति की उन्नायक मार्क्सवाद और समाजवादी विचारधाराओ के परिप्रेक्ष्य में यदि हम महावीर के अपरिग्रहवाद पर दृष्टिपात करें तो निश्चित रूप से वह इनसे भी कही अधिक प्रगतिशील सिद्धात प्रतीत होता है, दोनो के साध्य समान हैं, केवल साधनो का ही अन्तर है, क्योकि महावीर का अपरिग्रहवाद अहिंसामूलक समाजवाद का जनक है, अहिंसा उसकी आत्मा है, जिससे उसे अलग नही किया सकता। इस प्रकार महावीर का अपरिग्रहवाद अहिंसामूलक समाजवाद की स्थापना पर बल देता है, जो कि विचारधाराओं के नाम पर विश्वशान्ति को उत्पन्न खतरे से मुक्ति का सर्वोत्तम हल है।

महावीर ने अपने सारे दर्शन में विभिन्न सूत्रों की श्रृंखला मे जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण और नितान्त मौलिक सूत्र दिया वह है उनका अनेकान्त दर्शन जो विभिन्न विचारधाराओ के समन्वय पर बल देता है। इस दर्शन ने वैचारिक व्यापकता के द्वार खोल दिए, इस दृष्टि से यह सर्वाधिक प्रगतिशील विचार है जिसमें वस्तु को एकागी स्वरूप से न देखकर विभिन्न दृष्टियो के समन्वय करने को कहा गया है। अनेकान्त दर्शन हठवादिता, एकागी दृष्टिकोण एव दुराग्रह रूपी दोषों को समाप्त कर व्यापक दृष्टिकोण अपनाने पर बल देता है। आज इन दोषो के कारण भी विश्वशान्ति को प्रमुख खतरा है। राष्ट्रों के मध्य परस्पर विश्वास का अभाव है, उनकी नीतियो के क्रियान्वयन और राजनीतिक विचारो एव प्रणाली मे एकागी दृष्टिकोण निहित होने से भी स्थायी विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो पा रही है। कुछ शान्तिप्रिय देशो तथा राजनीतियो द्वारा प्रदत्त गुट निरपेक्षता के विचार के मूल में हमें अनेकान्त दर्शन ही सरलक्षित होता है।

इस प्रकार विश्वशान्ति की स्थापना परिप्रेक्ष्य मे जब भी हम तीर्थंकर महावीर के दर्शन पर विचार करते हैं तो आज भी वह उतना ही नूतन, मौलिक, एव शाश्वत प्रतीत होता है। उनके पश्चात पच्चीस शताब्दिया बीत जाने पर भी अहिंसा, समता, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धात स्थायी विश्व शान्ति की स्थापना हेतु उतने ही शाश्वत और कारगर हैं जितने वे उनके काल में थे आज भी उनमें स्थायी विश्वशान्ति की स्थापना का मार्ग निहित है। □ □

भारतीय क्षितिज पर उदित महापुरुषों की महान परम्परा में तीर्थंकर महावीर एक ऐसे महामानव थे जिन्होने प्रचलित परम्परागत मान्यताओ से हटकर उच्चतम मानवीय मूल्यो की स्थापना की। उनसे पूर्व का समाज परम्परागत तथा कृत्रिम मूल्यों पर आधारित होने से विषमता, पाखण्ड, अन्धविश्वास, रूढिग्रस्तता तथा सकुचित भावनाओ के प्रभाव के कारण जर्जरित होता जा रहा था। चन्द-उच्च सत्ता, प्रतिष्ठा एवम् अधिकार प्राप्त शक्तिशाली व्यक्तियो का सम्पूर्ण मानव समाज व्यवस्था पर नियन्त्रण था। इसे स्थिर रखने के उद्देश्य से उन्होने समाज मे ऐसी दूषित व्यवस्था को जन्म दे रखा था जिसमे मानवीय मूल्यो को तिलाजलि दे दी गई थी।

30 मार्च, ई. पू. 599 (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को वैशाली के राजपरिवार मे जन्मे राजकुमार बर्द्धमान ने तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण कर, श्रमण तीर्थंकरों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अहिंसा

मानव धर्म के प्रणेता तीर्थंकर महावीर

सरदारसिंह चोरडिया

को समतामयी भूमिका मे प्रतिष्ठित कर उस युग की चिन्तनधारा को सर्वत्र चुनौती दी। शास्वत एवम् सर्वांगीण दर्शन के माध्यम से उन्होने तत्कालीन समाज में व्याप्त दोषपूर्ण व्यवस्था के विभिन्न पक्षों, ईश्वरवाद, पाखण्डवाद, बहुदेवोपासना, कर्मकाण्ड, लोकभाषा का अभाव, नरबलि, पशुबलि तथा नारी जाति के साथ दुर्व्यवहार जैसी कुप्रथाओं एव व्यवस्थाओं से ग्रस्त सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार कर मानवीय जीवन के मौलिक पक्ष को प्रस्तुत कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की।

वर्ण व्यवस्था का खण्डन :

बर्द्धमान महावीर को जिस व्यवस्था के विरुद्ध सर्वाधिक सघर्ष करना पडा, वह थी तत्कालीन समाज मे प्रचलित वर्ण व्यवस्था, जो जन्मना जाति के सिद्धान्त पर आधारित होने से विषमता की प्रमुख

घटक थी। ब्राह्मण जन्मना उच्च एवं शूद्र जन्मना तुच्छ, इस मान्यता पर आधारित व्यवस्था ने मानव-मानव में बहुत बडा भेद पैदा कर दिया था। महावीर ने इस व्यवस्था का तर्कसगत खण्डन कर तत्कालीन समाज को आन्दोलित कर दिया।

तीर्थंकर महावीर ने सभी वर्ण और जाति के लोगो को समान मानव कहा। वर्द्धमान महावीर स्वय जन्म-जात जैन नही थे। जन्म से वे क्षत्रिय वर्ण के कुल मे पैदा हुए थे। उन्होंने आत्मविजय द्वारा द्वेष व मोह का नाश कर आत्मा को जीता, इस कारण वे जिन कहलाए। उनके समवशरण के द्वार न केवल मानव मात्र को वरन प्राणीमात्र को खुले थे। उसमे सभी मिलजुलकर बैठते थे। उन्होंने बारह वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् निरंतर तीस वर्ष तक भ्रमण कर ज्ञानियो, अल्पज्ञो, उच्च एव दलितो तथा छूत एवम् अछूतो को जैन धर्म मे दीक्षित कर समाज मे प्रचलित अन्याय, अत्याचार, कुप्रथा एव दुराचार के विरुद्ध आवाज उठायी और सन्मार्ग दिखाया। उनके सघ में भी सभी वर्ग व जाति के लोग थे, उनके गणधर इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण कुलोत्पन्न तथा अनेको श्रावक-श्राविकाऐं वैश्य कुल की थीं। उनके शिष्यों में सकडाल कुम्हार, अर्जुन माली, कसा डाकू, अनुरक्त भद्रा नामक राज कर्मचारी की बेटी तथा पापी और नीच समझे जानेवाले लोग भी थे।

दलितोद्धार :

प्राणीमात्र के मध्य समानता स्थापना का विचार देकर उन्होने मानव समाज मे व्याप्त भय, कायरता, दुराग्रह पाखण्ड एवं अन्धविश्वास को दूर किया तथा पतितों एवं दीनों को गले लगाया और धार्मिक जड़ता तथा अन्ध श्रद्धा को तोड़कर जातिभेद व सामाजिक वैषम्य के विरुद्ध लोकमत जाग्रत किया तथा सुदूर क्षेत्रो मे अपने उपदेश दे, जन जागरण कर सामाजिक क्राति का सूत्रपात किया। दलितों एवं शोषितों के प्रति अन्याय से व्यथित महावीर ने उनके उद्धार को अपना एक प्रमुख लक्ष्य बनाया। वे जहाँ भी गए, उन्होंने ऐसे लोगों को प्राथमिकता दी। उन्होने दृढ सकल्प हो, शूद्रो एव एवं नारी जाति के लोगो को अपने धर्म मे दीक्षित किया। हरिकेशी चाडाल, सद्दालपुत्त कुम्भकार और दासी चन्दवाला (स्त्री) के लिए उन्होने धर्म के द्वार खोल दिए। विहार करते समय एक बार पोलासपुर गाँव के भ्रमण मे दौरान सकडाल कुम्हार की प्रार्थना पर वे सहर्ष उसके यहाँ ठहरे। इस प्रकार दलितो एवं शोषितो को समाज में समान एवं सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिए कटिबद्ध वर्द्धमान महावीर ने इस दिशा मे नवीन क्राति को जन्म दे, उनके लिए आध्यात्मिक साधना के द्वार खोल दिए।

अवतारवाद का खण्डन :

तीर्थंकर महावीर ने पूर्व प्रचलित इस धारणा का, कि—"सृष्टि निर्माता ईश्वर ही सबका भाग्य विधाता है" खण्डन किया। उनसे पूर्व धर्मगुरु इस धारणा पर ही बल देते थे, उन्होंने, इसकी व्याख्याओं में इसे और जटिल बनाते हुए "राजा को ईश्वर का अवतार" तथा "सस्कृत को देवताओं की भाषा" भी निरूपति कर दिया, और यह विश्वास जाग्रत एव पैदा किया कि मनुष्य का कल्याण इस सृष्टि निर्माता ईश्वर की पूजा अर्चना से ही सम्भव है। राजा, पुरोहित एव पडित स्वय इस ईश्वर के प्रतीक एव मध्यस्थ बन गए और उन्होने ईश्वर की पूजा अर्चना को भी जाति तथा वर्ण विशेष का ही अधिकार घोषित कर दिया। इस सारी व्यवस्था ने समाज को बुरी तरह जकड़ रखा था। महावीर ने इन बन्धनों को तोडा और कहा कि सृष्टि का कोई निर्माता नहीं है, वह अनादि और अनत है। यह दुनियाँ किसी एक ईश्वर के भरोसे नही चल रही है। उन्होने बुद्धिवादी कर्मवाद की धारणा प्रचलित कर हर व्यक्ति को लोकभाषा मे मोक्षमार्ग ढूढ़ने का

सन्देश दिया। इस धारणा का कि राजा ईश्वर का अवतार है, संस्कृत देवताओ की भाषा है, और उसमे लिखे कुछ ग्रन्थ ईश्वरीय है, खण्डन कर उन्होंने कहा कि कोई भी ग्रन्थ ईश्वरीय नही है, वे मनुष्य की ही कृति हैं, मनुष्य पहले आया और ग्रन्थ बाद में। राजा देव नही, न ही वह ईश्वर का अवतार हैं। महावीर ने कहा कि "राजा मनुष्य है, उसे देवता मत कहो, एक सम्पन्न मनुष्य कहो।"

देवों पर मानव की महानता :

इस प्रकार तीर्थ कर महावीर ने समकालीन मानव को मानव माना, तथा स्वय को भी मानव ही कहा। यही कारण है कि अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म तीर्थं-करों के साथ ईश्वरीय अवतार की धारणा नही जुडी है। वे तप व सयम द्वारा कर्मों को क्षय करके, आत्मा को साधना से पहचान कर, आत्मस्वभाव के रमण करने की प्रक्रिया से, तीर्थंकर बने। उन्होने चरित्र की आवश्यकता तथा पच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के पालन पर वल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि कोई ईश्वरीय अवतार नही, सभी प्राणी समान आत्मा को ग्रहण करते हैं, देव मानव से उच्च नही, वरन् उनके आधीन हैं, जैन वाङ्-मय मे ऐसे अनेको उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमे देवो द्वारा महामानवो की शरण व स्वागत सत्कार मे उप-स्थित होने के प्रसग हैं, जबकि ऐसा एक भी उदाहरण नही जिसमें मोक्ष प्राप्ति हेतु ईश्वर या देवताओ या उनके अवतारों की पूजा अर्चना का मार्ग अपनाया हो। उनने अनुसार प्रत्येक मानव सत्कर्मो के द्वारा दुष्कर्मों को क्षय कर, आत्मसाधना के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। तीर्थ कर महावीर करुणा और सवेदना के प्रतीक थे। उन्होने कहा कि मनुष्य की सत्ता सर्वोच्च है। प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसमे अनन्त शक्ति विद्यमान है। इस प्रकार तीर्थ कर महावीर ने देवो पर मानव की महानता सिद्ध की।

मनुष्य स्वयं भाग्यविधाता :

तीर्थंकर महावीर ने भाग्यवाद का खण्डन कर कहा कि मनुष्य स्वय ही अपने भाग्य का विधाता है, कोई अन्य शक्ति न तो उसके भाग्य को निर्धारित ही करती है, न ही उसके कर्मों को संचालित। मनुष्य भाग्य या कर्म के यत्र का पुर्जा नही है, भाग्य मनुष्य को नही बनाता, मनुष्य स्वय ही अपने भाग्य का निर्माण करता है, बह स्वय ही अपना भाग्य विधाता है। वह स्वय ही अपने सुख दु ख का कर्त्ता है।

पुरुषार्थ पर बल :

सुख प्राप्ति के लिए तीर्थंकर महावीर ने पुरुषार्थ का सन्देश दे सहजता और स्वाभाविकता पर बल दिया उन्होंने कहा कि—"तुम सुख-कहाँ ढूढते हो, वह तो तुममे ही स्थित है, सुख बाहर नही भीतर है। जिस राग द्वेष, अपने पराए मे तुम सुख दु ख की कल्पना कर रहे हो, परिग्रह समृद्धि मे सुख खोज रहे हो, वह सुख कहाँ है? वहाँ तो दु ख का अपरम्पार पारावार लहरा रहा है। "सुख अन्त: मे स्थित है, जिसे पुरुषार्थ से ही प्राप्त किया जा सकना है।"

कर्मवाद :

यही कारण है कि अपने जीवन दर्शन में तीर्थ कर महावीर ने कर्मवाद के मूलमत्र का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि "सिर मुडाने मात्र से कोई श्रमण नही हो जाता, ॐ रटने मात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, वनवास भोगने से कोई मुनि नही बन जाता, बल्कि समता से ही व्यक्ति श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण, ज्ञान से ही मुनि तथा तप से ही तपस्वी। आदमी क्षत्रिय, ब्राह्मण वैश्य, शूद्र सिर्फ अपने कार्य से बनता है।"

मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान् है :

तीर्थ कर महावीर ने कर्मवाद की धारणा दे कर यह कहा कि "मनुष्य जन्म से नही कर्म से महान होता

है।" जाति विशेष को ही मोक्ष की प्राप्ति का अधिकार है इस धारणा का खण्डन कर उन्होंने कहा कि धर्म के पथ का अनुशरण जन्म द्वारा निर्धारित न होकर उसके भावनारूपी कर्म पर आश्रित होता है। जैसा क्रिया कर्म होगा, वैसा ही उसका भोग होगा। जीवात्मा स्वय कर्म करता है और स्वय ही फल भोगता है और स्वय ही विश्व में भ्रमण करता है। तथा स्वय बन्धन से सदा के लिए मुक्त भी हो जाता है। जैसा कर्म होगा, वैसा मिलेगा। जब तक पूर्व कर्मों का क्षय नही होता तब तक मोक्ष प्राप्त नही हो सकता।

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा :

मोक्ष प्राप्ति के लिए महावीर ने आत्मशुद्धि पर बल दिया। "शुद्ध आत्मा ही परमात्मा की धारणा दे उन्होंने कहा कि ईश्वरत्व प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। वह तो स्वयं में स्वतन्त्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। हर व्यक्ति चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर उसे प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने कषायों, क्रोध-मान-मोह-लोभ को त्याग दें। मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिए अपनी तृष्णा से, वैर से, क्रोध से, मोह से, विलास, अहकार एव प्रमाद से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। इनसे मुक्ति प्राप्त आत्मा ही शुद्ध आत्मा है और वही परमात्मा है।

ज्ञान एवं कर्म का समन्वय :

इसके लिए महावीर ने ज्ञान और कर्म के समन्वय पर बल दिया। मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्होंने सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एव सम्यक चरित्र रूपी रत्नत्रय के प्रमाणबद्ध समन्वय पर बल दिया। अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन अथवा अकेला चरित्र ही मनुष्य को दुःख मुक्ति को और नही ले जा सकता। इसके लिए ज्ञान, दर्शन और आचरण का समन्वय आवश्यक है। ज्ञान हीन कर्म और कर्महीन ज्ञान दोनो ही व्यर्थ हैं। ज्ञान सत्य का आचरण और आचरिक सत्य का ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं।

समन्वयवादी दर्शन :

महावीर का दर्शन अत्याधिक व्यापक है जिसमें समन्वयवाद पर बल दिया गया है। अनेकान्त एव स्याद्वाद दर्शन का सिद्धान्त जैन दर्शन की ऐसी मौलिक उपलब्धि है जिसने दर्शन शास्त्र के जगत् में ज्ञान एवं विकास के नए द्वार खोल दिए हैं, तथा विश्व भर के चिन्तकों को नई दिशा दी है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने ऐसे मानवधर्म की स्थापना की जिसने प्राणीमात्र की मुक्ति का द्वार खोल दिया और एक ऐसे जीवन दर्शन की स्थापना की जिसने मानव जगत को नई दिशा तो दी ही, साथ ही मानव समाज में उच्चतम मानवीय मूल्यों की स्थापना की, जो कि तीर्थंकर महावीर के मानवधर्म की महत्व पूर्ण उपलब्धि है।

□ □

भगवान महावीर का सर्वोदय शासन

सुमेर चन्द्र दिवाकर शास्त्री

असंयम और स्वच्छन्दता से सम्बन्धित आज के विज्ञान ने समस्त विश्व की बडी भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी है। हिंसा का विषाक्त वातावरण और आध्यात्मिक अँधियारी उग्र रूप से बढ़ रही है। बडे-बडे राष्ट्रनायक शान्ति, एकता, अहिंसा और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful co-existence) की सुमधुर चर्चा करते हैं, किन्तु वे प्रयास इसलिए विफल होते हैं कि उनके अन्तःकरण मे सच्ची अहिंसा की भावना नहीं है। वे लोग तो शेक्सपियर के नाटक मैकबेथ (Macbeth) के इन शब्दों के प्रतीक प्रतीत होते हैं। लेडी मैकबेथ अपने पति को मायाचार की इस प्रकार शिक्षा देती है,

> Look like an innocent flower
> But be the serpent under it

तुम पुष्प के समान अपना निर्दोष रूप दर्शाना, किन्तु अपने हृदय मे विषधर की घातक वृत्ति को छिपाए रखना (ताकि शत्रुवर्कन का विनाश कार्य सपन्न हो सके)। आज राष्ट्र के कर्णधार हंस की मनोज्ञ मुद्रा धारण कर बकराज का आचरण करते हैं।

भयावह स्थिति :

प्राय: प्रत्येक राष्ट्र स्वार्थ की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित दिखाई दे रहा है। लोकनायकों की हार्दिक स्थिति का अकबर ने ठीक चित्रण किया है :

> कौम के गम में पार्टियां खाते हैं हुक्काम के साथ।
> रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

विश्व शांति और अहिंसा की वाणी द्वारा चर्चा करते समय हमारे माननीय राजनीतिज्ञ करुणामय आचरण की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। डाइनिंग टेबिल पर विश्व कल्याण की मन्त्रणा करते समय ये निरपराध पशुओं का मांस बडी रुचि से अपने उदर मे प्रवेश कराते हुए तथा शराब को सुधा तुल्य मान पीते हुए अहिंसा के प्रकाश को खोजा करते हैं। ऐसी आसुरीवृत्ति पूर्ण स्थिति मे अहिंसा से भेंट होगी या क्रूरतापूर्ण राक्षसी वृत्ति दिख पड़ेगी ? विश्वकवि रवि बाबू ने कहा था "महाशांति का संबंध 'महाप्रेम' के साथ है"। खेद है कि आज लोग जीवन की पवित्रता (Sanctity of life) के स्थान मे छुरी की पवित्रता (Sanctity of knife) को अपने अन्त:करण मे मान

बैठे हैं भौतिक विज्ञान ने जो आराम की सामग्री के साथ में सर्वनाश करने वाले अणुबम आदि अस्त्र प्रदान किये हैं, उससे सारा विश्व गहरी चिन्ता मे डूब गया है। सर्वत्र भय और स्नेह शून्यता की प्रचण्ड पवन बह रही है। डॉ. इकबाल ने वर्तमान हिंसात्मक विकास की व्यंग्यात्मक शैली मे इन शब्दो में समीक्षा की है :

जान ही लेने की हिकमत में तरक्की देखी।
मौत का रोकनेवाला कोई पैदा न हुआ।

दार्शनिक बर्ट्रेंड रसिल ने लिखा है जिस अणुबम के फेंके जाने पर जापान का हिरोशिमा नगर नष्ट हो गया, आज उससे पच्चीस हजार गुने बम का निर्माण हो चुका है। उन्होंने अपनी पुस्तक Impact of Science on Sociology' मे लिखा है : Some eminent authorities including Eienstein hav epointed out that there is a danger of the extinction of all life on this planet (P. 126)— आइंस्टीन आदि कुछ प्रमुख विशेषज्ञों ने कहा है कि वर्तमान स्थिति इतनी भयावह है कि उससे इस भूमंडल पर विद्यमान जीवमात्र के विनाश की संभावना है।

स्वर्गीय राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद ने अपने एक वक्तव्य में कहा था, "जिन्होंने अहिंसा के मर्म को समझा है, वे ही इस अधकार में कोई रास्ता निकाल सकते हैं। जैन धर्म ने ससार को अहिंसा की शिक्षा दी है। आज संसार को अहिंसा की आवश्यकता महसूस हो रही है। जैनियों का आज मनुष्य समाज के प्रति सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह कोई रास्ता ढूंढ़ निकालें।"

भगवान महावीर ने ससार के दुःखों का मूल कारण हिंसात्मक भावना और आचरण को कहा है। उनका यह सूत्र अत्यन्त मार्मिक है, "हिंसा प्रसूतानि सर्वदुःखानि"— समस्त दुःखों का मूल कारण हिंसा है। ज्ञानार्णव मे आचार्य शुभचद्र ने कहा है .

यत्किंचित् ससारे शरीरिणा दु ख शोक भय बीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्त तद्धिंसा-सम्भवं ज्ञेयम्।

इस संसार में जीवों के दुःख शोक एवं भय के बीज स्वरूप दुर्भाग्य आदि का दर्शन होता है, वह हिंसा से ही उत्पन्न समझना चाहिये।

क्षुद्र तथा स्वार्थी व्यक्ति "जीवो जीवस्यभक्षणम्" जीव का आहार दूसरा जीव है अथवा समर्थ को ही जीने का अधिकार है (Survival of the fittest) सोचा करता है। यथार्थ में उक्त बात पशु जगत मे सबध रखती है। मनुष्य पशु जगत से श्रेष्ठ है। वह विवेक और विचार शक्ति समलकृत है। उसे अपनी दृष्टि को उदार बनाना चाहिए। सत वाणी है—

जैसे अपने प्रान हैं वैसे पर के प्रान।
कैसे हरते दुष्ट जन बिना बैर पर प्रान॥

सर्वोदय पथ :

सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर ने सर्वोदय मार्ग का उपदेश दिया है। उनका सर्वोदय बहुत व्यापक है। उसमें सर्व जीवों का, सर्वकालीन तथा सर्वांगीण उदय विद्यमान है। हिंसा की भावना पर निर्मित विकास या विलास का भवन शीघ्र धराशायी हो जाता है। भगवान महावीर के शिक्षण के विषय में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है "सर्वापदा मन्तकर निरन्त सर्वोदय तीर्थमिद तवैव॥" युक्त्यनुशासन। ६१। आपका तीर्थ (शासन) समस्त सकटो का अन्त करनेवाला तथा स्वय विनाश रहित सर्वोदय रूप है।

अहिंसा की महत्ता :

भगवान की करुणामयी दृष्टि जीवमात्र के उत्थान की थी। वे स्वार्थ पूर्ति के स्तर पर अहिंसा-हिंसा का विश्लेषण नहीं करते थे। उनकी करुणामयी

चन्द्रिका सर्व जगत को प्रकाश और आनंद प्रदान करती थी। अहिंसा मे अपार शक्ति है। गाधीजी ने उसका आश्रय लेकर भारत को स्वाधीन बनाया। इससे अहिंसा की महत्ता, शक्ति तथा उपयोगिता स्पष्ट हो गई है। भगवान ने कहा है "सत्थस्स सत्थ आत्यं असत्थस्स सत्थ णत्थि" शस्त्र के मुकाबले मे बडा शस्त्र बन सकता है किन्तु अशस्त्र अर्थात् अहिंसा से बडा कोई दूसरा शस्त्र नही है। शस्त्र प्रयोग शत्रु का नाश करता है, वह शत्रुता का नाश नहीं करता है। अशोक ने कलिंग पर चढाई कर उसे हराया था, किन्तु कुछ समय बाद कलिंग सम्राट महामेघवाहन खारवेल ने मगध को जीतकर कलिंग को जयश्री प्रदान की। अहिंसात्मक हथियार का चमत्कार यह है कि शत्रु का नाश न कर शत्रुता का नाश करता है। गाधीजी ने अग्रेजी शासन को भारत से समाप्त कर दिया, किन्तु भारत और अग्रेजो के बीच दुश्मनी का विष नही पनपा तथा उनके साथ मैत्री की दृष्टि विकसित हुई।

यह बात स्मरण योग्य है कि वही अहिंसा शक्तिशाली है, जिस पर माया या कपटाचार की छाया नही पडी है।

अहिंसा अमर जीवन प्रदान करती है। जिस अहिंसामयी साधना के द्वारा यह साधक अमृतत्व तथा परम ब्रह्म पद को प्राप्त कर सकता है, उसके द्वारा लौकिक तथा मानसिक शांति को प्राप्त करना कठिन नही है। 'हिंसा' का पर्यायवाची शब्द 'मृत्यु' है अत' हिंसा का निषेधवाचक 'अहिंसा' का पर्यायवाची 'अमृत्यु' होगा। उपनिषद मे मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था, आज तपोवन को अमृतत्व के लिए प्रयाण कर रहे हैं, तो मैं धनादि सामग्री को लेकर क्या करूंगी, जबकि उससे अमृतत्व की उपलब्धि नही होती है। "किमहं तेन कुर्याम् मेनाह नामृता स्याम"—उस अमृत पद (Life immortal) की प्राप्ति अहिंसा की श्रेष्ठ साधना द्वारा होती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—"अमृतत्वहेतुभूत परममहिंसा रसायनम्" । ७८ । अहिंसा द्वारा अमृत पद, (परम निर्वाण) प्राप्त होता है। यह श्रेष्ठ रसायन है। इसमे मधुरता का रस भरा है तथा इससे आत्मा की प्रसुप्त अनत दिव्य शक्तिया विकसित हो जाती हैं।

ईश्वरभक्त भगवान को करुणा का सागर कहा करता है, इसलिए जिस व्यक्ति में जितनी मात्रा में करुणा का सदभाव रहेगा उसमे उतनी मात्रा में दिव्यता की उपलब्धि रहेगी। शेक्सपियर ने कहा है Mercy is an attribute to God Himself" दया ईश्वर का ही गुण है।

आत्मबल

अहिंसा की साधना के लिए आत्मबल तथा वासनाओ पर विजय आवश्यक है। इसमे साधक को अधोगामिनी प्रवृत्तियो को उर्ध्वगामिनी बनाने का सच्चा पुरुषार्थ और पराक्रम करना पडता है। साधारणतया जल का अधोगमन होता है। नदी को निम्नगा इससे कहते हैं, कि उसका पानी सदा नीची भूमि की ओर प्रवाहित होता है, उस जल को ऊँचाई पर पहुँचाने के लिए विशेष श्रम और उद्योग जरूरी हैं, इसी प्रकार आत्मा को अहिंसा के उदात्त पथ पर पहुँचाने के लिए विशेष प्रयत्न तथा आत्मबल वाछनीय है। काका कालेलकर ने कहा है, "बिना परिश्रम किए हम अहिंसक नही बन सकते। अहिंसा की साधना बडी कठिन है। एक ओर पौद्गलिक भाव खींचतान करता है, दूसरी ओर आत्मा सचेत बनता है। दूसरों का हित हृदय मे रहने से आत्मा धार्मिक श्रद्धावान बनता है। आज की मानवता को युद्ध के दावानल से मुक्त करने का एकमात्र उपाय भगवान महावीर की अहिंसा ही है।"

व्यसन त्याग

व्यक्ति तथा समष्टि के हित की दृष्टि मे अहिंसा के साधक को अपनी प्रवृत्तियो को सदाचार से समलकृत करना आवश्यक है। इन सप्त व्यसनो का परित्याग अत्यन्त आवश्यक है, कारण इन व्यसनो से आत्मा का पतन होता है तथा विश्व को भी हानि पहुँचती है।

जुआ, आमिष, मदिरा, दारी, आखेटक, चोरी, परनारी।
ये ही सात व्यसन दुःखदाई, दुरितमूल दुरगति के भाई।

अहिंसा की साधना द्वारा ही सच्ची सर्वोदय की स्थिति उपलब्ध होती है। सत्य, अचौर्य, शील, अपरिग्रह, निरभिमानता, संयम आदि सत्यप्रवृत्तियां अहिंसा के अंतर्गत हैं। तत्वार्थ सूत्र में कहा है, प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपण हिंसा"—प्रमत्त योग अर्थात् क्रोधादि विकारों से मुक्त हो प्राणों का घात करना हिंसा है। ऐसी हिंसा का त्याग निर्मल मनोवृत्ति पर निर्भर है। उस निर्मल मन:स्थिति के हेतु बाह्य प्रवृत्तियाँ उज्जवल रहनी चाहिये। मास सेवन करने से मनोवृत्ति मलिन होती है। शराब का सेवन भी आत्मा में विकारी भावों को उत्पन्न करता है। एक शराब प्रेमी कहता है कि मद्यपान से आत्मा को कोई हानि नही पहुँचती। मजहब में पक्का विश्वास रखने पर बाहरी स्वच्छन्द आचरण कुछ भी क्षति नही पहुँचा सकता। खाने-पीने से आत्म-विकास तथा धर्म का सम्बन्ध है। वह विलासी जीवन का प्रतिनिधि बन पूछता है—

> जाहिद शराब पीने से काफिर बना मैं क्यो ?
> क्या डेढ चुल्लु पानी में ईमान बह गया।

सत्पुरुषों का अनुभव

यही धारणा हमारे विश्वहित की चिन्ता में निमग्न रहनेवाले प्रमुख लोगों को मांस, मदिरा आदि को सेवन करने मे उत्साहित करती है किन्तु सात्विक आचार, विचारवाले महापुरुषो का अनुभव है कि आहार की शुद्धता का विचारो पर प्रभाव प्रत्यक्ष गोचर है। अपने राजयोग में स्वामी विवेकानद लिखते हैं, "हमें उसी प्रकार का आहार ग्रहण करना चाहिए, जो हमे सबसे अधिक पवित्र मन दे। हाथी आदि बड़े जानवर शान्त और नम्र मिलेंगे। सिंह और चीते की ओर जाओगे, तो वे उतने ही अशान्त मिलेंगे। यह अन्तर आहार भिन्नता के कारण है।" हिरण शाकाहारी है, बिल्ली मांसाहारी है; दोनो के जीवन का निरीक्षण बताता है कि हिरण जहां शान्त रहता है, वहाँ मार्जार क्रूरतापूर्ण आचरण के कारण अशात अवस्था में पाया जाता है। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है "मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। विकार मुक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की ही खोज मे रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादों और भोगों को ढूंढता फिरता है और फिर उस आहार और भोगो का प्रभाव मन के ऊपर पडता है। मेरे अनुभव ने तो मुझे यही शिक्षा दी है, कि जब मन संयम की ओर झुकता है, तब भोजन की मर्यादा तथा उपवास खूब सहायक होते हैं। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असंभव-सा ही मालूम होता है।" (आत्मकथा ख. 5 पृ. 112-13।) वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मांस, मदिरा आदि के द्वारा शक्ति तथा आरोग्य का प्राप्त करना एसा ही है जैसे चाबुक के जोर से सुस्त घोड़े को तेज करना।

यूरोप के मनीषी महात्मा टाल्सटाय ने कहा है, 'मास खाने से मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और शराब पीने की इच्छा होती है। इन सब बातों के प्रमाण सच्चे और शुद्ध सदाचारी नवयुवक, विशेषकर स्त्रियाँ और तरुण लड़कियां हैं जो इस बात को साफ साफ कहती हैं, कि मांस खाने के बाद काम की उत्तेजना और अन्य पाशविक वृत्तियां अपने आप प्रबल हो जाती है।" उनके ये शब्द विवेकी तथा सच्चे सुधार के प्रेमी को

ध्यान में रखने योग्य हैं, "मास खाकर सदाचारी बनना असभव है। बर्नार्दशा की यह उक्ति मननीय है, "मैं यह बात दृढतापूर्वक कहता हूँ, कि मदिरा तथा मृत शरीरो का भक्षण करने वाला मानव ऐसे श्रेष्ठ कार्य नही कर सकता जिसकी क्षमता उसमे विद्यमान रहती है।"

शंका

कोई-कोई शाकाहार और मासाहार को समान मानते हुए कुतर्क करते हैं, जैसे जीव का घात मास में होता है, वैसे ही वनस्पति सेवन मे जीव का घात समान रूप से पाया जाता है। प्राणी का अगपना वनस्पति और मास में समान रूप से है, किन्तु उनके स्वभाव में अतर है। अन्न भोजन है तथा मास, अण्डा आदि पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं। स्त्रीयो की अपेक्षा माता और पत्नी समान हैं, किन्तु भोग्यत्व की अपेक्षा पत्नी ही ग्राह्य कही जाती है, माता नही। एक बात और है। वनस्पति को पानी से उत्पन्न होने के कारण 'आबी' (जल से उत्पन्न) कहते हैं। मास को रज, वीर्य से उत्पन्न होने के कारण पेशाबी कहा जाता है। मूत्रादि से उत्पन्न शरीर पिण्ड का भक्षण करना सभ्य तथा सुसस्कृत व्यक्ति के लिए उचित नही है।

जो लोग ईश्वर को विश्व निर्माता तथा जगत् पिता कहते हैं, उन्हें टी. एल वस्वानी कहते हैं, "पक्षी या पशु को प्रेम न करना मेरे लिए प्रभु को प्रेम न करना है, क्योकि पशु-पक्षी भी उसके इसी तरह बच्चे हैं जैसे मानव प्राणी।"

पायथोगोरस यूनानी तत्ववेत्ता की वाणी बडी मार्मिक है, "ऐ नश्वर मनुष्यो। अपने शरीर को घृणित आहार से अपवित्र करना बन्द करो। जगत् में तुम्हारे लिए रसभरी फल राशि है जिनके बोझ से शाखाएँ झुक गई हैं। मधुर द्राक्षाओ से लदी हुई लताएँ हैं, रसीली वनस्पतियाँ हैं। अनेक प्रकार के अन्न हैं, जिन्हें आग के द्वारा मृदु एव सुपाच्य बनाया जा सकता है। पोषक दूध है। उदार पृथ्वी माता विविध भाँति की विपुल खाद्य सामग्री देती है तथा रक्तपात के बिना मधुर एव शक्तिप्रद भोजन देती है। नीची श्रेणी के प्राणी अपनी क्रूर भूख को मास के द्वारा शान्त करते हैं, परन्तु सभी ऐसे नही हैं। घोडा, गाय, बकरी, भेड, बैल घास पर ही जीवित रहते हैं। अरे मरणशील मानवो! तुम मास को छोड दो। मासाहार के दोषों पर ध्यान दो। मारे गए बैल के लोथडे जब तुम्हारे सामने आवे, तब यह समझ और अनुभव कर कि तू अन्न-फल पैदा करनेवालो को खाने जा रहा है।"

मूल गुण

भगवान महावीर ने सच्ची उन्नति के लिए साधक को अपने मनोमदिर मे भगवती अहिंसा को प्रतिष्ठित करके मास, मद्य, मधु, स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल स्तेय, परस्त्री सेवन तथा अमर्यादित परिग्रह वृत्ति का त्याग करना चाहिए। आत्मविकास के लिए ये अष्ट मूल गुण आवश्यक है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में समतभद्र आचार्य ने लिखा है।

मद्य मास मधु त्यागै सहाणुव्रतपचकम् ॥
अष्टौ मूलगुणाबाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमाः। ॥66॥

श्रमणोत्तम भगवान ऋषभ देव, भगवान महावीर आदि ने मद्य, मास, मधु के त्याग के साथ अहिंसा आदि पच अणुव्रतो को गृहस्थो के आठ मूल गुण कहा है।

गृहस्थ की अहिंसा

इस अहिंसा की साधना गृहस्थ और श्रमण के भेद से दो प्रकार की है। कृषि, वाणिज्य, राष्ट्र सरक्षण तथा

अन्य उत्तरदायित्वो के होते हुए गृहस्थ पूर्ण रीति से अहिंसा का पालन नही कर सकता है; उसके लिए यह उचित है कि अपनी जिम्मेदारियो को ध्यान मे रखते हुए अधिक-से-अधिक करुणाशील बनने का प्रयत्न करे। कम-से-कम इरादतन-सकल्पी हिंसा (Intentional) का परित्याग अवश्य करे । मांसभक्षण, शिकार खेलना आदि क्रूरकर्म सकल्पी हिंसा के अंतर्गत होने से त्याज्य हैं। जैन क्षत्रिय स्वय मांसादि का त्याग करता हुआ लोक सरक्षण, न्याय-परित्राण, तथा सत्पुरुषो के रक्षणार्थ अस्त्र शस्त्रादि का भी प्रयोग करता है, क्योंकि उस प्रक्रिया के द्वारा व्यापक अन्याय, अत्याचार आदि का दमन होने से प्रकारान्तर मे करुणा, शील, सदाचार आदि अहिंसात्मक प्रवृत्तियो का सरक्षण एवं सवर्धन होता है। महर्षि जिन सेन ने महापुराण मे कहा है, "प्रजा. दण्डधराभावे मात्स्य न्यायं श्रमन्त्यम्" (16-252) यदि शासक दण्ड धारण करने में प्रमाद दिखावे, तो जगत् में हाहाकार मच जायगा। मात्स्य न्याय—जिसमे बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है-प्रवृत्त हो जायगा। अत्याचारी सशक्त व्यक्तियो का बोलबाला हो जायगा। अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है, "रण चगउ दीण परिरक्खणेण, पोरुसु सरणागम रक्खणेण"—दीनो के रक्षणार्थ युद्ध करना अच्छा है, शरणागत का रक्षण यथार्थ पौरुष है। गृहस्थ क्षत्रिय नरेश जैन धर्मानुसार अपना व्यक्तिगत जीवन करुणापूर्ण रखते हुए अपने उत्तरदायित्व को ध्यान में रख शस्त्रादि का सचालन करते थे। तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान ने चक्रवर्ती नरेन्द्र की अवस्था मे चक्र के द्वारा नरेन्द्र समुदाय को जीता था, पश्चात् राज्य त्याग कर श्रमण वृत्ति अगीकार करने पर उन्होंने समाधि आत्म ध्यान के द्वारा मोह की सेना को परास्त किया था। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है :

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा नृप. सर्वनरेन्द्रचक्रम्।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय मोहचक्रम्।

जैन ग्रंथो के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि कम-से-कम भी अहिंसा का पालन करनेवाला अपनी कमजोरियो पर विजय पाता हुआ श्रेष्ठ अहिंसक श्रमण की अवस्था को प्राप्त करता है, तथा अन्त मे परम निर्वाण को प्राप्त कर जन्म, जरा, मरण के चक्कर से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है।

आकांक्षाओं पर नियंत्रण

अहिंसा की साधना के लिए गृहस्थ को धन-वैभव आदि की लालसा को कम करना चाहिए; आत्मा चेतना ज्योति स्वरूप है; धनादि परिग्रह आत्मा से भिन्न हैं, जो उसकी मृत्यु के समय यहाँ ही पड़े रहते हैं। अतः विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने पास की अधिक सपत्ति को सत्कार्यों मे व्यय करे। सग्रहशील व्यक्ति की शहद की मक्खी के समान दुर्दशा होती है—

मक्खी बैठी शहद पर पंख लिए लिपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै लालच बुरी बलाय।

मनुष्य स्वाभाविक आकाक्षाओ को पूरा किया जा सकता है, धनादि की लालसा कृत्रिम अभिलाषा को नही पूरा किया जा सकता है। सिकन्दर से भारतीय संत दंदमिस (Dandamis) ने कहा था, "स्वाभाविक इच्छाएँ जैसे प्यास को पानी द्वारा दूर किया जा सकता है, भूख को भोजन द्वारा पूर्ति हो सकती है, किन्तु धनादि की लालसा अस्वाभाविक होने से वह बढ़ती ही जाती है और कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती है[1]।"

1. Dandamis told Alexander that natural desires are quenched easily, thirst by water hunger by food but the craving for possessions is an artificial one. It goes on unceasingly and never is fully satisfied (Speech by Dr. S. Radhakrishnan in inaugurating XXVI International Congress of Orientalists, New Delhi 1964)

श्रेष्ठ साधक

जैन धर्म मे दिगम्बर मुनि परिग्रह मात्र का त्याग करके श्रेष्ठ अहिंसा तथा आत्मशांति का सजीव उदाहरण उपस्थित करते हैं। परिग्रह त्यागी के चरणो के समीप विश्व का वैभव नतमस्तक होता है। एक कवि कहता है .

चाह घटी चिन्ता हटी मनुआ बे परवाह।
जिन्हें कछू नहिं चाहिये वे शाहनपति शाह।

अपरिग्रहत्व तथा अकिंचन वृत्ति पर गांधीजी के शब्द बडे अनुभवपूर्ण हैं, "सच्चे सुधार का सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नही है, बल्कि उसका विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यो परिग्रह घटाइये त्यो-त्यो सच्चा सुख और सतोष बढता है, सेवा शक्ति बढती है। आदर्श और आत्यतिक अपरिग्रह तो उसी का होगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। मतलब वह पक्षी की भाति बिना घर के, बिना वस्त्रो के, बिना अन्न के विचरण करेगा। (गाधी वाणी पृ.98) अविद्या से अभिभूत व्यक्ति ईसा के इस उपदेश को भूल जाता है कि Naked I came from my mother's womb and naked shall I go thither. मैं अपनी माता के उदर से दिगम्बर रूप मे आया था, तथा उसी अवस्था मे यहाँ से उसी स्थल पर चला जाऊगा। आचार्य गुणभद्र आत्मानुशासन मे मार्मिक शिक्षा देते हैं .

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वं मजिघृक्षवः।
इति स्पष्ट वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयो ॥
॥ 154 ॥

तराजू के दोनों पलडे यह बताते हैं कि लेने की इच्छावाला प्राणी लदे पलडे के समान नीचे जाता है और न लेने की इच्छावाला प्राणी खाली पलड़े के समान उन्नत दशा को पाता है। सुकरात ने बडी सुन्दर बात कही है, The fewer are our wants the more we resemble gods हमारी जितनी-जितनी आवश्यकताएँ कम होती हैं उतना हम दिव्यता के समीप पहुँचते हैं।

भीषण स्थिति

वर्तमान युग की यान्त्रिक पद्धति के कारण जगत् मे धनवान और धनहीनो के बीच बडी गहरी खाई बन गई है। इसके कारण हिंसा का ज्वालामुखी सर्वसहार हेतु जागृत हो रहा है। इस महा विपत्ति से बचने का उपाय भगवान महावीर का सीमित परिग्रह रखना तथा अनावश्यक सपत्ति को सत्कर्मों मे स्वेच्छा से लगाना है। राजकीय अनेक कदम धनिकों को उनके अधकार-मय भविष्य का उद्‌बोधन करा रहे हैं। एक कवि कहता है .

दातव्य भोक्तव्य सति विभवे सचयो न कर्तव्यः
पश्येह मधुकरीणा सचितमर्थं हरन्त्यन्ये।

धन वैभव के प्राप्त होने पर सत्कार्यों मे सपत्ति का विनियोग करो तथा स्वय भी उसका उपयोग करो। देखो उस भ्रमरी को, जिसका सचित मधु दूसरे छीन लेते हैं।

महावीर की शिक्षा

भगवान महावीर ने कहा था—

अनित्यानि शरीराणि विभवोनैव शाश्वतः।
सन्निहित च सदा मृत्यु कर्त्तव्यो धर्म संग्रह ॥

शरीर अनित्य है, वैभव सदा नही रहेगा, मृत्यु सदा समीप है, अतः धर्म का संग्रह करना चाहिए। अकबर का कथन सत्य है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नही।
सामान सौ बरस का है पल की खबर नही।
सेठ जी को फिक्र थी एक-एक के दस कीजिये।
मौत आ पहुँची कि हजरत जान वापिस कीजिए।

अपरिग्रह के समर्थन में कबीर की वाणी आज के गगनचुंबी भवन निर्माताओं को चेतावनी देती है,

कहा चुनावे में दिया लावी भीत उसार ॥
घर तो साढे तीन हथ घना कि पौने चार ॥

भगवान महावीर ने आत्मा को उसके उत्थान तथा पतन में स्वतंत्र कहा है। सत्तचूड़ामणि में कहा है—

त्वमेव कर्मणा कर्त्ता भोक्ता च फलसंततेः।
मोक्ता च तात कि मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्ट से
॥ ११-४५ ॥

हे आत्मन् ! तू ही अपने कर्मों को बांधता है, उनके फलों को तू ही भोगता है तथा तू ही उनकर्मों का क्षय करने की क्षमता सपन्न है। इस प्रकार तेरी मुक्ति तेरे हाथ में है, उसके लिए क्यों नही चेष्टा करता है ?

मुक्ति मार्ग

तत्वार्थ सूत्र मे कहा है 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गं' :—सम्यग्दर्शन (आत्मश्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (आत्मज्ञान) तथा सम्यक्चारित्र (आत्म स्वरूप मे स्थिरता) मे तीनों मोक्ष के मार्ग है। इसे ही भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य का संगम रूप त्रिवेणी कहा जाता है। टेनीसन ने इस रत्नत्रय नाम से विख्यात जैन तत्वज्ञान को इस प्रकार कहा है—

Self reverence, Self-knowledge Self-Control
These thre alone lead life to Soverign power.

आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान तथा आत्म निमंत्रण (संयम) ये तीनों मिलकर जीव को पूर्ण शक्ति सपन्नता (परमात्म प्रदान करते हैं।

समन्वय दृष्टि

भगवान ने वस्तु को अनंतगुणों का पुंज बताते हुए कहा है, कि तुम्हारी वाणी पूर्ण सत्य को एक साथ व्यक्त करने में असमर्थ है, अतः तुम्हारी दृष्टि में यह बात रहनी चाहिए कि मैंने सत्य का एक अश ग्रहण किया है, वह पूर्ण सत्य नही है। दूसरे व्यक्ति ने सत्य के अन्य अश को ग्रहण किया है; उसकी दृष्टि से वह भी सत्य है। सत्य पर मेरा सर्वाधिकार (monopoly) नही है। इस समन्वय दृष्टि को स्याद्वाद दर्शन कहते हैं। सन् 1935 मे मैं गाँधीजी से वर्धा के आश्रम में मिला था उस समय उन्होने कहा था, "जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।" कबीर ने सुन्दर बात कही है—

नदिया एक घाट बहुतेरे।
कहत कबीर वचन के फेरे।

इस चिंतन पद्धति के द्वारा धार्मिक मैत्री का महा प्रासाद निर्माण किया जा सकता है। भगवान ने कहा, शक्ति रूप से ससारी जीव परमात्मा है, कर्मों के कारण वह दीन बन रहा है। परमात्म प्रकाश में कहा है—

एहु जि अप्पा सो परमप्पा कम्मविसेसे जायउ जप्पा।
जामहु जाणहु अप्पे अप्पा तामहु सो गि देउ परमप्पा।

यह आत्मा यथार्थ मे परमात्मा है, कर्मों के कारण वह संसारी आत्मा बनता है। वह जब अपनी आत्मा को अपने रूप मे जानता है तब वह परमात्मा हो जाता है।

सार—

सर्वोदय के लिए भगवान ने कहा था—
अभय यच्छ जीवेषु कुरु मैत्री मनिन्दिताम।
पश्यात्म सदृशं विश्व जीवलोकं चराचरम् ॥

संपूर्णजीवों को अभय प्रदान करो, सबके प्रति निर्मल मैत्री धारण करो तथा चराचर विश्व को अपने समान समझो।

Message of Bhagavan Mahavira

T K Tukol

The year commencing from November 13. 1974 to November 15, 1975 was observed throughout the world as the 2500th Nirvana Mahotsava day of that great teacher, Bhagavan Mahavira, who preached the doctrines of Ahimsa, Satya, Achaurya, Brahmacharya and Aparigraha as holding the key to the spiritual advancement of an individual as also to public peace and morality He did not preach these doctrines for the first time but merely reiterated what had been taught to humanity by his predecessors for thousands of years before him As Dr. Hermann Jacobi has observed, "Jainism is an original system, quite distinct and independent of all others and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India." Dr. Radhakrishnan confirms this view in one of his volumes on Indian Philosophy (Vol II Page 287) . "Jain tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva (the first Tirthankara), who lived many centuries back There is evidence to show that as far as the first century B C, there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara There is no doubt that Jainism prevailed before Vardhamana or Parsvanatha. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras-Rishabha, Ajitanath and Arishtanemi The Bhagavata Purana endorses the view that Rishabhadeva was the founder of Jainism."

Though Mahavira was a historical person, not many details of his life are available. His father Siddartha was a King in Vaisali, part of modern Bihar and his mother was Trishaladevi. Since marvelous prosperity to the royal family and to the kingdom heralded the birth of the child who was destined to be a Tirthankara, the parents named the child Vardhamana. The child was brought up amidst royal grandeur and comfort; one would have expected him to grow to manhood with fondness for pleasures and soft comforts of palace life. That was not to be.

Vardhamana, who was subsequently named Mahavira, the great hero, on account of his remarkable deeds of prowess exhibited by him even during his childhood. He had a bent of mind which was at once philosophic and spiritual As regards his marriage, the Digambaras and the Svetambaras differ in their traditions While former hold that he was unmarried, the latter adhere to the view that he was married to one Yasoda and had a female child of that wedlock. Both are agreed that in the very prime of youth, he renounced the world and became a naked monk, as nudity was considered most essential for maintenance of mental detachment from all worldly objects and endurance of all bodily sufferings, paving the way for liberation. He believed that mental peace could result only from external peace by elimination of all attachments from one's mind. (swadosha Santyavihitatma santih.)

During the period of his monkhood, Mahavira led a life of great austerity and concentrated his mind by meditation on the true attributes of a liberated soul : infinite knowledge, infinite vision or faith, infinite power and infinite bliss Rains, storms and hunger never deterred him from the path of meditation as he felt convinced that all these afflictions pertained to the body and not to the soul which was distinct from the body. After arduous penances and undisturbed meditations for a period of twelve years, he attained Omniscience when he was deeply sunk in pure meditation (sukla dhyana) on the shore of river Rjukula on the 10th day of the bright half of the month of Vaisakha Omniscience dawns only on those who destroy their four distructive Karmas : Jnanavaraniya (knowledge-covering), Darsanavaraniya (perception of vision-covering). Antaraya (the obstructie karmas) and Mohaniya (the deluding karma). He preached for 30 years and atained salvation at Pavapuri (at a distance of 27 miles from Patna) when he was deeply absorbed in Meditation in the early hours of the Divali Amavasya which is observed as a festival of lights all over India.

His message is today as practical and convincing as it was in his time He affirmed that there are four things of paramount value which it is difficult for a living being to obtain : human birth, instruction in religion of the law of Dharma belief in the law and energy in self-control The universe is eternal It is not created by any external agency. There is therefore none either to lift you up or throw you down. You are the architect of your fortune and your salvation.

The critics of the message of Mahavira regard it as pure atheism. The word atheism has varied in meaning. The word itself is of Greek origin, derived from the word 'theos' meaning God. Jainism does believe in the existence of soul which, in its purest state, posseses the divine attributes of infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite bliss. Jainism does not believe in the existence of God as the creator of the Universe. Modern science and the well-established theories in physics and geology support the theory that the world is a natural creation with

life and matter existing in different forms. Another meaning which is ascribed to the word in India is that athiests are those who do not believe in the Vedas There are many religions which do not believe in the Vedas since they have their own sacred literature.

So the religion preached by Mahavira is not a theistic religion but it is a religion which gives full freedom to every soul or living creature to work out its own salvation He preached The universe is peopled by manifold creatures, they are born in different states, climes and conditions, It is our thoughts, deeds and actions that constantly entangle us with karmas which are either auspicious or inauspicious according as our activities are pure, wicked or mixed ones As Shakespeare has said in his Hamlet·

There is nothing either good or bad,
But our thinking makes it so.

It is "the mind that can make a hell of heaven or a heaven of hell" It is by elimination of Karmas that living beings can reach in due course a pure state and be born as human beings The living beings are not at the mercy of any god or evil spirit but they are their own masters, working out a hell or heaven for themselves.

How do you work out your salvation ? The foundation for spiritual edifice has to be built on the practice of sound ethics Ahimsa (non-violence) is the very life-breath of all Jain ethics It proclaimed that Ahimsa was the supreme religion not only because it wanted to cry halt to sacrifices of living beings in the name of religion but also to inculcate the virtue of humanism which exudes the milk of human kindness all around Man is supreme among all the living creatures not only on account of his intelligence, knowledge and intiution but also on account of the all pervasive and protective quality of compassion. Bhagavan Mahavira has said

Sarve praninah priyausah, sukhaswadah dukkhapratikulah Apriyavadhah priyajivinah, jivitukamah.

Acaranga. 2 37.

"All beings love to live long; they experience happiness, they hate misery. Since life is dear to them, they are against every kind of injury. All beings long to live"

In such a world, Himsa, or injury of any type, whether to the mind or to any of the faculties becomes inhuman, as such action is a degradation of human qualities That is why Himsa which is born of passions like attachment, anger, greed, pride or delusion has been regarded first as injury to one's own self and next as injury to some other being All transgressions of the vows of truthfulness, honesty, celibacy and aparigraha are the direct progeny of one or the other of passions. That is why Bhagavan Mahavira advised, "Do no injury to living beings of the six orders, abstaining from lying and from taking what is not freely given, renouncing property, women, pride, and deceit, men

should live under self-restraint " (Uttaradhyayana Sutra, 12.41) One should not permit or consent to the killing of living beings. A careful man will not injure living beings. In thoughts, words, and acts, one should do nothing injurious to beings who people the world, whether they move or not.

Mahatma Gandhi, who was very much influenced by the religion of Ahimsa and Truth, made Non-Violence his philosophy of life and Truth its goal. He said: "Ahimsa and Truth are so intertwined that it is practically impossible to disentangle and separate them ..Ahimsa is the means and Truth is the end A steadfast pursuit of Ahimsa is inevitably bound to truth—not so violence That is why I swear by Ahimsa." In these days when violence, lying and excesses in private and public life have become the order of the day, there is the greatest need to understand and practise these doctrines in daily life.

There is dishonesty in various forms: corruption, black-marketting, adulteration, misappropriation and cheating. All these are traceable to human greed. Bhagavan Mahavira asked his followers to control greed and acquire purity of thought and action : "The more you get, the more you want, your desires increase with your means. Though two mashas would do to supply your want, still you would scarcely think ten million sufficient." (Uttara. 8 17). There are no limits to human greed, not even the whole space of the Universe. When a person becomes its prey, he falls down to the abyss of misery even in his attempts to reach the fringe of his ambitions.

There are two other vices in the public life of today. The difference between the West and the East in these matters is only a difference in degree Promiscuousness in sexual matters has ruined many families and personal lives of many unmarried persons. The use of contraceptives has further added to the evil instead of solving it. Bhagavan Mahavira has said that for those who long for liberation and life according to the Dharma, there is nothing in this world which offers so many difficulties like the want of celibacy; it is only the ignorant that delight in sexual attraction. The problem of population is closely associated with the vow of celibacy. That is indeed a healthy solution. If our saints emphasised the need of education on Brahmachara during the student days, today we are emphasising on the need of sex-education without emphasis on celibacy as essential to moral character. "If we begin to believe" says Gandhiji, "that indulgence is animal passion is necessary, harmless and sinless, we shall want to give reins to it and shall be powerless to resist it. Whereas if we educate ourselves to believe that such indulgence is harmful, sinful, unnecessary and can be controlled, we shall discover that self-restraint is perfectly possible. What formerly appeared to me to be extrvagant praise of **brahmacharya** in our religious books seems now, with increasing clearness every day, to be absolutely proper and founded on experience." '**Brahmacharya** must be observed in thought, word and deed,"

Aparigraha which requires an individual to impose voluntary restrictions on the limits on one's own earnings is based both on material and spiritual considerations Concentration of wealth in a few hands hads to revolution against the rich, in fact it is a negation of **samatavada** or the doctrine of equality which religious teachers, socialists and jurists have emphaised as offering the best solution for social harmony and peace. In this conection, Bhagavan Mahavira has preached the twofold path for achievement of tnis objective

The first is that we should always remember that the grace of living consists in mutual help (parasparopagraho Jivanam) If we have to follow this advice in practice, we must help each other and that would not be possible if we live a selfish life. Einstine also said : "Man is here for the sake of other men". Selfscrifice needs both self-restraint and self-detachment It is our greed and our love for greater comforts than what are needed for a healthy mind and body that are responsible for the instinct of accumulation Today, the gulf between the rich and poor has become so wide that there is rivalry between the capitalist and communist nations That is not happy either for those countries or for the whole world in general The doctrine of peaceful co-existence needs mutual adjustment by equitable distribution of food, clothing and shelter.

The other path is the creation of a society based on equality and tolerance. The principle of Ahimsa which in its positive aspect stands for universal love and compassion naturally envisages a society in which all live in peace and comfort. It was Samantabhadra Acharya who in his book **Yuktyanusasana** said that the kind life which Bhagavan Mahavira wanted for all living beings was Sarvodaya-tirtha, that is, a holy message for universal peace and prosperity with mutual tolerance.

Having given to the humanity the secrets purposeful living with compassion, truthfulness, honesty, celibacy and voluntary limitations on earnings and and accumylation, Bhagavan Mahavira preached the doctrine of **Syadvada** so that the followers of Jainism could avoid conflicts due to dogmatism and intolerance. Syadvada endeavoured to abolish metaphysical fanaticism and rejected blind ritualism.

With this ethical back-ground, if properly utilized for personal enlightenment and purification, then the path of liberation would be free from material thorns. Right Perception, Right Knowledge and Right Conduct together constitute the path of liberation. While some faiths have emphasised on devotion, others on Knowledge or Jnana and still others on Karma or conduct, Jainism considers that all the three in unison and harmony are essential for attainment of liberation. Faith without knowledge and knowledge without faith can only amount to misconceptions, conduct without the other two will be only an aimless march in the wilderness of worldly existence All the three jewels together can form a safe

guide on the path of liberation lighting the dark corners on the way.

Right faith and knowledge will help in the cultivation of self-restraint which is the sheet-anchor for self-conquest Bhagawana Mahavira advised his disciples . 'Subduey our Self, for the Self is difficult to subdue; if your Self is subdued, you will be happy in this world and in the next Better it is that I should subdue my Self by self-control and penance than be subdued by others with fetters and corporal punishment.' (Uttara I. 15, 16) He who wants to be a better man spiritually, must heed this advice and follow it in letter and spirit. We should remember that unless the ash is cleared, the bright fire within, cannot be visible and cannot give light. So also, unless we purify our thoughts and actions by self control we can never see the nature of the Self We will ever continue to grope in the dark for light without the lamp.

The veils of Karmas make us blind to the light of infinite perception, knowledge, bliss and power which are the emiable attributes of our own Self. The veils must be destroyed by Right understanding backed up by unstinted faith. It is the passions that bind us with fresh Karmas. He who has subdued the passions will find light from his own Soul A blurred mirror can show only a dim image; so also, a person who has become a slave to his passions like anger, hatred, attachment etc caunot experience the joy of his own Soul. By Knowledge, the Self understands the principles of Jiva and the nature of substances, by his perception, he acquires the intense purity of his Faith; and by the Force of his Right Conduct, he can break the shackles of Karma. By austerities, he can maintain the serenity of his mind and attain to greater purity. If purity of life is reinforced by **Dharma-dhyana,** he can go nearer the goal. If you bury your mind within the Soul in you, you would have marched very near your goal of liberation.

In fine, Jainism offers a practical solution to miseries of life Right Conduct is the stepping stone to salvation. Attain purity of mind by subduing your passions, by purity of mind, you can acquire purity of soul. It is by attaining the purity of soul that the **Atman** can become the Paramatman Be free from external and internal attachments and you will see the light of liberation. You cannot acquire purity without truth and Ahimsa. You cannot get the benefit of your religion, unless you have purity within you. Without realizing the core of the religion, you cannot reach the goal. Without liberation, there cannot be eternal bliss.

It is given to everyone to be in constant search. For the avrage individual. the message of Bhagavan Mahavira is that one should create an awareness in oneself that Knowledge of the **Atman** is bliss and white ignorance only involves one into interminable transmigrations No one is high by birth; our virtues raise us high while our vices reduce us to lower state of existence. Whether to use our

human birth for Self-elevation or demotion, is entirely dependent upon our own personal exertion, gradual advancement from the first Gunasthana to the next higher, step by step by step till we reach the fourteenth stage of final beatitude shonld be our constant endeavour

The only way of progressive enhancement of consciousness is to develop a conviction about the distinction between the soul and the body, about the futility of developing the latter at the cost of the former and about the ceaseless search for the light within. Remember the most realistic following picture of a Jiva in mundane existence as drawn by a great Jaina Acharya —

A Jiva is wandering in the garden of mundane existence, an intoxicated angry elephant in the form of Death started running after it, the Jiva also starts running, the moment it becames exhausted by running, it hides itself in a big tree, at the root of the tree a number of creepers like **gotra**, low birth, etc have spread all round, just then, the Jiva is about to fall into a well but it catches hold of a creeper in the form of **Ayus** (life-span). Catching hold of it, it remains dangling and struggling. Just then, micc in the form of dark half and bright half of a month begin to bite that creeper. Serpants in the seven hells begin moving about with mouths open to eat away the Jiva From the tree, the juice of happiness produced by contact with sons and others begins to trickle down. The Jiva gets a strong desire to taste the juice The bees that had gathered round about begin to bite the Jiva Yet the Jiva begins wasting its time in tasting the juice thinking that it alone constitutes the happiness. A food gets addicted like this while the wise men instead of spending their time getting absorbed in tasting such sensual pleasures, renounce the attachments and spend their time in difficult austerities,

These are the realities of life. Bhagavan Mahavira woke up right from his childhood and renounced all attachments, including his royal throne and its grandeur, adopted a life of stringent austerities and attained liberation The duty of those who desire to be free from the miseries of this life is clear, Acuire Right Faith, Right Knowledge and cultiva Right Conduct and note that your salvation lies in trying to get hold of the three jewels and get light from them to guide you in life.

Jainism is a practical way of life It does not advise evry one to jump high because all cannot reach the highest rung of the ladder by a single jump. Life is a long pilgrimage attended with the dangers of a long journey. Those who are cautious and possess the eternal lamp shall alone be able to wade through safely to liberation or some other place of happiness.

PEARLS

As all rivers one after the other
Merge their self in the ocean
So merge all religions
In bhagavati ahimsa

—Sambodha-sittari, 16

Truth is God
The very quintessence of worldly life,
Deeper than the ocean,
Steadier than the mountain,
More tranquil than the moon,
More radiant than the sun,
More transparent than the autumnal sky
More fragrant than the Gandhamadana.

—Prasna-vyakaran, 2

Truth uttered under rage is virtually falsehood.

—Dasavaikalika Churni, 7.7

जैन धर्म-दर्शन

चतुर्थ खण्ड

तीर्थंकर महावीर का अनेकांत और स्याद्वाद दर्शन

◎

आचार्य श्री तुलसी

दर्शन के क्षेत्र मे ज्ञान और ज्ञेय की मीमासा चिर-काल से होती रही है। आदर्शवादी और विज्ञानवादी दर्शन ज्ञेय की स्वतत्र सत्ता स्वीकार नही करते। वे केवल ज्ञान की ही सत्ता को मान्य करते हैं। अनेकान्त का मूल आधार यह है कि ज्ञान् की भाँति ज्ञेय की भी स्वतत्र सत्ता है। द्रव्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, इसलिए वह ज्ञेय है। ज्ञेय चैतन्य के द्वारा जाना जाता है, इसलिए वह ज्ञान है। ज्ञेय और ज्ञान अन्योन्याश्रित नही हैं। ज्ञेय है, इसलिए ज्ञान है और ज्ञान है, इसलिए ज्ञेय है। इस प्रकार यदि एक के होने पर दूसरे का होना सिद्ध हो तो ज्ञेय और ज्ञान दोनो की स्वतत्र सत्ता सिद्ध नही हो सकती। द्रव्य का होना ज्ञान पर निर्भर नही है और ज्ञान का होना द्रव्य पर निर्भर नही है। इसलिए द्रव्य और ज्ञान दोनो स्वतत्र हैं। ज्ञान के द्वारा द्रव्य जाना जाता है, इसलिए उनमे ज्ञेय और ज्ञान का सबध है।

ज्ञेय अनन्त है और ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त को अनन्त के द्वारा जाना जा सकता है। जानने का अगला पर्याय है कहना। अनन्त को जाना जा सकता है कहा नही जा सकता। कहने की शक्ति बहुत सीमित है। जिसका ज्ञान अनावृत होता है, वह भी उतना ही कह सकता है, जितना कोई दूसरा कह सकता है। भाषा की क्षमता ही ऐसी है कि उसके द्वारा एक क्षण मे एक साथ एक ही शब्द कहा जा सकता है। हमारे ज्ञान की क्षमता भी ऐसी है कि हम अनन्तधर्मा द्रव्य को नही जान सकते। हम अनन्त धर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म को जानते हैं और एक ही धर्म का प्रतिपादन करते हैं। एक धर्म को जानना और एक धर्म को कहना नय है। यह अनेकान्त और स्याद्वाद का मौलिक स्वरूप है। उनका दूसरा स्वरूप है प्रमाण। अनन्तधर्मात्मक द्रव्य को जानना और उसका प्रतिपादन करना प्रमाण है। हम अनन्तधर्मा द्रव्य को किसी एक धर्म के माध्यम से जानते हैं। इसमें मुख्य और गौण दो दृष्टिकोण होते हैं। द्रव्य के अनन्त धर्मों में से कोई एक धर्म मुख्य हो जाता है और शेष धर्म गौण। नय हमारी वह ज्ञान पद्धति है, जिससे हम केवल धर्म को जानते हैं, धर्मों को नहीं जानते। प्रमाण हमारी वह ज्ञान पद्धति है, जिससे हम एक धर्म के माध्यम से समग्र धर्मी को जानते हैं। हम अँधेरे में बैठे हैं। कोई आदमी गुलाब के फूल ले आता है। हम नही देख पाते कि उसके पास क्या है? पर सुगध से पता चल जाता है कि उसके पास गुलाब के फूल हैं। गुलाब के फूलो मे केवल सुगध ही नही है। उनमे रग भी है, स्पर्श भी है और भी अनेक धर्म है। यदि प्रकाश होता तो हम उन्हें आंखो से देखकर जान लेते। अनेक धर्मों मे से जो भी धर्म मुख्य होकर हमारे सामने आता है, वही उसके आधारभूत द्रव्य को जानने

का माध्यम बन जाता है। इस ज्ञान-पद्धति मे द्रव्य और धर्म की अभिन्नता का बोध बना रहता है। यह प्रमाणात्मक अनेकान्त है। द्रव्य और धर्म या पर्याय सर्वथा अभिन्न नही है। उनकी अभिन्नता एक अपेक्षा या एक दृष्टिकोण से सिद्ध है। इस अपेक्षा के सूत्र को ध्यान मे रखकर धर्मी और धर्म की अभिन्नता को स्वीकार करने वाली ज्ञान-पद्धति का नाम अनेकान्त है। एकान्त ज्ञान से हम धर्मी और धर्म की अभिन्नता को स्वीकार नही कर सकते। धर्मी एक द्रव्य है और धर्म उसमे होने वाले पर्याय हैं, वे दोनो अभिन्न नही हो सकते। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य का किसी एक धर्म के माध्यम से प्रतिपादन करना स्याद्वाद (या प्रमाण वाक्य) है।

ज्ञान पद्धति अनेकान्त है और प्रतिपादन पद्धति स्याद्वाद। अनेकान्त के दो रूप हैं—प्रमाण और नय। प्रतिपादन की दो पद्धतियां हैं—समग्र द्रव्य के प्रतिपादन का नाम स्याद्वाद है और एक धर्म के प्रतिपादन का नाम नय।

वस्तु के जितने धर्म होते हैं, उतने ही नय होते हैं। जितने नय होते हैं, उतने ही वचन के प्रकार हो सकते हैं। किन्तु कहा उतना ही जाता है, जितना कालमान होता है।[1] अनेकान्त का पहला फलित है अनाग्रह, सत्य के प्रतिपादन की अक्षमता का बोध। सब लोगों में सत्य (या द्रव्य) के समग्र रूप को जानने की क्षमता नही होती। हम इस बात को छोड़ भी दें। सत्य को जानने का अधिकार सब को है, सब उसे जान सकते हैं, यह मान कर चले। फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि सत्य के समग्र रूप को कहने की क्षमता किसी मे भी नही होती। इसलिए सत्य की सारी व्याख्या नय के आधार पर होती है। हम अखण्ड को खण्ड रूप मे जानते है और खण्ड रूप मे ही उसका प्रतिपादन करते हैं। अतः किसी खण्ड को जानकर उसे अखण्ड कहने का आग्रह हमे नही करना चाहिए। खण्ड का आग्रह न बने, इसीलिए भगवान महावीर ने सापेक्ष दृष्टि का सूत्र दिया। सोना पीला हैं, यह सोने का एक धर्म है। उसमें और भी अनेक धर्म हैं। यह प्रत्यक्ष देखते हुए भी हमें नही कहना चाहिए कि सोना पीला ही है। पीला रंग व्यक्त है, इसलिए हमें सोना पीला दिखाई देता है। अव्यक्त मे न जाने और क्या-क्या है? उसके सूक्ष्म रूप मे प्रवेश किए बिना केवल स्थूल रूप के आधार पर हम कैसे कह सकते हैं कि सोना पीला ही है। क्या इसमे व्यवहार का अतिक्रमण नहीं होगा? सोना जब प्रत्यक्षत. पीला दिखाई दे रहा है, हरा काला दिखाई नही दे रहा है, तब हमे क्यों नही कहना चाहिए कि सोना पीला ही है। व्यक्त पर्याय मे सोना पीला ही है, यह हम कह सकते हैं, किन्तु त्रैकालिक और अव्यक्त पर्यायो को दृष्टि मे रखते हुए हम नही कह सकते कि सोना पीला ही है। इसलिए सोना पीला ही है, यह निरूपण सापेक्ष हो सकता है, निरपेक्ष नही। सोने में विद्यमान अनेक धर्मों को दृष्टि में रखते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि सोना पीला ही है। शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि सोने का पीला होना संदिग्ध नही है। कुछ लोग मानते हैं कि स्याद्वाद संदेहवाद है। किन्तु यह वास्तविकता नही है। सदेह अज्ञान की दशा मे होता

---

1. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४५०

उक्कोसयसुतणाणी वि जाणमाणो वि तेऽभिलप्पे वि।
ण तरति सव्वे वोत्तुं ण पहुप्पति जेण कालो से॥

—इह तानुत्कृष्टश्रुतो जाननोऽभिलाप्यानपि सर्वान् (न) भाषते, अनन्तत्वात्, परिमितत्वाच्चायुषः, क्रमवर्तिनीत्वाद् वाच इति॥

है। हम जानते हैं कि सोना पीला है, किन्तु साथ-साथ यह भी जानते हैं कि वह केवल पीला ही नही है, कुछ और भी है। सापेक्षता की दृष्टि से हम कहते हैं सोना पीला है। सोना पीला है, यह कहना सदिग्ध नहीं है, व्यक्त पर्याय की दृष्टि से यह असदिग्ध है, इसलिए स्याद्वाद की भाषा मे हम कहते हैं कि सोना पीला ही है।

अनेकान्त में नय का स्थान प्रधान रहा है। आगमसाहित्य में प्रमाण की अपेक्षा नय का अधिक व्यापक प्रयोग मिलता है। न्यायशास्त्र के विकास के साथ प्रमाण की चर्चा प्रारम्भ होती है। प्राचीन साहित्य मे पाँच ज्ञान उपलब्ध होते हैं। उनमे मति, अवधि, मन : पर्यव और केवल—ये चार ज्ञान स्वार्थ होते हैं। श्रुत ज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनो होता है। नय श्रुत ज्ञान के विकल्प हैं।[1] अन्य दार्शनिक प्रमाण को मानते थे पर नय का सिद्धान्त किसी भी दर्शन मे निरूपित नही है। प्रमाण की चर्चा के प्रधान होने पर यह प्रश्न उठा कि नय प्रमाण है या अप्रमाण? यदि अप्रमाण है तो उससे कोई अर्थसिद्धि नही हो सकती। यदि वह प्रमाण है तो फिर प्रमाण और नय एक ही हो जाते हैं, दो नही रहते। जैन तार्किकों ने इसका समाधान प्रमाण और नय के स्वरूप को ध्यान मे रखते हुए दिया। उन्होने कहा—ज्ञानात्मक नय न अप्रमाण है और न प्रमाण। वह प्रमाण का एक अश है।[2] धर्मी मे प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान जैसे प्रमाण होता है, वैसे ही धर्म (एक पर्याय) मे प्रवृत्त ज्ञान नय होता है। केवल प्रमाण को माननेवाले तार्किक इसीलिए एकान्तवादी हैं कि वे नय को नहीं मानते। अनेकान्त का मूल आधार नय है। द्रव्य के अनन्त धर्मों या पर्यायो को अनन्त दृष्टिकोणो से देखे बिना एकान्तिक आग्रह से मुक्ति नही मिल सकती। द्रव्य के अनन्त धर्मों मे यदि अपेक्षा सूत्र न हो तो वे एक-दूसरे के प्रतिपक्ष मे खडे हो जाते हैं। नित्यता-अनित्यता के प्रतिपक्ष मे खड़ी है और अनित्यता नित्यता के प्रतिपक्ष में। यह आमने-सामने खडी होने वाली सैनिक मनोवृत्ति को नय दृष्टि के द्वारा ही टाला जा सकता है।

द्रव्यार्थिक नय ध्रुव अश का निरूपण करता है, इसलिए उसके मतानुसार द्रव्य नित्य है। पर्यायार्थिक नय परिवर्तन अश का निरूपण करता है, इसलिए उसके मतानुसार पर्याय अनित्य है। यदि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य हो तो वे एक-दूसरे के प्रतिपक्ष मे खडे हो सकते हैं। पर द्रव्यार्थिक नय इस अपेक्षा को नही भूलता कि पर्याय के बिना द्रव्य का कोई अस्तित्व नही है और पर्यायार्थिक नय इस बात को नही भूलता कि द्रव्य के बिना पर्याय का कोई अस्तित्व नही है। तब नित्यता और अनित्यता सापेक्ष हो जाती है। द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न नही हैं, इसलिए नित्य और अनित्य भी सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। सापेक्षता के मूल सूत्र ये है—

1 द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है।

---

1. प्रमाणनयतत्वालोकालकार ७।७१४
   श्रुतार्थांशाश एवेह योऽभिप्रायः प्रवर्तते।
   इतराशाप्रतिक्षेपी स नयः सुव्यवस्थितः॥

2. तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १२३, श्लोक २१
   नाप्रमाण प्रमाण वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
   स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥

2 द्रव्य मे ध्रौव्य और परिवर्तनीय दोनों धर्म होते हैं। उन्हें कभी पृथक नही किया जा सकता।

3 ध्रौव्य और परिवर्तनीय धर्म अभिव्यक्त होते हुए भी अपने-अपने स्वभाव में रहते हैं, इसलिए द्रव्य की नित्यता और अनित्यता मे कोई निरोध नही है।

4 अस्तित्व और नास्तित्व भी सापेक्ष हैं। वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं है।

5 हम द्रव्य को एक धर्म के माध्यम से जानते हैं, समग्र द्रव्य को नही जान सकते।

6 हम एक क्षण में द्रव्य के एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकते है।

7 धर्मों की निरपेक्षता मानने से विरोध की प्रतीनि होनी है। सापेक्षता से विरोध का परिहार हो जाता है।

इन सूत्रो के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि अनेकान्त और स्याद्वाद का जितना दार्शनिक मूल्य है, उतना ही आध्यात्मिक और अहिंसात्मक मूल्य है।

वर्त्तमान युग में श्रमण

○ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी

उज्जवल श्रमण-परम्परा

श्रमण-सस्कृति की उज्ज्वल परम्परा ने शील, संयम; तप और शौच को चारित्र मे परिवर्तित कर मानव-जीवन को युगो-युगो से विभूतिमय किया है। आचार और विचार के क्षेत्र मे युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किए हैं। मानव को मानव समझने का विवेक जन-मानस मे अकुरित किया है और अखिल मगलमय अहिंसामूलक विश्व मैत्री का सन्देश दिया है। समय-समय पर आनेवाले दुरन्त उपसर्गों को पार कर आज भी वह अपने अर्घ धरातल पर अवस्थित है और काल प्रभाव से प्रभावित न होते हुए काल-दोषों को निरस्त करने में ही सलग्न है। आज जबकि विश्व मे काले, गोरे तथा परस्पर भिन्न जाति सत्ताक मानवों मे एक-दूसरे को समाप्त करने की स्पर्धा लगी हुई है, जिज्ञासु वृत्ति से सीमातिक्रमण किये जा रहे हैं, मानव को परित्राण देने का पाथेय केवल उदर श्रमण-सस्कृति में हैं। क्षमा और अहिंसा के मणि-पीठ से भगवती जिनवाणी पुकार-पुकार कर कहती है। "खम्मामि सव्वजीवान् सव्वे जीवा खमन्तु मे" मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और सारे जीव मुझे क्षमा करें। सम्पूर्ण भूगोल और खगोल पर एकाधिपत्य चाहने वालों को "परिग्रह-परिमाण के सूक्त श्रमण सस्कृति ने ही दिए हैं। जहा शरीर भी परिग्रह है वहाँ सग्रह वृत्ति के लिए स्थान कहाँ? ऐसी उदार, करुणावतार तीर्थंकरवाणी का प्रसार कर्ता निर्मल मन, काय, वचन दिखलाता, जन को मोक्ष द्वार। सम्यक्त्व-शिला पर लिखे यहाँ दर्शन ज्ञान-चारित्र-लेख, सम्पूर्ण विश्व को अभयदान देते जिन-वाणी के प्रदेश। इसकी कल्प-वृक्ष छाया मे स्थित होकर मानव धर्म ने अपना सर्वस्व प्राप्त किया है।

श्रमण-संस्कृति का मानव-जाति पर उपचार :

इस सस्कृति ने मानव को भक्ति मार्ग दिया, मुक्ति-पथ के रत्न-सोपानो की रचना की और विश्व-बन्धुत्व के भाव दिये। इसमे आश्रम मे पल कर मनुष्य

ने अहिंसक समाज की रचना की और अपने को व्यसनो से मुक्त किया । व्रत-रहित-गन्तव्य मान से अजान मानव को व्रत-निष्ट किया तथा इन्द्रियो की दासता से मुक्त किया । इसी के नेतृत्व मे मनुष्य आदर्शो के ऊँचे मार्गों का आरोही बना और इसी के आचार्य मार्ग से चलकर उसने कैवल्य प्राप्त किया ।

न धर्मोधार्मिकैविना

ऐसी निर्दोष सस्कृति मे आज जान बूझकर विकारों का प्रवेश कराया जा रहा है । जहाँ श्रमण श्रमणी और श्रावक श्राविका (चतु:सघ) मिलकर धर्म के इस महारथ को खीचते थे, वहाँ आज ये पृथक्-पृथक् होकर 'महारथ' को गति देने में असमर्थ हो गये है । अग अगी के समान धर्म और धार्मिक का नित्य सबन्ध है । न धर्मो धार्मिकैविना यह अव्यभिचारी सूत्र है ।

तीन रत्नों की माला

मोक्ष मार्ग का निरूपण करते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष-मार्गः कहा गया है। "मोक्षमार्ग" पद एकवचनान्त है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणी' बहु वचन है । मोक्ष मार्ग में 'त्रितयमिद व्याप्रियते' ये तीनों साधन है । इनमें से किसी एक अ ग को लेकर प्रवर्तमान होनेवाले सम्यकत्व की अखिलता को जानकर उसके खण्ड से चिपके हुए है । समाज का पण्डित वर्ग सम्यक्त्व परिच्छिन्न ज्ञान को लिए घूमता है । श्रावक समदर्शन से सन्तुष्ट है, और त्यागी चारित्र मात्र मे अपने श्रामण्य को कृतार्थ समझते हैं । एक सूत्र मे पिरोने पर जो माला निर्माण की जाती है, उसी की एक-एक मणि को विकीर्ण करने मे माला का गुम्फ नही आ पाता । सम्यकत्व से विशिष्ट दर्शन ज्ञान और चारित्र की यह माला ही अपने अत्रुटित जाप्य से मोक्ष सिद्धि दे सकती है । इसे एकैकशः विभक्त करनेवाले तो 'अन्धगजन्याय' के अनुगामी हैं। जैसे 'अन्धगजन्यायवादी परस्पर अपने 'गज' सम्बन्धी ज्ञान पर विवाद करते है और अपने एकागी एकान्त ज्ञान को सत्य ठहराते हैं, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग के त्रिरत्न-सत्य को विभक्त कर एक दूसरे से निरपेक्षता रखनेवाले सामाजिकों ने सर्वोदयी तीर्थ के तीन मणिसोपानो का अलग-अलग अपहरण कर लिया है ।

भावात्मक विभिन्नता के दुष्परिणाम

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस अपहरण काण्ड मे समाज मे गिरावट ही आई है । एक के पास कर्म के सवर करने का दिव्यायुध रह गया है तो निर्जरा का अमोधास्त्र नही है तो दूसरे के पास निर्जरा मात्र रहकर 'संवर' का अभाव हो गया है। परिणाम स्वरूप विसवाद और शिथिलाचार का प्रवेश हो गया है । समाज अपने सगठन की शक्ति को खोता जा रहा है । 'नागेन्द्रा अपि बध्यवन्ते संहतैस्तृणसचयै' तिनको की रस्सी बनाकर उससे गजराज को बाध लिया जाता है । किन्तु यदि तिनका-तिनका पृथक् कर दिया जाए तो स्पष्ट है कि उससे गजेन्द्रबन्धन का सामर्थ्य नही है । सम्यक्तवानुपूर्विक दर्शन-ज्ञान-चारित्र को एक बटी हुई रस्सी के रूप मे देखनेवाला ही उससे परम पुरुषार्थ की उपलब्धि कर सकता है । इस समन्वित दृष्टि कोण को चतु:सघ की भावात्मक एकता से ही प्राप्त किया जा सकता है । आहार देनेवाला और उसे ग्रहण करने वाला तथा आहारशास्त्र की व्यवस्था देनेवाला (श्रावक-श्रमण और पण्डित) तीनो यदि सघ प्रेम से कर्त्तव्य-नियोजित हो तो आचारशैथिल्य आ ही नही पाएगा । अपना हाथ अपने मुँह में विषाक्त कवल नही देता । किन्तु अपने हाथ और मुँह जो शरीर के अग हैं तथा अंगी के लिए कर्त्तव्य समर्पित हैं यदि अपना 'अंगागी' भाव भूल जाएँगे तो विषकवल देना हाथ के लिए और उसे उदरसात् करना मुँह के लिए कठिन नही होगा । 'एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः त एव निधन यान्ति' यह एक कथा है जिसमें बताया गया है कि एक पशु के पेट तो एक था, किन्तु मुख दो

थे। एक दिन दोनो मुख किसी बात पर झगडने लगे। परस्पर की बैर भावना से उनमे से एक मुख ने विष खा लिया। पेट तो एक ही था । परिणाम यह हुआ कि वह मर गया । जो एकोदर होकर विसवादी मुख रखते हैं वे अपनी ही मृत्यु के निमत्रयिता बनते हैं।

परस्परोपग्रह-एकमात्र समाधान

भावात्मक एकता मे कभी-कभी ऐसा ही होता है कि दूसरे के अनिष्ट चिन्तन मे अपना अहित हम कर बैठते है। अपने सम्पूर्ण अग से प्रेम करने वाला अग के किसी अश के दूषण को दूर करने मे अपना सम्पूर्ण यत्न लगा देगा । यदि पाँव मे काँटा चुभ गया है और सुई पास नही है तो वह अपने नखो से भी उसे निकाल बाहर करेगा । यही अग-धर्म है। चनु सघ मे। जैसा कि आज सुनने मे आ रहा है, यदि आचार शैथिल्य प्रवेश कर गया है तो अगागी भाव से उसका निराकरण करना अधिक श्रेष्ट है । एक दूसरे पर दोषारोपण न करके 'परस्परोपग्रह' से अपने आपको शैथिल्य को दूर कर सकें तो वह अच्छा रहेगा। कोई भी विनाशक तत्व सूचीमुख होकर प्रवेश करता है और जब निकलता है तो गोली के समान निकलने के मार्ग को विस्तीर्ण कर देता है। शिथिलाचार के विषय मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

लोकैषणा का अनुचित रूप

आजकल के छपे धार्मिक ग्रन्थो में अर्थ सहायता करनेवाले धनिक के फोटो छापे जाते है । जिनकी प्रेरणा से ग्रन्थ छपते है उन श्रमणो के भी चित्र उनमे होते हैं। जो लोग रात दिन हजारो लाखो रुपयो से खेलते हैं, वे धार्मिक ग्रन्थो के पृष्ठो से अन्यत्र अपना अर्थ-व्यय करते समय कभी 'फोटो' नही छपवाते किन्तु धर्मध्वज होने की तृष्णा मे लोकैषणा साथ मिली होती है। केवल धर्म भाव से 'गुप्तदान'' आजकल नही किया जाता। भले ही अधर्म करते समय व्यय किये गये लाखो रुपयो पर उनकी 'फोटो' न लगे, किन्तु धर्म शरीर पर उनकी मुद्रा (द्रव्य) अमुद्रित कैसे रहे ? अपने मान को करते समय धर्म ग्रन्थो की मर्यादा को भुलानेवाले स्वय अपने कृत्य पर सोचें। इधर कुछ समय से मुनि मूर्तियाँ बनाई जा रही हैं। पहले जिन-वाणी के साथ फोटो छपते थे अब 'जिन' भगवान के साथ मूर्ति भी रखी जाया करेगी। धीरे-धीरे प्रगति की जा रही है। एक वे त्यागी थे, जिन्होने जिनवाणी को ग्रन्थ रचना का रूप देकर भी अपने आपको पर्दे मे रखा, परिचय तक नही लिखा और धर्म ध्यान करते हुए जीवन को सार्थक किया । श्रावको ने भावना से अभिभूत होकर उनकी 'चरण पादुका' विराजमान कर दी। उन चरण पादुकाओ का इतिहास भी विशेष विस्तृत नही । पचम काल के श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य और ज्ञान ज्योति से भासमान कुन्दकुन्द आचार्य जैसो की समाधि-मरणोत्तर प्रतिष्ठा के रूप में 'पद पादुकाएँ' मिलती हैं। चन्द्रगिरि पहाडी का शिला लेख है 'जिनशासना यावनवरत 'भद्रबाहु चन्द्र गुप्त' मुनिपतिचरण मुद्राकित विशालशी... '162 । कुन्दाद्रि आदि क्षेत्रो मे भी आचार्य कुन्दकुन्द की चरण पादू-काए ही मिलती हैं, मूर्तियाँ नही। आज तो पचम काल अपनी सम्पूर्ण भ्रमविष्णुता के साथ ताल देकर नाच रहा है। शरीर को भी परिग्रह माननेवाले मुनि प्रतिमाओ के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। किन्तु नातस्त्वमसि नो महान्'' कहने का साहस रखनेवाले परीक्षा प्रधानियों को आगम विरुद्धता से उत्कीर्ण ये प्रस्तर क्या मान्य होगे ?

समय की माँग

समय की माँग तो यह है कि सहसूत्रातिसहस्त्र मूर्ति से सम्पन्न जैन-जगत् नवीन मूर्ति-निर्माण से पूर्व अपने मन्दिरो, चैत्यालयो में प्रतिष्ठापित जिन बिम्बो की पूजा प्रक्षाल की व्यवस्था करे। ग्रन्थो और मूर्तियों

की संख्या कम नहीं है। कमी है तो उनके स्वाध्यायियों और उपासकों की है। इस सख्या को बढ़ाने की ओर ध्यान देना अतीव आवश्यक है। भगवान की मूर्तियाँ, एक एक मन्दिर मे अनेक है। देव दर्शन के नियमो का पालन करने में अपनी धर्म प्रवृत्ति लगाओ। धर्म और जीवन को एकाकार करो। मत समझो कि मन्दिर से लौटने पर मूर्ति आँखों से परोक्ष हो गई। भावचक्षुओं में उसे अहर्निश विराजमान रखो। दश दिनों मे दश लक्षण पर्वो को समर्पित मन करो। प्रत्येक दिन अहिंसा का है, क्षमावाणी का है। जब तक धर्म की इस दार्शनिक व्याख्या हृदयंगम नही करोगे, धर्म जीवन का अंग बनेगा। अग्नि और उसका दाहकत्व, पानी और उसका शीतत्व, अग्नि से पृथक् होकर नही रहता। धर्म और धर्मी एक नीड होकर रहते हैं। श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है।

☐ ☒

जैन योग में कुँडलिनी

◉ मुनि श्री नथमल

योग की उपयोगिता जैसे-जैसे बढती जा रही है वैसे-वैसे उस विषय में जिज्ञासाएँ भी बढती जा रही हैं। योग की चर्चा मे कु डलिनी का सर्वोपरि महत्व है। बहुत लोग पूछते हैं कि जैन योग मे कु डलिनी सम्मत है या नही ? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परपरा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है ? वह कोई सैद्धान्तिक मान्यता नही है किन्तु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नही हो सकता।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य मे कु डलिनी शब्द का प्रायोग नही मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य मे इसका प्रयोग मिलता है। वह तत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे कुंडलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग मे कुंडलिनी का जो वर्णन है, उसकी तेजोलेश्या मे तुलना की जा सकती है। अग्नि ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलो के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है।[1] यह तप की विभूति से होनेवाली तेजस्विता है।

हम शरीरधारी हैं। हमारे शरीर दो प्रकार के है—स्थूल और सूक्ष्म। हमारा अस्थि-चर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस और कर्म—ये दो शरीर सूक्ष्म हैं। हमारी सक्रियता, तेजस्विता और पाचन का मूल तैजस शरीर है। वह स्थूल शरीर के भीतर रहकर दीप्ति या तेजस्विता उत्पन्न करता रहता है। साधना के द्वारा उसकी शक्ति विकसित करली जाती है। तब उसमे निग्रह और अनुग्रह की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति का नाम तेजोलब्धि है। यह तैजस शक्ति उष्ण और शीत—दोनो प्रकार की होती है। उष्ण तेजोलब्धि के प्रहार को शीतल-तेजोलब्धि निष्फल बना देती है। बालतपस्वी वैश्यायन से गोशालक को जलाने के

---

1. ठाणं १।१६४, वृत्ति पत्र २६ :
तेज—अग्निज्वाला, तद् वर्णानि यानि द्रव्याणि लोहितानी त्यर्थः, तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या, शुभ-स्वभावा।

लिए उष्ण-तेजोलब्धि का प्रयोग किया तब महावीर ने शीतल-तेजोलब्धि का प्रयोग कर उसे निष्फल बना दिया। गोशालक ने महावीर से पूछा— 'भंते! यह तेजोलेश्या कैसे प्राप्त की जा सकती है?' तब भगवान् ने उसे उपलब्ध करने की साधना बतलाई। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। वह तेजोलेश्या अप्रयोगकाल में संक्षिप्त और प्रयोगकाल में विपुल हो जाती है।[2]

वह विपुल अवस्था में सूर्य-बिम्ब के समान दुर्दर्श होती है[3]—इतनी चकाचौंध पैदा करती है कि आदमी उसे खुली आँखों से देख नहीं सकता। यही तथ्य हठयोग में 'सूर्यकोटिसमप्रभम्' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। तेजोलब्धि का प्रयोग करनेवाला जब अपनी इस तैजस शक्ति को बाहर फेंकता है तब वह महाज्वाला के रूप में विकराल हो जाती है।[4] तैजस शरीर की शक्ति के दो कार्य हैं—दाह (शाप या निग्रह) और अनुग्रह।[5] तैजस शरीर दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और लब्धिहेतुक। स्वाभाविक तैजस शरीर सबको प्राप्त होता है। तपो-विशेष या विशेष प्रकार की साधना करनेवाले व्यक्ति को लब्धिहेतुक तैजस शरीर उपलब्ध होता है।[6] जिसे लब्धिहेतुक तैजस शरीर प्राप्त होता है वह क्रुद्ध होने पर अपनी तैजस शक्ति को बाहर निकालता है और लक्ष्य को शाक-भाजी की तरह पका देता है। वह शक्ति अपना काम कर फिर लौट आती है, फिर उसी में समाहित हो जाती है। यदि वह शक्ति बहुत समय तक बाहर ठहरती है तो उस लक्ष्य को जलाकर भस्म कर डालती है।[7] तैजस शरीर की विकसित अवस्था का नाम तेजोलेश्या या तेजोलब्धि है और उसके प्रयोग का नाम तैजस समुद्घात है।

जो साधना के द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त कर लेता है वह सहज आनन्द की अनुभूति में चला जाता है। इस अवस्था में विषय-वासना और आकांक्षा की सहज निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को 'सुखासिका' (सुख में रहना) कहा जाता है।[8] विशिष्ट ध्यान-योग की साधना करने वाला एक वर्ष में इतनी तेजो-

---

2. भगवई १५।६९, वृत्ति पत्र ६६८ :
संक्षिप्ताऽ प्रयोगकाले, विपुला प्रयोगकाले।
3. ठाण ३।३८६, वृत्ति पत्र १३९ :
विपुलापि—विस्तीर्णापि सती अन्यथा आदित्यबिम्बवत् दुर्दर्शः स्यादिति।
4. ठाण ३।३८६, वृत्ति पत्र १३९ :
तेजोलेश्या—तपोविभूतिज तेजस्वित्व, तैजसशरीर-परिणतिरूप महाज्वालाकल्पम्।
5. तत्त्वार्थवार्तिक २।४९, पृष्ठ १५४ :
तैजसस्य सामर्थ्यं कोपप्रसादापेक्ष दाहानुग्रहरूपम्।
6. तत्त्वार्थ २।४८।
7. तत्वार्थवार्तिक २।४९, पृष्ठ १५३ :
यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसयुक्त बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्यावतिष्ठमानं निष्पावहरितपरिपूर्णां स्थालीमग्निरिवपचति पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति।
8. भगवई १४।१३६, वृत्ति पत्र ६५७ :
तेजोलेश्या—सुखासिका, तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षण सा च सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्षितेति।

लेश्या को उपलब्ध होता है कि जिससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखो की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उसे इतना सहज सुख प्राप्त होता है जो किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नही हो सकता।[9]

तेजोलेश्या के दो रूप

हम चैतन्य और परमाणु-पुद्गल—दोनो को साथ-साथ जी रहे हैं। हमारा जगत् न केवल चैतन्य का जगत् है और न केवल परमाणु-पुद्गल का। दोनो के सयोग का जगत् है। चैतन्य की शक्ति से परमाणु-पुद्गल सक्रिय होते हैं और परमाणु-पुद्गलो की सक्रियता से चैतन्य की उनके अनुरूप परिणति होती है। इस नियम के आधार पर तेजोलेश्या के दो रूप बनते हैं—भावात्मक और पुद्गलात्मक। भावात्मक तेजोलेश्या चित्त की विशिष्ट परिणति या चित्शक्ति है।

तेजोलेश्यावाले व्यक्ति का चित्त नम्र, अचपल और ऋजु हो जाता है। उसके मन मे कोई कुतूहल नही होता। उसकी इन्द्रियाँ सहज शान्त हो जाती हैं। वह योगी (समाधि-सम्पन्न) और तपस्वी होता है। उसे धर्म प्रिय होता है। वह धर्म का कभी अतिक्रमण नही करता।[10]

पुद्गलात्मक तेजोलेश्या के वर्ण, गध, रस और स्पर्श विशिष्ट प्रकार के होते हैं। उसका वर्ण हिंगुल, बालसूर्य या प्रदीपशिखा के समान लाल होता है। उसका रस पके हुए आम के फल के रस से अत्यधिक मधुर होता है। उसकी गध सुरभि कुसुम से अत्यधिक सुखद होती है। उसका स्पर्श नवनीत या सिरीष कुसुम से भी अत्यधिक मृदु होता है।

तेजोलेश्या का विकास

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नही है। उसका विकास अनेक स्रोतो से किया जा सकता है। सयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति उपासना, तपस्या आदि-आदि उसके विकास के स्रोत हैं। इन विकास-स्रोतो की पूरी जानकारी लिखित रूप मे कही भी उपलब्ध नही होती। यह जानकारी आचार्य शिष्य को स्वय देता था। गोशालक ने भगवान् महावीर से पूछा—'भते ! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है?' भगवान् ने इसके उत्तर मे उसे तेजोलेश्या के एक विकास-स्रोत का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा—'जो साधक निरतर दो-दो उपवास करता है, पारणा के दिन मुट्ठी भर उड़द या मूग खाता है और एक चुल्लू पानी पीता है, भुजाओ को ऊँचा कर सूर्य की आतापना लेता है वह छह महीनो के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है।[11]

---

9. भगवई १४।१३६।

10. उत्तरज्झयणाणि ३४।२७, २८ ·

    नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
    विणीयविणए दन्ते जोगव उवहाणवं ।।
    पियधम्मे दढधम्मे, वज्जभीरू हिएसए।
    एयजोगसमाउत्तो, तेउलेस तु परिणमे ।।

11. भगवई १५।६९, ७० :

    तए ण से गोसाले मखलिपुत्ते ममं वदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—कहण्णं भंते ! संखित्त-विउलतेयलेस्से भवति ?

    तए ण अहं गोयमा ! गोसालं मखलिपुत्तं एवं वयासीजेणं गोसाला ! एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठछट्ठेणं अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमूहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। से ण अतो छण्ह मासाणं सं-खित्तविउलतेयलेस्से भवइ।

स्थानांग सूत्र मे तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत बतलाए हैं[12]—

1. आतापना—सूर्य के ताप को सहना।
2. क्षातिक्षमा—समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रह-पूर्वक अप्रिय व्यवहार को सहन करना।
3. जल पिए बिना तपस्या करना।

इनमें केवल क्षातीक्षमा नया है। शेष दो उसी विधि के अंग हैं जो विधि महावीर ने गोशालक को सिखाई थी। तेजोलेश्या के निग्रह-अनुग्रह स्वरूप के विकास के स्रोतों की यह संक्षिप्त जानकारी है। उसका जो आनन्दात्मक स्वरूप है उसके विकास-स्रोत भावात्मक तेजोलेश्या की अवस्था में होनेवाली चित्तवृत्तियां हैं। चित्तवृत्तियों की निर्मलता के बिना तेजोलेश्या के विकास का प्रयत्न खतरों को निमन्त्रित करने का प्रयत्न है। वे खतरे शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक—तीनों प्रकार के हो सकते हैं।

तेजोलेश्या का स्थान

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में रहता है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र हैं—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग। मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा सम्बन्ध-सेतु मस्तिष्क है। उससे तैजस शक्ति (प्राणशक्ति या विद्युतशक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है। नाभि के पृष्ठभाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है। अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग ये दोनों तेजोलेश्या के महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं। यह तेजोलेश्या एक शक्ति है। उसे हम नहीं देख पाते। उसके सहायक परमाणु-पुद्गल सूक्ष्मदृष्टि से देखे जा सकते हैं। ध्यान करनेवालों को उनका यत्-किंचित् आभास होता रहता है।

तेजोलेश्या और प्राण

तेजोलेश्या एक प्राणधारा है। किन्तु प्राणधारा और तेजोलेश्या एक ही नहीं है। हमारे शरीर में अनेक प्राणधाराएं हैं। इन्द्रियों की अपनी प्राणधारा है। मन, वाणी और शरीर की अपनी प्राणधारा है। श्वास-प्रश्वास और जीवन शक्ति की भी स्वतन्त्र प्राण-धाराएं हैं। हमारे चैतन्य का जिस प्रवृत्ति के साथ योग होता है वही प्राणधारा बन जाती है। इसलिए सभी प्राणधाराएं तेजोलेश्या नहीं हैं। तेजोलेश्या एक प्राणधारा है। इन प्राणधाराओं के आधार पर शरीर की क्रियाओं और विद्युत् आकर्षण के संबंध का अध्ययन किया जा सकता है।

प्राण की सक्रियता से मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की वृत्तियां उठती हैं और जब तक तेजोलेश्या के आनन्दात्मक स्वरूप का विकास नहीं होता तब तक वे उठती ही रहती हैं। कुछ लोग वायु-संयम से उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं। यह उनके निरोध का एक उपाय अवश्य है। किन्तु वायु-संयम (या कुंभक) एक कठिन साधना है। उसमें बहुत सावधानी बरतनी होती है। कहीं थोड़ी-सी असावधानी हो जाती है अथवा योग्य गुरू का पथ-दर्शन न हो तो कठिनाइयां और बढ़ जाती हैं। मनः संयम से चित्त वृत्तियों का निरोध करना निर्विघ्न मार्ग है। इसकी साधना कठिन है, पर यह उसका सर्वोत्तम उपाय है। प्रेक्षा ध्यान के द्वारा उसकी कठिनता को मिटाया जा सकता है। चित्त की प्रेक्षा चित्तवृत्तियों के निरोध का महत्वपूर्ण उपाय है।

---

12. ठाण ३।३८६ :
तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवति, तंजहा—आयावणताए, खतिखमाए, अपाणगेण तवोकम्मेण।

परिग्रह का स्वरूप

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

परिग्रह का यदि निरुक्त किया जाय तो "परि-समन्तात् गृहयते=बध्यते प्राणी अनेन इति परिग्रह, "जिसके द्वारा प्राणी चारो ओर से पकडा जाता है, जकडन मे आता है, निगृहीत होता है उसे परिग्रह कहा जाता है।" व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य वस्तुओ को आप लोग परिग्रह मानते हैं। उन्हें त्यागनेवाला अपरिग्रही की कोटि मे आ जाता है, परन्तु भगवान महावीर की पैनी दृष्टि बहुत गहराई तक पहुँचती है, मूल को पकडती है और कारणो को लक्षित करके नव्य दिशा देती है। वे परिग्रह को तीन भागो मे विभक्त करते हैं —

1– कर्म परिग्रह, 2–शरीर परिग्रह और 3–बाह्यमण्डोपकरण परिग्रह।

मुनि श्री चन्दनमल जी

कर्म परिग्रह से ज्ञानावरणीयादि जो पाप पुण्य के कारण हैं उनको ग्रहण किया गया है। ससार मे आत्मा को बाधनेवाले वास्तव मे पुण्य-पाप ही हैं। क्योकि पुण्य-पाप का समूल नाश ही तो मोक्ष है। यद्यपि पुण्य सोने की साँकल है और पाप लोहे की, पर है तो साँकल ही। चलते समय दोनो ही अवरोध पैदा करती हैं। पिंजडा चाहे सोने का हो या लोहे का, पक्षी को उडने न देने मे तो दोनों समान ही हैं। जब तक पुण्य-पाप का अस्तित्व रहेगा तब तक भव-बधन से आत्मा छूट नही सकती और बार-बार नव-नव शरीर को धारण करती रहेगी। इस पहले कारण का कार्य ही दूसरा 'शरीर परिग्रह" है जो ममत्व का भीषण हेतु और देहाध्यास का प्रबल साधन है। इसीलिए ज्ञानियो ने कहा है कि—'मूल ससार वृक्षस्य देह एकात्मधीस्तत: "ससार वृक्ष का मूल देहाध्यास ही है। यथार्थ मे देखा जाय तो सारा ससार देह का ही फैलाव है। सर्वप्रथम बच्चे के माता-पिता देह के सम्बन्ध से ही बनते हैं। छोटे-बडे, भाई-बहन भी इसी के कारण कहलाते हैं। पश्चात् सयोग मे स्त्री भी देह से ही सम्बन्धित है। फिर पुत्र-पुत्रियाँ, पोते-परपोते भी इसी का विस्तार हैं। शरीर के सुख मे, सुख और शरीर के दु.ख मे, दु:ख प्रति समय अज्ञानी मानता रहता है। शरीर को खिलाने-पिलाने, नहलाने-धुलाने मे कितना समय व्यतीत होता है। इस शरीर की परि-तृप्ति के लिये ही फिर तीसरा मण्डोप-करण परिग्रह का व्याख्यान हुआ है। इसकी सुख-सुविधा के लिये ही धन-धान्यादिक की चाह है, उद्यान क्षेत्र गृहादिक की अपेक्षा है। इसकी सुरक्षा के लिये ही सर्दी-गर्मी के नये-नये परिधानो की लिप्सा है। इसे सजाने के लिये ही तो रत्नादि आभूषणों का आकर्षण है। इसलिये इन बाह्य वस्तुओ को परिग्रह की सज्ञा मिली है। यह बाह्य परिग्रह फिर

नव-भेदो में विभक्त किया गया है। जैसे क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, और कु भी धातु नववाँ परिग्रह है जो बाह्य भड-कुण्ड, माचे-ढोलिये, आदि विविध प्रकार से गृह सामान से संबद्ध है। इस प्रकार यह एक परिग्रह की श्रृंखला बन जाती है। इन सभी का यदि संग्रहीत रूप एक ही शब्द मे कहा जाय तो दशवैकालिक सूत्र का वह पद बहुत महत्व-पूर्ण है। जैसे "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"। इसी का अनूदित रूप वाचक मुख्य उपास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "मूर्च्छा परिग्रह." । यह बहुत तात्विक एव गम्भीर व्याख्या है। वस्तुत. वस्तु परिग्रह नही, मूर्च्छा ही परिग्रह है। वस्तु तो अपने स्वरूप मे उपस्थित है, वह परिग्रह और अपरिग्रह क्या ? उससे सम्बद्ध हमारी आसक्ति ममता ही परिग्रह है ।

एक व्यक्ति ने पशुओं के मेले में से गौ खरीदी । उसके मुँह पर बंधे हुए रस्से को अपने हाथ मे लपेट कर वह गौ को खींचता हुआ ले जा रहा था। एक महात्मा मार्ग मे मिले। उन्होने उस व्यक्ति से सवाल किया-"तू गौ से बँधा हुआ है या गौ तेरे से बँधी हुई है।"

उस व्यक्ति ने कहा-"यह तो स्पष्ट ही है कि गौ मेरे से बँधी है।"

महात्मा ने कहा-"नही, तू गौ से बँधा है।" व्यक्ति ने कहा-"कैसे ?"

महात्मा ने कहा-"यदि रस्सा तुडाकर गौ दौड़ जाए तो तू गौ के पीछे दौडेगा या गौ तेरे पीछे ?"

प्रत्युत्तर मे उसने कहा-"महाराज ! मैं गौ के पीछे दौड़ूँगा। क्योंकि गौ मेरी है न।"

स्मित मुद्रा में महात्मा ने कहा-"फिर तू कैसे कहता है कि गौ तेरे से बँधी है ? वास्तव में तू ही गौ से बँधा हुआ है" । वस्तु परिग्रह नहीं, हम वस्तु से ममत्व के कारण परिगृहीत हैं ।

वैसे मूर्च्छा बेहोशी को भी कहते हैं। यथार्थतः अज्ञानी मूच्छित ही है, बेहोश ही है जो पर द्रव्य को स्व द्रव्य मानता है। उनके लाभ-अलाभ मे सुख-दुःख का अनुभव करता है। मूर्च्छा ही ज्ञानावरणीयादि धन घातिक कर्मों का उपादान बनती है, अत. उपर्युक्त कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह एव मण्डोपकरण परिग्रह मूर्च्छा का ही विस्तार है। इसलिये मूर्च्छा का त्याग ही सर्वोत्कृष्ट है। बाह्य पदार्थों का त्याग चाहे कितना ही करो, पर शरीर को तो आयुष्यावधि नही त्याग सकते। शरीर का त्याग हो भी जाय फिर भी तैजस् कार्मणयुक्त शरीर तो सहगामी बने ही रहते हैं। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए विद्वद्वर श्री मोहन विजय लिखते हैं—

"बाहर क्रिया कलाप थी निर्मल न भयो कोय।"
जिमि विष धर कचुली तजे, निज निर्विष नही होय।

कंचुली के त्याग से साँप निर्विष थोड़े ही बन जाता है। कचुली तो ऊपर की आवरण है विष तो उसकी दाढ़ में विद्यमान है। वैसे ही बाह्य त्याग से आतरिक शुद्धि कैसे हो सकती है ! इस भाव को लेकर सन्त कबीर की साखी करारी चोट करती है—

बाबी कूटे बाँवड़ा, साँप न मरयो जाय ।
बाबी तो खावै नहीं, साँप जगत को खाय ॥

अज्ञानी बेचारे साँप की बाबी को रोष करके पीटते है। पर साँप को मार नही सकते। अरे ! बाबी किसी को डसती नही, डसने वाला तो साप है । फिर बांबी पर रोष करने से क्या लाभ ?

आज वैज्ञानिक युग है। प्रत्येक व्यक्ति चिन्तनशील है। भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार, ज्ञान और क्रिया, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। अतः मूर्च्छात्याग के द्वारा ही सही रूप से अपरिग्रहवृत्ति अपनाना आज की समस्या का हल है ।

○

जैन दर्शन में अनुमान परिभाषा

डॉ. दरबारी लाल कोठिया

भारतीय दर्शनो मे प्रत्यक्ष की तरह अनुमान को भी अर्थसिद्धि का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। सम्बद्ध और वर्तमान, आसन्न और स्थूल पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किया जा सकता है। पर असम्बद्ध और अवर्तमान, अतीत-अनागत तथा दूर और सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान उससे सम्भव नहीं है, क्योकि उक्त प्रकार के पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रियो मे नही है। अत: ऐसे पदार्थों का ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। इसे चार्वाक दर्शन को छोडकर, शेष सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है और उसे प्रत्यक्ष की ही तरह प्रमाण एवं अर्थसिद्धि का सबल साधन माना है।

यों तो अनुमान का भारतीय दर्शनों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है और सख्याबद्ध ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, किन्तु यहाँ हम उसके मात्र स्वरूप पर विमर्श प्रस्तुत करेंगे।

अनुमान शब्द की निरुक्ति—

अनु + मान इन दो शब्दो से अनुमान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान, और ऐसा ज्ञान ही अनुमान है।

प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष को छोडकर शेष सभी (स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, चिन्ता आदि) ज्ञान प्रत्यक्ष के पश्चात् ही होते हैं। ऐसी स्थिति में ये सब ज्ञान भी अनुमान कहे जायेंगे। अत· अनुमान से पूर्व वह कौनसा ज्ञान विवक्षित है, जिसके पश्चात् होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा है?

इसका उत्तर यह है कि अनुमान से अव्यवहित पूर्ववर्ती वह ज्ञान विशेष है, जिसके अव्यवहित उत्तर-काल मे अनुमान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान-विशेष है, व्याप्ति-निर्णय (तर्क-ऊहा-चिन्ता)। उसके अनन्तर नियम से अनुमान होता है। लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण और पक्षधमताज्ञान[1] इनमें से कोई भी अनुमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है। लिंगदर्शन व्याप्तिस्मरण से, व्याप्तिस्मरण पक्षधर्मताज्ञान से और पक्षधर्मताज्ञान

1. व्याप्ति विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्म ज्ञान मनुमितिः। तत्करणमनुमानम्।
—गगेश उपाध्याय, तत्त्व चि., अनु., जागदीशी, पृ. 13।

व्याप्ति-निश्चय से व्यवहित हैं। अतः लिंगदर्शन, व्याप्ति-स्मरण और पक्षधर्मताज्ञान व्याप्ति-निश्चय से व्यवहित होने से अनुमान के साक्षात् पूर्ववर्ती नहीं हैं। यद्यपि पारम्पर्य से उन्हें भी अनुमान का जनक माना जा सकता है। पर अनुमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान व्याप्ति-निश्चय है, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरकाल में नियम से अनुमान आत्मलाभ करता है। अतः व्याप्ति-निश्चय ही अनुमान का पूर्ववर्ती ज्ञान है। जैन तार्किक वादिराज भी यही लिखते हैं—

'अनु व्याप्तिनिर्णयस्य पश्चाद् भावि मानमनुमानम्[2]।'

व्याप्ति-निर्णय के पश्चात् होनेवाले मान-प्रमाण को अनुमान कहते हैं। वात्स्यायन[3] अनुमान शब्द की निरुक्ति इस प्रकार बतलाते हैं—'मितेन लिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्'—प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिंग से लिंगी—अर्थ के—अनु—पश्चात् उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। तात्पर्य यह कि लिंगज्ञान के पश्चात् जो लिंगी—साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है। वे एक दूसरे स्थल पर और कहते हैं कि—'स्मृत्या लिंग दर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।'[4]—लिंग-लिंगी सम्बन्ध स्मृति और लिंगदर्शन के द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार वात्स्यायन का अभिप्राय 'अनु' शब्द से सम्बन्ध स्मरण और लिंग दर्शन के पश्चात् अर्थ को ग्रहण करने का प्रतीत होता है। न्यायवार्तिककार उद्योतकर[5] का मत है कि 'यस्माल्लिंग परामर्शादनन्तर शेषार्थप्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिंग परामर्शोन्याय्य इति।'—यतः लिंग परामर्श के अनन्तर, शेषार्थ (अनुमेयार्थ) का ज्ञान होता है, अतः लिंग परामर्श को अनुमान मानना न्याययुक्त है। इस तरह उद्योतकर के मतानुसार लिंग परामर्श वह ज्ञान है जिसके पश्चात् अनुमिति उत्पन्न होती है। किन्तु तथ्य यह है कि लिंगदर्शन आदि व्याप्ति-निश्चय से व्यवहित हैं। अतः व्याप्तिज्ञान ही अनुमान में अव्यवहित पूर्ववर्ती है।

अनुमान की परिभाषा—

अनुमान शब्द की निरुक्ति के बाद अब देखना है कि उपलब्ध जैन तर्कग्रन्थों में अनुमान की परिभाषा क्या की गयी है? स्वामी समन्तभद्र ने[6] आप्तमीमांसा में 'अनुमेयत्व' हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि की है। आगे अनेक स्थलों पर 'स्वरूपादिचतुष्टयात्',[7] 'विशेषणत्वात्'[8] आदि अनेक हेतुओं को दिया है। और उनसे अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था तथा स्याद्वाद[9] की स्थापना की है। इससे प्रतीत होता है कि समन्तभद्र के काल में जैन दर्शन में विवादग्रस्त एवं अप्रत्यक्ष पदार्थों की सिद्धि अनुमान से की जाने लगी थी। जिन उपादानों से अनुमान निष्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है उन उपादानों का उल्लेख भी उनके द्वारा आप्तमीमांसा में बहुलतया हुआ है। उदाहरणार्थ हेतु, साध्य, प्रतिज्ञा, सधर्मा, अविनाभाव, सपक्ष, साधर्म्य, वैधर्म्य, दृष्टान्त जैसे अनुमानोपकरणों का निर्देश इसमें किया गया है। पर परिभाषा ग्रन्थ न होने से उनकी परिभाषाएँ इसमें नहीं हैं। यही कारण है कि अनुमान की परिभाषा इसमें उपलब्ध नहीं है। एक स्थल पर हेतु (नय) का लक्षण[10] अवश्य निबद्ध है, जिसमें अन्यथानुपपत्ति विशिष्ट त्रिलक्षण हेतु को साध्य का प्रकाशक कहा है, केवल त्रिलक्षण को नहीं। अकलंक[11] और विद्यानन्द[12] द्वारा प्रस्तुत उसके

---

2. न्यायविनिश्चय विवरण, द्वि. भा. २।१; 3. न्यायभाष्य १।१।३; 4. वही, १।१।५; 5. न्या. वा. १।१।५, पृ. ४५; 6. आप्त मी. का. ५; 7 वही, का. १५; 8. वही, का. १७, १८, 9. वही, का. १६, १७, १०६ आदि; 10 आ. मी. का. १०६; 11. अष्ट श. अष्ट स. पृ. २८६; 12. अष्ट स. पृ. २८६;

व्याख्यानो से भी यही अवगत होता है। आशय यह कि आप्तमीमासा के इस सन्दर्भ से इतना ही ज्ञात होता है कि समन्तभद्र को अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्ट त्रिलक्षण हेतु से होनेवाला साध्यज्ञान अनुमान इष्ट रहा है।

सिद्ध सेन[13] ने स्पष्ट शब्दों मे अनुमान लक्षण दिया है—

साध्याविनाभुनो लिंगात् साध्यनिश्चद्दायक स्मृनम्।
अनुमान तदभ्रान्त प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।।

साध्य के विना न होनेवाले लिंग मे जो माध्य का निश्चायक ज्ञान होता है वह अनुमान है। इस अनुमान लक्षण में समन्तभद्र का हेतुलक्षणगत 'अविरोधत' पद, जो अन्यथानुपपत्ति—अविनाभाव का बोधक है, बीज रूप में रहा हो, तो आश्चर्य नही है।

अकलक ने न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय दोनो मे अनुमान की परिभाषा अकित की है। न्यायविनिश्चय की अनुमान-परिभाषा निम्न प्रकार है—

साधनात्साध्य विज्ञान मनुमानं तदत्यये ।[14]

साधन (हेतु) से जो साध्य (अनुमेय) का विशिष्ट (नियत) ज्ञान होता है वह अनुमान है।

अकलक का यह अनुमान-लक्षण अत्यन्त सरल और सुगम है। परवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति तार्किकों ने इसी को अपनाया है। स्मरणीय है कि जो साधन से साध्य का नियत ज्ञान होता है वह साधनगत अविनाभाव के निश्चय के आधार पर ही होता है। जब तक साधन के साध्याविनाभाव का निश्चय न होगा तब तक उससे साध्य का निर्णय नही हो सकता।

यहाँ प्रश्न है[15] कि इस अनुमान-परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में साधन को ही अनुमान मे कारण माना गया है, साधन के ज्ञान को नही? इसका समाधान यह है कि[16] उक्त 'साधन' पद से 'निश्चय-पथ प्राप्त साधन' अर्थ विवक्षित है, क्योंकि जिस धूमादि साधन का साध्याविनाभावित्वरूप से निश्चय नही है वह साधन नही कहलाता। अन्यथा अज्ञायमान धूमादि लिंग से सुप्त तथा अगृहीत धूमादि लिंगवालो को भी बह्नि आदि का ज्ञान हो जाएगा। अत· 'साधन' पद से 'अविनाभावरूप से निर्णीत साधन' अर्थ अभिप्रेत है, केवल साधन नही। न्यायविनिश्चय के विवरणकार आचार्य वादिराज ने भी उसका यही विवरण किया है। यथा—

'साधन साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षण
वक्ष्यमाण लिंगम् ।[17]

साधन वह है जिसके साध्याविनाभावरूप नियम का निश्चय है। इसी को लिंग (लीनमप्रत्यक्षमर्थं गमयति)—छिपे हुए अप्रत्यक्ष अर्थ का अवगम कराने वाला भी कहा है।

अकलकदेव स्वय उक्त अर्थ की प्रकाशिका एक दूसरी अनुमान-परिभाषा लघीयस्त्रय में निम्न प्रकार करते हैं—

लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिंगिधीरनुमान तत्फल हानादिबुद्धय ।।[18]

---

13. न्यायावतार का ५; 14. न्यायविनिश्चय. द्वि भा २।२, 15. 'ननु भवतामते साधनमेवानुमाने हेतुर्नतु साधन ज्ञान साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति।'—धर्म भूषण न्या. दी. पृ. ६७; 16. 'न, 'साधनात्' इत्य त्र निश्चयपथ प्राप्ताद्धमादेरिति विवक्षणात्'। वही, पृ. ६७; 17. वादिराज, न्या वि. वि. द्वि. भा. २।१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; 18. अकलकदेव लघीयस्त्रय का. १२।

साध्य के बिना न होने का जिसमे निश्चय है, ऐसे लिंग से जो लिंगी (साध्य अर्थ) का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। हान, उपादान और उपेक्षा का ज्ञान होना उसका फल है।

इस अनुमानलक्षण से स्पष्ट है कि साध्य का गमक वही साधन अथवा लिंग हो सकता है जिसके अविनाभाव का निश्चय है। यदि उसमें अविनाभाव का निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है।[19] भले ही उसमें तीन रूप और पाँच रूप भी विद्यमान हो। जैसे 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात्, इतर पुत्रवत्', 'वज्र लोहलेख्य पार्थिवत्वात्, काष्ठवत्' इत्यादि हेतु तीन रूपो और पाँच रूपो से सम्पन्न होने पर भी अविनाभाव के अभाव से सद्धेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं और इसी से वे अपने साध्यो के गमक-अनुमापक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में और विशेष विचार किया जा सकता है।

विद्यानन्द ने अकलंकदेव का अनुमानलक्षण आदृत किया है और विस्तारपूर्वक उसका समर्थन किया है। यथा—

साधनात्साध्य विज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः।[20]

साध्याभावासम्भवनियमलक्षणात् साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य 'साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानं आचार्या विदुः।[21]

तात्पर्य यह कि जिसका साध्य के अभाव में न होने का नियम है ऐसे साधन से होनेवाला जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध साध्य का विज्ञान है उसे आचार्य (अकलङ्क देव) ने अनुमान कहा है।

विद्यानन्द[22] अनुमान के इस लक्षण का समर्थन करते हुए एक महत्वपूर्ण युक्ति उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि अनुमान के आत्मलाभ के लिए उक्त प्रकार का साधन और उक्त प्रकार का साध्य आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। यदि उक्त प्रकार का साधन न हो तो केवल साध्य का ज्ञान अनुमान प्रतीत नहीं होता। इसी तरह उक्त प्रकार का साध्य न हो, तो केवल उक्त प्रकार का साधनज्ञान भी अनुमान ज्ञात नहीं होता। आशय यह है कि अनुमान के मुख्य दो उपादान हैं—साधनज्ञान और साध्यज्ञान। इस दोनों की समग्रता होने पर ही अनुमान सम्पन्न होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दि अकलंक के उक्त अनुमान-लक्षण को सूत्र का रूप देते हैं और उसे स्पष्ट करने के लिए हेतु का भी लक्षण प्रस्तुत करते हैं। यथा—

साधनात्साध्य विज्ञानमनुमानम्।[23]
साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।[24]

हेमचन्द्राचार्य[25] ने भी माणिक्यनन्दि की तरह अकलंक की ही अनुमान-परिभाषा अक्षरशः स्वीकार की है और उसे उन्हीं की भाँति सूत्र रूप प्रदान किया है।

न्यायदीपिकाकार धर्मभूषण ने[26] भी अकलंक का न्यायविनिश्चयोक्त अनुमान-लक्षण प्रस्तुत करके उसका विशदीकरण किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने[27] उद्योतकर द्वारा उपज्ञ तथा वाचस्पति आदि द्वारा समर्थित 'लिंग परामर्शोऽनुमानम्'[28] इस अनुमानलक्षण की समीक्षा भी उपस्थित की है। उनका कहना है कि यदि लिंगपरामर्श (लिंगज्ञान-लिंगदर्शन) को अनुमान

19. विद्यानन्द, त. श्लो. १।१३।२००, पृ. २०६; 20. वही, १।१३।१२०, पृ. १९७; 21, 22. वही, १।१३।१२०, पृ. १९७; 23. मणिक्यनन्दि, परीक्षामुख ३।१४; 24. वही, ३।१५; 25. प्रमा. मी. १।२।७ पृ. ३८; 26. धर्मभूषण न्याय दी. पृ. ६५, ६७ वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 27. वही, पृ. ६६; 28. उद्योतकर, न्याय वा. १।१।५, पृ. ४५।

माना जाय तो उससे साध्य (अनुमेय) का ज्ञान नही हो सकता, क्योकि लिंगपरामर्श का अर्थ लिंगज्ञान है और लिंगज्ञान केवल लिंग —साधन सम्बन्धी अज्ञान को ही दूर करने मे समर्थ है, साध्य के अज्ञान को नही। यथार्थ मे लिंग में होनेवाले व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहा गया है—'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान परामर्श'। अत लिंगपरामर्श इतना ही ज्ञान करा सकता है कि धूमादि लिंग अग्नि आदि साध्यो के सहचारी हैं और वे पर्वत आदि (पक्ष) में हैं। और इस तरह लिंगपरामर्श मात्र लिंग सम्बन्धी अज्ञान का निराकरण करता है एव लिंग के वैशिष्ट्य को प्रकट करता है, अनुमेय (साध्य) सम्बन्धी अज्ञान का निरास कर उसका ज्ञान कराने मे वह असमर्थ है। अतएव लिंगपरामर्श अनुमान की सामग्री तो हो सकता है, पर स्वय अनुमान नहीं। अनुमान का अर्थ है अनुमेय सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक अनुमेयार्थ का ज्ञान। इसलिए साध्यसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्तिरूप अनुमिति में साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता है। अत साध्यज्ञान ही अनुमान है, लिंगपरामर्श नही। यहाँ धर्मभूषण इतना और स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार धारणा नामक अनुभव स्मृति में, तात्कालिक अनुभव और स्मृति दोनो प्रत्यभिज्ञान मे तथा साध्य एव साधन विषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्क में कारण माने जाते हैं, उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि सहित लिंगज्ञान (लिंगपरामर्श) अनुमान की उत्पत्ति में कारण है।[29]

यहाँ ज्ञातव्य है कि लिंगपरामर्श को अनुमान की परिभाषा मानने में जो आपत्ति धर्मभूषण ने प्रदर्शित की है वह उद्योतकर के भी ध्यान में रही जान पडती है अथवा उनके समक्ष भी उठायी गयी है। अतएव उन्होने 'भवतु वाऽयमर्थो लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्, इति।'[30] अर्थात् लिंगी का ज्ञान अनुमान है' कहकर साध्यज्ञान को अनुमान मान लिया है। जब उनसे कहा गया कि साध्यज्ञान को अनुमान मानने पर फल का अभाव हो जायेगा, तो वे उत्तर देते हैं कि 'नहीं, हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धियाँ उसका फल है। उद्योतकर यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात और कहते हैं।[31] वह यह कि सभी प्रमाण अपने विषय के प्रति भावसाधन हैं—'प्रमिति' प्रमाणम्, अर्थात् प्रमिति ही प्रमाण है और विषयान्तर के प्रति करणसाधन हैं—'प्रमीयतेऽनेनेति' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ (वस्तु प्रमित (सुज्ञात) हो उसे प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार वे अनुमान की उक्त साध्यज्ञानरूप परिभाषा भावसाधन मे स्वीकार करते हैं। धर्मभूषण ने इसी तथ्य का ऊपर उद्घाटन किया तथा साध्यज्ञान ही अनुमान है, इसका समर्थन किया है।

इस तरह जैन दर्शन में अनुमान की परिभाषा का मूल स्वामी समन्तभद्र की 'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधत' (आप्तमी. १०६) इस कारिका मे निहित है और उसका विकसित रूप सिद्धसेन के न्यायावतार (का ५) से आरम्भ होकर अकलक देव के उपर्युक्त लघीयस्त्रय (का १२) और न्यायविनिश्चय (द्वि. भा. २।१) गत दोनों परिभाषाओ मे परिसमाप्त है। लघीयस्त्रय की अनुमान परिभाषा तो इतनी व्यवस्थित, युक्त और पूर्ण है कि उसमे किसी भी प्रकार के सुधार, सशोधन, परिवर्द्धन या परिष्कार की भी गुजायश नही है। अनुमान का प्रयोजक तत्त्व क्या है और स्वरूप क्या है, ये दोनो उसमे समाविष्ट हैं।

अक्षपाद गौतम की 'तत्पूर्वकमनुमानम्',[32] प्रशस्तपाद की 'लिंगदर्शनात् सजायमान लैंगिकम्'[33] और

---

29. धारणाख्योऽनुभव स्मृतौ हेतु । तद्वल्लिगज्ञान व्याप्ति स्मरणादिसह कृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येत्सुसगतमेव।—न्या दी पृ ६६,६७। 30 न्याय वा. १।१।३, पृ २८ २९। 31 वही १।१।३, पृ २९। 32. न्याय सू १।१।५। 33. प्रश भाष्य पृ. ९९।

उद्योतकर की 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्'[34] परिभाषाओ मे हमें केवल कारण का निर्देश मिलता है, स्वरूप का नही। उद्योतकर की एक अन्य परिभाषा 'लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्'[35] मे स्वरूप का ही उल्लेख है, कारण का उसमे सूचन नही है। दिङ्नाग की 'लिंगार्थदर्शनम्'[36] अनुमान-परिभाषा में यद्यपि कारण और स्वरूप दोनो की अभिव्यक्ति है परन्तु उसमे लिंग को कारण के रूप में सूचित किया है, लिंग के ज्ञान को नही। किन्तु तथ्य यह है[37] कि अज्ञायमान धूमादि लिंग अग्नि आदि के जनक नही हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है या जिसने साध्य और साधन की व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया है उसे भी पर्वत मे धूम के सद्भाव मात्र से अनुमान होजाना चाहिए। किन्तु ऐसा नही है। पर्वत मे अग्नि का अनुमान उसी पुरुष को होता है जिसने पहले महानस (भोजनशाला) आदि मे धूम-अग्नि को एक साथ अनेक बार देखा और उनकी व्याप्ति ग्रहण की है, फिर पर्वत के समीप पहुंचकर धूम को देखा, अग्नि और धूम की गृहीत व्याप्ति का स्मरण किया, और फिर पर्वत मे उनका अविनाभाव जाना, तब उस पुरुष को 'पर्वत में अग्नि है' ऐसा अनुमान होता है,[38] केवल लिंग के सद्भाव से ही नहीं। अतः दिङ्नाग के उक्त अनुमानलक्षण मे 'लिंगात्' के स्थान मे 'लिंगदर्शनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलंकदेव का 'लिंगात्साध्याविनाभावभिनिबोधैक लक्षणात्। लिंगिधीरनुमानं तत्फल हानादिबुद्धय.॥'[39] यह अनुमानलक्षण उक्त दोषो से मुक्त है। इसमे अनुमान के साक्षात्कारण का और उसके स्वरूप दोनो का प्रतिपादन है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमे उन्होने 'तत्फल हानादि बुद्धय.' शब्दो द्वारा अनुमान के हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फल का भी निर्देश किया है। संभवत इन्ही सब विशेषताओ के कारण सभी जैन तार्किको ने अकलंक देव की इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषा को ही अपने तर्क ग्रन्थो में अपनाया है। विद्यानन्द जैसे तार्किक मूर्धन्य मनीषी ने तो' अनुमान विदुर्बुधा.' कहकर और आचार्यों द्वारा कथित बतला कर उसके, सर्वाधिक महत्व का भी ख्यापन किया है।

यथार्थ मे अनुमान एक ऐसा प्रमाण है, जिसका प्रत्यक्ष के बाद सबसे अधिक व्यवहार किया जाता है। अत ऐसे महत्वपूर्ण प्रमाण पर भारतीय तार्किको ने अधिक ऊहापोह किया है। जैन तार्किक भी उनसे पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी अपने तर्क ग्रन्थो में उस पर विस्तृत चिन्तन किया है। यहाँ हमने अनुमान के मात्र स्वरूप पर यत्किंचित् विमर्श प्रस्तुत किया है। तर्क ग्रन्थों मे उसके भेदो अवयवो और अगो आदि पर विस्तृत विचार किया गया है, जो उन ग्रन्थो से ज्ञातव्य है।

---

34. न्याय वा. १।१।५, पृ. ४५ ; 35. न्याय वा. १।१।३ ; 36 न्याय फले. पृ. ७ ; 37. न्या दी. पृ. ६७ ; 38. तर्क भा. पृ. ७८, ७९ ; .9. लघी. का. १२।

जैन संघ और—— सम्प्रदाय

प्रत्येक धर्म मे यथासमय सघ और सम्प्रदाय खडे हो जाते हैं। उनके पीछे सैद्धान्तिक मतभेद की पृष्ठभूमि रहती है। सैद्धान्तिक मतभेद धर्म और सम्प्रदाय के विकास की कहानी है। इतिहास इसका साक्षी है कि जिन पन्थो मे मतभेद नही हो पाये वे प्राय· अपने प्रवर्तको अथवा प्रसारको के साथ ही कालकवलित हो गये और जिनमे वैचारिक मतभेद पैदा हुए वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये।

जैनधर्म भी इस तथ्य से दूर नही रहा। भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त ही उनके सघ मे मतभेद प्रगट हो गये। पालि त्रिपिटक इसका साक्षी है।[1] वहाँ कहा गया है कि एक बार भगवान बुद्ध शाक्य देश मे सामग्राम में बिहार कर रहे थे। उसी समय निगण्ठ-नातपुत्त का निर्वाण पावा मे हो गया था। उनके निर्वाण के बाद ही उनके अनुयायियो (निगण्ठों) मे मतभेद पैदा हो गये। वे दो भागों (पक्षों) मे विभक्त हो गये थे और परस्पर सघर्ष और कलह कर रहे थे। निगण्ठ एक-दूसरे को वचन-बाणों से बीधते हुए विवाद कर रहे थे—"तुम इस धर्म विनय को नही जानते, मैं इस धर्म विनय को जानता हूँ।" तू इस धर्म विनय को कैसे जानेगा? तू मिथ्या दृष्टि है, मैं सम्यकदृष्टि हूँ मेरा कथन सार्थक है, तेरा कथन निरर्थक है। पूर्व कथनीय बात तूने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात आगे कही। तेरा वाद बिना विचार का उल्टा है। तूने वाद आरम्भ किया पर निगृहीत होगया। इस वाद से बचने के लिए इधर-उधर भटक। यदि इस वाद को समेट सकता है तो समेट। इस प्रकार नातपुत्तीय निगण्ठो मे मानो युद्ध ही हो रहा था।

डा० भागचन्द्र जैन भास्कर

एव मे सुत एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पेन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुनाकालङ्कतो होति। तस्य कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिक जाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ज मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति— "न त्व इम धम्मविनय आजानासि, अह् इम धम्मविनय आजानामि। किं त्व धम्मविनय आजानिस्ससि? मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहित मे असहित ते।

1. विशेष देखिये, लेखक के ग्रन्थ Jainism in Buddhist Literature तथा बौद्ध सस्कृति का इतिहास—प्रथम अध्याय (आलोक प्रकाशन, नागपुर)।

पुरे वचनीय पच्छा अवच पच्छा वचनीय पुरे अवच। अधिचिण्ण ते विपरावत्त। आरोपितो ते वादो। निग्गहितोसि, चर वादप्पमोक्खाय; निष्पठेहि वा सचे पहोसी" ति। वधो येव खो मञ्जे निग्गण्ठे सु नातपुत्तियेसु वत्तति।[2]

आचार्य कालगणना

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद दिगम्बर परम्परानुसार 62 वर्ष मे क्रमश तीन केवली और 100 वर्ष मे पाँच श्रुतकेवली इस प्रकार हुए।[3]—

केवली

1. गौतम गणधर	—12 वर्ष
2. सुधर्मा स्वामी (लोहार्य)	—12 वर्ष
3. जम्बू स्वामी	—38 वर्ष
	62 वर्ष

श्रुतकेवली

1. विष्णुकुमार (नन्दि)	—14 वर्ष
2. नन्दिमित्र	—16 वर्ष
3. अपराजित	—22 वर्ष
4. गोवर्धन	—19 वर्ष
5. भद्रबाहु	—29 वर्ष
	100 वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के 162 वर्ष (62+100) पर्यन्त केवली और श्रुतकेवली रहे। श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर के जीवन काल में ही 9 गणधरों का निर्वाण हो गया था। मात्र इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा शेष रह गये थे। महावीर निर्वाण में उत्तरवर्ती आचार्यों की कालगणना स्थविरावली मे इस प्रकार दी गई है—

1. सुधर्मा	—20 वर्ष
2. जम्बू	—44 वर्ष
3. प्रभव	—11 वर्ष
4. शय्यभव	—23 वर्ष
5. यशोभद्र	—50 वर्ष
6 सभूतिविजय	—8 वर्ष
7 भद्रबाहु	—14 वर्ष
8. स्थूलभद्र	—45
	215 वर्ष

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैन परम्परानुसार हेमचन्द्र ने 'परिशिष्टपर्वन' में भगवान महावीर निर्वाण के 155 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल बताया है। आचार्य हेमचन्द्र अवन्ती राजा पालक के राज्यकाल के 60 वर्षों की गणना को किसी कारणवश भूल गये थे। अर्थात् महावीर के निर्वाण (155+60) 215 वर्ष बाद चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ होगा।

उक्त आचार्य कालगणना के अनुसार दिगम्बर परम्परा में भगवान महावीर निर्वाण के 12 वर्ष तक गौतम

2. सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्तन्त; दीघनिकाय, पथिकवग्ग. पासादिकसुत्त, सगीतिसुत्त.

3. धवला, भाग 1, पृ० 66, तिलोयपण्णत्ति, 4. 1482-84; जयधवला: भाग 1, पृ० 85, इन्द्रश्रुतावतार 72-78. नन्दिसघीय प्राकृत पट्टावली—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4.

गणधर का काल माना है। और उनके बाद उनके उत्तराधिकारी क्रमश: सुधर्मा और जम्बूस्वामी को रखा है पर स्थविरावली मे गौतम के स्थान पर सुधर्मा का काल 20 वर्ष (12+8=20) रखा है जबकि कल्पसूत्र पूर्ववर्ती परम्परा को ही स्वीकार कर महावीर निर्वाण के बाद 12 वर्ष गौतम का और 8 वर्ष सुधर्मा का काल निर्धारण करता है। यह कालगणना जो जैसी भी हो, पर दोनो परम्पराएँ भद्रबाहु के कुशल नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार करती हुई दिखाई देती हैं। अन्तर यहाँ यह है कि दिगम्बर परम्परा महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद भद्रबाहु का निर्वाण समय मानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा 170 वर्ष बाद। यहाँ लगभग आठ वर्ष का कोई विशेष अन्तर नहीं। पर समस्या यह है कि इस कालगणना से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की समयकालीनता सिद्ध नही होती। उन दोनो महापुरुषो के बीच वही प्रसिद्ध 60 वर्ष का अन्तर पडता है। अर्थात् यदि भद्रबाहु के समय वीर नि. 162 मे 60 वर्ष बढा दिये जायें तो चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की समय कालीनता ठीक बन जाती है। अथवा चन्द्रगुप्तमौर्य के काल मे से 60 वर्ष पीछे हटा दिये जायें जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने महावीर निर्वाण से 215 वर्ष की परम्परा के स्थान मे 155 वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त का राजा होना लिखा है तो दोनो की समयकालीनता बन सकती है।[4]

श्वेताम्बर पपम्परानुसार महावीर निर्वाण के उपरान्त जैन सघ परम्परा इस प्रकार दी जाती है[5]—

आचार्य कालगणना		राजकाल	
1 गौतम	—12 वर्ष	पालक	—60 वर्ष
2. सुधर्मा	— 8 वर्ष		
3 जम्बू	—44 वर्ष		
4. प्रभव	—11 वर्ष	नवनन्द	—155 वर्ष
5. स्वयभू	—23 वर्ष		
6. यशोभद्र	—50 वर्ष		
7. सभूतिविजय	— 8 वर्ष		
8. भद्रबाहु	—14 वर्ष		
9. स्थूलभद्र	—45 वर्ष		
	215 वर्ष		—215 वर्ष

4. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ० 342.
5. पट्टावली समुच्चय, पृ० 17.

	215		215
10. महागिरि	—30 वर्ष		
11. सुहस्ति	—46 वर्ष	मौर्य वश	—108 वर्ष
12. गुणसुन्दर	—32 वर्ष		
13. गुणसुन्दर-शेष	—12 वर्ष	पुष्यमित्र	—30 वर्ष
14. कालिक	—40 वर्ष	(1) बलमित्र	
15. स्कन्दिल	— 38 वर्ष	(2) भानुमित्र	—60 वर्ष
16. रेवतीमित्र	—36 वर्ष	(1) नरवाहन	—40 वर्ष
17. आर्य मगु	—20 वर्ष	(2) गर्दभिल्ल	—13 वर्ष
		(3) शक	— 4 वर्ष
18. बहुल			
19. श्रीव्रत			
20. स्वाति		(1) विक्रमादित्य	—60 वर्ष
21. हारि		(2) धर्मादित्य	—40 वर्ष
22. श्वामार्य	=111 वर्ष	(3) भाइल्ल	—11 वर्ष
23. शाण्डिल्य आदि			
24. भद्रगुप्त			
25. श्रीगुप्त			
26. वज्रस्वामी			
	580 वर्ष		581 वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के 581 वर्ष व्यतीत हुए। उसके बाद पुष्यमित्र और नाहड का राज्यकाल 24 वर्ष का रहा। तदनन्तर। (581+24=605 वर्ष बाद) शक सवत् की उत्पत्ति हुई। आगे भ० महावीर निर्वाण के 980 वर्ष पूर्ण हो जाने पर महागिरि की परम्परा मे उत्पन्न देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की।[6]

दिगम्बर परम्परानुसार[7] जिस दिन भ० महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। गौतम के सिद्ध हो जाने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के सिद्ध हो जाने पर जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन तीनो केवलियो का काल 62 वर्ष है। उनके बाद नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली

6. कल्पसूत्र स्थविरावली.

7. जयधवला, भाग-1, प्रस्तावना, पृ० 23-30 हरिवशपुराण

हुए जिनका समय 100 वर्ष है। उनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन विजय, बुद्धिल, गगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य क्रमश: दश पूर्वधारी हुए। उनका काल 183 वर्ष है। उनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कस ये पांच आचार्य ग्यारह अग के धारी हुए। उनका समय 220 वर्ष है। उनके बाद भरत क्षेत्र मे कोई भी आचार्य ग्यारह अंग का धारी नही हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचारग के धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अग और चौदह पूर्व के एकदेश के ज्ञाता थे। उनका समय 118 वर्ष होता है। इस प्रकार गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिणाम 683 वर्ष हुआ। अर्हद्बली आदि आचार्यों का समय इस काल परिमाण के बाद आता है।

(1)	तीन केवली	—62 वर्ष
(2)	पांच श्रुतकेवली	—100 वर्ष
(3)	11 दश पूर्वधारी	—183 वर्ष
(4)	पांच ग्यारह अंग के धारी	—220 वर्ष
(5)	चार आचारग धारी	—118 वर्ष
	कुल	—683 वर्ष

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली कुछ भिन्न है। उसमे उपर्युक्त लोहाचार्य तक का समय कुल 565 वर्ष बताया है। पश्चात् एकागधारी अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, भूतबलि, और पुष्पदन्त इन पांच आचार्यों का काल क्रमश 28, 21, 19। 30, और 20 वर्ष निर्दिष्ट है। इस दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबली का समय 683 वर्ष के ही अन्तर्गत आ जाता है।[8] इस प्रकार धवला आदि ग्रन्थो मे उल्लिखित और नन्दिसघ की प्राकृत पट्टावली मे में उद्धृत इन दोनो परम्पराओ में आचार्यो की कालगणना मे 118 वर्ष (683–565=118) का अन्तर दिखाई देता है। पर यह अन्तर एकादशागधारी आचारागधारी आचार्यो मे ही है, केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वधारी आचार्यों में नहीं।

आचार्य भद्रबाहु

आचार्य कालगणना की उक्त दोनो परम्पराओं को देखने से यह स्पष्ट है कि जम्बूस्वामी के बाद होनेवाले युगप्रधान आचार्यों मे भद्रबाहु ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व को दोनो परम्पराओ ने एक स्वर मे स्वीकार किया है। बीच मे होनेवाले प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र और सभूतिविजय आचार्यो के विषय मे एकमत नही। भद्रबाहु के विषय मे भी जो मतभेद हैं वह बहुत अधिक नही। दिगम्बर परम्परा भद्रबाहु का कार्यकाल 29 वर्ष मानती है और उनका निर्वाण महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद स्वीकार करती है पर श्वेताम्बर परम्परानुसार यह समय 170 वर्ष बाद बताया जाता है और उनका कार्यकाल कुल चौदह वर्ष माना जाता है। जो भी हो दोनो परम्पराओ के बीच आठ वर्ष का अन्तराल कोई बहुत अधिक नही है।

परम्परानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्तज्ञानी थे। उनके ही समय सघभेद प्रारम्भ हुआ है। अपने निमित्तज्ञान के बल पर उत्तर में होनेवाले द्वादश वर्षीय दुष्काल का आगमन जानकर भद्रबाहु ने बारह हजार मुनि सघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। अपना अन्त निकट जानकर उन्होने संघ को चोल, पाण्डय प्रदेशो की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रमणवेलगोल में ही कालमप्र नामक पहाडी पर समाधिमरण पूर्वक देह

8. धवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदि ग्रन्थों मे भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल 683 वर्ष ही दिया गया है।

त्याग किया। इस आशय का छटी शती का एक लेख पुन्नाड के उत्तरी भाग मे स्थित चन्द्रगिरि पहाडी पर उपलब्ध हुआ है। उसके सामने विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोमटेश्वर बाहुबलि की 57 फीट ऊँची एक भव्य मूर्ति स्थित है। उत्तरभारत मे रह जाने वाले साधुओं और क्षुलको मे दुर्भिक्ष जन्य परिस्थितियो के कारण आचार शैथिल्य घर कर गया और उत्तरकाल में यही घटना सघभेद का कारण बनी। परिशिष्टपर्वन के अनुसार भद्रबाहु दुष्काल समाप्त होने के बाद दक्षिण से मगध वापिस हुए और पश्चात् महाप्राण ध्यान करने नेपाल चले गये। इसी बीच जैन साधु सघ ने अनभ्यासवश बिस्मृत श्रुत को किसी प्रकार से स्थूलभद्र के नेतृत्व मे एकादश अगो का सकलन किया और अवशिष्ट द्वादशवें अग दृष्टिवाद के सकलन के लिए नेपाल में अवस्थित भद्रबाहु के पास अपने कुछ शिष्यो को भेजा उनमे स्थूलभद्र ही वहाँ कुछ समय रुक सके जिन्होने उसका कुछ यथाशक्य अध्ययन कर पाया। फिर भी दृष्टिवाद का सकलन अवशिष्ट ही रह गया।

देवसेन के भाव संग्रह मे भद्रबाहु के स्थान पर शान्ति नामक किसी अन्य आचार्य का उल्लेख है। भट्टारक रत्नन्द ने सभवता देवसेन और हरिषेण की कथाओ को सम्बद्ध करके भद्रबाहुचरित्र लिखा है। प्रथम भद्रबाहु का कोई भी ग्रन्थ प्रामाणिक तौर पर नही मिलता। छेद सूत्रो का कर्ता उन्हे अवश्य कहा गया है पर यह कोई सुनिश्चित परम्परा नही।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बोहपाहुड में अपने गुरू का नाम भद्रबाहु लिखा है और उन भद्रबाहु को गमकगुरू कहा है। कुन्दकुन्द के ये गमकगुरू निश्चित ही श्रुतकेवली भद्रबाहु रहे होगे।

सद्दवियारो हुओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहियं।
सो तह कहियं णय रीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ 61

वारस अग वियाण चउदश पुव्वग विडलवित्थरण।
सुयाणि भद्दाबाहु गमय गुरू भयवओ जयओ ॥62॥

बोहपाहुड की इन दोनो गाथाओ से यह स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो चुके थे। प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिन्हें कुन्दकुन्द ने गमकगुरू कहा है और द्वितीय भद्रबाहु जो कुन्दकुन्द के साक्षात गुरू थे। ये दौनो व्यक्तित्व पृथक् पृथक् हुए हैं अन्यथा कुन्दकुन्द दोनो गाथाओ मे भद्रबाहु शब्द का प्रयोग नही करते।

आचारग, सूत्रकृताग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प दशाश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्यायन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित ग्रन्थो पर किसी अन्य भद्रबाहु नामक विद्वान ने नियुंक्तियाँ लिखी हैं, ऐसी एक परम्परा है। ये नियुंक्तिकार तृतीय भद्रबाहु होना चाहिए जो छेदसूत्रकार भद्रबाहु से भिन्न रहे होगे। नियुक्तियो मे आर्यवज्, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य, शिवभूति आदि अनेक आचार्यो के नामो के उल्लेख मिलते हैं। ये आचार्य निश्चित ही उक्त प्रथम और द्वितीय भद्रबाहु से उत्तरकाल में हुए हैं।

भद्रबाहु के चरित विषयक भद्रबाहुचरित्र के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं—देवार्धिक्षमाश्रमण की स्थविरावली, भद्रेश्वर सूरी की कहावलि, तित्थोगालि प्रकीर्णक, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक पर हरिभद्रीया वृत्ति तथा हेमचन्द्रसूरी के त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित का परिशिष्टपर्वन्। उनमें उपलब्ध विविध कथाएँ ऐतिहासिक सत्य के अधिक समीप नही लगती। मेरुतुंगाचार्य की प्रबन्ध चिन्तामणि और राजेश्वर सूरि का प्रबन्ध कोष भी इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है।

प्रबन्धचिन्ता मणि[9] में एक किंवदन्ति का उल्लेख है कि भद्रबाहु वराहमिहिर के सहोदर थे। ब्राह्मण परिवार

9. प्रबन्धचिन्तामणि, स. मुनि जिनविजय, सिंघी जैन सीरिज प्रकाश 5, 5-118.

मे उत्पन्न ये दोनो भाई कुशल निमित्तवेत्ता थे। इन दोनो भाइयो मे भद्रबाहु ने जैन दीक्षा ले ली पर बराह मिहिर ने स्वधर्म परित्याग नही किया । बराहमिहिर के पुत्र के सन्दर्भ मे भद्रबाहु का निमित्तज्ञान बराहमिहिर की अपेक्षा प्रबल निकलफलत बराहमिहिर जैनो से द्वेष करने लगे। इस द्वेषभाव के परिणाम स्वरूप बराहमिहिर कालकवलित होने पर व्यन्तर जाति के देव हुए और जैनो पर घनघोर उपसर्ग करने लगे। इन उपसर्गों को दूर करने के लिए भद्रबाहु ने उपसग्गहरस्तोत्र लिखा । प्रबन्धकोष मे इससे भिन्न अन्य कथा का उल्लेख है । तदनुसार बराहमिहिर और भद्रबाहु दोनो ने जैन मुनिव्रत ग्रहण किए। इनमे भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वज्ञान के धारी थे । जिन्होने निर्युक्तियो तथा भद्रबाहुसहिता जैसे ग्रन्थो की रचना की। परन्तु स्वभाव से उद्धत होने के कारण आचार्य बराहमिहिर को जैन मुनि दीक्षा त्यागकर पुन ब्राह्मणव्रत धारण करना पडा। इसी के पश्चात् उन्होने वृहत्सहिता लिखी यहा यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्धकोष के पूर्ववर्ती अन्य किसी ग्रन्थ मे भद्रबाहु को भद्रबाहु सहिताकार अथवा बराहमिहिर का सहोदर नही बताया गया। प्रबन्धकोष[10] मे भी इसी से मिलती जुलती घटनाका उल्लेख मिलता है।

परम्परानुसार बराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु ने ही उपर्युक्त निर्युक्तियो की रचना की है । जिन ग्रन्थो मे श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र चित्रण मिलता है। उनमे द्वादशवर्षीय दुष्काल, नेपला, प्रयाण, महाप्राण ध्यान का आराधन, स्थूलभद्र की शिक्षा छेद सूत्रो की रचना आदि का वर्णन तो मिलता है परन्तु बराहमिहिर का भाई होना, निर्युक्तियो, उपसग्गहरस्तोत्र तथा भद्रबाहु सहिता आदि ग्रन्थों की रचना तथा नैमिनिक्ष होने का कतई उल्लेख नहीं। अन छेदसूत्रकार भद्रबाहु तथा नियक्तिकार भद्रबाहु दोनो का व्यक्तित्व निश्चित ही पृथक् पृथक् रहा होगा। बराहमिहिर ने अपनी पच सिद्धातिका शक सवत् 427 (ई. 505) मे समाप्त की थी। अत तृतीय भद्रबाहु का भी यही समय निश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न है, बराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु ने प्रस्तुत भद्रबाहु सहिता की रचना की या नही ? हमे ऐसा लगता है कि बराहमिहिर की वृहत्सहिता के समकक्ष मे कोई अन्य जैन सहिता रखने की दृष्टि से किसी दिगम्बर जैन लेखक ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को सर्वाधिक श्रेष्ठ एव उपयोगी आचार्य समझ और उन्ही के के नाम पर एक सहिता ग्रन्थ की रचना कर दी। वृहत्सहिता का विशाल सास्कृतिक कोष, विषद निरूपण उदात्त कवित्व शक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण और अगाध विद्वता आदि जैसी विशेषताएँ भद्रबाहु सहिता मे दिखाई नही देती। अतः यह निश्चित है कि भद्रबाहु सहिताकार ने ही वृहत्सहिता का आधार लिया होगा। "भद्रबाहुवचो यथा" आदि शब्दो से भी यही बात स्पष्ट होती है। भद्रबाहु सहिता मे छन्दोभग, व्याकरण दोष, पूर्वापर विरोध, वस्तु वर्णन शैथिल्य', क्रमबद्धता का अभाव, प्रभावहीन निरूपण इत्यादि अनेक अक्षम्य दोष भी उक्त कथन की पुष्टि करते हैं।

स्व. प जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. गोपाणी का अनुसरण करते हुए भद्रबाहु सहिता को इधर-उधर का बेढगा सग्रह मानते हैं जिसे 16-17 वीं शती मे सकलित किया गया था। यह ठीक नहीं क्योंकि 16-17 वी

---

10. प्रबन्धकोश—स. मुनि जिनविजय सिंघी जैन सीरिज. 1.2

11 भद्रबाहु सहिता, स.—ए एस. गोपाणी, पुष्पिका, पृ. 70

12. वही, प्राक्कथन, पृ. 3–4

शती तक का सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक कोई प्रमाण इसमे नही मिलता जिसके आधार पर मुख्तार साहब के मत को समर्थन दिया जा सके। मुनि जिनविजय ने यह समय 11-12वी शती निश्चित किया है। यह मत कहीं अधिक उपर्युक्त जान पडता है। वैसे ग्रन्थ के अन्त प्रमाणो के आधार पर इस समय को भी एक दो शताब्दी आगे किया जा सकता है।

कुछेक वर्षों पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ से डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित एव अनुवादित भद्रबाहु सहिता का प्रकाशन हुआ था। उसकी प्रस्तावना मे डॉ. शास्त्री ने एक स्थान पर भद्रबाहु को बराहमिहिर से प्रभावित बताया। दूसरे स्थान पर उन्होने लिखा कि कुछ विषयो का वर्णन बराहमिहिर से भी अधिक भद्रबाहु सहिता मे मिलता हैं और यही नवीनता प्राचीनता की पोषिका है। फलत भद्रबाहु बराहमिहिर के पूर्ववर्ती हो सकते हैं और अन्त मे डॉ शास्त्री ने इस कृति का समय 8-9 वी शती भी बता दिया। इन तीन मतो मे कौनसा मत उनका माना जाय, निश्चित नही किया जा सकता। लगता है, वे स्वय इस समय की परिधि को निश्चित नही कर पाये।

इस सन्दर्भ मे मेरा अपना मत है कि भद्रबाहु 11-12 वी शती के होना चाहिए, जो न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, न कुन्द कुन्द के साक्षात गुरु और न ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु। इनके अतिरिक्त अन्य कोई चतुर्थ भद्रबाहु ही होना चाहिए, क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु की भाषा प्राय. शुद्ध और समीचीन जान पडती है जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ इस दृष्टि से अस्पष्ट तथा व्याकरण दोषो से परिपूर्ण है।

भद्रबाहु संहिता की रचना 12-13 वी शती की है। इस मत के समर्थन मे निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं— .

(1) चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा वर्णसकर का उल्लेख भ० स० मे अनेक स्थानो पर विकसित अवस्था मे हुआ है। जैन सस्कृति मे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जिनसेन द्वारा की गई जिसका परिपोषक रूप सोमदेव के ग्रन्थो मे मिलता है।

(2) अरिष्टो के वर्णन के प्रसग मे दुर्गाचार्य और एलाचार्य का उल्लेख है। दुर्गाचार्य का ग्रन्थ रिष्टसमुच्चय का रचनाकाल 1032 ई है।

(3) चन्द्र, वरुण, रुद्र, इन्द्र, बलदेव, प्रद्युम्न, सूर्य. लक्ष्मी, भद्रकाली, इन्द्राणी धन्वन्तरि, परशुराम, रामचन्द्र' तुलसा, गरुड, भूत, अर्हन्त, वरुण, रुद्र, सूर्य शुक्र, द्रोण, इन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, विश्वकर्मा, प्रजापति, पार्वती, रति आदि की प्रतिमाओं का वर्णन इस ग्रन्थ मे है। इन सभी के रूप 12वी शती तक विकसित हो चुके थे।

(4) भद्रबाहु वचो यथा (ई० 64), यथावदनुपूर्वश (9 1) आदि जैसे वाक्यो का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भ. स. की रचना श्रुतकेवली भद्रबाहु ने तो नही की। उनके अनुसार अन्य किसी भद्रबाहु ने की हो अथवा उनके नाम पर किसी यद्वा तद्वा विद्वान ने।

(5) भौगोलिक और राजनीतिक वर्णन।

(6) वृहत्सहिता की अपेक्षा विषय वर्णन मे नवीनता।

इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु सहिता की रचना 11-12 वी शती से पूर्ववर्ती नहीं होना चाहिए। मूल ग्रन्थ प्राकृत मे रहा हो यह भी समीचीन नहीं जान पडता। बौद्ध साहित्य की श्रेणी में इसे नही रखा जा सकता क्योकि प्राकृत के रूप इतने अधिक भ० सं० मे नही मिलते। अतः इस ग्रन्थ

की उपरितम सीमा 12–13वी शती मानी जानी चाहिए ।

सघ भेद

प्राय हर तीर्थ कर अथवा महापुरुष के परिनिर्वृत अथवा देहावमान हो जाने के बाद उसके सघ अथवा अनुयायियो मे मतभेद पैदा हो जाते हैं । इम मतभेद के मूल कारण आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो के परिवर्तित रूप हुआ करते हैं । मतभेद की गोद मे विकास निहित होता है जिसे जागृति का प्रतीक कहा जा सकता है । पार्श्वनाथ और महावीर के सघ मे भी उनके निर्वाण मे बाद मतभेद उत्पन्न होना आरम्भ हो गया था । उम मतभेद के पीछे भी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के बदलते हुए रूप थे ।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद उनका सघ अन्तिम रूप मे दो भागो मे विभक्त हो गया— दिगम्बर और श्वेताम्बर । संघभेद के सदर्भ मे दोनों सम्प्रदायों मे अपनी अपनी परम्पराएँ हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णत अचेलत्वय को स्वीकार करता है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय सवस्त्र अवस्था को भी मान्यता प्रदान करता है । दोनो परम्पराओ का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि मतभेद का मूल कारण वस्त्र था ।

पालि साहित्य से पता चलता है कि निगण्ठ नातपुत्त के परिवर्तन के बाद ही सघभेद के बीज प्रारम्भ हो चुके थे । आनन्द ने बुद्ध को चुन्द का समाचार दिया था कि महावीर के निर्वाण के उपरान्त उनके अनुयायियो में परस्पर विषाद और कलह हो रहा है। ये एक दूसरे की बातों को गलत सिद्ध कर रहे हैं ।[13] बुध्द ने इसका कारण बताया कि निगण्ठो के तीर्थंकर निगण्टनातपुत्त न तो सर्वज्ञ हैं और न टीक तरह से उन्होने धर्मदेशना दी है ।[14] अटठ्कथा मे इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि निगण्ठनातपुत्त ने अपने अपने सिद्धाती की निरर्थकता को समझ कर अपने अनुयायियो से कहा था कि वे बुध्द के सिद्धातो को स्वीकार करलें । आगे वहां बताया गया है कि उन्होंने अन्तिम समय मे एक शिष्य को शाश्वतबाद की शिक्षा दी और दूसरो को उच्छेदवाद की । फलतः वे दोनो परस्पर सघर्ष करने लगे । सघभेद का मूल कारण यही है ।[15]

उक्त उध्दरण कहा तक सही है, कहा नहीं जा सकता पर यह अवश्य है कि शासन भेद निगण्ठनातपुत्त के परिनिर्वाण के बाद किसी न किसी अश मे प्रारम्भ हो गया था ।

इस शासनभेद को श्वेताम्बर परम्परा मे निन्हव कहा गया है । उनकी सख्या सात बताई गयी है । जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, विश्वमित्र, गग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल । निन्हव का तात्पर्य है–किसी विशेष दृष्टिकोण से आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करनेवाला । यह यहा दृष्टव्य है कि प्रत्येक निन्हव जैनागमिक परम्परा के किसी एक पक्ष को अस्वीकार करता है और शेष पक्षो को स्वीकार करता है अतः वह जैन धर्म के ही अन्तर्गत अपना एक पृथक मत स्थापित करता है । ये सातो निन्हव संक्षेपतः इस प्रकार हैं ।

1`. माज्झिमनिकाय भा. 2. पृ –243 (रो); दीघनिकाय भा. 3- ़. 117, 120 (रो.)

14 दीघनिकाय भा. 3, पृ 121

15. दीघनिकाय : अट्ठकथा भा–ა, पृ 996

१. प्रथम निन्हव–(जामालि); बहुरत सिद्धान्त :

जामालि भ० महावीर का शिष्य था। श्रावस्ती मे उसने अपने शिष्य से एक बार बिस्तर लगाने के लिये कहा। शिष्य ने कहा—बिस्तर लग गये। जामालि ने जाकर जब देखा कि अभी विस्तर लग रहा है तो उसे महावीर का कहा हुआ "कियमाण कृत", (किया जाने वाला कर दिया गया) वचन असत्य प्रतीत हुआ। तब उसने उस सिध्दात के स्थान पर बरहुत सिद्धात की स्थापना की जिसका तात्पर्य है कि कोई भी क्रिया एक समय मे न होकर अनेक समय मे होती है मृदानयन आदि से घट का प्रारम्भ होता है पर घट तो अन्त मे ही दिखाई देता है। यह ऋजु सूत्रनय का विषय है जिसे जामालि ने नही समझा।[16]

२. द्वितीय निन्हव–(तिष्यगुप्त); जीवप्रादेशिक सिद्धांत :

तिष्यगुप्त वसु का शिष्य था। एक समय ऋषभपुर में आत्म प्रवाद पर चर्चा चल रही थी। प्रश्न था—क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं। भगवान महावीर ने उत्तर दिया—नही।

सम्पूर्ण प्रदेश युक्त होने पर ही 'जीव' कहा जायगा तब तिष्यगुप्त ने कहा कि जिस प्रदेश के कारण वह जीव नही कहलायेगा। उसी चरम प्रदेश को जीव क्यो नही कहा जाता, यही उसका जीव प्रादेशिक मत है। एवभूतनय न समझने के कारण ही उसने यह मत स्थापित किया।[17]

३. तृतीय निन्हव–(आषाढ़ आचार्य); अव्यक्त मत

श्वेताविका नगरी मे आषाढ नामक एक आचार्य थे। वे अकस्मात मरकर देव हुए और पुन. मृत शरीर मे आकर उपदेश देने लगे। योग साधना समाप्त होने पर उन्होने अपने शिष्यो से कहा—"मैंने असयमी होते हुए भी आप लोगो से आज तक बन्दना कराई श्रमणो, मुझे क्षमा करना।" इतना कहकर वे चले गये तब शिष्य कहने लगे—कौन साधु बन्दनीय है, कौन नही, यह नही कहा जा सकता। अत किसी की भी वन्दना नही करनी चाहिए। व्यवहार नय को न समझने के कारण यह निन्हव पैदा हुआ।[18]

४. चतुर्थ निन्हव–(कौण्डिण्य); सामुच्छेदक :

कौण्डिण्य का शिष्य अश्वमित्र मिथला नगरी मे अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन कर रहा था। उसमे एक स्थान पर प्रसग आया कि वर्तमान कालीन नारक विच्छिन्न हो जायेंगे द्वितीयादि समय के नारक भी विच्छिन्न हो जायेगे। अतः उसके मन मे आया कि उत्पन्न होते ही जब जीव नष्ट हो जाता है तो कर्म का फल कब भोगता है। यह क्षणभवाद पर्यायनय को न मानने के कारण उत्पन्न हुआ। इसे समुच्छेदक नाम दिया गया हैं। इसका अर्थ है—जन्म होते ही अत्यन्त विनाश हो जाता है।[19]

५. पञ्चम निन्हव-द्विक्रिया (गंग)

धनगुप्त का शिष्य गग एक बार शरदऋतु मे उलुकातीर नामक नगर से आचार्य की वन्दना करने

---

16. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 2308–32.
17. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा–2333–2355.
18. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा–2356–2388.
19. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा,–2389–2433.

के लिए निकला मार्ग मे उसने गर्मी और ठण्ड दोनो का अनुभव एक साथ किया। तब उसने यह मत प्रतिपादित किया कि एक समय मे दो क्रियाओ का अनुभव हो सकता है। नदी में चलने पर ऊपर की सूर्य उष्णता और नदी की शीतलता, दोनो का अनुभव होता है। गग ने अपने द्विक्रिया मत की स्थापना करली। तथ्य यह यह है कि मन की सूक्ष्मता के कारण यह भान नही होता क्रिया का वेदन तो क्रमश ही होता है।

६. षष्ठ निन्हव-त्रैराशिक (रोहगुप्त)

एक बार अन्तरजिका नगरी मे रोहगुप्त अपने गुरू की बन्दना करने जा रहा था। मार्ग मे उसे अनेक प्रवादी मिले जिन्हें उसने पराजित किया। अपने वाद स्थापन काल मे उसने जीव और अजीव के साथ ही नोजीव की भी स्थापना की गृहकिकिलादि की उसने 'नोजीव' बतलाया। समाभिरुढ नय को न समझने के कारण उसने इस मत की स्थापना की इसे त्रैराशिक कहा गया है।

७. सप्तम निन्हव-अबध्द (गोष्ठामाहिल)

एक बार दशपुर नगर मे गोष्ठामाहिल कर्मप्रवाद पढ रहा था उसमे आया कि कर्म केवल जीव का स्पर्श करके अलग हो जाता हैं। इस पर उसने सिद्धान्त बनाया कि जीव और कर्म अबद्ध रहते हैं। उनका बन्ध ही नही होता व्यवहारनय को न समझने के कारण ही गोष्ठामाहिल ने यह मत प्रस्थापित किया।

८. अष्टम निन्हव-बोटिक- (शिवभूति)

रथवीरपुर नामक नगर मे शिवभूति नामक साधु रहता था। वहा के राजा ने एक बार एक बहुमूल्य रत्न कबल भेंट किया। शिवभूति के गुरू आर्यकृष्ण ने कहा कि साधु के मार्ग मे अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना उचित नही। पर शिवभूति को उस कम्बल मे आसक्ति उत्पन्न हो गई थी। यह समझकर आर्यकृष्ण ने शिवभूति की अनुपस्थिति मे उस के पादप्रोच्छनक बना दिये। यह देखकर शिवभूति को कषाय उत्पन्न हो गई। एक समय आर्यकृष्ण जिनकाल्पियो का वर्णन कर रहे थे और कह रहे थे कि उपयुक्त सहनन आदि के अभाव होने से उसका पालन सम्भव नही। शिवभूति ने कहा—"मेरे रहते हुए कैसे हो सकता है। यह कह कर अभिनिवेशवश निर्वस्त्र होकर यह मत स्थापित किया कि वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रह रूप है अत. त्याज्य है।

ये निन्हव किसी अभिनिवेश के कारण आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाले होते हैं। प्रथम निन्हव महावीर के जीवन काल मे ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष बाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद ही द्वितीय निन्हव हुआ। शेष निन्हव महावीर के के निर्वाण होने पर क्रमश. 214,220, 218, 544, 584, ओर 609 वर्ष बाद उत्पन्न हुए। सिद्धान्त भेद से प्रथम सात निन्हवो का उल्लेख मिलता है। पर जिनभद्र ने विशेष्यावश्यक भाष्य मे एक और निन्हव जोड कर उनकी सख्या 8 करदी। इसी अष्टम निन्हव को दिगम्बर कहा गया है। आश्चर्य की बात है, इन निन्हवो के विषय मे दिगम्बर साहित्य बिलकुल मौन है। प्रथम सात निन्हवो के कारण किसी सम्प्रदाय विशेष की उत्पत्ति नही हुई। ठाणाङ्ग सूत्र (587) मे केवल सात निन्हवो का उल्लेख हैं पर आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा-779–783) मे स्थान काल का उल्लेख करते समय आठ निन्हवो का और उपसहार करते समय मात्र सात निन्हवो का निर्देश किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ही सर्वप्रथम

---

20. एव एए कहिआ ओसप्पिणिए उ निष्हया सत्त ।
वीर वरस्स पवयणे ससाण पवयणे नत्थि ॥784॥

अष्टम निन्हव के रूप मे दिगम्बर मत की उत्पत्ति की कल्पना की हैं। उन्होने यह भी कहा है कि उपयुक्त सहननादि का अभाव होने से जिनकल्प का धारण करना अब शक्य नही। इससे यह स्पष्ट है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति अर्वाचीन नही, प्राचीनतर है। ऋषभदेव ने जिनकल्प की ही स्थापना की थी और वह अविच्छिन्नरूप से श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भी जम्बूस्वामी तक चला आया। बाद मे उसका विच्छेद हुआ। शिवभूति ने उसकी पुन स्थापना की। अत. जिनकल्प को निन्हव कैसे कहा जा सकता है! और फिर बोटिक का सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से कैसे लिया जाय, इसका स्पष्टीकरण श्वेताम्बर साहित्य में नही मिलता। सम्भव है, बोटिक नाम का कोई पृथक सम्प्रदाय ही रहा होगा जिसका अधिक समय तक अस्तित्व नही रह सका।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति

दिगम्बर साहित्य मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय मे जो कथानक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—

हरिषेण के बृहत्कथाकोश (शक संवत् 853) में यह उल्लेख मिलता है कि गोवर्धन के शिष्य श्रुत-केवली भद्रबाहु ने उज्जयिनी मे द्वादशवर्षीय दुष्काल को निकट भविष्य में जानकर मुनि विशाखाचार्य (चन्द्र-गुप्त मौर्य) के नेतृत्व मे मुनिसघ को दक्षिणापथवर्ती पुन्नार नगर भेज दिया और स्वय भाद्रपद देश मे जाकर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग दिया। इधर दुष्काल की समाप्ति हो जाने पर विशाखाचार्य ससघ वापस आ गये। सघ में से रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य सिन्धु देश की ओर चले गये थे। वहाँ दुर्भिक्ष पीडितो के कारण लोग रात्रि मे भोजन करते थे। फलत: मुनियो—निर्ग्रन्थो को भी रात्रि भोजन प्रारम्भ करना पडा। एक बार अधकार मे भिक्षा की खोज मे निकले निर्ग्रन्थ को देखकर भय से एक गर्भिणी का गर्भपात हो गया। इस घटना के मूल कारण को दूर करने के लिये श्रावको ने मुनियो को "अर्धफलक" (अर्धवस्त्र-खण्ड) धारण करने के लिये निवेदन किया। सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य ने तो मुनिव्रत धारण कर लिये पर जिन्हें वह अनुकूल नही लगा, उन्होने जिनकल्प के स्थान पर अर्धफलक सम्प्रदाय की स्थापना कर ली। उत्तरकाल मे इसी अर्धफलक सम्प्रदाय से काम्बल सम्प्रदाय, फिर यापनीय सघ और बाद मे श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति हुई।

देवसेन के 'दर्शनसार'[21] (वि स. 999) मे एतत् सम्बन्धी कथा इस प्रकार मिलती है—

विक्रमाधिपति की मृत्यु के 136 वर्ष बाद सौराष्ट देश के बलभीपुर मे श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति हुई। इस सघ की उत्पत्ति मे मूल कारण भद्रबाहुगणि के आचार्य शान्ति के शिष्य जिनचन्द्र नामक एक शिथि-लाचारी साधु था। उसने स्त्री-मोक्ष, कवलाहार, सवस्त्र मुक्ति, महावीर का गर्भ परिवर्तन आदि जैसे मत प्रस्थापित किये थे।

दर्शनसार मे व्यक्त ये मत नि सन्देह श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे सम्बद्ध हैं। उनके सस्थापक तो नही, प्रबल पोषक कोई जिनचन्द्र नामक आचार्य हुए होगे। पर चूंकि आचार्य शान्ति और उनके शिष्य जिनचन्द्र का अस्तित्व देवसेन के पूर्व नही मिलता अत ये जिनचन्द्र जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सप्तम शती) होना चाहिये। उन्होने विशेषावश्यक भाष्य मे उक्त मतो का भरपूर समर्थन किया है।

---

21. दर्शनसार–11–14.

एक अन्य देवसेन ने भावसग्रह मे भी श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति इसी प्रकार बतायी है। थोडा-सा जो भी अन्तर है, वह यह है कि यहाँ शान्ति नामक आचार्य सौराष्ट्र देशीय बलभी नगर अपने शिष्यों सहित पहुचे पर वहाँ भी दुष्काल का प्रकोप हो गया। फलत. साधु-वर्ग यथेच्छ भोजनदि करने लगा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर शान्ति आचार्य ने उनसे इस वृत्ति को छोडने के लिए कहा पर उसे उन्होने स्वीकार नही किया। तब आचार्य ने उन्हे बहुत समझाया। उनकी बात पर किसी शिष्य को क्रोध आया और उसने गुरू को अपने दीर्घ दण्ड से सिर पर प्रहार कर उन्हे स्वर्ग लोक पहूँचाया और स्वय सघ का नेता बन गया। उसी ने सवस्त्र मुक्ति का उपदेश दिया और श्वेताम्बर सघ की स्थापना की।[2]

भट्टारक रत्ननन्दि का एक भद्रबाहुचरित्र मिलता है, जिसमे उन्होने कुछ परिवर्तन के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है कि दुर्भिक्ष पडने पर भद्रबाहु ससघ दक्षिण गये। पर रामल्य, स्थूलाचार्य आदि मुनि उज्जयिनी मे ही रह गये। कालान्तर मे सघ में व्याप्त शिथिलाचार्य को छोडने के लिए जब स्थूलाचार्य ने मार डाला। उन शिथिलाचारी साधुओ से ही बाद में अर्ध फलक और श्वेताम्बर सघ की स्थापना हुई।

इन कथानको से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय से और स्थूलभद्र की परपरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुडी हुई है। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय अर्धफलक सघ का ही विकसित रूप है।

अर्धफलक सम्प्रदाय का यह रूप मथुरा ककाली टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अकित एक जैन साधु की प्रतिकृति मे दिखाई देता है। वहाँ एक साधु 'कण्ह' बायें हाथ से वस्त्रखण्ड के मध्य भाग को पकडकर नग्नता को छिपाने का यत्न कर रहा है। हरिभद्र के सम्बोधप्रकरण मे भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के इस पूर्व रूप पर प्रकाश पडता है। कुछ समय बाद उसी वस्त्र को कमर मे धागे से ब ध दिया जाने लगा। यह रूप मथुरा मे प्राप्त एक आयागपट्ट पर उट्टकित रूप से मिलता-जुलता है। इस विकास का समय प्रथम शब्तादि के आस पास माना जा सकता है।

ऊपर के कथानको से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बीच विभेदक रेखा खीचने का उत्तरदायित्व वस्त्र की अस्वीकृति और स्वीकृति पर है। उत्तराध्ययन मे केशी और गौतम के बीच हुए सवाद का उल्लेख है। केशी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी हैं और गौतम महावीर परम्परा के। पार्श्वनाथ ने सन्तरुत्तर (सान्तरोत्तर) का उपदेश दिया और महावीर ने अचेलकता का। इन दोनो शब्दो के अर्थ की ओर हमारा ध्यान श्री० प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा है कि उत्तराध्ययन की टीकाओ मे सान्त ोत्तर का अर्थ महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र (सान्तर-प्रमाण और वर्ग मे विशिष्ट, तथा उत्तर-प्रधान) किया गया है और उसी के अनुरूप अचेल का अर्थ वस्त्रभाव के स्थान में क्रमश. कुत्सितचेल, अल्पचेल, और अमूल्यचेल मिलता है। किन्तु आचारग सूत्र 209 मे आये 'सतरुत्तर' शब्द का अर्थ दृष्टव्य है। वहाँ कहा गया है कि तीन वस्त्रधारी साधु का कर्तव्य है कि वह जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाय जाय और ग्रीष्म ऋतु आ जाये और वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हो तो कही रख दे अथवा सान्तरोत्तर हो जाये। शीलाक ने सान्तरोत्तर का अर्थ किया है—सान्तर है उत्तर ओढना जिसका अर्थात्, जो आवश्यकता होने पर

2 भावसग्रह–गा. 53–70,

वस्त्र का उपयोग कर लेता, है अन्यथा उसे पास रखे रहता है।[23]

केशी और गौतम के सवाद[24] मे आये हुए सान्तरोत्तर का तात्पर्य भी यही है कि पार्श्वनाथ परम्परा के साधु अचेलक तो थे पर आवश्यकता पडने पर वे वस्त्र भी धारण कर लेते थे जबकि महावीर के धर्म मे साधु पूर्णतः अचेलक अवस्था में रहता था। साधु सचेलक वही हो सकता था जो अचेलक होने मे असमर्थ रहता था। पालि साहित्य में निग्गण्ठ साधुओ को जो 'एकसाटका' कहा गया है वह भी हमारे मत का पोषण करता है।[25]

पार्श्वनाथ परम्परा मे महावीर के समय तक उसमे चारित्रिक पतन हो गया था। इसलिए उस परम्परा के अनुयायी साधुओ को 'पासावज्जिय (पार्श्वापत्यीय) अथवा 'पासज्ज' (पार्श्वस्थ) कहा जाने लगा। पासज्ज का तात्पर्य है कर्म से बँधा हुआ साधु। यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया कि चरित्र से पतित साधु का वह पर्यायवाची बन गया।[26] सूत्रकृताग मे पार्श्वस्थ साधुओ को अनार्य, बाल, जिनशासन से विमुख एव स्त्रियो मे आसक्त कहा गया है।[27] भगवती आराधना (गाथा 1300) आदि में भी पार्श्वस्थ साधुओ का चरित्र चित्रण इसी प्रकार किया गया है।

इसका मूल कारण है कि पार्श्व परम्परा मे ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह व्रत में सम्मिलित कर दिया गया था।

'पञ्चाशक विवरण' मे कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के अनुयायी साधू स्वभावत कठिन और वक्रजड होते थे। इसलिए उन्हे अचेलावस्था का पालन करना आवश्यक बताया गया जबकि बीच के बाईस तीर्थ करो के अनुयायी साधु स्वभावतः सरल और बुद्धिमान थे, अत उन्हे आवश्यकता पडने पर सचेलावस्था को भी विहित बना दिया गया।[28]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी साधु को अपरिग्रही होना आवश्यक बताया गया है।[29] आचारगसूत्र एतदर्थ द्रष्टव्य है। उसमे अचेलक साधु की प्रशसा की गयी है और उसे वस्त्रादि से निश्चिन्त बताया गया है।[30] ठाणाग (सूत्र 171) मे वस्त्र धारण करने के तीन कारणो का उल्लेख मिलता है—लज्जा निवारण, ग्लानि निवारण और परिषह निवारण। आगे पाँच कारणो से अचेलावस्था की प्रशसा की गई है—प्रतिलेखना की अल्पता, लाघवता, विश्वस्तरूपता, तपशीलता और इन्द्रिय निग्रहता।[31] और भी अन्य आगमो मे अचेलावस्था को प्रशस्त माना गया है। मात्र असमर्थता होने पर ही वस्त्र ग्रहण करने की अनुज्ञा दी गई है।

---

23. जैन साहित्य का इतिहास' पूर्व पीठिका–397–98.
24. उत्तराध्ययन, 23-29-33.
25. तमिद भन्ते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजातिपञ्ञाता, निगण्ठा एकसाटका, अगुत्तरनिकाय 6-6 3
26. सूत्रकृताग–1-1-2-5 वृत्ति;
27. सूत्रकृताग–3-4-3 वृत्ति.
28. पञ्चाशक विवरण 17-8-10;
29. आचारग–5,150-152.
30. आचारगसूत्र–182
31 ठाणागसूत्र–5.

कालान्तर मे वस्त्रग्रहण की प्रवृत्ति बढती गई और उसी के साथ आगमो की टीकाओ और चूर्णियो आदि मे अचेलकता के अर्थ में परिवर्तन किया जाने लगा। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के काल तक स्थिति बिलकुल बदल गई। फलत उन्हें आचार के दो रूप करना पडे–जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्परूप अचेलकता का प्रतिपादक बना तथा स्थविरकल्प सचेलकता का। जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के बाद जिनकल्प को विच्छिन्न बना दिया गया। बृहत्कल्पसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य (गाथा 2598–2601) मे इसका विशेष विवेचन मिलता है। वहाँ अचेल के दो भेद कर दिये गये हैं—सताचेल और असताचेल। सताचेल (वस्त्र रहते हुए भी अचेल) जिनकल्पी आदि सभी प्रकार के साधु कहलाते हैं और असन्ताचेल के अन्तर्गत मात्र तीर्थंकर आते हैं।

उत्तरकाल में इस प्रकार के अर्थ करने की प्रवृत्ति और भी बढती गई। हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक सूत्र मे आये शब्द नग्न का अर्थ उपचरितनग्न और निरूपचरितनग्न किया है। कुचेलवान् साधु को उपचरितनग्न और जिनकल्पी साधु को निरूपचरित नग्न कहा गया है।[32] बाद में अचेल का अर्थ अल्पमूल्यचेल भी किया गया है। सिद्धसेनगणि ने भी दसकल्पों मे आये आचेलक्य कल्प का अर्थ यही किया गया है।[33] धीरे-धीरे साधु बस्तियो मे रहने लगे, कटिवस्त्र के स्थान पर चुलपट्ट का प्रयोग होने लगा और उपकरणो मे वृद्धि हो गई। लगभग आठवी शताब्दी तक श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह विकास हो चुका था।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिथिलाचार की पृष्ठभूमि मे सघभेद के बीज जम्बूस्वामी के बाद से ही प्रारम्भ हो गये थे जो भद्रबाहु के काल मे दुर्भिक्ष की समाप्ति पर कुछ अधिक उभरकर सामने आये। 'परिशिष्ट पर्वन' (9-55 76) तथा तित्थोगाली पइन्नय (गा० 730-33) के अनुसार भी पाटलिपुत्र मे हुई प्रथम वाचना काल मे सघभेद प्रारम्भ हो गया था। यह वाचना भद्रबाहु की अनुपस्थिति मे हुई थी। इसी के फलस्वरूप दोनो परम्पराओ की गुर्वावलियो मे भी अन्तर आ गया। यह स्वाभाविक भी था। उत्तरकाल मे इस अन्तर ने आचार-विचार क्षेत्र को भी प्रभावित किया और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के काल तक दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परायें सदैव के लिये एक-दूसरे से पृथक हो गई।

भद्रबाहु के समय तक बौद्धधर्म के मध्यममार्ग का प्रचार अपने पूरे जोर पर था। जैन सघ के आचार शैथिल्य मे वह विशेष कारण बना। विचारो में भी परिवर्तन हुआ जो विभिन्न वाचनाओ के बीच हुए सवादो से ज्ञात होती है। यहाँ वस्त्र और पात्र के रखने के तरह-तरह से विधान बने। महावीर भगवान के साथ देवदूष्य वस्त्र की कल्पना का सम्बन्ध भी ऐसे ही विधानो से रहा होगा। इतना ही नही, प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो का धर्म अचेलक कहा गया तथा शेष बाईस तीर्थंकरो को अचेलक और सचेलक दोनो माना गया।

आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य. पच्छिमस्स जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य॥ पचाशक

आचाराग सूत्र की टीका मे शीलांक ने अचेलक का जिनकल्प का और सचेलक को स्थविरकल्प का आधार बताया है। इस मत में दृढता लाने के लिये एषणा समिति मे वस्त्र और पात्र एषणा को सम्मिलित किया

32. दशवैकालिक सूत्र, गाथा–64 चूर्णि

33. तत्वार्थसूत्र–9-9, व्याख्या,

गया। पार्श्वनाथ की परम्परा को सचेल बताने के लिए केशी-गौतम सवाद को जोडा गया। स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवलिमुक्ति आदि सम्बन्धी वाक्य भी अन्तर्मुक्त कर दिये गये। जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने तो अन्तर्मुक्त के लोप की भी बात कर दी। (विशेषावश्यक अम्य, 2593 गा.) प. बेचरदास दोसी ने ऐसे ही कथनो या उल्लेखो की भर्त्सना की है। (जैन साहित्यमा विकार थलाथयेली, हति, पृ. 103) इसी प्रकार की प्रवृत्तियोने सघ और सम्प्रदाय को जन्म दिया।

दिगम्बर संघ और सम्प्रदाय

दिगम्बर परम्परा सघभेद के बाद अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे विभक्त हो गई। वीर निर्वाण से 683 वर्ष तक चली आयी लोहाचार्य तक की परम्परा मे गण, कुल, सघ आदि की स्थापना नही हुई थी। उसके बाद अग पूर्व के एकदेश के ज्ञाताचार आरातीय मुनि हुए। उनमे आचाय शिवगुप्त अथवा अर्हदवली से नवीन सघ और गणो की उत्पत्ति हुई। महावीर के निर्वाण के लगभग इन 700 वषो में आचार-विचार में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। समाज का आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाचा बदल चुका था। शिथिलाचार की प्रवृत्ति बढने लगी थी। इसी कारण नये-नये सघ और सम्प्रदाय खडे हो गये।

कदम्ब एव गगवशी लेखो से पता चलता है कि समूचे दिगम्बर सघ को निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ कहा जाता था। कालान्तर मे जब शिथिलाचार बढने लगा तो उसकी विशुद्धि के लिए नये-नये आन्दोलने प्रारम्भ हो गये। भट्टारक युगीन सघ तो इस शिथिलाचार का बहुत अधिक शिकार हुआ। फलस्वरूप विभिन्न सघ-सम्प्रदाय बन गये। इन सघ सम्प्रदायो में मतभेद का विशेष आधार आचार-प्रक्रिया थी। विचारो में भेद अधिक नही आ पाया। वनो मे निवास करने वाले मुनि नगर की ओर आने लगे, मन्दिरो और चैत्यो मे निवास करने लगे। लगभग 10 वी शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिक दृढ हो गई। विशुद्ध आचारवान् भिक्षुओ ने इसका विरोध किया और शिथिलाचारी साधुओ की भर्त्सना कर उन्हे जैनाभासी और मिथ्यात्वी जैसे सम्बोधनो से सम्बोधित किया। इन सभी कारणो से दिगम्बर सम्प्रदाय मे अनेक सघो की स्थापना हो गई। देवसेन ने दर्शनसार मे श्वेताम्बर, यापनीय, द्रविड, काष्ठा सघ और माथुर सघ को जैनाभास बताया है।

मूलसघ

शिथिलाचारी साधुओ के विरोध मे विशुद्धतावादी साधुओ ने जिस आन्दोलन को चलाया उसे मूल सघ कहा गया है। मूल सघ के स्थापको ने यह नाम देकर अपना सीधा सम्बन्ध महावीर से बताने का प्रयत्न किया और शेष सघ को अमूल्य बता दिया। इस सघ की उत्पत्ति का स्थान और समय अभी तक निश्चित नही हो पाया पर यह निश्चित है कि इस सघ का विशेष सम्बन्ध कुन्दकुन्द से रहा है। साधारणत कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है। कालान्तर मे मूल सघ जैसे ही काष्ठा, द्राविड आदि और सघ भी स्थापित हुए। इन सभी सघो पर निर्ग्रन्थ और यापनीय सघो का प्रभाव अधिक है।

मूलसघ का प्राचीनतम उल्लेख 'नोया मगल' के दानपत्र मे पाया जाता है, जिसका समय शक स 347 (वि. स 482) के आसपास है। आचार्य इन्द्रनन्दि (11 वी शताब्दी) ने मूलसघ का परिचय देते हुए लिखा है कि पुण्ड्रवर्धनपुर (बोगरा, बंगाल) के निवासी आचार्य अर्हद्बली (लगभग वि. स 275) पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन मे रहने मुनियो को एकत्र कर युगप्रतिक्रमण किया करते थे। एकबार इसी प्रकार प्रतिक्रमण के समय उन्होने मुनियो से पूछा—'क्या सभी मुनि आ चुके? मुनियो से उत्तर मिला—हाँ, सभी मुनि आ चुके। अर्हद्बली ने उत्तर पाकर यह सोचा कि समय बदल रहा है। अब

जैन धर्म का अस्तित्व गणपक्षपात के आधार पर ही रह सकेगा, उदासीन भाव से नहीं। तब उन्होंने सघ अथवा गण स्थापित किये। गुहाओ से आनेवाले मुनियो को 'नन्दि' और 'वीर' सज्ञा दी, अशोक वाटिका से आनेवालो को "देव" और "अपराजित" कहा, पञ्चस्तूप से आनेवाला को" सेन या 'भद्र' नाम दिया, शाल्मलिवृक्ष से आनेवालो को "गुणधर" या गुप्त बताया तथा खण्डकेशर वृक्षो से आनेवालो को सिंह और चन्द्र कहकर पुकारा।[34] इसी सदर्भ मे इन्द्रनन्दि ने कुछ मतभेदों का भी उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि इन्द्रनन्दि को भी सघभेद का स्पष्ट ज्ञान नही था। पर यह निश्चित है कि उस समय विशेषतः नन्दि। सेन देव और सिंह गण ही प्रचलित थे।[35] उन्होने गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय, और निपिच्छ को जैनाभास कहा है।

इनमें नन्दि सघ प्राचीनतम सघ प्रतीत होता है। इस सघ की एक प्राकृत पट्टावली भी मिली है। ये कठोर तपस्वी हुआ करते थे। यापनीय और द्राविड सघ मे भी नन्दिसघ मिलता है। लगभग 14-15 वीं शताब्दी में नन्दिसघ और मूलसघ एकार्थ वाची से हो गये। नन्दिसघ का नाम "नन्दि" नामान्तधारी मुनियो से हुआ जान पडता है।

सेनसघ का नाम भी सेनान्त आचार्यों से हुआ होगा। जिनसेन एक सघ के प्रधान नायक कहे जा सकते हैं। उनके पूर्व समव है उसे पञ्चस्तूपान्वय कहा जाता हो। जिनसेन ने अपने गुरू वीरसेन को इसी अन्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पहाडपुर (बगाल) के पाँचवी शताब्दी के शिलालेखो मे तथा हरिवश कथाकोष मे भी मिलता है। 'सेनगण' नाम भी उत्तरकालीन ही प्रतीत होता है। यह दक्षिण भारत के भट्टारको मे अधिक प्रचलित रहा है।

मूलसघ के अन्तर्गत जो शाखाएँ प्रशाखाएँ उपलब्ध होती हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं।[36]

1 **अन्वय** —कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तूरान्वय, चन्द्रकवायन्वय, चित्रकूटान्वय निगमान्वय आदि।

2 **बलि** – इनसोगे या पनसोगे इगुलेश्वर एव वाणद बलि आदि।

3. **गच्छ**—चित्रकूट, होत्तगे, तगरिक, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तित्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।

4. **सघ**—नावित्मूरसघ, मयुरसघ, किचूरसघ, कोशलनूर सघ, गनेश्वरसघ, गौडसघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसघ आदि।

5. **गण**—बलात्कार, सूरस्थ, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुलागवृक्ष मूलगण, पकुर, देवगण, सेनागण, सूरस्थगण, क्राणूरगण आदि।

ये गण दक्षिण भारत मे अधिक पाये जाते हैं, उत्तर भारत मे कम। उनमे प्रधानत उल्लेखनीय हैं—कोण्डकुन्दान्वय, सरस्वतीपुस्तक गच्छ, सूरस्थगण, क्राणूरगण एव बलात्कारगण।

---

34 श्रुतावतार, 96.

35. नीतिसार, 6-8,

36. चौधरी गुलाबचन्द्र–दिगम्बर जैन सघ के अतीत की झाकी, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ 295

कोण्डकुन्दान्वय का ही रूपान्तर कुन्दकुन्दान्वय है, जिसका सम्बन्ध स्पष्टत. आचार्य कुन्दकुन्द से है। यह अन्वय देशीगण के अन्तर्गत गिना जाता है। इसका (देशीगण) उद्‌भव लगभग 9वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे देश नामक ग्राम (पश्चिमघाट के उच्चभूमिभाग और गोदा वरी के बीच) मे हुआ था। कर्नाटक प्रान्त मे इस गण का विशेष विकास 10-11 वी शताब्दी तक हो गया था।

मूलसघ के अन्य प्रसिद्ध गणो मे सूरस्थगण, क्राणूर गण और बलात्कारगण विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरस्थ गण सौराष्ट्र धारवाड और बीजापुर जिले मे लगभग 13 वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रहा है। क्राणूरगण का अस्तित्व 14 वी शती तक उपलब्ध होता है। इसकी तीन शाखाएं थी। तन्मिणी गच्छ, मेषपाषण गच्छ और पुस्तक गच्छ। बलात्कारगण के प्रभाव से ये शाखाएँ हतप्रभ हो गई थी। इनके अनुयायी भट्टारक पद्‌मनन्दि को अपना प्रधान आचार्य मानते रहे है। पद्‌मनन्दी स्वभावत, आचार्य कुन्दकुन्द का द्वितीय नाम था। बलात्कारगण का उद्‌भव बलगार ग्राम मे हुआ था। यह कहा जाता है कि बलात्कारगण के उद्‌भावक पद्‌मनन्दि ने गिरनार पर पाषण से निर्मित सरस्वती को वाचाल कर दिया। इसलिए बलात्कारगण के अन्तर्गत ही एक सारस्वत गच्छ का उदय हुआ। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शक स. 993-994 के शिलालेख मे मिलता है। कर्नाटक प्रान्त मे इस गण का विकास अधिक हुआ है पर इसकी शाखाऐ कारजा, मलयखेड, लातूर, देहली, अजमेर, जयपुर, सूरत, ईडर, नागौर, सोनागिर आदि स्थानों पर भी स्थापित हुई हैं। भट्टारक पद्‌मनन्दी और सकलकीर्ति आदि जैसे कुशल साहित्यकार इसी बलात्कारगण मे हुए हैं। राजस्थान मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र मे इस बलात्कारगण का कार्यक्षेत्र अधिक रहा है। एक अन्य शाखा सेनगण की परम्पराऐ कोल्हापुर, जिनकाँची (मद्रास), पेनुगोण्ड (आन्ध्र) और कारजा (विदर्भ) मे उपलब्ध होती हैं।

मूलसघ के आचार्यो ने इतर सघो को जैनाभास कहा है। ऐसे सघो मे उन्होने द्राविड काष्ठा एव यापनीय की गणना की है। जैनाभास बताने का मूल कारण यह था कि उनमे शिथिलाचार की प्रवृत्ति अधिक आ चुकी थी। वे मन्दिर आदि का निर्माण कराते थे और तन्निमित्त दान स्वीकार करते थे। पर यह ठीक नही। क्योंकि आशाधर जैसे विद्वान इसी तथाकथित जैनाभाष सघो मे से थे, जिन्होने शिथिलाचार की कठोर निन्दा की है।

द्राविड़ संघ

द्राविड सघ का सम्बन्ध स्पष्टत तमिल प्रदेश से रहा है। ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी में वहाँ जैन धर्म पहुँच चुका था। सिंहल द्वीप मे जो जैनधर्म पहुँचा वह तमिल प्रदेश होकर ही गया। आचार्य देवसेन ने इस सघ की उत्पत्ति के विषय मे लिखा है कि बज्रनन्दि ने वि स 526 मे मथुरा मे इस सघ की स्थापना की थी। इस सघ की दृष्टि मे वाणिज्य व्यवसाय से जीविकार्जन करना और शीतल जल से स्नानादि करना विहित माना गया है। तमिल प्रदेश मे शैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। सप्तम शताब्दी में उसके साथ अनेक सघर्ष भी हुए। इस सघ को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इसके यक्ष याक्षिणियो की पूजा-प्रतिष्ठा आदि को भी स्वीकार कर लिया गया। पद्‌मावती की मान्यता यही से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।

होयसल नरेशों के लेखो से पता चलता है कि वे इस सघ के सरक्षक रहे हैं। उन्ही के लेख इस सघ के विषय मे सामग्री से भरे हुए हैं। द्राविड़ सघ के साथ ही इस सघ मे कोण्डकुन्दान्वय, नन्दिसघ, पुस्तकगच्छ और अरुंगलान्वय को भी जोड दिया गया है। संभव है अपने सघ को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से यह कदम उठाया गया हो मैसूर प्रदेश इसके प्रचार प्रसार का केन्द्र रहा है।

द्राविड संघ मे अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनमें वादिराज और मल्लिषेण विशेष उल्लेखनीय है। उनके ग्रन्थो मे मंत्र तंत्र के प्रयोग अधिक मिलते है। भट्टारक प्रथा का प्रचलन विशेषत द्राविड संघ से ही हुआ होगा।

काष्ठ संघ

काष्ठासंघ की उत्पत्ति मथुरा के समीपवर्ती काष्ठा ग्राम मे हुई थी। दर्शनसार के अनुसार वि. स 753 मे इसकी स्थापना विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा की गई थी। तदनानुसार मयूर पिक्ष के स्थान पर गोपिच्छ रखने की अनुमति दी गई वि स 853 मे रामसेन ने माथुर संघ की स्थापना कर गोपिच्छ रखने को भी अनावश्यक बताया है। बुलाकीचन्द के वचन कोश (वि स. 1737) मे काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमा स्वामी के शिष्य लोहाचार्य द्वारा निर्दिष्ट है।

काष्ठा संघ का प्राचीनतम उल्लेख श्रवण बेलगोला के वि स 1119 के लेख मे मिलता है। सुरेन्द्र कीर्ति (वि स. 1747) द्वारा लिखित पट्टावली के अनुसार लगभग 14 वी शताब्दी तक इस संघ के प्रमुख चार अवान्तर भेद हो गये थे—माथुरगच्छ, वागडगच्छ, लाट-वागडगच्छ एव नन्दितगच्छ। बारहवी शती तक के शिलालेखों मे ये नन्दितगच्छ को छोडकर शेष तीनो गच्छ स्वतन्त्र संघ के रूप मे उल्लिखित हैं। उनका उदय क्रमश मथुरा, बागड (पूर्व गुजरात) और लाट दक्षिण गुजरात) देश मे हुआ था। चतुर्थ गच्छ नन्दितट की उत्पत्ति नान्देड (महाराष्ट्र) मे हुई दर्शनसार के अनुसार नान्देड महाराष्ट्र ही काष्ठा संघ का उद्भव स्थान है। संभव है इस समय तक उक्त चारो गच्छो को एकीकरण कर काष्ठासंघ नाम दे दिया गया हो इस संघ मे जयसेन, महासेन आदि जैसे अनेक प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं। अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि उप जातिया इसी संघ के अन्तरगत निर्मित हुई हैं।

यापनीय संघ

दर्शनसार के अनुसार इस संघ की उत्पत्ति वि स 205 मे श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने की थी। संघभेद होने के बाद शायद यह प्रथम संघ था जिसने श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनो की मान्यताओ को एकाकार कर दोनो को मिलाने प्रयत्न किया था। इस संघ के आचार के अनुसार साधु नग्न रहता, मयुर-पिच्छ धारण करता, पाणितलभोजी होता और नग्न मूर्ति की पूजन करता था।[37] पर विचार की दृष्टि से वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समीप थे। तदनुसार वे स्त्रीमुक्ति, केवलीकवलाहार और सवस्त्रमुक्ति मानते थे उनमे आवश्यक छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैका-लिक आदि श्वेताम्बरीय ग्रन्थो का भी अध्ययन होता था।[38]

आचार विचार का यह संयोग यापनीय संघ की लोकप्रियता का कारण बना। इसलिए इसे राज्य सर-क्षण भी पर्याप्त मिला। कदम्ब, चालुक्य, गग राष्ट्रकूट, रट्ठ आदि वशो के राजाओ ने यापनीय संघ को प्रभूत दानादि देकर उसका विकास किया था। इस संघ का अस्तित्व लगभग 15 वी शताब्दी तक रहा है, यह शिलालेखो से प्रमाणित होता है। ये शिलालेख विशेषत कर्नाटक प्रदेश मेमिलते हैं। यही इसका प्रधान केन्द्र रहा होगा। बेलगाव, बीजापुर, धारवाड़ कोल्हापुर आदि स्थानो पर भी यापनीय संघ का प्रभाव देखा जाता है।

---

37. षड्दर्शन समुच्चय, षट्प्राभृतटीका, पृ. 7 छ.
38. अमोघ वृत्ति 1-2-201-4.

यापनीय सघ भी कालान्तर मे अनेक शाखा प्रशाखाओ मे विभक्त हो गया। उसकी सर्वप्रथम शाखा 'नन्दिगण, नाम से प्रसिद्ध है। कुछ अन्य गणो का भी उल्लेख शिलालेखो मे मिलाता है जैसे—कनकोपलसम्भूतवृक्षमूल गण, श्रीमूलगण, पुन्नागवृक्षमूलगण कौमुदीगण मडुवगण, वान्दियूरगण, कण्डूरगण, वलहारीगण आदि ये नाम प्राय वृक्षो के नामो पर रखे गये हैं। सम्भव है इस सघ ने उन वृक्षो को किसी कारणवश महत्व दिया हो। लगता है, बाद मे यापनीय सघ मूलसघ से सम्बद्ध हो गया होगा। लगभग 11 वी शताब्दी तक नन्दिसघ का उल्लेख द्रविडसघ के अतर्गत होता रहा और 12 वी शताब्दी से वह मूलसघ के अतर्भूत होता हुआ दिखता हैं।

याप्नीय सघ के आचार्य साहित्य सर्जना मे भी अग्रणी थे। पाल्यकीर्ति का शकटायन व्याकरण, अपराजित की मूलाराधना पर विजयोदया टीका और शिवार्य की भगवती आराधना का विशेष उल्लेख यहाँ किया जा समता है।

भट्टारक सम्प्रदाय

उक्त सघो की आचार विचार परम्परा की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट आभास होता है कि जैन सघ मे समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। यह सघ मूलत निष्परिग्रही और वनवासी था, पर लगभग चौथी पाँचवी शताब्दी मे कुछ साधु चैत्यो में भी आवास करने लगे। यह प्रवृत्ति श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनो परम्पराओ मे लगभग एक साथ पनपी। इस तरह यहाँ साधु सम्प्रदाय दो भागो मे विभक्त हो गया वनवासी और चैत्यवनी पर ये दोनो शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे अधिक प्रचलित हुए दिगम्बर सम्प्रदाय मे उनका स्थान क्रमश. मूलसघ और द्राविड सघ ने ले लिया। बाद मे तो मूलसघी भी चैत्यवासी बनते दिखाई देने लगे। आचार्य गुणभद्र (नवी शताब्दी) के समय साधुओ की प्रवृत्ति नगरवास की ओर अधिक झुकने लगी थी। इसका उन्होंने तीव्र विरोध भी किया।[39]

मध्ययुग तक आते-आते जैनधर्म की आचार व्यवस्था में काफी परिवर्तन आ गया। साधु समाज मे परिग्रह और उपभोग के साधनो की ओर खिचाव अधिक दिखाई देने लगा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गई थी। पर दिगम्बर सम्प्रदाय भी अब वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारम्भ वसन्तकीर्ति (13 वी शताब्दी) द्वारा मण्डपदुर्ग (माडलगढ, राजस्थान) मे किया गया।[40] भट्टारक प्रथा भी लगभग यही स प्रारम्भ हो गई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे दिगम्बर भट्टारक नग्नमुद्रा को पूज्य मानते थे और यथावसर उसे धारण करते थे। स्नान को भी वे वर्जित नही मानते थे। पिच्छी के प्रकार और उपयोग मे भी अन्तर आया धीरे-धीरे ये साधु-मठाधीश होने लगे और अपनी पीठ स्थापित करने लगे। उस पीठ की प्रचुर सम्पदा के भी वे उत्तराधिकारी होने लगे। इसके बावजूद उनमें निर्वस्त्र रहने अथवा जीवन के अन्तिम समय नग्न मुद्रा धारण करने की प्रथा थी। प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक कुमुदचन्द्र पालकी पर बैठते थे, छत्र लगाते थे और नग्न रहते थे।[41]

लगभग बारहवी शती तक आते-आते भट्टारक समुदाय का आचार मूलाचार से बहुत भिन्न हो गया।

---

39. आत्मानुशासन, 197.

40 भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड पृ. 37.

41. जैन निबन्ध रत्नावली 405

आशाधर ने उनके आचार को म्लेच्छों के आचार के समान बताया है।[42] सोमदेव ने भी यशस्तिलक चम्पू मे इसका उल्लेख किया है।[43] श्वेताम्बर चैत्यवासियो मे भी इसी प्रकार का कुत्सित आचरण घर कर गया था, जिसका उल्लेख हरिभद्र ने सबोध प्रकरण मे किया है। उन्होने लिखा है कि ये कुसाधु चैत्यो और मठो मे रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन मन्दिर और शालाएँ चिनवाते है, रग-बिरगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं, बिना नाथ के बैलो के सदृश स्त्रियो के आगे गाते हैं, आर्यिकाओ द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं और तरह तरह के उपकरण रखते हैं। जल, फल, फूल आदि सचित्त द्रव्यो का उपभोग करते हैं. दो तीन बार भोजन करते और ताम्बूल लवगादि भी खाते हैं।

ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते है। ज्योनारो मे मिष्ठाहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते है और पूछने पर भी सत्य धर्म नही बतलाते।

स्वय भ्रष्ट होते हुए भी दूसरो से आलोचना प्रतिक्रमण कराते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, श्रृगार करते और इत्र फुलेल का उपयोग करते हैं। अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाहभूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियो के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणो के गीत गाती हैं।

सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने विकथायें किया करते हैं। चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चो को खरीदते, भोले लोगो को ठगाते और जिन प्रतिमाओ को भी बेचते खरीदते हैं। उच्चाटन करते और वैद्यक यन्त्र, मन्त्र, गण्डा, ताबीज आदि मे कुशल होते हैं।

ये श्रावको को सुविहित साधुओ के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं, और चेलो के लिए एक दूसरे से लड मरते हैं।

जो लोग इन भ्रष्टचारियों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र ने कहा है, "कुछ अज्ञानी कहते है कि यह तीर्थंकरो का वेष है इसे भी नमस्कार करना चाहिए। अहो! धिक्कार हो इन्हे। मैं अपने शिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूँ"।[44]

दिगम्बर साधुओ में भी लगभग इसी प्रकार का आचरण प्रचलित हो गया था। महेन्द्रसूरि की शतपदी (वि स. 1263) इसका प्रमाण है। तदनुसार दिगम्बर मुनि नग्नत्व के प्रावरण के लिए योगपट्ट (रेशमी वस्त्र) आदि धारण करते थे। उत्तर काल मे उसका स्थान वस्त्र ने ले लिया। श्रुतसागर की तत्त्वार्थसूत्र टीका मे यह भी लिखा है कि शीतकाल मे ये दिगम्बर मुनि कम्बल आदि भी ग्रहण कर लेते थे और शीतकाल के व्यतीत होने के उपरान्त वे उन्हें छोड देते थे। धीरे-धीरे ऋतु काल का भी बन्धनत्व दूर हो गया और साधु यथेच्छ वस्त्र धारण करने लगे। साथ ही गद्दे, तकिये, पालकी छत्र, चवर, मठ, सम्पत्ति आदि विलासी सामग्री का भी परिग्रह बढने लगा। ऐसे साधुओं को भट्टारक अथवा चैत्यवासी कहा गया है।

उक्त तथ्यो से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन जैन सघ मे यह शिथिलाचार सुरसा की भाँति बढ़ता चला जा रहा था। विशुद्धतावादी आचार्यों ने उसकी घनघोर

---

42. अनागार धर्मामृत, 2,96.
43. जैन साहित्य और इतिहास–पृ 489
44. सबोध प्रकरण, 76· जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 480–81.

निन्दा की फिर भी उसका विशेष प्रभाव नही पडा। दूसरा मूल कारण था कि समाज का मानसिक परिवर्तन बडी तीव्रता से होता चला जा रहा था। भट्टारको का मुख्य कार्य मूर्तियो की प्रतिष्ठा, मन्दिरो का निर्माण और उनकी व्यवस्था, यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक प्रतिपादन तथा यक्ष-यक्षणियो और देवी-देवताओ का भजन-पूजन हो गया। साधारण समाज मे ये कार्य बडे लोकप्रिय हो गये थे। अत उपासको मे भट्टारक समाज के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गई थी। भट्टारकों के कारण मूर्ति और स्थापत्य कला को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला। जैन ग्रन्थभण्डार स्थापित किये गये, साहित्य सृजन और सरक्षण की ओर अभिरुचि जाग्रत हुई तथा जैनधर्म का प्रभावना-क्षेत्र बढ गया। जैन सघ और सम्प्रदाय को भट्टारक सम्प्रदाय की यह देन अविस्मरणीय है।

तेरहपन्थ और बीसपन्थ

भट्टारक सम्प्रदाय का उक्त आचार-विचार जैन धर्म के कुशल ज्ञाताओ के बीच आलोचना का विषय बना रहा। कहा जाता है कि उसके विरोध मे पण्डित प्रवर बनारसी दास ने सत्रहवीं शताब्दी मे आगरा मे एक आन्दोलन चलाया। इसी आन्दोलन का नाम तेरह पन्थ रखा गया। इसके नाम के विषय मे कोई निर्विवाद सिद्धान्त नही है। इस तेरहपन्थ की दृष्टि मे भट्टारको का आचार सम्यक नही। वह तो महावीर के द्वारा निर्दिष्ट मूलाचार को ही मूल सिद्धान्त स्वीकार करता है। यह पन्थ समाज मे काफी लोकप्रिय हो गया। दूसरी ओर भट्टारको अथवा चैत्यवासियो के अनुयायी अपने आप को बीसपन्थी कहने लगे। इस पन्थ के अनुयायी प्रतिमाओं पर केसर लगाते तथा पुष्पमालायें और हरे फल आदि चढाते हैं। तेरहपन्थ के अनुयायी इसके विरोधक है।

तारणपन्थ

पन्द्रहवी शताब्दी तक मुस्लिम आक्रमणो ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्यकला को गहरा आघात पहुंचा दिया था। उन्होने इन सभी सांस्कृतिक धरोहरो को अधिकाधिक परिमाण मे नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। ये अचेतन मूर्तियां इस कार्य का कोई विरोध नहीं कर सकी। प्रत्युत उन्होने आपत्तियो को निमन्त्रित किया। फलस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के ही व्यक्ति के मन मे यह बात जम गई कि मूर्ति पूजा अनावश्यक है और उसने अपना नया पन्थ प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर मे इस पन्थ के संस्थापक तारणतरण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् 1515 मे उनका स्वर्गवास मल्हारगढ (ग्वालियर) मे हुआ। यही स्थान आज नसिया जी कहलाता है, जो आज एक तीर्थ स्थान बन गया है। इस पन्थ का विशेष प्रचार मध्यप्रदेश मे हुआ। इसके अनुयायी मूर्ति के स्थान पर शास्त्र की पूजा करते हैं। ये दिगम्बर सम्प्रदाय मे मान्य सभी ग्रन्थो को स्वीकार करते हैं। तारणतरण स्वामी ने तारणतरण श्रावकाचार, पण्डितपूजा, मालारोहण, कमलबत्तीसी, उपदेशशुद्धसार, ज्ञानसमुच्चयसार, अमल पाहुड, चौबीसठाण, त्रिभङ्गीसार आदि 14 छोटे-मोटे ग्रन्थो की रचना की हैं उनमे श्रावकाचार प्रमुख हैं।

श्वेताम्बर संघ और सम्प्रदाय

जैसा हम पहले कह चुके हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति एक विकास का परिणाम है। कुछ समय तक श्वेताम्बर साधु वस्त्र को अपवाद के रूप में ही कटिवस्त्र धारण किया करते थे। पर बाद मे लगभग आठवी शती मे उन्होने उन्हे पूर्णत स्वीकार कर लिया। साधारणत उनके पास ये चौदह उपकरण होते हैं—पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रप्रमार्जनिका, पटल, रजस्माण; गुच्छक, दो चादर, कम्बल (ऊनी वस्त्र), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक और चोलक। महावीर निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष बाद देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने ग्रन्थों का सकलन श्रुति परम्परा के आधार पर किया जिन्हे

दिगम्बरो ने स्वीकार नही किया। इसका मूल कारण था कि वहाँ कतिपय प्रकरणो को काट-छाँट और तोड-मरोडकर उपस्थित किया गया था। श्वेताम्बर सघ मे निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए।

चैत्यवासी

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे वनवासी साधुओ के विपरीत लगभग चतुर्थ शताब्दी में एक चैत्यवासी साधु सम्प्रदाय खड़ा हो गया, जिसने वनो को छोडकर चैत्यो (मन्दिरो) में निवास करना और ग्रन्थ सग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य रखना विहित माना। इसी के पोषण मे उन्होने निगम नामक शास्त्रो की रचना भी की। हरिभद्रसुरि ने इन चैत्यवासियो की ही निन्दा अपने सबोध प्रकरण मे की है। चैत्यवासियों ने 45 आगमो को प्रमाणिक स्वीकार किया है।

वि. स. 802 मे अणहिलपुर पट्टाण के राजा चावडा ने अपने चैत्यवासी गुरू शीलगुणसुरि की आज्ञा से यह निर्देश दिया कि इस नगर मे वनवासी साधुओ का प्रवेश नही हो सकेगा। इससे पता चलता है कि लगभग आठवी शताब्दी तक चैत्यवासी सम्प्रदाय का प्रभाव काफी बढ गया था। बाद मे वि स. 1070 मे दुर्लभदेव की सभा में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागर सूरि ने चैत्यवासी साधुओ से शास्त्रार्थ करके उक्त निर्देश को वापिस कराया। इसी उपलक्ष्य मे राजा दुर्लभदेव ने वनवासियो को खरतर नाम दिया। इसी नाम पर खरतरगच्छ की स्थापना हुई।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालान्तर मे विविध गच्छो मे विभक्त हो गया। उन गच्छो मे प्रमुख गच्छ इस प्रकार हैं[45] :–

१. **उपदेशगच्छ**—पार्श्वनाथ का अनुयायी केशी इमका सस्थापक कहा जाता है।

2. **खरतरगच्छ**—जैसा उपर कहा जा चुका है, खरतरगच्छ की स्थापना में दुर्लभदेव का विशेष हाथ रहा है। उनके अतिरिक्त वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियो के साथ शास्त्रार्थ किया था।

३ **तपागच्छ**— वि. स. 1285 में जगच्चन्द्रसूरि की कठोर साधना को देखकर मेवाड के राजा ने उन्हें 'तपा' अभिधान दिया। तभी से उनका सघ तपागच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा। कालान्तर में उन्ही के अन्यतम शिष्य विजयचन्द्रसूरि ने शिथिलाचार को प्रोत्साहन दिया। उन्होने यह स्थापित किया कि साधु अनेक वस्त्र रख सकता है, उन्हें धो सकता है. घी, दूध शाक्, फल आदि खा सकता है, साध्वी द्वारा अर्जित भोजन ग्रहण कर सकता है।

४. **पार्श्वनाथगच्छ** – वि. स. 1515 मे तपागच्छ से पृथक् होकर आचार्य पार्श्वचन्द्र से इस गच्छ की स्थापना की। वे नियुक्ति, भाष्य, चुर्णि, और छेद ग्रन्थो को प्रमाण कोटि मे नही रखते थे।

५. **सार्ध पौर्णमीयकगच्छ**—आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने प्रचलित क्रियाकाण्ड का विरोधकर पौर्णमीयक गच्छ की स्थापना की। वे महानिशीथ सूत्र को प्रमाण नही मानते थे। कुमारपाल के विरोध के कारण इस गच्छ का कोई विशेष विकास नही हो पाया। कालान्तर में सुमतिसिंह ने इस गच्छ का उद्धार किया। इसलिए इसे सार्ध पौर्णमीयकगच्छ कहा जाने लगा।

6 **अचलगच्छ**—उपाध्याय विजयसिह (आर्यरक्षितसूरि) ने मुखपट्टी के स्थान पर अचल (वस्त्र का छोर) के उपयोग करने की घोषणा की। इसीलिए अचलगच्छ कहा जाता हैं।

---

45. विस्तार से देखें–जैन धर्म—कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 290-2.

७. आगमिकगच्छ—इस गच्छ के सस्थापक शील-गुण और देवभद्र पहले पौर्णमेयक थे, बाद मे आचलिक हुए और फिर आगमिक हो गये। वे क्षेत्रपाल की पूजा को अनुचित बताते थे। सोलहवी शती मे इसी गच्छ की एक शाखा 'कटुक' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा के अनुयायी केवल श्रावक ही थे।

इन गच्छो की स्थापना छोटे-मोटे कारणो से हुई है। प्रत्येक गच्छ की साधु-चर्या पृथक्-पृथक् है। इन गच्छों मे आजकल खरतरगच्छ, तपागच्छ और आच-लिकगच्छ ही अस्तित्व में हैं।

स्थानकवासी

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदाय के विरोध मे हुई। पन्द्रहवी शताब्दी मे अहमदाबादवासी मुनि ज्ञानश्री के शिष्य लोकाशाह ने आगमिक ग्रन्थो के आधार पर यह प्रस्थापित किया कि मूर्ति पूजा और आचार-विचार जो आज के समाज मे प्रचलित है वह आगम विहित नही हैं। इसे लोकागच्छ नाम दिया गया।

उत्तरकाल मे सूरतवासी एक साधु ने लोकागच्छ की आचार परम्परा में कुछ सुधार किया और ढूढिया सम्प्रदाय की स्थापना की। लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। इसके अनुसार अपना धार्मिक क्रियाकर्म मन्दिरो मे न कर स्थानको अथवा उपाश्रयों मे करते हैं। इसलिए इस सम्प्रदाय को स्थानकवासी सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इसे साधुमार्गी भी कहते हैं। यह सम्प्रदाय तीर्थयात्रा मे भी विशेष श्रद्धा नही रखता। इसके साधु श्वेतवस्त्र पहनते और मुखपट्टी बांधते हैं। अठारहवी शती में सत्यविजय पयास ने साधुओ को श्वेतवस्त्र के स्थान पर पीत वस्त्र पहिनने का विधान किया, पर आज यह आचार में दिखाई नही देता। भट्टारक प्रथा भी इसी समय प्रारम्भ हुई।

तेरापन्थ

स्थानकवासी सम्प्रदाय मे आचार-विचार की शिथिलता बढ रही थी। श्रावको मे उसकी प्रतिक्रिया के दर्शन हो रहे थे। उनका मानस भिक्षुओ के प्रति श्रद्धा से विदूर हो रहा था। यह सब देखकर स्थानकवासी सम्प्रदाय मे दीक्षित आचार्य भिक्षु (जन्म वि स. 1783, कन्टालिया--जोधपुर) ने वि. सं. 1817 चैत्र-शुक्ला 9 के दिन अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना का सूत्रपात किया। लगभग तीन माह बाद उन्होने तेरापन्थ की दीक्षा स्वीकार की। इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु थे और तेरह श्रावक। इसी सख्या पर इस सम्प्रदाय का नाम "तेरापन्थ" रख दिया गया। 'तेरा' शब्द से यह भी आशय निक-लता है कि हे भगवान! यह तुम्हारा ही मार्ग है जिस पर हम चल रहे हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के समान तेरापन्थ भी बत्तीस आगमों को प्रामाणिक मानता है। तदनुसार प्रमुख मान्यतायें इस प्रकार हैं—

(1) षष्ठ या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती सुपात्र सयमी को यथाविधि प्रदत दान ही पुण्य का मार्ग हैं।

(2) जो आत्मशुद्धिपोषक दया है वह परमार्थिक है और जिसमें साध्य और साधन शुद्धि नही है, वह मात्र लौकिक है।

(3) मिथ्यादृष्टि के दान, शील, तप आदि अन-वद्य अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के ही हेतु हैं और निर्जरा धर्म के अन्तर्गत हैं।

इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है। इससे सघ में फूट नही हो पाती। अभी तक तेरापन्थ के आठ आचार्य हो चुके हैं-भिक्षु (भीखम), भारमल, रामचन्द्र, जीतमल, मघवागणी, माणकगणी, डालगणी,

और कालूगणी। इसी श्रृंखला मे आचार्य तुलसी जी नवम् आचार्य हैं।

तेरापन्थ की सघ व्यवस्था विशेष प्रशसनीय है। उदाहरणत· (1) साधु के भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि जैसी आवश्यकताओ की पूर्ति का सामुदायिक उत्तर-दायित्व सघ पर है। (2) प्रति वर्ष साधु-साध्वियाँ आचार्य के सान्निध्य मे एकत्रित होकर अपने-अपने कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं और आगामी वर्ष का कार्यक्रम तैयार करते हैं। इसे मर्यादा महोत्सव कहा जाता है। (3) सघ मे दीक्षित करने का अधिकार मात्र आचार्य को है, अन्य किसी को नही।

इस व्यवस्था से सघ का एक ओर जहाँ सामुदायिक विकास होता है वहाँ वैयक्तिक विकास की भी सभावनाएँ अधिक बन जाती हैं। विकास में बाधक होती हैं रुढ़ियाँ जो तेरापन्थ मे यथा समय भग्न होती चली जाती हैं। आचार-विचार की दिशा मे भी यह पन्थ आगे हैं।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद जैन संघ और सम्प्रदाय अनेक शाखा-प्रशाखाओं मे विभक्त हो गया। पर उनका आचार-विचार जैन धर्म के मूल रूप से बहुत दूर नही रहा। इसलिए उनमें वह-ह्रास नहीं आया जो बौद्धधर्म मे आ गया था। जैन संघ की यह विशेषता जैनेतर संघो की दृष्टि से निःसदेह महत्व-पूर्ण है।

□ □

भगवान महावीर का अपरिग्रह

एक दार्शनिक विवेचन

प्रो० श्रीचन्द्र जैन

संग्रह—एक चिरंतन प्रवृत्ति—

अनादि काल से मनुष्य संचय एवं संग्रह की ओर आकर्षित होता चला आ रहा है। केवल आकर्षण ही नहीं अपितु विविध प्रकार के संग्रहों मे इस मानव ने स्वयं को इतना सलग्न कर रखा कि वह अपने उदात्त अस्तित्व को भूला एवं अपनी आध्यात्मिक चेतना को भी विस्मत कर बैठा इस संदर्भ मे उसने गुरुओं से बहुत कुछ सुना सासारिक परिवर्तनो ने उसे अनेक बार झकझोरा, स्वानुभूति के आलोक मे उसने अपनी कमजोरियों को विविध रूपों मे परखा अपने साथी के सम्पर्क में आकर अपनी भूलों को भी पहचाना तथा धार्मिकता एव सामाजिकता के आदान–प्रदान मे धनादि की सग्राहक अनुभूति की निस्सारता को अनुभूत किया, फिर भी वह अपनी ललक लालसा की उपेक्षा न कर सका। अपने खुले नेत्रों से इसी मानव ने धनवान् की प्रतिष्ठा देखी, दीन-हीन का अनादर देखा और श्रीमान के अत्याचारो से प्रपीडित कराहती हुई मानवता को एक बार नही अनेक बार देखा। धन-वैभवादि की निन्दा करने वाले उन विद्वानो को जब इस इन्सान ने धनवानों के प्रशस्ति गान में सलग्न पाया तो उसका अपरिग्रहवादी उन्मेष बालुका–निर्मित भित्ति की भाति शीघ्र बिखर गया। तथ्य तो यह है कि सांसारिक जीवन यापन मे धनादि की आवश्यकता अनिवार्य है फिर भी इनके प्रति अमर्यादित गृध्रता अक्षम्य है।

भर्तृहरि जैसे अनुभवी मनीषी का यह कथन कि सभी गुण सुवर्ण (धनादि) मे रहते है सार्वभौमिक सत्य की परिधि मे नही माना जा सकता है,[1] धन-सग्रह की यह एकदेशीय उपयोगिता कही जायगी।

---

1. यस्यातिवित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।
— सभी गुण सुवर्ण में निवास करते हैं। (क्योंकि) जिसके पास धन है वही आदमी आदमी अच्छे कुल का है, वही विद्वान, वही शास्त्रज्ञ और गुणो का पारखी है, वही भाषण देने में कुशल है और उसी का दर्शन करना चाहिए। (भर्तृहरि कृत शतकत्रयम्, अनुवादक श्रीकांत खरे, नीति शतकम्, पृष्ठ 34)

परिग्रह—एक मानसिक सघर्ष—

शैतान की एक अनुकृति है, परिग्रह पशुता है, उलझन है, सग्राम है, शोषण है, अनर्थ है, सकीर्णता है, कालिमा है, विष है, मदिरालय है और माया का जघन्यरूप है।

परिग्रही का आचरण इतना हेय होता है कि सर्व-साधारण में भी उसकी प्रतिष्ठा कलकित हो जाती है और उसका आचरणजन्य घेराव उसकी आत्मिक-शक्ति को कु ठित कर देता। फलत उसका मानसिक तनाव इतना असतुलित हो जाता है कि वह स्व पर का विभेद भी भूल उठता है। उलझनो से लिपटा हुआ उसका चिन्तन सकीर्ण होकर अनेक अनर्थों को जन्म देता है और पाप कालिमा से कलुषित उसकी जीवन सरिता कु ठित धूमिल हो जाती है। परिग्रही की धन लिप्सा पशुता का ही दूसरा रूप है, जिसमें न करुणा है और न उदारता। भोगों के जाल मे आबद्ध ऐसा संग्राहक विषय बासना की कल्पित पूर्ति मे ही अपने लक्ष्य की समाप्ति मान लेता हैं जो उसके पतन का प्रारम्भिक एव चरम रूप दोनो ही हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थियो का आधार यह अनावश्यक सग्रह यद्यपि कांचन-आकर्षण अवश्य है लेकिन इसकी चरमोपलब्धि घृणित मृत्यु मानी गई है।

सब पापों का मूल परिग्रह—

विश्व में जितने अनर्थ पाप दुष्कर्म होते हैं उनका एक मात्र कारण परिग्रह है। इसी धन धान्यादि के अनावश्यक सग्रह सचय ने इस पुण्य भूमि को नरकीय रूप मे परि-वर्तित कर दिया है। आज नही अपितु एक बड़े समय से इंसान अर्थ लोलुपता के कारण अपना सब कुछ भूल चुका है। छोटे-बड़े सघर्ष इसीलिए हो रहे हैं, कि मनुष्य अपनी लालसा बढाता जा रहा है और बढती हुई उसकी कामना जब अपूर्ण रह जाती है तब वह हिंसा करता है मिथ्या बोलता कुकर्म करता, चोरी करके धनादि को एकत्रित करता हुआ व्यभिचारी तक बन जाता है। गभीरता से विचार करते पर यह सत्य हमें प्रभावित करता है कि अपरिग्रही ही सच्चा जैन बनता है। मानव कहलाता है और सद्गुणी बनकर विश्व की धरती पर सम्मानित होता है। सन्तोष की उपलब्धि का अर्थ है कि मानव के मानस में सचय की भावना नही है।

भगवान महावीर का कथन है—

सगनिमित्ति मारइ, भणइ अलीअ करेइ चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो॥

जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता, चोरी करता है। मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। (इस प्रकार परिग्रह पाँचो पापो की जड है।)

राग द्वेष की अग्नि को प्रज्वलित करने वाला यह परिग्रह ही है जिसने यत्र-तत्र सर्वत्र विभीषिका के अशोभ-नीय दृश्यो को अधमाधम धरातल पर प्रदर्शित किया है। कविवर स्व० दुष्यतकुमार की ये पक्तियां समाज के रक्त-रजित इतिहास के काले पन्नो को हमारे आगे विचारार्थ रख रही हैं। इनमे दर्द है, वेदना है दीन की चीत्कार है, और शोषण का आर्तनाद है:—

कैसे मजर सामने आने लगे हैं,
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।
अब नयी तहजीब के पेशे नजर हम,
आदमी को भूनकर खाने लगे हैं।

मूर्च्छा ही परिग्रह है

लालसा, ललक, आकाक्षा, उन्माद, माया, लोलु-पता आदि को मूर्च्छा कहा गया है। इसीलिए एक अर्द्धनग्न बनवासी अपरिग्रही नहीं है क्योंकि उसके मानस मे धनादि के संग्रह की कामना भावना निरन्तर जीवित

रहती है जो अपूर्ण होने के कारण उसकी विह्वलता को दहकाती है। इसके विपरीत एक नृपति जो विशाल वैभव का स्वामी है। जो राज्यश्री से असप्रक्त है उसे अपरिग्रही कहा गया है। इस सबध में अनेक धार्मिक कथाओ को प्रस्तुत किया जा सकता है। मोक्ष शास्त्र के सप्तम अध्याय मे वर्णित है—

मूर्च्छा परिग्रह ॥17॥

मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। मूर्छा का अर्थ है— बाह्य धन, धान्यादि तथा अन्तरग क्रोधादि कषायो मे वे मेरे हैं ऐसा भाव रहना।[2]

चार सज्ञाओ मे परिग्रह सज्ञा को भी परिगणित करके तत्वार्थ सार मे बताया गया है कि अतरग मे लोभ कषाय की उदारणता होने से तथा बहिरँग मे उपकरणो के देखने, परिग्रह की ओर उपयोग जाने तथा मूर्च्छाभाव—ममता भाव के होने से जो इच्छा होती है उसे परिग्रह सज्ञा कहते है। यह सज्ञा दशम गुणस्थान तक होती है। (देखिए श्रीमदमृतचन्द सूरि कृत तत्वार्थ सार, सम्पादक—पडित पन्नालाल साहित्याचार्य, पृ. 46)

परिग्रह का सचय न होकर यदि इसका आवश्यकतानुसार वितरण होता रहे तो ससार की विषमता शीघ्र समाप्त होगी और सघर्षो मे खनखनाते हुए तड़तडाते हुए अस्त्र-शस्त्रो का प्रलाप समाप्त हो जावेगा। अन्यथा यह विरोध कभी न समाप्त होगा और सदा भवातुरता व्याप्त रहेगी। कविवर दिनकर की ये चार पक्तियाँ परिग्रह से आतकित बेचैनी को उघाड़ती हैं उजागर करती हैं :—

जब तक मनुज-मनुज का यह,
सुख भोग नही कम होगा।
शाँत न होगा कोलाहल,
सघर्ष नही कम होगा।

परिग्रह के भेद :

परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यातर और बाह्य आभ्यातर परिग्रह चौदह प्रकार का है. 1. मिथ्यात्व, 2 स्त्रीवेद, 3. पुरुषवेद, 4. नपु सकवेद, 5. हास्य, 6 रति, 7. अरति, 8. शोक, 9. भय, 10. जुगुप्सा, 11. क्रोध, 12. मान, 14. माया, 14 लोभ।

बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है.—

1 क्षेत, 2. मकान, 3 धन-धान्य, 4. वस्त्र, 5 भाण्ड, 6 दास-दासी, 7. पशु, 8. यान, 9. शय्या, 10. आसन। (द्रष्टव्य—समण सुत्त, पृष्ठ 47)

आन्तरिक शुद्धि और बाह्य शुद्धि के लिए दोनो प्रकार के परिग्रह का क्रम से परित्याग आवश्यक है। लेकिन आभ्यातर परिग्रह के त्याग से बाह्य आडम्बर (परिग्रह) के प्रति अनुरक्ति स्वतः नष्ट हो जाती है।

मानसिक परिशुद्धि, आत्मोत्थान के लिए सर्वदा वान्छित कही गई है।

अविनश्वर विश्रान्ति के हेतु इन्द्रियनिग्रह प्रमुख साधन है तथा एतदर्थ परित्याग सर्वप्रधान है। कहा गया है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ (परिग्रह) से मुक्त, शीतीभूत प्रसन्न चित्त श्रमण जैसा मुक्तिसुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नही मिलता।

---

2. तत्वार्थसार मे भी इसी तथ्य को इस प्रकार प्रमाणित किया गया है:—
ममेदमिति सकल्प रूपा मूर्छा परिग्रह ॥ 77 ।'
—'यह मेरा है' इस प्रकार के सकल्प रूप मूर्छा को परिग्रह कहते हैं।

जैसे हाथी को वश मे रखने के लिए अकुश होता है, और नगर की रक्षा के लिए खाई होती है वैसे ही इन्द्रिय-निवारण के लिए परिग्रह का त्याग (कहा गया) है। असगत्व (परिग्रह-त्याग) से इन्द्रियाँ वश मे होती हैं।

(समण सुत्त पृष्ठ 47)

माया का त्याग—संतोष से अनुराग

परिग्रह-त्याग का वास्तविक अर्थ है माया से विराग। यही माया है जिसने ब्रह्माण्ड की शान्ति को कुंठित कर दिया है, पगु बना दिया हैं और अहर्निश इस विश्रान्ति के आंगन मे प्रस्फुटित कोमल अकुरो को यही विघातिनी तोड रही है। यही लोभ—आसक्ति समत्व की विरोधिनी हैं, समता की नाशिनी है, नरक का द्वार है। ससार के समस्त सतो ने इसीलिए माया का तिरस्कार किया है।

श्रीमद्भगवदगीता मे (अध्याय 16) कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येद द्वारं नाशनमात्मन ।
काम' क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत् ॥

हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं। अर्थात् अधोगति मे ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनो को त्याग देना चाहिए।

माया के विविध रूपो को वर्णित करके संत कवि कबीर ने इसे पापणी कहा है।

माया तजु तजी नहिं जाई ।
फिरि फिरि माया मोहि लपटाई ॥
माया आदर माया मान ।
माया नही तह ब्रह्म गियान ॥
माया रस माया कर जान ।
माया कारनि तजै परान ॥
माया माता माया पिता ।
अति माया अस्तरी सुता ॥
माया मारि करै व्यौहार ।
कहै 'कबीर' मेरे राम अधार ॥

कबीर माया पापणी, हरि सूं करै हराम ।
मुखि कड़ियाली कुमति की कहण न देई राम ।

(कबीर ग्रन्थावली)

आशारूपी नदी की जननी यही माया है और इसे जिस महानानव ने 'सतोष' के माध्यम से जीता है—पार किया है—वही धन्य है।[3] आत्म सतुष्टि का नाम

---

3. मोह से महान ऊंचे परबत सो ढर आई,
तिहूं जगभूतल को पाय बिस्तरी है।
विविध मनोरथ में भूरि जल भरी वहै,
तिसना तरंगिनसो आकुलता धरी है।
परै भ्रम भौंर जहा राग सो मगर तहाँ,
चिंता चित तट तुग धर्म बृक्ष ढाय परी है।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध,
ताको धन्य साधु धीरज जहाज चढ़ि तरी है
(जैन शतक छद 76)

ही सतोष है। इससे निर्लोभ की भावना बलवती होती है, दया की वृद्धि होती है, और उदारता में सत्य का अनुभव होने लगता है। यही सन्तोष अनन्त कामना को समाप्त करता है और आत्मा में ही विराट् विश्व की कल्पना को साकार बनाता है। सन्तोष ही परम सुख है। अत परिग्रह के परित्याग में इसी गुण (सन्तोष) का विशेष महत्व है। आशा तृष्णा को निर्मूल करनेवाला सन्तोष ही है जो आत्म चिंतन को सफल बनाकर नर को नारायणत्व प्रदान करता है। कविवर बनारसीदास का निम्नस्थ पद यहाँ उल्लेख्य है :—

रे मन, कर सदा सतोष,
जातै मिटत सब दुःख दोष।
रे मन कर सदा सन्तोष।

बढत परिग्रह मोह बाढत, अधिक तिसना होति।
बहुत ईधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति,
रे मन, कर सदा सतोष।

लोभ लालच मूढ जन सो कहत कचन दान।
फिरत आरत नहिं बिचारत, धरम धन की हान।
रे मन कर सदा सतोष,

नारकिन के पादूसेवत सकुच मानत सक।
ज्ञान करि बूझै 'बनारसि' को नृपति को रक।
रे मन, कर सदा सतोष।

आध्यात्म-पदावली, पृष्ठ 105।

स्व-पर-भेद का प्रकाशक सतोष है जिसने—सतोष ने—मायाजनित विकारो को नष्ट किया एव मन के समस्त दोषो का परिमार्जन कर उसे (मन को) शुद्ध चिंतन मे लगाया है।[4] गोस्वामी तुलसीदास द्वारा विनय पत्रिका के अनेक पद इस सदर्भ मे पठनीय है। कामनाओ को त्याग करनेवाला सतोषी ही है जिसे अपरिग्रही भी कहा गया है। भगवान महावीर ने कहा है—

कामे कमा ही कमिय खु दुक्ख।'

जो कामनाओ को त्याग देता है वह समस्त दु:खो से छुटकारा पा लेता है। क्योकि .—

इच्छा हु आगास समा अणतिया। उत्त०

इच्छाएँ (कामनाएँ) आकाश के समान अनत हैं, एव इनकी पूर्ति असभव है। एक ही पूर्ति दूसरी (कामना) को जन्म देती है।

एक सत कवि का यह दोहा सन्तोष की व्याख्या मे पर्याप्त है :—

गोधन, गजधन, रत्नधन, कचन खान सुखान।
जब आवे सतोष धन, सब धन धूल समान ॥

गोस्वामी तुलसीदास सतोष की महिमा अकित करते हुए कहते हैं—

सतोष के बिना कोई भी आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सोरठा—

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिअ।

(दोहावली 275)

स्वाभाविक सतोष के बिना क्या कोई शाति पा सकता है? चाहे करोडों प्रकार से जतन करते-करते

---

4. माया मरी न मन मरा, मर मर गया शरीर।
आशा तृसिना ना मरी, सो कह गए दास कबीर।
—संत कबीर

मर जाय, जल के बिना सूखी जमीन पर क्या कभी नाव चल सकती है ?

'जैन धर्मामृत' मे कहा गया है कि जिस पुरुष को सतोष रूपी आभूषण प्राप्त है उसके समीप मे सदा निधियाँ विद्यमान रहती हैं, कामधेनु अनुगामिनी बन जाती है और अमर किंकर बन जाते हैं :-

सन्निधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी ।
अमरा किङ्करायन्ते सतोषो यस्य भूषणम् ।

(चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ 135)

प्राणी की तृप्ति होना असभव सा है' जैसे ईधन से अग्नि की, और हजारो नदियो से लवण समुद्र की तृप्ति नही होती, वैसे ही तीन लोक की सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर भी जीव की तृप्ति नही होती । यह असाध्य रोग सतोष से ही साध्य बनता है और शनैः शनै निर्मूल हो जाता है ।

भगवान महावीर ने कहा है कि कामना और भय से अतीत होकर यथालाभ सतुष्ट रहनेवाले मेधावी पाप नही करते :-

मेहाविणो लोम भयावईया सतोषिणो व पकरेंति पाव ।

सतप्रवर गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी सतोष वृति की कामना की है :—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगे ।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें सत-सुभाव गहौंगो ।
जथा लाभ सतोष सदा, काहू सो कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरन्तर, मन क्रम वचन नेम निवहौंगो
परिहरि देह जनित चिंता, दु खसुख समबुद्धि सहौंगो
तुलसीदास प्रभु यह पथि रहि, अविचल हरिभक्ति लहोगो

(विनय पत्रिका पद 172)

स्वहित एवं राष्ट्र-हित में परिग्रह-मर्यादा आवश्यक हैं ।

परिग्रह-परिधि के लिए हमे सदा सजग रहना चाहिए । यह सर्वमान्य है कि जैन श्रावक--गृहस्थ के के लिए धन-धान्यादि की आवश्यकता निरन्तर रहती है। फिर भी उनका परिमाण निश्चित होना जरूरी है। दिगम्बर मुनि-साधक के लिए तो पूर्णरूपेण अपरिग्रही होना परमावश्यक है ।[5]

उसे परिग्रह त्याग महाव्रती होना, जरूरी है— अन्यथा उसका स्वरूप ही कलकित हो जायगा । बाह्य परिग्रह का दिगम्बर साधु त्यागी रहता ही है और साथ ही साथ आभ्यातर परिग्रह के परित्याग में वह सदैव सलग्न माना गया है । जैन मुनि की इस साधना मे न अतिचार आना चाहिए और न अनाचार । लेकिन जैन श्रावक के लिए परिग्रह परिणाम व्रत का विशेष महत्व है । कहा भी है :—

धन-धान्य आदि बाह्य दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक वस्तुओ मे निस्पृहता रखना सो इच्छा परिमाण नामका पाचवा परिग्रह परिमाण वृत है ।

---

5. चेतनेतर बाह्यान्तरग विवर्जनम् ।
ज्ञान सयमसगो वा निर्ममत्वमसगता । (जैन धर्मामृत पचम अध्याय)
चेतन और अचेतन तथा बाह्य और अतरग सर्व प्रकार के परिग्रह को छोड देना और निर्ममत्व भाव को अगीकार करना अथवा ज्ञान और संयम का ही सगम करना सो असगता नामक परिग्रह त्याग महाव्रत जानना चाहिए ।

धन्य-धान्यादि ग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु निस्प्रहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि ।

(जैन धर्मामृत चतुर्थ अध्याय)

इसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को यह जानना चाहिए कि ससार के मूल कारण आरम्भ हैं, और इन आरम्भो का मूल कारण परिग्रह है. इसलिए श्रावक को चाहिए कि वह अपने परिग्रह को दिन प्रतिदिन कम करता जावे ।

ससार मूलमारभास्तेषा हेतु परिग्रह ।
तस्मादुपासक कुर्यादिल्पमल्य परिग्रहम् ।

(जैन धर्मामृत, चतुर्थ अध्याय, 72)

जैन धर्म विश्वधर्म है और इसका प्रत्येक सिद्धात जन-जन का हितकारी है, कल्याणकारी है मगलकारी है । हरएक जैन साधक देव पूजा मे लोक कल्याण की कामना करता है ।[6] तथा मानव-समाज मे कल्पित भेद-भाव को भूल कर प्राणी मात्र के हित मे अपने जीवन को समर्पित करने का सकल्प करता है। ऐसी स्थिति मे दूसरो को पीडित कर अन्य के देय को हडपकर, दीन की कुटिया को नष्ट कर एव जनता की हरी-भरी कामना को मिटाकर अपना महल बनाना, गुप्त ग्रहो को धन-धान्यादि से भरना, अपने परिवार के सदस्यो को सोने-चाँदी के आभूषणो से अलकृत करना तथा रेशमी गद्दो पर लेटकर अपनी थकान मिटाना कहाँ तक उचित है ? लोक कल्याण मे सलग्न हमारी माननीया प्रधान मत्री के बीस सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम की पूर्ण सफलता भगवान महावीर के परिग्रह मे ही सन्निहित है। प्रत्येक भारतीय को इस पर विचार करना चाहिए–बाँट के खाइए, बैकुंठ जाइए—यह एक ग्रामीण कहावत है, जिनमे जन कल्याण की भावना मुखरित हुई है । एक दूसरी कहावत है जिसका भाव है कि जो दूसरो के हाथ से छीनकर खाता है, वह नरकगामी होता है । इसलिए हमे कामनाओ को कम करके दूसरो के दुख दर्दों की चिन्ता करनी चाहिए, अन्यथा मनुष्य एव पशु में क्या भेद है ?

परिग्रह परिमाण पाँच अणुव्रतो मे अतिम है और चार व्रतो का सरक्षण करना एवं बढाना इसके अधीन

---

6. (क) होवै सारी प्रजा को सुख बलयुत धर्म धारी नरेशा ।
होवै वर्षा समै पै तिलभर न रहै व्याधियों का अन्देशा ।
होबै चोरी न जारी सुसमय वरतै हो न दुस्काल भारी ।
सारे ही देश धारै जिनवर वृषको जो सदा सौख्यकारी । (शातिपाठ)

(ख) सत्त्वेषुमैत्री गुणीषु प्रमोदं ।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपादरत्व ।
माध्यस्थ भाव बिपरीतवृत्तौ ।
सदा ममात्मा बिदधातु देव ।। (सामयिक पाठ)

(ग) मैत्री भाव जगत मे मेरा, सब जीवो से नित्य रहै ।
दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहै ।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग रतो पर, क्षोभ नही मुझको आवै ।
साम्य भाव रक्खूं मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावै । (मेरी भावना)

(घ) परस्परोपग्रहो जीवानाम् । (जैन धर्म का प्रमुख सिद्धात—तत्त्वार्थसूत्र)

है, परिग्रह को घटाने मे हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारो पर रोक लगती है । इस व्रत के परिणामस्वरूप जीवन मे शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है । निश्चिन्ता और निराकुलता आती है । ऐसी स्थिति होने से धर्म क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है । इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ हैं । किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है । आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत का पालन न करने का ही परिणाम है । आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बडी समस्या है आज कुछ लोग यत्रो की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते हैं तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने से भी वचित रहते हैं । उन्हें पेट भर रोटी, तन ढँकने को वस्त्र और औषधि जैसी चीजें भी उपलब्ध नही । इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादो का जन्म हुआ है । समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल हैं । प्राचीन काल में परिग्रह वाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था । .... . अतएव अगर परिग्रह व्रत का व्यापक रूप मे प्रचार और अगीकार हो तो न अर्थ-वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे और न वर्ग-सघर्ष का अवसर उपस्थित हो ।[7]

सब इस तथ्य से परिचित हैं कि यह सब बाह्य वैभव है, क्षणिक है और मृत्यु होने पर मानव की आत्मा एकाकी हो जाती है । अन्यायोपार्जित सब द्रव्यादि यही पर पडे रहते हैं, फिर भी मोहवश मनुष्य उन्मत्तवत् इस व्यापक तत्व से अज्ञात सा रहता है । श्मशान वैराग्य कुछ क्षणों के लिए अवश्य कभी-कभी मानव चेतना को सजग बनाता है लेकिन यह सजगता निरर्थक ही रहती है । वस्तुत यह कितनी बडी मूढता है कि सचय सग्रह के दुष्परिणामो को हम नित्य प्रति देख रहे हैं फिर भी पशु के समान पारस्परिक विद्वेष बढाकर सग्रह मे हम लीन हैं ।

यदि हम मानव हैं, अमीर-गरीब की खाई को पाटना चाहते हैं, दीन-हीन के भेद को मिटाना चाहते हैं तो हमे अपरिग्रह को शीघ्र अपना लेना चाहिए, अन्यथा परिणाम बडे दुखद होंगे । समाजवाद के प्रति भारतीय जनता विशेषतः आकर्षित है, यह आकर्षण सर्वथा उचित है, यह वाद शोषण मे मुक्ति दिलाता है, सबको भरपेट रोटी देता है अत्याचारो एवं अनाचारो से प्रपीडित जन को सुख की सासे लेने का पूरा अवसर देता है और समानता की भावना को निरतर मूर्त रूप देता रहता है । इसके (समाजवाद) अन्तर्गत सब को समान अधिकार प्राप्त होते हैं सब अपनी योग्यतानुसार कार्य करने के लिए साधन सम्पन्न कराये जाते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से सब में एकरूपता लाने का सफल प्रयास किया जाता है वस्तुत. यह वाद भारत के लिए वरदान के रूप मे वरेण्य है ।[8]

ऐसे तो अपरिग्रह सभी धर्मो का आधार है । अपरिग्रह कहने से नही करने से होता है । समाज के सभी धर्मों में अपरिग्रह की साधुओं और गृहस्थों के लिए अलग-अलग व्याख्याए हैं । हमें व्याख्या करनी है अपने लिये ना कि दूसरो के लिए . ....अपरिग्रह के लिए प्रथम बात है कि इच्छा को जैसे चाहे मोडे, बुरी इच्छा न करें और यदि सदिच्छा भी करें तो उसे परमित ही रखे

---

7 आचार्य—श्री हस्तीमल जी, म. सा.—परिग्रह-मर्यादा, व्यक्ति और समाज के सदर्भ में, जिनवाणी, मार्च 1976 से साभार.

8. समाजवाद में उत्पादन, वितरण एव उपभोग पर सामाजिक नियत्रण होता है ।

अपरिग्रह की व्याख्या है कि कोई भी अपनी जरूरत से ज्यादा न रखे. अपरिग्रह का सिद्धान्त समाजवाद से भी आगे है। जहाँ समाजवाद की सीमा है उससे आगे अपरिग्रह है समाजवाद अपरिग्रह में ही निहित है, अपरिग्रह का लक्ष्य है भगवान और मनुष्य को एक बनाना। धर्म क्या है? धर्म एक है, मानव धर्म, मानव धर्म कि मनुष्य मनुष्य का शोषण न करें समाज मे ऊंच नीच का भेद न हो। आर्थिक असमानताए कम हो, समाजवाद मे सब मनुष्य समान होते हैं। इस प्रकार अपरिग्रह और समाज का अटूट सम्बन्ध है समाजवाद लोकतांत्रिक तरीके से आता है तानाशाही से नही।[9]

धन शाप है वरदान नहीं

सासरिक सघर्ष का प्रमुख कारण धन है जिसके लिए पिता पुत्र की हत्या करता है, पति पत्नी को मृत्यु के मुख मे डालता है, और भाई बहन के गले को दबाते हुए भी नही हिचकता है। एक अंग्रेजी कहावत है जिसमें कहा गया है कि धन ही सब अनर्थों की जड है। इस धन अर्जन में दुख: है सरक्षण में कष्ट है तथा इसके व्यय में वेदना होती है इसलिए यह धन निरतर पीडा दायक है इसमे सुख कहा?

अर्थानामर्जने दु.ख अर्जितानाञ्चरक्षणे।
आये दु.ख व्यये दु ख धिगर्थं शोक भाजनम्॥
एक सस्कृत कवि

धन का सदुपयोग यही है कि हम इसका सँचय न करें अपितु जरूरतमदो मे इसे बाट दें:—

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढे दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

निश्चयत: धन विष है कामना की अतृप्ति है, और माया का मोहक रूप है।

भगवान महावीर ने कहा —

(१)—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

(वस्तु के प्रति रहे हुए ममत्व भाव को परिग्रह कहा है।)

(2) वित्तेण ताण न लभे पमत्ते
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।

(प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक मे अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे ही।)

(3) नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि,
सव्व जीवाण सव्व लोए।

(विश्व के सभी प्राणियो के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नही बधन नही।)

(4) बहु पि लद्धुं न निहे
परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्किज्जा।

(बहुत मिलने पर भी सग्रह न करे। परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।)

(5) जया निव्विदए भोगे, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ सजोग, सब्भिंतर-बाहिर।,

(जब मनुष्य दैविक और मानुषिक (मनुष्य संबधी) भोगो से विरक्त हो जाता है, तब आभ्यन्तर और बाह्य-परिग्रह को छोडकर आत्म साधना मे जुट जाता है।)

(6) जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
समायन्ती अमयं गहाय॥

---

9. मोरारजी देसाई—समाजवाद—अपरिग्रह के सिद्धान्त मे निहित—'तीर्थंकर', जून 1972., पृष्ठ 37.

पहाय ते पास पयट्टिए नरे।
वेराणुबद्धा नरय उवेति ।।

(जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पाप कर्मों द्वारा उसका उपार्जन करते हैं, वे धन को छोडकर मौत के मुंह मे जाने को तैयार हैं, वे बैर से बंधे हुए मरकर नरकवास प्राप्त करते हैं।)

(7) परिग्गह निट्ठिाण, वैर तेसिं पवड्ढई।

(जो परिग्रह सग्रह वृत्ति मे व्यस्त हैं, वे ससार मे अपने प्रति बैर की ही अभिवृद्धि करते हैं।)

(8) थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइथोवनिद्दो य
थोवोवहि उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमति।

(जो साधक मिताहारी, मित–भाषी मित-शायी और मित परिग्रही है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।)

(9) जे ममाइअ मइ जहाइ से जहाइ ममाइअ।

(जो साधक अपनी ममत्व बुद्धि का त्याग कर सकता है वही परिग्रह का त्याग करने में समर्थ हो सकता है।)

(10) एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ।

(परिग्रह ही इस लोक मे महाभय का कारण होता है।)

(11) लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि।

(संग्रह करना, यह अदर रहने वाले लोभ की झलक है।)

(12) मा नो द्विक्षत कश्चन।

(हम किसी से द्वेष न करें)

(13) नाञ्ञमञ्ञस्स दुक्खमिच्छेय।

(कोई भी किसी दूसरे के लिये दुःख की इच्छा न करें।)

(14) सव्वे सत्ता अवेरिनो होन्तु मा वेरिनो।

(सभी व्यक्ति अबैर बनें कोई भी किसी के साथ बैर न रखें।)

(15) सव्वे सत्ता भवन्तु, सुख वत्ता।
(संसार के सभी जीव सुखी हों, सुखी रहें।)

(श्री गणेश मुनि शास्त्री, स.–भगवान महावीर के हजार उपदेश)

यह शरीर भी परिग्रह है

जिस शरीर के लिये इतने अधिक आडम्बर एकत्रित किए जाते हैं तथा जिसकी सरक्षा के हेतु रात-दिन चितित रहना पडता है वह तन भी कम विघातक नहीं है। करोडों के सौन्दर्य प्रसाधन इसी देह की कमनीयता की बुद्धि को अधिक आकर्षक बनाने के लिए खरीदे जाते हैं। इस भौतिक युग मे चचल तरुणाई अधिक भ्रमित है जिसका कारण शारीरिक सुन्दरता कही जा सकती है।

भगवान् महावीर ने परिग्रह को तीन रूपो में विभाजित किया है जिसमे शरीर को भी परिग्रह बताया गया है

कर्मपरिग्रह, शरीरपरिग्रह, वाह्यभण्ड-मात्र-उपकरण परिग्रहः—

तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, त जहाकम्म—परिग्गहे, बाहिर भडमत्त परिग्गहे।

परिग्रही नरक में जाता है

अर्थादि संग्रह मे लोलुपी जितना पर-पीड़न करता है उससे हजार गुना कष्ट उसे भोगना न्यायत: समुचित

ही है। इसलिए परशोषक को नारकीय जीवन रो-रो कर बिताना ही चाहिए अन्यथा शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफलन कैसे प्रमाणित होगा। आचार्य श्री उमा-स्वामी ने मोक्षशास्त्र (तत्वार्थसूत्र) के अध्याय 6 मे कहा है कि बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्या युष। बहुत आरभ और परिग्रह का होना नरक आयु का अस्तित्व है। इसी प्रकार माया (छल-कपट) तिर्यञ्च आयु का आस्त्रव है'—माया तैर्यग्योनस्य (मोक्षशास्त्र अध्याय 6 सूत्र 16) निष्पक्ष विचारक इस मान्यता के पूर्ण समर्थक हैं कि परिग्रह जब स्वयें नरक है तब उनके स्नेही को पातकी बनकर नरक में रहना और तडपना स्वाभाविक ही है।

वीर-युग-अनेक द्वन्द्वों का आतंक

महावीर के समय को यदि आत्मघाती कहा जाय तो कुछ सीमा तक अनुचित नही है। इस युग मे मानवता खडित थी, धर्मों के रूप प्रशस्तन, थे स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियां जनता के मानस को खसोट रही थी एव दीन अमीर का भेद व्यापकता ले चुका था। नारी का करुण क्रन्दन किसी हृदय को प्रभावित करने में असमर्थ था। दास दासियां बाजारो में मूक पशुओ की तरह खरीदे और बेचे जाते थे। विलासता, वैभव का उच्छृखल ताण्डव नृत्य था। भगवान ने सामाजिक विषमता को समझा एव उसके परिमार्जन मे सफल प्रयास किये। (देखिए महावीर युग मे समाज और धर्म की स्थिति लेखक डा० ज्योति प्रसाद जैन, भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ खण्ड 3, पृष्ठ 3।)

जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के लिए शुद्ध आचार विचार आवश्यक है उसी प्रकार मानवता के उदात्त सग्क्षण मे अपरिग्रहवाद सर्वोपरि है। इस सृजनात्मक सत्य के दृष्टिकोण को भगवान ने भली माति अगीकार कर अपरिग्रह की गरिमा को बहुरूपों में समाज के सन्मुख प्रस्तुत किया और कराहती हुई इन्सानियत को शुद्ध जिजीविषा प्रदान की। भगवान महावीर का यही अपरिग्रह है और यही जैन मत का मूलाधार है।

यदीया वाग्गगा विविध-नय-कल्लोल-विमला।
बृहद् ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनता या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता।
महावीर स्वामी नयस-पथ-गामी भवनु न,।

—पडित भागचन्द्र महावीराष्टक

□ □

जैन कर्म सिद्धान्त

श्यामलाल पाण्डवीय

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही आध्यात्मिकता के अधिक निकट रही है। समय-समय पर अनेको दिव्य एवं महान आत्माओ द्वारा विभूषित इस देश का इतिहास धर्म एवम् दर्शन से अत्याधिक प्रभावित रहा है। भारतीय दर्शन के विविध पक्षो के रूप में न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा, वेदान्त, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन मे हमे मानव जीवन के प्रति विविध मतो के दर्शन होते हैं। इनमें से चार्वाक को छोडकर अन्य समस्त भारतीय दर्शनो ने परलोक, पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की धारणा को ग्रहण किया है। ये सभी मानते हैं कि मानव जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है।

शाब्दिक दृष्टि से कर्म के तीन अर्थ प्रमुख हैं। पहला—कर्म कारक, कर्म का यह अर्थ जगत प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ है—क्रिया। इसके अनेक प्रकार हैं। सामान्यत: विविध दार्शनिको ने कर्म के द्वितीय अर्थ को आधार मान कर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। तीसरा अर्थ है—जीव के साथ बधने वाले विशेष जाति के स्कन्ध। यह अर्थ अप्रसिद्ध है, केवल जैन सिद्धान्त ही इसका विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त—

न्याय दर्शन के अनुसार मानव शरीर द्वारा सम्पन्न विविध कर्म; राग, द्वेष और मोह के वशीभूत होकर किये जाते हैं। अच्छा आचरण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म को उत्पन्न करती है। धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म को अदृष्ट भी कहते हैं। अदृष्ट कर्मफल के उत्पादन मे कारण होता है। किन्तु अदृष्ट जड़ है और जड़ में फलोत्पादन शक्ति चेतन की प्रेरणा के बिना सभव नही है। अत: ईश्वर की प्रेरणा से ही अदृष्ट फल देने में सफल होता है।[1]

---

1 जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, प्रो. उदयचन्द्र जैन, जैन सिद्धान्त भास्कर—किरण १, प्र.—श्री देवेन्द्र कुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, आरा। पृ. ३८।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षो के भीतर रस का नीचे से ऊपर की ओर चढना, अग्नि की लपटो का ऊपर की ओर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की प्रथम परिस्पन्दात्मक क्रिया, ये सब कार्य अदृष्ट द्वारा होते हैं।[2]

साख्य दर्शन के मत मे—"क्लेश रूपी सलिल से सिक्ता भूमि मे कर्म बीज के अकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्वज्ञान रूपी ग्रीष्म के कारण क्लेश जल के सूख जाने पर ऊसर जमीन मे क्या कभी कर्म-बीज उत्पन्न हो सकते हैं।[3]

योग दर्शन के अनुसार पातञ्जल योगसूत्र मे क्लेश रूप-मूल कर्माशय वासना को बतलाया है।[4] यह कर्माशय इस लोक और परलोक मे अनुभव में आता है।

मीमासा दर्शन के अनुसार—प्रत्येक कर्म मे अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से अपूर्व उत्पन्न होता है, और अपूर्व से फल उत्पन्न होता है। अतः अपूर्व, कर्म तथा फल के बीच की अवस्था का द्योतक है। शकराचार्य ने इसीलिये अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है।[5]

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से ससार का उदय होता है। विज्ञान दीपिका मे यह बतलाया गया है, कि जिस प्रकार घर मे तथा क्षेत्र मे स्थित अन्न का विनाश विविध रूप से किया जा सकता है, किन्तु मुक्त अन्न का विनाश पाचन द्वारा ही होता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग के द्वारा ही होता है।[6]

बौद्ध धर्म मे भी, जो कि अनात्मवादी है कर्मों की विभिन्नता को ही प्राणियो मे व्याप्त विविधता का कारण माना है। अगुतर निकाय मे सम्राट मिलिन्द के प्रश्नो के उत्तर मे भिक्षु नागसेन कहते हैं[7]—"राजन! कर्मों के नानात्व के कारण सभी मनुष्य समान नही होते। भगवान ने भी कहा है कि मानवो का सद्भाव कर्मों के अनुसार है। सभी प्राणी कर्मों के उत्तराधिकारी हैं। कर्मों के अनुसार ही योनियों मे जाते हैं। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है, और वह जीव का उच्च और नीच रूप मे विभाग करता है।

---

2. मणिगमन सूच्यभिसर्पण मित्य दृष्ट कारणम्।—वै मू ५।१।१५
   वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्।—वै सू. ५।२।७
3. क्लेशसलिलावसिक्ताया हि बुद्धि भूमौ कर्मवीजान्यकुर प्रसुवते।
   तत्वज्ञान निदाघणीतसकलक्लेशसलिलाया ऊषराया कुतः कर्मवीजानामकुर प्रसन।
   —तत्व कौमुदी साख्य का० ६७
4. क्लेशमूल कर्माशयः दृष्टादृष्टवेदनीय.।—योग सूत्र २।१२
5. नचाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्व कर्म विनश्यत् कालान्तरित फल दातु शक्नोति।
   अत. कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्था अपूर्वनाभास्तीति तर्क्यते।
   —शा. भा. ३।२।४०
6 जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. ४०
7. "महाराज कम्मानं नानाकरणेन मनुस्सा न सब्बे समका। भासित एत महाराज भगवता कम्मस्स कारणेन माणवसत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनी, कम्मबन्धु कम्मपरिसरणा कम्म सत्ते विभजति यदिद हीनप्पणीततायीति।"
   —अगुत्तर निकाय

यही नही भारत के लगभग सभी प्रमुख धार्मिक ग्रथो मे कर्म सिद्धान्त की महत्ता तथा प्रकृति का यथा—संभव उल्लेख मिलता है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि—प्राणी को कर्म का त्याग नही करना चाहिये, किन्तु कर्म के फल का त्याग करना चाहिये। प्राणी का अधिकार कर्म करने मे ही है, फल मे नही।[8] महाभारत मे भी आत्मा को बाधने वाली शक्ति को कर्म कहा है।[9] गोस्वामी तुलसीदास ने ,मी रामचरित मानस् मे कर्म को प्रधान कहा है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन मे कर्म सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है। लगभग सभी दार्शनिको ने कर्म सिद्धान्त के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार प्रकट कर इसे जीवन-दर्शन का प्रमुख आधार माना है।

जैन कर्म दर्शन—

जैन दर्शन मे कर्म सिद्धान्त का जितना सविस्तार विवेचन किया गया है, वह अन्य दर्शनो मे कर्म सिद्धान्त के विवेचन से कई गुना है। जैन वाङ्मय मे इस सबध में विपुल साहित्य भण्डार उपलब्ध है। प्राकृत भाषा का जैन ग्रथ "महाबन्ध", कर्म सिद्धान्त पर विश्व का सबसे वृहद ग्रथ है, जिसमें चालीस हजार श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार तथा क्षपणासार आदि कर्म सिद्धान्त विषयक वृहद ग्रथ हैं। इस प्रकार जैन दर्शन मे कर्म दर्शन को विशेष महत्व दिया गया है, तथा उसकी सूक्ष्म विवेचना की गई है।

'कर्म' का अर्थ—

मौलिक अर्थ की दृष्टि से तो कर्म का अर्थ वास्तव मे क्रिया से ही सम्बन्धित है। मन, वचन एव काय के द्वारा जीव जो कुछ करता है, वह सब क्रिया या कर्म है। मन, वचन और काय ये तीन उसके माध्यम हैं। इसे जीव कर्म या भाव कर्म कहते हैं, यहा तक कर्म की धारणा सभी को स्वीकार है। यह धारणा केवल ससारी जीवो की क्रिया पर ही विचार करती है, अर्थात केवल चेतन की क्रियाएँ ही इसकी विषय वस्तु हैं, जड की क्रियाओं अथवा जड एवं चेतन की क्रियाओ मे सम्बन्धों पर अन्य धारणाओ मे विचार नही किया जाता, जैन दर्शन इन दोनो के सम्बन्ध मे भी गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस कारण उसमे कर्म की व्याख्या अधिक व्यापक एव विस्तृत है। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की मौलिक व्याख्या करते हैं।

परिभाषा एव व्याख्या—

श्री क्षु जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार[10]—"भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड पुदगल स्कन्ध जीव के प्रदेशो मे प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बधते हैं, यह बात केवल जैनागम ही बताता है। यह सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और रूप रसादि धारक मूर्तीक होते हैं। जैसे कर्म, जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर द्रव्य कर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल पश्चात परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही उनका फल-दान कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण वे दृष्ट नहीं है।"

---

8. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूं. मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि॥—भगवद्गीता २।४७
9. "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्ययातु विमुच्यते", महाभारत—शान्तिपर्व (२४०-७)
10. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा. १,—जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ २५

इस प्रकार जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि यदि 'कर्म' भौतिक स्वरूप का है, तो 'कारण' भी भौतिक स्वरूप का होगा। अर्थात जैन धर्म यह मानता है कि–चू कि विश्व की सभी वस्तुऐं सूक्ष्म स्कन्धो या परमाणुओ से बनी हैं, अत परमाणु ही वस्तु का कारण' हैं और चूंकि परमाणु भौतिक तत्व है, अत वस्तुओ के 'कारण' भी भौतिक तत्व हैं। इस सम्बन्ध मे आलोचको की इस आपत्ति का कि "अनेकों क्रियाएें, यदा-सुख, दुःख, पीडा आदि विशुद्ध रूप से मानसिक हैं, इसलिये उनके कारण भी मानसिक होने चाहिये, भौतिक नही।" उत्तर देते हुए कहा है कि—ये अनुभव शारीरिक कारणो से सर्वथा स्वतन्त्र नही हैं, क्योकि सुख, दु ख इत्यादि अनुभव, उदाहरणार्थ—भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक सत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नही होता, जैसे कि आकाश के साथ।[11] अत यह माना गया है कि–इन अनुभवो के पीछे 'प्राकृतिक कारण' हैं, और यही कर्म है। इसी अर्थ मे सभी मानवीय अनुभवो के लिये सुखद या दु.खद तथा पसद या नापसद—कर्म जिम्मेवार हैं।[12]

इसी कारण विभिन्न जैन दार्शनिको ने जीव के रागद्वेषादिक परिणामो के निमित्त से जो कार्मण वर्गणा रूप पुदगल-स्कन्ध जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हे कर्म कहा है। आचार्य कुन्द-कुन्द के अनुसार—"जब रागद्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कार्यों मे प्रवक्त होता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानवरणादि रूप से आत्म प्रदेशो मे प्रविष्ट होकर स्थित हो जाता है।[13] श्री अकलक देव ने कर्म की सोदहारण व्याख्या करते हुए कहा है कि—"जिस प्रकार पात्र विशेष मे रखे गए अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलो का मदिरा रूप मे परिणमन होता है, उसी प्रकार, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायो तथा मन, वचन और काय योग के निमित्त से आत्म प्रदेशो मे स्थित पुदगल परमाणुओ का कर्मरूप मे परिणमन होता है।[14]

इस प्रकार जैन दार्शनिको ने कर्म की विषद् एव सूक्ष्म व्याख्या की है जो अन्य दर्शनो मे की गई व्याख्याओ से नितान्त भिन्न है। जहा अन्य दर्शन परिणमनरूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कहकर केवल परिस्पन्दन रूप क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहते हैं, वहा जैन कर्म सिद्धान्त इन दोनो को ही कर्म कहता है। जैन दर्शन मे कर्म की यह व्याख्या अत्यन्त व्यापक है।

कर्म और आत्मा—

लगभग सभी दर्शन, जो कर्म की धारणा पर विचार करते हैं, कर्म को आत्मा से सम्बन्धित अवश्य मानते हैं। जैन दार्शनिको के अनुसार आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन से युक्त है, कर्म बन्धन जन्म जन्मातर आत्मा को बाधे रहते हैं, इस दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। परन्तु एक दृष्टि से वह सादि भी है, जिस

---

11. 'कर्म ग्रन्थ', I. ३
12. जैन दर्शन की रूपरेखा, एस गोपालन, वाईली इस्टर्न लि, पृ. १५१.
13. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो।
    त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहिं॥

    —प्रवचन सार–९५
14. यथा भोजन विशेषे प्रक्षिप्ताना विविधरसबीज पुष्पलतानां मदिराभावेन परिमाणः तथा पुदगलानामपि आत्मनि स्थिताना योगकषायवशाद् परिमाणो वेदितव्यः।

    —तत्वार्थवार्तिक, पृ. २९४

प्रकार वृक्ष और बीज का सम्बन्ध सन्तति की दृष्टि से अनादि है, और पर्याय की अपेक्षा से वह सादि है, इसी प्रकार कर्मबन्धन सन्तान या उत्पत्ति की दृष्टि से अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि है। जैन दर्शन में कर्म और आत्मा के सम्बन्ध मे इस व्याख्या के कारण ही आगे चलकर उसे वैज्ञानिक रूप दिया है जिस कारण वह अन्य दर्शनो से अलग है। जैन दर्शन कर्मबन्धन को अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि मानकर ही आगे यह और व्याख्या करता है, कि—पर्याय की दृष्टि से सादि होने के कारण पूर्व के कर्मबन्धनों को तोडा भी जा सकता है। कोई भी सम्बन्ध अनादि होने से अनन्त नहीं हो जाते, विरोधी कारणो का समागत होने पर अनादि सम्बन्ध टूट भी जाते है, जिस प्रकार बीज और वृक्ष का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी, पर्याय विशेष मे सादि होता है, और पर्याय विशेष मे किसी बीज विशेष के जल जाने पर, अर्थात विरोधी कारणो के समागम के कारण उसमे अंकुर उत्पन्न नही होता। इस विषय मे आचार्य अकलक देव तत्वार्थराज वार्तिक (२/७) मे ऐसा ही दृष्टात देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अकुर नही उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवाकुर उत्पन्न नहीं होता।

यही कारण है कि, जैन दार्शनिको ने आत्मा के स्वभाव की सकारात्मक व्याख्या करते हुए उसे विशुद्ध एव असीम क्षमताओ वाली कहा है। उनके अनुसार कर्म के दुष्ट प्रभाव के कारण वह अपने को सीमित अनुभव करती है। कर्म के इस दुष्ट प्रभाव से आत्मा को मुक्त करा पाने पर ही सदकर्मों की उत्पत्ति होती है, सदकर्मों से कर्मबन्ध टूटते हैं और कर्मबन्धो से पूर्ण मुक्ति पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष की धारणा का विकास, कर्म दर्शन के विकास पर ही आधारित है।

कर्म के भेद —

जैन दार्शनिको ने कर्म की वृहद व्याख्या करते हुए कहा है कि—कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।[15] इस प्रकार कर्म को दो आधारो भौतिक तथा मानसिक, के आधार पर दो भेद किये गए हैं—'द्रव्य कर्म' एव 'भाव कर्म'। द्रव्य कर्म का अर्थ है जहा द्रव्य का आत्मा मे प्रवेश हो गया हो अर्थात जहा रागद्वेषादि रूप भावो का निमित्त पाकर जो कार्मण वर्गणारूप पुदगल परमाणु आत्मा के साथ बध जाते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। यह पौदगलिक हैं, और इनके और भी भेद किये गए हैं।

भाव कर्म, आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक है। इनमें इच्छा तथा अनिच्छा जैसी मानसिक क्रियाओ का समावेश होता है। अर्थात ज्ञानरणादिरूप द्रव्य कर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग द्वेषादि रूप भावो को भावकर्म कहते हैं।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पारस्परिक कार्य-कारण परम्परा अनादिकाल से चली आरही है। इन दोनो मे नैमेत्तिक सम्बन्ध है। भावकर्म का निमित्त द्रव्यकर्म है और द्रव्य कर्म का निमित्त भावकर्म है। राग द्वेषादिरूप भावो का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा मे राग द्वेषादि भावो की उत्पत्ति होती है।[16]

---

15. मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीव तहेव अण्णाण। अविरदि जोगो मोहो कोहादिया इमे भावा। समयसार। मूल। ८७। प्र —अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली
16. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 47

कर्म बन्ध—

जैन दर्शन के अनुसार दोनो ही प्रकार के कर्मों से उत्पन्न कर्माणु विभिन्न कालावधियों के लिये मनुष्य को बाधकर रखते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध कर्म और आत्मा के सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न अवस्था है। यह अवस्था कषाय एव योग के कारण उत्पन्न होती है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने कहा है कि[17]— "जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म के योग्य पुदगलो को ग्रहण करता हैं। इमी का नाम बन्ध है। शुद्ध आत्मा में कर्म का बन्ध नही होता है, किन्तु कषायवान् आत्मा ही कर्म का बन्ध करता है। आचार्य जिन सेनाचार्य ने भी कर्मबन्ध की लगभग ऐसी ही व्याख्या करते हुए कहा है कि—"यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट सकल्प द्वारा वस्तु मे प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है, इससे रागद्वेष उत्पन्न हाता है और इस रागद्वेष से कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार रागद्वेष के निमित्त से ससार का चक्र चलता रहता है।[18]

इस प्रकार रागद्वेष रूप भावकर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा मे रागद्वेष रूपी भाव कर्म उत्पन्न होता है। इन कर्मों से उत्पन्न परमाणु प्रत्येक समय बधते रहने से अनन्तानन्त होते हैं। यह बन्ध केवल जीवप्रदेश के क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओ का होता है, बाहर के क्षेत्र मे स्थित कर्म परमाणुओ का नही। आत्म प्रदेशो में होने वाला यह कर्मबन्ध प्रति समय होता है। यह सम्भव नही है कि किसी समय किन्ही आत्म प्रदेशो के साथ बन्ध हो और किसी समय अन्य आत्मप्रदेशो के साथ।

कर्मफल—ईश्वरवादी दर्शन ईश्वर को कर्म का फल-दाता मानते हैं। उनके अनुसार यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुख में असमर्थ है। यह जीव ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग मे या नरक में जाता है।[19] जैन दर्शन के अनुसार कर्म स्वय अपना फल देते हैं, किसी के माध्यम से नही। इसी कारण कहा है कि उस कम से उत्पन्न किया जाने वाला सुख दुख कर्मफल है।[20] यह कर्मफल कर्म की प्रकृति से प्रभावित होता है। जैन दर्शन के अनुसार शुभ एव अशुभ भावो से किये गए कर्मो मे जीव पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है, अत इन भावो का प्रभाव कर्म परमाणुओ पर भी होता है, और इसी के अनुसार वे कर्म अपने उदय के अवसर पर तदनुरूप सुख और दुःख प्रदान करते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन मे कर्म सिद्धान्त की अत्यन्त सूक्ष्म एव विषद तथा वैज्ञानिक विवेचना की गई है जो यह बतलाती है कि मनुष्य स्वय अपने कर्म का सृष्टा एव भाग्य विधाता है। ईश्वर या अन्य कोई शक्ति न तो उसके कर्म को निर्धारित करती है, न ही उसके फल को। यही नही ईश्वरीय या अन्य कोई ऐसी शक्ति उसे बुरे कर्मों के उदय या फल भोगने से मुक्त भी नही करा सकती। कर्मों से मुक्ति के लिये कर्ता द्वारा स्वय कर्मक्षय करना आवश्यक है। कर्मक्षय से कोई भी जीव शुद्ध अवस्था अर्थात मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि न तो कोई लक्ष्मी देता है, और न कोई इसका उपकार करता है। शुभ और अशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अवकार करते हैं।

णय को बि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणई उवयार
उवयार अवयार कम्म पि सुहासुह कुणदि ॥

—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३१८

---

17. सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान पुदगलानादत्ते स बन्ध.। —तत्वार्थसूत्र ८।२
18. सकल्पवशो मूढ' बस्त्विष्टा निष्टता नयेत, रागद्वेषौं ततस्ताभ्या बन्ध दुर्मोचमश्नुते ॥ महापुराण २४।२१
19. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुख दु.खयोः।
    ईश्वर प्रेरितो गच्छेत स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥ —महाभारत, वन पर्व ३०।२८
20. तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्य सुख दु'ख तत्कर्म फलम। प्रवचनसार/त. प्र./१२४.

जैन दर्शन में
मोक्ष का स्वरूप,
एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. सागरमल जैन

जैन दर्शन के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर[1] आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है उसे 'मोक्ष' कहा जाता है। कर्म मलो के अभाव में कर्म जनित आवरण या बन्धन भी नहीं रहते और यह बन्धन का अभाव ही मुक्ति है[2]। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है[3]। अनात्मा में ममत्व आसक्ति रूप आत्माभिमान का दूर हो जाना यही मुक्ति है[4]। यही आत्मा की शुद्धावस्था है। बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्याय दृष्टि का विषय है। आत्मा की विरूप पर्याय ही बन्धन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है। पर पदार्थ, पुद्गल परमाणु या जड कर्म वर्गिणो के निमत्त से आत्मा में जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं और जिनके कारण पर मैं (मेरा पन) उत्पन्न होता है यही विरूप पर्याय है, परपरिणति है, स्व की पर मे अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति दोनो एक ही आत्म द्रव्य या चेतना की दो अवस्थाएं मात्र हैं, जिस प्रकार स्वर्ण कुण्डल और स्वर्ण मुकुट स्वर्ण की दो अवस्थाएँ हैं। लेकिन यदि मात्र विशुद्ध तत्व दृष्टि से विचार किया जाए तो बन्धन और मुक्ति दोनों की व्याख्या सम्भव नही है क्योंकि आत्मतत्व स्वरूप का परित्याग कर परस्वरूप मे कभी भी परिणित नही होता। विशुद्ध तत्वदृष्टि से तो आत्मा नित्य मुक्त

1. कृत्स्न कर्मक्षयात् मोक्ष', तत्वार्थ सूत्र १०१
2. बन्ध वियोगो मोक्षः—अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ६, पृ ४३१
3. मुक्खो जीवस्स शुद्ध रूवस्स—वही, खण्ड ६, पृ. ४३१
4. तुलना कीजिए (अ) आत्मा मीमासा (दलसुखभाई), पृ. ६६-६७
   (ब) ममेति बध्यते जन्तुर्नममेति प्रमुच्यते।—गरुड पुराण।

है। लेकिन जब तत्व की पर्यायो के सम्बन्ध मे विचार प्रारम्भ किया जाता है तो बन्धन और मुक्ति की सम्भावन.ए स्पष्ट हो जाती है, क्योकि बन्धन और मुक्ति, पर्याय अवस्था मे ही सम्भव होती है। मोक्ष को तत्व माना गया है लेकिन वस्तुत. मोक्ष बन्धन के अभाव का ही नाम है। जैनागमो मे मोक्ष तत्व पर तीन दृष्टियो से विचार किया है 1. भावात्मक दृष्टिकोण 2 अभावात्मक दृष्टिकोण 3 अनिर्वचनीय दृष्टिकोण।

मोक्ष पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार—

जैन दार्शनिको ने मोक्षावस्था पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे निबाध अवस्था कहा है[5]। मोक्ष मे समस्त बाधाओ के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं, मोक्ष बाधक तत्वो की अनुपस्थिति और पूर्णता प्रगटन है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने मोक्ष की भावात्मक दशा का चित्रण करते हुए उसे शुद्ध, अनन्त चतुष्ठय युक्त अक्षय, अविनाशी, निर्बाध, अतीन्द्रिय अनुपम, नित्य, अविचल, अनालम्ब कहा है[6]। आचार्य उसी ग्रन्थ मे आगे चलकर मोक्ष मे निम्न बातो की विद्यमानता की सूचना करते हैं[7]। (1) पूर्णज्ञान (2) पूर्णदर्शन (3) पूर्णसौख्य (4) पूर्णवीर्य (शक्ति) (5) अमूर्तता (6) अस्तित्व (7) सप्रदेशता। आचार्य कुन्द-कुन्द ने मोक्ष दशा के जिन सात भावात्मक तथ्यो का उल्लेख किया है वे सभी भारतीय दर्शनों को स्वीकार नही है। वेदान्त सप्रदेशता को अस्वीकार कर देता है। सांख्य, सौख्य एव वीर्य को, और न्याय, वैशेषिक ज्ञान और दर्शन को भी अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध शून्यवाद अस्तित्व को भी निराश कर देता है और चार्वाक दर्शन मोक्ष की धारणा को भी समाप्त कर देता है। वस्तुत मोक्षावस्था को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ के प्रति उत्तर के लिए ही मोक्ष की इस भावात्मक अवस्था का चित्रण किया गया है। भावात्मक दृष्टि से जैन विचारणा मोक्षावस्था मे अनन्त चतुष्ठय की उपस्थिति पर बल देती है। अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को जैन विचारणा मे अनन्त चतुष्ठय कहा जाता है। बीज रूप मे यह अनन्त चतुष्ठय सभी जीवात्माओ मे उपस्थित है मोक्ष दशा मे इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से यह पूर्ण रूप मे प्रगट हो जाते हैं। यह प्रत्येक आत्मा के स्वभाविक गुण है जो मोक्षावस्था मे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाता है। अनन्त चतुष्टय मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सौख्य (अव्याबाधसुख) आते हैं। लेकिन अष्टकर्मों के प्रहाण के आधार पर सिद्धो के आठ गुणो की मान्यता भी जैनविचारणा में प्रचलित है। 1. ज्ञानवरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान या पूर्ण ज्ञान से युक्त होता है। 2. दर्शनावरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है। 3 वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से विशुद्ध, अनश्वर, आध्यात्मिक सुखों से युक्त होता है। 4. मोह कर्म के नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि (क्षायिक सम्यकत्व) से युक्त होता है। मोह कर्म के दर्शन मोह और चारित्रमोह ऐसे, दो भाग किए जाते हैं। दर्शन मोह के प्रहाण से यथार्थ दृष्टि और चारित्र मोह के यथार्थ

---

5. अव्वावाह् अवत्थाण —अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ६, पृ ४३१
6 नियमसार १७६ १७७
7. विज्जदि केवलणाण, केवलसोक्ख च केवलविरिय।
केवलदिट्ठि अमुत्त अत्थित्त सप्पदेसत ॥ —नियमसार १८१

से चारित्र (क्षायिकचारित्र) का प्रगटन होता है, लेकिन मोक्ष दशा मे क्रिया रूप चारित्र नही होता, मात्र दृष्टि रूप चारित्र ही होता है, अत उसे क्षायिक सम्यक्त्व के अन्तर्गत ही माना जा सकता है, वैसे आठ कर्मों की 31 प्रकृतियो के प्रहाण के आधार पर सिद्धो के 31 गुण माने गये हैं, उसमे यथाख्यात चारित्र को स्वतत्र गुण माना गया है। 5 आयुकर्म के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी होता है अत वह इन्द्रियग्राह्य नही होता। 7 गोत्र कर्म के नष्ट हो जाने से वह अगुरुलघुत्व[8] से मुक्त हो जाता है अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं उनमे छोटा बडा या ऊँच नीच का भाव नही होता। 8. अन्तरायकर्म का प्रहाण हो जाने से बाधा रहित होता है, अर्थात् अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है[9]। अनन्त शक्ति का यह विचार मूलतः निषेधात्मक ही है यह मात्र बाधाओ का अभाव है। लेकिन इस प्रकार अष्ट कर्मों के प्रहाण के आधार पर मुक्तात्मा के आठ गुणो की व्याख्या का मात्र एक व्यवहारिक सकल्पना ही है। उसके वास्तविक स्वरूप का निर्वचन नही है। व्यवहारिक दृष्टि से उसे समझने का प्रयास मात्र है इसका मात्र व्यवहारिक मूल्य है। वस्तुत तो वह अनिर्वचनीय है। आचार्य नेमीचन्द्र गोम्मटसार मे स्पष्ट रूप से कहते हैं, सिद्धो के इन गुणो का विधान मात्र सिद्धात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे जो एकान्तिक मान्यताएँ हैं उनके निषेध के लिए है[10]। मुक्तात्मा मे केवल ज्ञान और केवल दर्शन के रूप मे ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्मा को जड मानने वाली वैभाषिक बौद्धो और न्याय-वैशेषिक दर्शन की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप मे मानने वाले जडवादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धो की मान्यता का निरसन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष दशा का समग्र भावात्मक चित्रण अपना निषेधात्मक मूल्य ही रखता है। यह विधान भी निषेध के लिए है।

अभावात्मक दृष्टि से मोक्ष तत्व पर विचार—

जैनागमो मे मोक्षावस्था चित्रण निषेधात्मक रूप से भी हुआ है। प्राचीनतम जैनागम आचाराग मे मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। मोक्षावस्था मे समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा मे समस्त कर्म जन्य उपाधियो का भी अभाव होता है अत मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृताकार है, न त्रिकोण है न चतुष्कोण है, न परिमण्डल सस्थान वाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेतवर्ण वाला भी नही है, वह सुगन्ध और दुर्गन्धवाला भी नही है। न वह तीक्ष्ण कटुक, खट्टा, मीठा एव अम्ल रस वाला है। उसमे गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध रूक्ष, शीत एव उष्ण आदि स्पर्श गुणो का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है। इस प्रकार मुक्तात्मा मे रूप, रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श भी नही है[11]। आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार मे

---

8. कुछ विद्वानो ने अगुरूलघुत्व का अर्थ न हल्का न भारी ऐसा भी किया है।
9. प्रवचनसारोद्धार द्वार २७६, गाथा १५९३-१५९४
10 सदासिव सखो मक्कडि बुद्धो णैयाइयो य वेसेसी।
ईसर मडलि दसण विदूसणट्ठ कयं एद ॥ —गोम्मटसार (नेमिचन्द्र)
11. से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरसे, न परिमडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुकिल्ले, न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरूए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे. न लुक्खे, न काऊ, न रूहे, न सगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा,—से न सद्दे, न रूवे, न गधे, न रसे, न फासे। आचारांगसूत्र १।५।६

मोक्षदशा का निषेधात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हुए लिखते है मोक्षदशा मे न सुख है न दु.ख है, न पीला है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है। न वहा इन्द्रिया है, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है; न वहा चिन्ता है, न आर्त और रौद्र विचार ही, वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (प्रशस्त) विचारो का भी अभाव है[12]। मोक्षावस्था तो सर्व सकल्पो का अभाव है, वह बुद्धि और विचार का विषय नही है वह पक्षातिक्रात है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है।

मोक्ष का अनिर्वचनीय स्वरूप—

मोक्षतत्व का निषेधात्मक निर्वचन अनिवार्य रूप से हमे उसकी अनिर्वचनीयता की और ही ले जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए जैन दार्शनिकों ने उसे अनिर्वचनीय ही माना है।

आचाराग सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है समस्त स्वर वहा स लौट आते हैं, अर्थात् मुक्तात्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नही है, वाणी उसका निर्वचन करने मे कदापि समर्थ नही है। वहा वाणी मूक हो जाती, तर्क की वहा तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उस ग्रहण करने मे असमर्थ है, अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता, है क्योकि उसे कोई उपमा नही दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्ताधान है। उस अपद का कोई पद नही है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नही है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके[13]। उसके बारे मे केवल इतना ही कहा जा सकता है, वह अरूप, अरस अवर्ण, अगध और अस्पर्श है क्योकि वह इन्द्रिय ग्राह्य नही है।

गीता में मोक्ष का स्वरूप—

गीता की समग्र साधना का लक्ष्य परमतत्व, ब्रह्म अक्षर पुरुष अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति कहा जा सकता है। गीताकार प्रसगान्तर से उसे ही मोक्ष निर्वाणपद, अव्यय पद, परमपद, परमगति और परमधाम भी कहता है। जैन एव बौद्ध विचारणा के समान गीताकार की दृष्टि मे भी ससार पुनरागमन या जन्म मरण की प्रक्रिया से युक्त है जबकि मोक्ष पुनरागमन या जन्म मरण का अभाव है। गीता का साधक इसी प्रेरणा को लेकर आगे बढता है (जरामरणमोक्षाय 7 29) और कहता है, "जिसको प्राप्त कर लेने पर पुन: ससार मे नही लौटना होता है उस परम पद की गवैषणा करना चाहिए"[14]। गीता का ईश्वर भी साधक

---

12. णवि दु क्ख णवि सुक्ख णवि पीडा णेवविज्जदे बाहा।
णवि मरण णवि जणणं तत्थेव य होई णिव्वाण ॥
णिव इदिय उवसग्गा णिव मोहो विम्हियो ण णिद्दाय।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव हवदि णिव्वाण ॥ —नियमसार १७८-१७९

13. सव्वे सरा नियट्ठति, तक्क जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गहिया ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने
—उवम्प न विज्जए अरूवी सत्ता अपयस्स पय नत्थि। —आचाराग १।५।६।१७१
तुलना कीजिए—
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—तैत्तरीय २।९
न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा —मुण्डक ३।१।८

14 तत. पदं तत्परिमार्गितव्य, यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। —गीता १५।४

को आश्वस्त करते हुए यही कहता है कि "जिसे प्राप्त कर लेने पर पुन: ससार में आना नही होता, वही मेरा परमधाम (स्वस्थान) है।" परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर दुःखो के घर इस अस्थिर पुर्नजन्म को प्राप्त नही होते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त समग्र जगत पुनरावृति युक्त है। लेकिन जो भी मुझे प्राप्त कर लेता है उसका पुर्नजन्म नही होता[15]। "मोक्ष के अनावृत्ति रूप लक्षण को बताने के साथ ही मोक्ष के स्वरूप का निर्वचन करते हुए गीता कहती है "इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्व हैं, जो सभी प्राणियो में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है अर्थात् चेतना पर्यायो मे जो अव्यक्त है उनसे भी परे उनका आधार भूत आत्मतत्व है। चेतना की अवस्थाएँ नश्वर है, लेकिन उनसे परे रहने वाला यह आत्मतत्व सनातन है जो प्राणियो मे चेतना (ज्ञान) पर्यायो के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी उन प्राणियो तथा उनकी चेतना पर्यायो (चेतन अवस्थाओ) के नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता है। उसी आत्मा को अक्षर और अव्यक्त कहा गया है, और उसे ही परमगति भी कहते हैं वही परमधाम भी है वही मेरा परमात्म स्वरूप आत्मा का निज स्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुन. निवर्तन नही होता[16]। उसे अक्षर ब्रह्म परमतत्व, स्वभाव (आत्मा की स्वभाव दशा) और आध्यात्म भी कहा जाता है[17]। गीता की दृष्टि मे मोक्ष निर्वाण है परमशान्ति का अधिस्थान है[18]। जैन दार्शनिको के समान गीता भी यह स्वीकार करती है कि मोक्ष सुखावस्था है। गीता के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अत्यन्त सुख (अनन्त सौख्य) का अनुभव करता है[19]। यद्यपि गीता एवं जैन दर्शन मे मुक्तात्मा मे जिस सुख की कल्पना की गई है वह न ऐन्द्रिय सुख है न वह मात्र दुःखाभाव रूप सुख है। वरन् वह अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य अनश्वर सुख है[20]।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप—

भगवान बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न प्रारम्भ से विवाद का विषय रहा है। स्वय बौद्ध दर्शन के आवन्तर सम्प्रदायो में भी निर्वाण के स्वरूप को लेकर आत्यन्ति विरोध पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं जो एक तुलनात्मक अध्येता को अधिक कठिनाई मे डाल देते हैं। वस्तुतः इस कठिनाई का मूल कारण पालि निकाय में निर्वाण का विभिन्न दृष्टियो से अलग-अलग प्रकार से विवेचन किया जाना है। आदरणीय श्री पूसें[21] एव प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त[22]

---

15. (अ) यप्राप्य न निर्वतन्ते तद्धाम परम मम। —गीता ८।२१
 (ब) यगत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम। —गीता १५।६
 (स) मामुपेत्य पुर्नजन्म दु:खालयमशाश्वतम्।
 नाप्नुवन्ति महात्मान. ससिद्धिं परमा गता.। —गीता ८।१५
16 गीता—८।२०-२१
17 अक्षर ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्मुच्यते। —गीता ८।३
18. शान्ति निर्वाणपरम। —गीता ६।१५
19. सुखेन ब्रह्मसस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते। —गीता ६।२८
20. सुखमात्यन्तिक यताद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। —गीता ६।२१
21. इनसाइक्लोपेडिया आफ इथिक्स एण्ड रिलीजन
22 आस्पेक्टस ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान

ने बौद्ध निर्वाण के सम्बन्ध मे विद्वानो के दृष्टिकोणो को निम्न रूप से वर्गीकृत किया है।

(1) निर्वाण एक अभावात्मक तथ्य है।

(2) निर्वाण अनिवर्चनीय अव्यक्त अवस्था है।

(3) निर्वाण की बुद्ध ने कोई व्याख्या नही दी है।

(4) निर्वाण भावात्मक विशुद्ध पूर्ण चेतना की अवस्था है।

बौद्ध दर्शन के आवन्तर प्रमुख सम्प्रदायो का निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से दृष्टि भेद हैं—

(1) वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण सस्कारों या सस्कृत धर्मों का अभाव है क्योकि सस्कृत धर्मता ही अनित्यता है, यही बन्धन है, यही दुःख है, लेकिन निर्वाण तो दुःख निरोध है, बन्धनाभाव है और इसलिए वह एक असस्कृत धर्म है और असस्कृत धर्म के रूप मे उसकी भावात्मक सत्ता है। वैभाषिक मत के निर्वाण के स्वरूप को अभिधर्म कोष व्याख्या मे निम्न प्रकार से बताया गया है "निर्वाण नित्य असस्कृत स्वतन्त्र सत्ता, पृथक-भूत, सत्य पदार्थ (द्रव्यसत) है"[23]। निर्वाण में सस्कार या पर्यायो का अभाव होता है लेकिन यहा सस्कारो के अभाव का अर्थ अनस्तित्व नही है, वरन् एक भावात्मक अवस्था ही है। निर्वाण असस्कृत धर्म है। प्रोफेसर शरवात्स्की[24] ने वैभाषिक निर्वाण की अनन्त मृत्यु कहा है। उनके अनुसार निर्वाण आध्यात्मिक अवस्था नही वरन् चेतना एव क्रिया शून्य जड अवस्था है। लेकिन समादरणीय एस. के. मुकर्जी, प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त[25] और प्रोफेसर मूर्ति[26] ने प्रोफेसर शारवात्स के इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इन विद्वानो के अनुसार वैभाषिक निर्वाण निश्चित रूप के एक भावात्मक अवस्था है। जिसमे यद्यपि सस्कारों का अभाव होता लेकिन फिर भी उसकी असस्कृत धर्म के रूप मे भावात्मक सत्ता होती है। वैभाषिक निर्वाण में चेतना का अस्तित्व होता है या नही है? यह प्रश्न भी विवादास्पद है, प्रोफेसर शरवात्सकी निर्वाण दशा मे चेतना का अभाव मानते हैं लेकिन प्रोफेसर मुकर्जी[27] इस सम्बन्ध मे एक परिष्कारित दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, उनके अनुसार यशोमित्र की अभिधर्मकोष की टीका के आधार पर निर्वाण की दशा मे विशुद्ध मानस या चेतना रहती है।

डा. लाड ने अपने शोध प्रबन्ध मे एव विद्वत्वर्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध दर्शन मीमासा मे वैभाषिक बौद्धो के एक तिब्वतीय उप सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था मे केवल वासनात्मक एव क्लेशोत्पादक (सास्त्रव) चेतना का ही अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण की दिशा मे अनास्त्रव विशुद्ध चेतना का अस्तित्व बना रहता है[28]। वैभाषिको के इस उप सम्प्रदाय का यह

---

23 द्रव्य सत् प्रतिसख्या निरोधः सत्यचतुष्टय—निर्देश–निर्द्दिष्टत्वात् मार्ग सत्येव इति वैभाषिकाः। —यशोमित्र-अभिधर्म कोष व्याख्या, पृ. १७।

24. बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ. २७

25. आस्पेक्ट्स ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान, पृ. १६२

26. सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ. २७२-७३

27. बुद्धिस्ट फिलासफी आप युनिवर्सल फ्लक्स पृ. २५२

28. ए कम्परेटिव स्टेडी ऑफ दी कानसेप्ट आफ लिबरेशन इन इडियन फिलासफी, पृ. ६६
(ब) बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ. १४७

दृष्टिकोण जैन विचारणा के निर्वाण के अति समीप आ जाता है। क्योकि यह जैन विचारणा के समान निर्वाणावस्था मे सत्ता (अस्तित्व) और चेतना (ज्ञानोपयोग एव दर्शनोपयोग) दोनो को स्वीकार करता है। वैभाषिक दृष्टिकोण निर्वाण को सस्कारो की दृष्टि से अभावात्मक, द्रव्य सत्यता की दृष्टि से भावात्मक एव बौद्धिक विवेचना की दृष्टि से अनिर्वचनीय मानता है, फिर भी उसकी व्याख्याओ मे निर्वाण का भावात्मक या सत्तात्मक पक्ष अधिक उभरा है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय वैभाषिक सम्प्रदाय के समान यह मानते हुए भी कि निर्वाण सस्कारो का अभाव है, वह स्वीकार नही करता है कि असस्कृत धर्म की कोई भावात्मक सत्ता होती हैं। इनके अनुसार केवल परिवर्तनशीलता ही तत्व का यथार्थ स्वरूप है। अत सौत्रान्तिक निर्वाण की दशा में किसी असस्कृत अपरिवर्तनशील नित्य तत्व की सत्ता को स्वीकार नही करते। उनकी मान्यता मे ऐसा करना बुद्ध के अनित्यवाद और क्षणिकवाद की अवहेलना करना है। शरवात्स्की के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय मे 'निर्वाण का अर्थ है जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो जाना जिसके पश्चात् ऐसा कोई जीवन शून्य तत्व शेष नही रहता है, जिसमें जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो गई है"। निर्वाण क्षणिक चेतना प्रवाह का समाप्त हो जाना है, जिसके समाप्त हो जाने पर कुछ भी अवशेष नही रहता। क्योकि इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। परिवर्तनशीलता के अतिरिक्त तत्व की कोई स्वतत्र सत्ता नही है। और निर्वाण दशा मे परिवर्तनो की शृंखला समाप्त हो जाती है, अत उसके परे कोई सत्ता शेष नही रहती है। इस प्रकार सौत्रान्तिक निर्वाण मात्र अभावात्मक अवस्था है वर्तमान में वर्मा और लका के बौद्ध निर्वाण को अभावात्मक एव अनस्तित्व के रूप मे देखते हैं। निर्वाण के भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वचनीय पक्षो की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक विचारणा निर्वाण के अभावात्मक पक्ष पर अधिक बल देती है। यद्यपि इस प्रकार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का निर्वाण अभावात्मक दृष्टिकोण जैन विचारणा के विरोध मे जाता है। लेकिन सौत्रान्तिकों में भी एक ऐसा उपसम्प्रदाय था, जिसके अनुसार निर्वाण पूर्णतया अभावात्मक दशा नही था। उनके अनुसार निर्वाण अवस्था में भी विशुद्ध चेतना पर्यायो का प्रवाह निर्वाण की अवस्था मे रहता है। यह दृष्टिकोण जैन विचारणा की इस मान्यता के निकट आता है, जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था मे भी आत्मा मे परिणामीपन बना रहता है अर्थात् मोक्ष दशा मे आत्मा मे चैतन्य ज्ञान धारा सतत रूप से प्रवाहित होती रहती है।

(3) विज्ञानवाद (योगाचार)—महायान के प्रमुख ग्रथ लकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्ति विज्ञानो की अप्रवृतावस्था है, चित्त प्रवृत्तियो का निरोध है।[29] स्थिरमति के अनुसार निर्वाण क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय है।[30] असग के अनुसार निवृत चित्त (निर्वाण) उचित है क्योकि वह विषयों का ग्राहक नही है। वह अनुपलम्भ है क्योकि उसको कोई बाह्य आलम्बन नही है और इस प्रकार आलम्बन रहित होने से लोकोत्तर ज्ञान है। दौष्ठुल्य अर्थात आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से निवृत चित्त आलयविज्ञान) परावृत नही होता प्रवृत नहीं होता।[31] वह अनावरण और आस्त्रवधातु है, लेकिन असग केवल

---

29 लकावतार सूत्र—२।६२

30. क्लेशज्ञेयावरण प्रहाणमपि मोक्ष सर्वज्ञत्वाधिगमार्थम।—स्थिरमति त्रिंशिको की वि. भा. पृ. १५

31. अचित्तोऽनुपलम्भो सो ज्ञान लोकोत्तर चतत। आश्रयस्यपरावृतिर्द्धिधादौष्ठुल्य हानित.।
—त्रिंशिका २९

इस निषेधात्मक विवेचन से सन्तुष्ट नहीं होते, वे निर्वाण की अनिर्वचनीय एव भावात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। निर्वाण अचिन्त्य है क्योंकि तर्क से उसे जाना नहीं जा सकता लेकिन अचिन्त्य होते हुए भी वह कुशल है, शाश्वत है, सुख रूप है, विमुक्तकाय है, और धर्माख्य है।[32] इस प्रकार विज्ञानवादी मान्यता मे निर्वाण की अभाव परक और भावपरक व्याख्याओं के साथ-साथ उनकी अनिर्वचनीयता को भी स्वीकार किया गया है वस्तुत: निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप के विकास का श्रेय विज्ञानवाद और शून्यवाद को ही है। लकावतार सूत्र मे निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है। लकावतार सूत्र के अनुसार निर्वाण विचार की कोटियो से परे है लेकिन फिर भी विज्ञानवाद निर्वाण को इस आधार पर नित्य माना जा सकता है कि निर्वाण लाभ से ज्ञान उत्पन्न होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर विज्ञानवादी निर्वाण का जैन विचारणा से निम्न अर्थों मे साम्य है। (1) निर्वाण चेतना का अभाव नही हैं, वरन् विशुद्ध चेतना की अवस्था है। (2) निर्वाण समस्त सकल्पो का क्षय है, वह चेतना की निर्विकल्पावस्था है। (3) निर्वाणावस्था मे भी चैतन्य धारा सतत प्रवाहमान रहती है (आत्मपरिणमीपन) यद्यपि डा. चन्द्रधर शर्मा ने आलय विज्ञान को अपरिवर्तनीय या कूटस्थ माना है।[33] लेकिन आदरणीय बलदेव उपाध्याय उसे प्रवाहमान या परिवर्तनशील ही मानते हैं।[34] (4) निर्वाणावस्था सर्वज्ञता की अवस्था है। जैन विचारणा के अनुसार उस अवस्था मे केवल ज्ञान और केवल दर्शन है। असग ने महायान सूत्रालकार मे धर्मकाय को, जो कि निर्वाण की पर्यायवाची है, स्वाभाविक काय कहा है।[35] जैन विचारणा भी मोक्ष को स्वभाव दशा कहा जाता है। स्वाभाविक काय और स्वभाव दशा अनेक अर्थों मे अर्थ-साम्य रखते हैं।

(4) शून्यवाद—बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय मे निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वाधिक विकास हुआ है। जैन तथा अन्य दार्शनिको ने शून्यता का अभावात्मक अर्थ ग्रहण कर माध्यमिक निर्वाण को अभावात्मक रूप में देखा है, लेकिन यह उस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को समझने मे सबसे बडी भ्रान्ति ही कही जा सकती है। माध्यमिक दृष्टि से निर्वाण अनिवर्चनीय है, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है, वही परमतत्व है। वह न भाव है, न अभाव है।[36] यदि वाणी से उसका निर्वचन करना ही आवश्यक हो तो मात्र यह कहा जा सकता है कि निर्वाण अप्रहाण, असम्प्राप्त अनुच्छेद अशाश्वत, अनिरुद्ध, अनुत्पन्न है।[37] निर्वाण को भाव रूप इसलिए नही माना जा सकता है कि भावात्मक वस्तु या तो

---

32. स एवानास्रवो धातुरचिन्त्य: कुशलो ध्रुव: ।—त्रिंशिका 30
33. देखिये—A critical survey of Indian Philosophy—by C. D. Sharma
34. बौद्ध दर्शन मीमासा
35. महायान सूत्रालकार ९।६० (महायान-शान्तिभिक्षु पृष्ठ ७३)
36. भावाभाव परामर्शक्षयो निर्वाण उच्यते ।—माध्यमिककारिका वृति पृष्ठ ५२४
[उद्धृत दी सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धीज्म (टी. आर. व्ही. मुर्त्ती) पृष्ठ २७४]
37. अप्रहीणम सम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरूद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥ —माध्यमिक कारिका वृति पृ. ५२१

नित्य होगी या अनित्य। नित्य मानने पर निर्वाण के लिए किये प्रयासो का कोई अर्थ नही होगा। अनित्य मानने पर बिना प्रयास ही मोक्ष होगा। निर्वाण को अभाव भी नही कहा जा सकता, अन्यथा तथागत के द्वारा उसकी प्राप्ति का उपदेश क्यो दिया जाता। निर्वाण को प्रहाण और सम्प्राप्त भी नही कहा जा सकता, अन्यथा निर्वाण कृतक एवं कालिक होगा और यह मानना पडेगा। वह काल विशेष मे उत्पन्न हुआ और यदि वह उत्पन्न हुआ तो वह जरामरण के समान अनित्य ही होगा। निर्वाण को उच्छेद या शाश्वत भी नही कहा जा सकता अन्यथा शास्ता के मध्यम मार्ग का उल्लघन होगा और हम उच्छेदवाद या शाश्वतवाद की मिथ्या दृष्टि से ग्रसित होगे। इसलिए माध्यमिक नय मे निर्वाण भाव और अभाव दोनो नही हैं। वह तो सर्व संकल्पनाओ का क्षय है, प्रपचोपशमता है।

बौद्धदार्शनिको एव वर्तमान युग के विद्वानों मे बौद्ध दर्शन मे निर्वाण के स्वरूप को लेकर जो मतभेद दृष्टिगत होता है उसका मूल कारण बुद्ध द्वारा निर्वाण का विविध दृष्टिकोणो के आधार पर विविध रूप से कथन किया जाना है। पाली-निकाय मे निर्वाण के इन विविध स्वरूपो का विवेचन उपलब्ध होता है। उदान नामक एक लघु ग्रन्थ मे ही निर्वाण के इन विविधरूपो को देखा जा सकता है।

निर्वाण एक भावात्मक तथ्य है—

इस सन्दर्भ में बुद्ध वचन इस प्रकार है। "भिक्षुओ (निर्वाण) अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत है। भिक्षुओ यदि वह अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत नही होता तो जात, भूत, कृत, और संस्कृत का व्युपशम नही हो सकता। भिक्षुओ क्योकि वह अजात, अभूत, अकृत और असस्कृत है इसलिए जात भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम जाना जाता है[38]। धम्मपद मे निर्वाण को परम सुख[39] अच्युत स्थान अमृत पद[40] कहा गया है। जिसे प्राप्त कर लेने पर न च्युति का भय होता है, न शोक होता है। उसे शान्त ससारोपशम एव सुख पद भी कहा गया है[41]। इति वुत्तक मे कहा गया वह ध्रुव, न उत्पन्न होने वाला, शोक और राग रहित है, सभी दु.खो का वहा निरोध हो जाता है, वहा सस्कारो की शान्ति एव सुख है[42]। आचार्य बुद्ध घोष निर्वाण की भावात्मकता का समर्थन करते हुए विशुद्धिमग्ग लिखते हैं—निर्वाण नही है, ऐसा नही कहना चाहिए। प्रभव और जरामरण के अभाव से नित्य है—अशिथिल, पराक्रम सिद्ध, विशेष ज्ञान से प्राप्त किए जाने से और सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण अविद्यमान नही है[43]।

निर्वाण की अभावात्मकता—निर्वाण की अभावात्मकता के सम्बन्ध मे उदान के रूप मे निम्न बुद्ध वचन है, "लोहे पर घन की चोट पडने पर जो चिनगारिया उठती है सो तुरन्त ही बुझ जाती है—कहा गई कुछ पता नही चलता। इसी प्रकार काम बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाए हुए पुरुष की गति का कोई भी पता नही लगा सकता"[44]।

---

38. उदान ८।३ पृ. ११०-१११ (ऐसा ही वर्णन इतिवुत्तक २।२।६ मे भी है)
39. धम्मपद २०३, २०४ (निब्बाण परम सुखा)
40. अमत सन्ति निब्बाण पदमच्चुत—सुत्त-निपात-पारायण वग्ग
41. पद सन्त सखारूपसम सख—धम्मपद ३६८
42. इतिवुत्तक २।२।६
43. विशुद्धि मग्ग (परिच्छेद १६) भाग २, पृ. ११६-१२१ (हिन्दी अनुवाद-भिक्षुधर्म रक्षि)
44. उदान पाटलिग्राम वर्ग ८।१०

शरीर छोड दिया, सज्ञा निरुद्ध हो गई,
सारी वेदनाओ को भी बिलकुल जला दिया।
संस्कार शान्त होगए, विज्ञान अस्त हो गया[45] ।।

लेकिन दीप शिखा और अग्नि के बुझ जाने अथवा सज्ञा के निरुद्ध हो जाने का अर्थ अभाव नही माना जा सकता, आचार्य बुद्धघोष विशुद्धिमग्ग मे कहते हैं निरोध का वास्तविक अर्थ तृष्णाक्षय अथवा विराग है[46]। प्रोफेसर कीथ एव प्रोफेसर नलिनाक्षदत्त अग्गि वच्छ-गोत्तमुत्त के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि बुझ जाने का अर्थ अभावात्मकता नही है, वरन अस्तित्व की रहस्यमय, अवर्णणीय अवस्था है। प्रोफेसर कीथ के अनुसार निर्वाण अभाव नही वरन् चेतना का अपने मूल (वास्तविक शुद्ध) स्वरूप मे अवस्थित होना है। प्रोफेसर निलनाक्षदत्त के शब्दो में निर्वाण की अग्नि शिखा के बुझ जाने से, की जाने वाली तुलना समुचित है, क्योकि भारतीय चिन्तन मे आग के बुझ जाने से तात्पर्य उसके अनस्तित्व से न होकर उसका स्वभाविक शुद्ध अदृश्य अव्यक्त अवस्था मे चला जाना है, जिसमें की वह अपने दृश्य प्रगटन के पूर्व रही हुई थी। बौद्ध दार्शनिक सघभद्र का भी यही निरूपण है कि अग्नि की उपमा से हमको यह कहने का अधिकार नही है कि निर्वाण अभाव है[47]। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार भी निर्वाण अस्ति धर्म (अत्थिधम्म) एकान्त सुख एव अप्रतिभाग है उसका लक्षण स्वरूपत नही बताया जा सकता किन्तु गुणत दृष्टान्त के रूप में कहा जासकता है कि जिस प्रकार जल प्यास को शान्त करता है, निर्वाण त्रिविध तृष्णा को शान्त करता है। निर्वाण को अकृत कहने से भी उसकी एकान्त अभावत्मकता सिद्ध नही होती। आर्य (साधक) निर्वाण का उत्पाद नही करता फिर भी वह उसका साक्षात्कार (साक्षीकरोति) एव प्रतिलाभ (प्राप्नोति) करता है। वस्तुत निर्वाण को अभावात्मक रूप मे इसीलिए कहा जाता है कि अनिर्वचनीय का निर्वचन करना भावात्मक भाषा की अपेक्षा अभावात्मक भाषा अधिक युक्तिपूर्ण होती है।

निर्वाण की अनिर्वचनीयता—निर्वाण की अनिर्वच-नीयता के सम्बन्ध मे निम्न बुद्ध वचन उपलब्ध है—
"भिक्षुओ, न तो मैं उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नही कहता हूं। वह न तो कही ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है यही दुखो का अन्त है।[48] भिक्षुओ। अनन्त[49] का समझना कठिन है, निर्वाण का समझना आसान नही। ज्ञानी की तृष्णा नष्ट हो जाती है उसे (रागादिक्लेश) कुछ नही है।[50] जहाँ (निर्वाण) जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नही ठहरती, वहाँ न तो शुक्र और न आदित्य प्रकाश करते है। वहाँ चन्द्रमा की प्रभा भी नही है, न वहाँ अधकार ही होता है। जब क्षीणाश्रव भिक्षु अपने आपको जान लेता है

---

45. उदान ८।९
46. विशुद्धिमग्ग, परिच्छेद ८ एव १६
47. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. २९४ पर उदधृत
48. उदान ८।१
49. मूल पाली मे, यहाँ पाठान्तर है—तीन पाठ मिलते है १. अनत्त २ अनत ३. अनन्त। हमने यहाँ "अनन्त" शब्द का अर्थ ग्रहण किया है। आदरणीय काश्यपजी ने अनत (अनात्म) पाठ को अधिक उप-युक्त माना है लेकिन अट्ठकथा में दोनो ही अर्थ लिए गए हैं।
50. उदान ८।३

तब रूप-अरूप तथा सुख-दु.ख से छूट जाता है।[51] उदान का यह वचन हमे गीता के उस कथन की याद दिला देता है, जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं जहाँ न पवन बहता है, न चन्द्र सूर्य प्रकाशित होते हैं, जहाँ जाने पर पुन· इस ससार में आया नही जाता वही मेरा (आत्मा का) परम धाम (स्वस्थान) है।

बौद्ध निर्वाण की यह विशद विवेचना हमे इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन का निर्वाण अभावात्मक तथ्य नही था। इसके लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं —

(1) निर्वाण यदि अभाव मात्र होता तो वह तृतीय आर्य सत्य कैसे होता ? क्योंकि अभाव आर्यचित का आलम्बन नही हो सकता।

(2) तृतीय आर्य सत्य का विषय द्रव्य सत नही है तो उसके उपदेश का क्या मूल्य होगा ?

(3) यदि निर्वाण मात्र निरोध या अभाव है तो उच्छेद दृष्टि सम्यक दृष्टि होगी लेकिन बुद्ध ने तो सदैव ही उच्छेद दृष्टि को मिथ्या दृष्टि कहा है।

(4) महायान की धर्म काय की धारणा और उसकी निर्वाण से एकरूपता तथा विज्ञानवाद के आलय विज्ञान की धारणा निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या के विपरीत पडते हैं। अत· निर्वाण का तात्विक स्वरूप अभाव सिद्ध नही होता है। उसे अभाव या निरोध कहने का तात्पर्य यही है कि उसमें वासना या तृष्णा का अभाव है। लेकिन जिस प्रकार रोग का अभाव, अभाव होते हुए भी सद्भूत है, उसे आरोग्य कहते हैं उसी प्रकार तृष्णा का अभाव भी सद्भूत है उसे सुख कहा जाता है। दूसरे उसे अभाव इसलिए भी कहा जाता है कि साधक में शाश्वतवाद की मिथ्या दृष्टि भी उत्पन्न नही हो। राग का प्रहाण होने से निर्वाण मे मैं (अत्त) और मेरापन (अत्ता) नही होता इस दृष्टिकोण के आधार पर उसे अभाव कहा जाता है। निर्वाण राग का अह का पूर्ण विगलन है। लेकिन अह या ममत्व की समाप्ति को अभाव नही कहा जा सकता। निर्वाण की अभावात्मक कल्पना 'अनत्त' शब्द का गलत अर्थ समझने से उत्पन्न हुई है। बौद्ध दर्शन में अनात्म (अनत्त) शब्द आत्म (तत्व) का अभाव नही बताता वरन् यह बताता है कि जगत मे अपना या मेरा कोई नही है, अनात्म का उपदेश असक्ति के प्रहाण के लिए, तृष्णा के क्षय के लिए है, निर्वाण 'तत्व' का अभाव नही वरन् अपनेपन या अह का अभाव है। वह वैयक्तिकता का अभाव है, व्यक्तित्व का नही। अनत्त (अनात्म) वाद की पूर्णता यह बताने मे है कि जगत मे ऐसा कुछ भी नही है जिसे मेरा या अपना कहा जा सके। सभी अनात्म है। इस शिक्षा का सच्चा अर्थ यही है कि मेरा कुछ भी नही है। क्योकि जहा मेरापन (अत्त भाव) आता है वहाँ राग एव तृष्णा का उदय होता है। स्व पर में अवस्थित होता है, आत्म दृष्टि (ममत्व) उत्पन्न होती है। लेकिन यही आत्म दृष्टि स्व का पर में अवस्थित होना अथवा राग एव तृष्णा की वृत्ति बन्धन है, जो तृष्णा है, वही राग है;

---

51. यत्थ आपो न पठवी तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोवन्ति आदिच्चो न प्पकासति॥
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति। उदान १।१०
तुलना कीजिए—न तम्दासयते सूर्यो न शशांको न पावक.।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥ गीता १५।६

और जो राग है वही अपनापन है। निर्वाण में तृष्णा का क्षय होने से राग नही होता, राग नही होने से अपना पन (अत्ता) भी नही होता। बौद्ध निर्वाण की अभावात्मकता का सही अर्थ इस अपनेपन का अभाव है वह तत्व अभाव नही है। वस्तुत तत्व लक्षण की दृष्टि से निर्वाण एक भावात्मक अवस्था है। मात्र वासनात्मक पर्यायो के अभाव के कारण ही वह अभाव कहा जाता है। अत प्रोफेसर कीथ और नलिनाक्षदत्त की यह मान्यता कि बौद्ध निर्वाण अभाव नही है, बौद्ध विचारणा की मूल विचारदृष्टि के निकट ही है। यद्यपि बौद्ध निर्वाण एक भावात्मक तथ्य है फिर भी भावात्मक भाषा उसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने मे समर्थ नही है क्योकि भाव किसी पक्ष को बताता है और पक्ष के लिए प्रतिपक्ष की स्वीकृति अनिवार्य है जबकि निर्वाण तो पक्षातिक्रात है। निषेधमूलक कथन की यह विशेषता होती है कि उसके लिए किसी प्रतिपक्ष की स्वीकृति को आवश्यक नही बढा सकता। अत· अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में निषेधात्मक भाषा का प्रयोग ही अधिक समीचीन है। इस निषेधात्मक विवेचनाशैली ने निर्वाण की अभावात्मक कल्पना को अधिक प्रबल बनाया है। वस्तुत निर्वाण अनिर्वचनीय है।

जैन संस्कृति एवम् कला

पंचम खण्ड

जैन पुरातत्व एवं कला

मधुसूदन नरहरि देशपान्डे

जब हम प्राचीन भारतीय स्थापत्य-शिल्प और चित्र-कला के विकास का विहगावलोकन करते हैं तब हमें एक विशिष्टता प्रतीत होती है कि इन कलाओं के विकास का एक अखण्ड और शक्तिशाली प्रवाह रहा है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि बौद्ध, हिन्दू और जैन धर्माधिष्ठित कला का पृथक्-पृथक् प्रवाह रहा है; वास्तव मे उनको भारतीय सस्कृति का मर्म ही ज्ञात नही है, ऐसा कहना पड़ेगा। भारतीय कला के विकास में धार्मिक स्थलो को सौन्दर्यपूर्ण विकास करने की भावना, मूर्ति-पूजा और तदनुसगिक धर्माचरण में प्रेरणादायक होती है। राजा हो या धनिक दाता हो या सामान्य मानव हो, हर एक ने अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप भारतीय सस्कृति के कला भण्डारों से अद्भुत एवं सुन्दर रत्न निकाले हैं। और अपनी-अपनी निष्ठा और श्रद्धा के अनुरूप कलात्मक वस्तु या वास्तु का निर्माण किया है; उन सभी का मूल्याकन और रसास्वादन भी भारतीय कला के आविष्कार के रूप में ही होना चाहिए। हर एक शैली मे कम या अधिक वैशिष्ट्य जरूर होता है परन्तु भारतीय कला के पुष्पहार मे धर्मनिष्ठ पृथकत्व की कल्पना करना सर्वथा अयोग्य और अनुचित है। वैसे देखा जाय तो शैली भी कालानुरूप परिवर्तित होती रहती है, लेकिन इस शैली के ऐसे परिवर्तन में आशय, प्रेरणा और प्राणतत्व की दृष्टि से मूलभूत परिवर्तन कभी होता ही नही। अपितु परिवर्तन के स्वरूप मे परिवर्धन, सशोधन और सवर्धन होता है। इसीलिए भारतीय कला के प्रांगण में आशय, प्रेरणा और प्राणतत्व की दृष्टि से सर्वत्र एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। ऐसे कला-प्रवाह में अलग-अलग स्रोत की कल्पना करना, वैसा ही हास्यास्पद होगा, जैसा कि त्रिवेणी प्रवाह से गगा, यमुना और सरस्वती के स्रोतों को अलग करना। भारतीय सस्कृति के गर्भ से पैदा हुए आचार, विचार और सस्कारित हुए कलात्मक मानबिन्दु, जब तत्कालीन कला माध्यम से अपना रूप धारण करते हैं तब उनमे पृथकत्व देखना भारतीय कला सस्कृति की महती परंपरा पर अन्याय करने के समान है।

जैसा कि ईसा पूर्व तीन शताब्दि से मथुरा नगरी बौद्ध, हिन्दू और जैन कला का मायका माना जाता है। परन्तु वहाँ की कला "भारतीय कला" इसी नाम से जानी पहचानी जाती है। वहाँ उक्त तीनों धर्म प्रचलित थे। अपने-अपने धर्म के अनुयायी अहंमहमिका

की भावना से स्तूप, मूर्ति, भवन और प्रासाद निर्माण करने लगे। हर-एक के पीछे जो आशय और रचना का ढग था, उसके पीछे थोडी-सी भिन्न (अलग) प्रेरणा थी परतु कलामूल्य और कला माध्यम की दृष्टि से उन सब मे एक विलक्षण साम्य प्रतीत होता है। गुप्त कालोत्तर बनाए हुए जैन और हिन्दू मन्दिर स्थापत्य और कला की दृष्टि से अलग नही है। विषय अलग हो सकते हैं लेकिन उनका कलात्मक रूप सम्पूर्ण एकात्मक एव भारतीय है। इस पार्श्वभूमि मे भारतीय कला मे जैनो का योगदान क्या रहा है? इसका सामान्य परिचय इस सक्षिप्त लेख मे दिया जा रहा है। परतु इससे पहले जैन धर्म के उद्गम और विकास पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

श्री वर्द्धमान महावीर स्वामी जैनो के चौवीसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। इस वर्ष हम उनके महानिर्वाण की 25 वी शताब्दी मना रहे हैं। उनसे पहले परपरा के अनुसार 23 तीर्थंकर हो चुके थे। उनमें से तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ थे, जो महावीर स्वामी के महानिर्वाण से 250 वर्ष पूर्व हो चुके थे। ऐसे विश्वसनीय प्रमाण मिलते हैं कि वे एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक पुरुष थे। उन्होने "चाउज्जाम धम्म" (चार व्रतों का धर्म) प्रतिपादित किया। उसी को "पच सिक्खिओ" (पच महाव्रतयुक्त) बनाकर महावीर जी ने पुन: प्रतिपादित किया ऐसा उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है। "चाउज्जमो या जो धम्मो, जो इमो पच सिक्खिओ। देसिओ बद्‌धमाणेण पासेण य महामुनी" यह चतुर्याम धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया था और यह पचशिखा युक्त धर्म है जिसका प्रतिपादन वर्द्धमान महावीर जी ने किया। भगवान महावीरजी की सबसे बडी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस धर्म का उपदेश लोक भाषा में किया, "सव्वाणुगामिणीए सक्कर मधुराए भासाए" अर्थात् सबको सहजरूप से समझ में आनेवाली शर्करा के समान मधुर भाषा का सहारा लिया। उच्च वर्ग की सस्कृत भाषा को त्याग करके उन्होने अहिंसा और त्यागमय नैतिक जीवनयुक्त तत्वज्ञान का उपदेश लोकभाषा मे दिया। इतना ही नही उन्होंने मोक्ष का द्वार जनसाधारण के लिए खोल दिया। यज्ञ काड प्रचुर ब्राह्मणी वर्चस्व और जातिनिष्ठ परपरा से जनता को निकालकर मुक्ति का एक प्रशस्त मार्ग दिखाया। उन्होने ब्राह्मण की व्याख्या ही बदल डाली—

> न हि मुडिए समणो, न ओकारेणे बम्भणो।
> न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण, न तावसो॥
> समयाए समणो होई, बम्भचारेण बम्भणो :
> नाणेण च मुणी होई, तवेण होइ तावसो॥

(उत्तराध्ययनसूत्र)

अर्थात् मुंडन करने से कोई श्रमण नही होता, ओकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्यवास करने से कोई मुनि नही होता और कुशवस्त्र पहनने से कोई तपस्वी नही होता। अपितु समभाव से श्रमण; ब्रह्मचर्य पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

भगवान महावीर लोकाभिमुख नेतृत्व से सामान्य जनो को तर्कप्रधान विचार करने में बडी सहायता मिली। इस प्रकार ईसा पूर्व 6वी शताब्दी में लगाया गया नव विचार और नवधर्म का नन्हा-सा पौधा अब महावृक्ष बन गया है और उसके पुष्पपरिमल से आसेतु हिमाचल पर्यन्त की भारत भूमि सुगन्धित हो गयी है।

प्राकृत (अर्ध-मागधी भाषा) में रचित आगम साहित्य, श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन साहित्य, महाराष्ट्री अपभ्रंश में और संस्कृत भाषा के अन्तर्गत विविध टीका साहित्य पैतृक दैन के रूप मे भारत की सब भाषाओं को प्राप्त हुआ है। इस साहित्य सम्पदा का परीक्षण भारतीय सस्कृति के विकास के सभी

स्रोतों पर प्रकाश डालता है, जैसे साहित्य, स्थापत्य, कला, तत्वज्ञान, सामाजिक जीवन, धर्माचरण और भारतीय भाषाओ का क्रमिक विकास इत्यादि । इस धर्म के विकास में चेदि कलिंग नृपति खारवेल से कुषाण, गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, पाड्य, गग, परमार, चन्देल, यादव, होयसल, विजयनगर आदि अनेक राजवश नृपतियो और धनिक श्रेष्ठियो तथा श्रावक-श्राविकाओ का उल्लेखनीय योगदान रहा है । इतना ही नहीं मुगल सम्राट अकबर के विचारो पर भी जैन मत का प्रभाव पडा था । महात्मा गाधीजी की विचार-धारा पर भी जैन धर्म और आचार का गहरा प्रभाव दिखाई पडता है ।

प्राचीन भारत मे इस धर्म की नीव समण (श्रमण) नाम से सबंधित किये जानेवाले और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अखड परिभ्रमण करनेवाले अत्यन्त कठिन व्रतधारी साधुओं ने डाली थी । श्रमणों की एक बहुत प्राचीन परपरा है । प्राचीन जैन और बौद्ध बाङमय मे ऐसे श्रमण समुदायो का उल्लेख मिलता है.—

"सबहुला नानातिथ्थिया न ना दिठ्ठिका,
नाना रुचिका, नानादिठ्ठिनिस्सर्यनिस्सिता,"

अर्थात् "बहुत बडी सख्या में अनेक गुरुओ को माननेवाले, विविध आचार-विचार, विविध योग, प्रवृति के विविध रुचिवाले और विविध दार्शनिक विचारधारा मे विश्वास करने वाले ऐसे विविध सम्प्रदाय वाले भारतसमाज की पार्श्वभूमि पर बुद्ध और महावीर दीपस्तम्भ जैसे दिखाई देते हैं । उन्होने दीर्घ और गहरा विचार मथन करके अपनी स्वतन्त्र अनुभूति से नवीन धर्म की नीव डाली । बौद्ध धर्म को माध्यम मार्ग (मज्जिमा पटिपदा) के रूप मे हम सब जानते हैं । जैन मत मे उग्र तपस्या अभिप्रेत है । परन्तु ऐसे कठोर तपस्या मार्गी पथ ने भी कला के क्षेत्र मे अत्यन्त महत्व का कार्य किया है, यह एक बडा विरोधाभास है । लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी है कि एक तरफ श्रमणों ने अपने जीवन मे असिधारा जैसे व्रती जीवन का आदर्श सँभाला और साथ-ही-साथ साहित्य और कलाप्रेमी श्रावक-श्राविकाओ ने अपने स्वाभाविक कला प्रेम से इस धर्म के तत्वज्ञान के साथ-साथ सुसगत कला साधना भी आरम्भ की । जैन धर्मावलम्बी धनिक श्रेष्ठियो ने स्थापत्य कला मे अग्रगण्य माने जाने वाले जिन-देवालय बनाये और भारतीय स्थापत्य कला को समृद्ध बनाया । भगवान महावीर जी की प्रमुख कार्य-भूमि बिहार राज्य थी । उनका जन्म वैशाली के निकट कुडलपुर ग्राम में हुआ था और केवल ज्ञान की प्राप्ति के उपरात महावीर जी ने मगध देश की राजधानी राजगृह मे अगदेश की राजधानी चम्पा मे, विदेह के अन्तर्गत मिथिला मे तथा श्रावस्ती में अपने वर्षावास व्यतीत किए ।

जैन कला का पहला आविष्कार

जैन मूर्तिकला का पहला आविष्कार यथार्थ रूप से हमको बिहार में दिखाई देता है । पटना सग्रहालय मे रखी एक मस्तकहीन दिगम्बर तीर्थंकर प्रतिमा, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी, मौर्य मूर्तिशिल्प की तरह चमकदार पालिशयुक्त है । बिहार मे बक्सर के निकट चौसा ग्राम में पाई गई एक शताब्दी ईसा पूर्व की, कुषाणकालीन ऋषभ व पार्श्वनाथ की कास्य प्रतिमाएँ जैन धातु शिल्प मे अत्यन्त प्राचीन मानी जाती हैं । ये दोनो प्रतिमाएँ पटना सग्रहालय मे सुरक्षित हैं ।

कलिंग, सौराष्ट्र और महाराष्ट्र की प्राचीन जैन गुफाएँ

मौर्य वर्चस्व के पश्चात् कलिंग देश के चेदि नृपति खारवेल ने ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में जैन धर्मी श्रमणो के लिए कलात्मक गुफा-समूह उत्कीर्ण करके
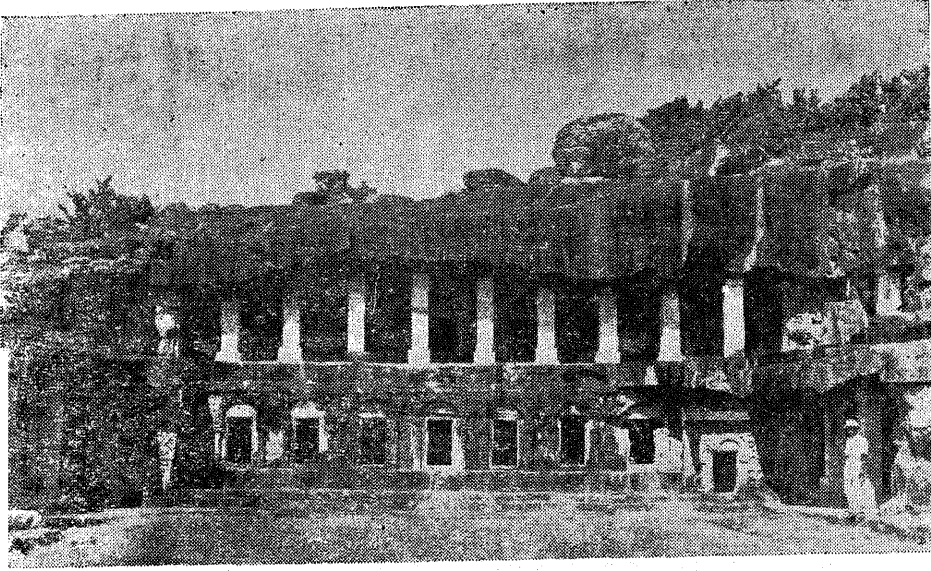
राणी गुम्फा का सुविख्यात दुमंजिला शैलगृह, उदयगिरि (ईसा पूर्व, २—री शताब्दी)
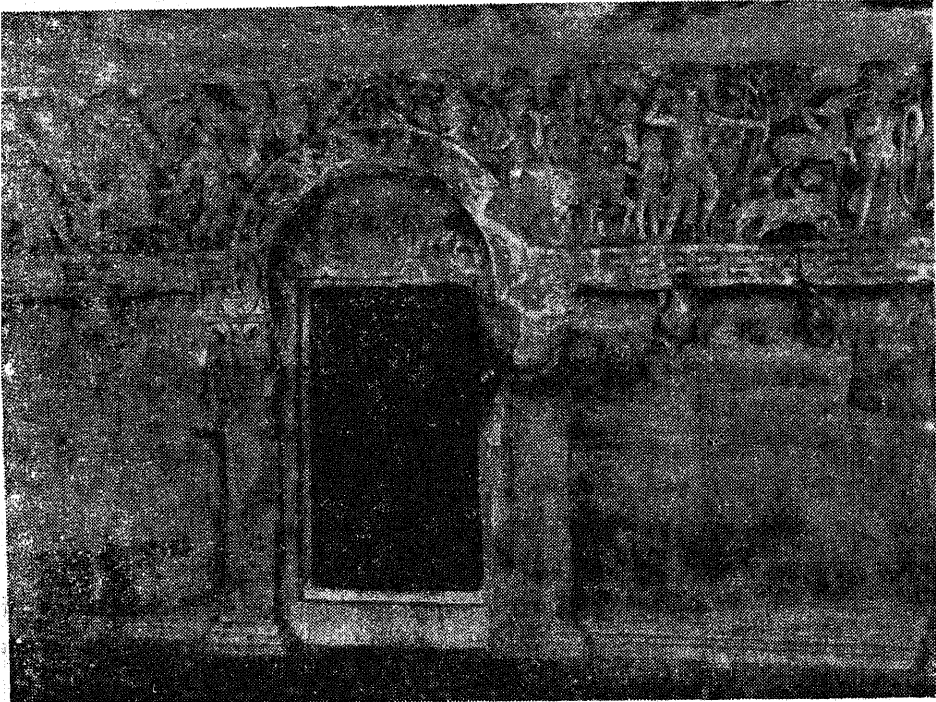
राणी गुम्फा में उत्कीर्ण शिल्पपट्ट उदयगिरी (ईसा पूर्व, २—री शताब्दी)

एक अप्रतिम कला आदर्श प्रस्तुत किया। ये गुफा समूह भुवनेश्वर नगर के निकट खंडगिरि और उदयगिरि नामक पहाड़ों में स्थित हैं। उदयगिरि पहाड़ पर हाथी नामक गुफा में खारवेल का एक सुप्रसिद्ध शिलालेख है, जिसका प्रारम्भ ही "नमो अरिहंताणं नमो सवसिधान" अर्थात् अर्हत् और सिद्ध के नमस्कार से ही हुआ है। खारवेल की अग्रमहिषी ने स्वप्नपुरी के लेख में लिखा है–"अरहंत पसादाय कलिंगन समनानं लेणंसिरि खारवेलस अगम महिसिन कारियाम"। उदयगिरि स्थित राणी गुम्फा और गणेश गुम्फा नाम से सुविख्यात दुमंजिले शिलागृहों में सुन्दर शिलपपट उत्कीर्ण किये गये हैं। इनका विषय पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बद्ध प्रसंगों से होगा, ऐसा कई विद्वानों का मत है। ये सुन्दर शिलापट शैली की दृष्टि से भाजा और भरहुत शिल्पकला के समान दिखाई देते हैं। खंडगिरि गुफा समूह में आठवीं और नवमीं शताब्दी में उत्कीर्ण कई जिन-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।

सौराष्ट्र में जूनागढ़ के निकट और भावनगर के पास तलाजा में जैन गुफा समूह क्षत्रपों के काल में उत्कीर्णित माना जाता है। उपरकोट की गुफा में स्थित स्तम्भ शीर्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

महाराष्ट्र में सह्याद्रि पर्वत माला पर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर 6वीं और 7वीं शताब्दियों तक के शैल मन्दिर पाये जाते हैं। जिसमें अजन्ता, एलौरा कारला, भाजा, पितरखोरा, एलीफैन्टा आदि बौद्ध और हिंदू, गुफाएँ सुविख्यात हैं। हाल ही में पूना के पास कारला और भाजा बौद्ध गुफाओं के पास पालेगाँव की एक गुफा में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का शिलालेख मिला है। "नमो अरहंताणं" से यह लेख आरम्भ किया गया है। यह प्राचीन गुफा जैन साधुओं के निवास के लिए सातवाहन राजाओं के वर्चस्व काल में बनाई गई होगी, ऐसी सम्भावना है।
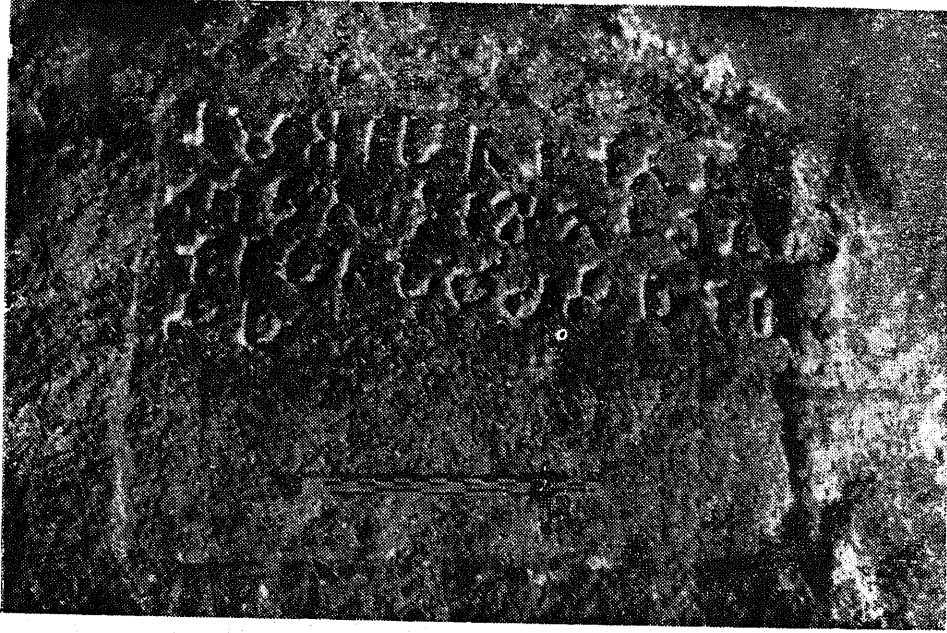
पालेगांव (पूना) की गुफा में प्रप्त नवीन शिलालेख

मथुरा नगरी और जैन कला

मथुरा एक कलानगरी के रूप में प्राचीन भारत में अनेक शताब्दियों तक विख्यात रही है। कुषाण और गुप्तकाल में कलावंतों ने इस नगरी को देवालयों, अर्हत आयतनों, स्तूप और मूर्तियों से सुशोभित किया। यहाँ की शिल्प शालाओं में बनाई हुई लाल रंग की प्रस्तर मूर्तियाँ सारनाथ, बौधगया आदि स्थानों पर भेजी जाती थीं। मथुरा में कंकाली टीला नामक एक प्राचीन स्थान है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इस टीले के स्थान पर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में एक जैन बस्ती रही होगी। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में यहाँ पर खुदाई करने पर कुषाणकालीन आयागपट्ट मिला, जिस पर अष्टमंगल सहित मध्यवर्ती जिन प्रतिमा उत्कीर्ण है। दूसरें एक शिलापट्ट पर लोणशोधिका नाम की वैश्या की पुत्री वसु द्वारा अरहंत देवकुल को दान देने का उल्लेख है। इस पट्ट पर एक स्तूप व सोपानयुक्त तोरण और प्रदक्षिणापथ बहुत ही कलात्मक ढ़ग से चित्रित किया गया है। कुषाणकालीन पार्श्वनाथ की मूर्ति, जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है, एक उत्कृष्ट कुषाणकालीन शिल्पकला का नमूना मानी जाती है। महावीरजी की जन्मकथा से संबन्धित हरिण-गमेशी की मूर्तियाँ भी मिली हैं। गए तीन साल से कंकाली टीले पर पुन: उत्खनन कार्य हो रहा है। इसके फलस्वरूप यहाँ एक अतीव सुन्दर पक्की ईंटों की बनी कुषाणकालीन पुष्करिणी मिली है। इसमें एक खंडित प्रतिमा जो लेखांकित है, प्राप्त हुई है। एक विशेष उल्लेखनीय लेख की उपलब्धि, जो इस पुष्करिणी से हुई है, उसमें

आयागपट्ट पर मंगल चिन्ह सहित मध्यवर्ती जिन प्रतिमा (मथुरा से प्राप्त) दूसरी शताब्दी

मथुरा से प्राप्त दूसरा आयागपट्ट सोपानयुक्त तोरण और प्रदक्षिणापथ सहित कुषाणकालीन स्तूप (मथुरा म्यूजियम)

कनिष्क प्रथम के पंचम वर्ष में विशाखमित्रा द्वारा किये दान का उल्लेख, कदाचित् इसी पुष्करिणी से सम्बन्धित है। दूसरी भी कई सुन्दर जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।

गुप्तकालीन जैन कला

गुप्तकाल में हिन्दू मन्दिरों का प्राथमिक स्वरूप निश्चित होने लगा था। मध्यप्रदेश में सांची, देवगढ़,

नाचना कुथारा, तिगोवा आदि स्थलों पर हिन्दू मंदिरों का निर्माण हो रहा था । देवगढ़ के पास अनेक जैन देवालय और उनके अवशेष मौजूद हैं । उनका काल गुप्तकालोत्तर 8 या 9वीं शताब्दी का बताया जाता है। यहाँ के अनेक शिल्पों पर गुप्तकाल का प्रभाव दिखाई देता है । देवगढ़, ललितपुर, चँदेरी, चाँदपुर, आदि स्थलों पर सहस्त्रों की संख्या में जैन प्रतिमाओं का निर्माण किया गया और तत्कालीन मंदिरों में उनकी प्रतिष्ठापना की गई। इस प्रदेश में गुप्तकालीन जैन मंदिर मिलने की संभावना है। विदिशा से दो जिन प्रतिमाओं पर रामगुप्त का उल्लेख मिला है इसी उपलब्धि पर मेरा यह अनुमान है कि गुप्तकाल में भी जैन देवालय मध्यप्रदेश में बने होंगे।

अकोटा (प्राचीन अंकोटक) नामक स्थान गुजरात में बड़ौदा के निकट है । यहाँ 1949 में डा. यू. पी. शाह के प्रयत्नों से एक अद्वितीय 68 जैन धातु मूर्तियों का संग्रह प्रकाश में आया। यहाँ पर अंकोटक-वसति नाम का जैन मंदिर रहा होगा । इस संग्रह की काँस्य मूर्तियों पर गुप्तशिल्प कला का प्रभाव दिखाई देता है। ऋषभनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा और जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के ऊपर गुप्तकाल का सौन्दर्य यथार्थ रूप से दिखाई देता है। यहाँ 7, 8, 9, 10वीं शताब्दी की कांस्य प्रतिमाएँ भी पाई गई हैं, जो बड़ौदा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं । यह मूर्ति संग्रह बड़ौदा संग्रहालय का अलंकार माना जाता है।
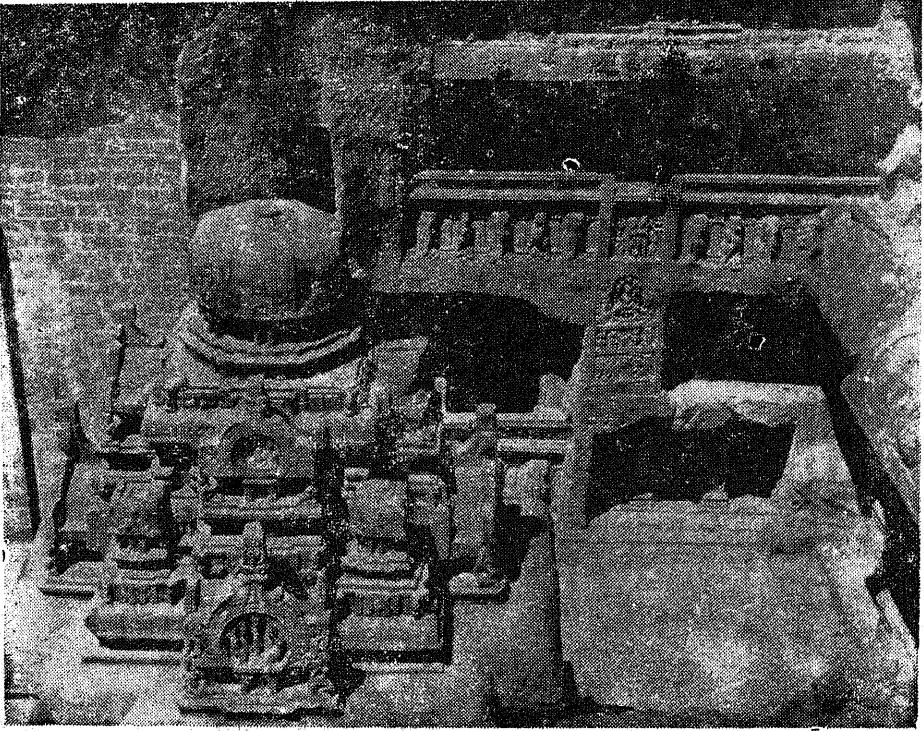
ऐलोरा स्थित जैन गुफा प्रांगण में एकाश्म मंदिर (9वीं,-10वीं शताब्दी)

एलौरा की जैन गुफाऐं

चालुक्य और राष्ट्रकूट आधिपत्य में भी महान जैन-शैल-गृह कर्नाटक में बनाये गये हैं। सातवीं शताब्दी में बदामी और ऐहोली में चालुक्यकालीन जैन गुफाएँ और राष्ट्रकूटकालीन एलौरा की गुफाएँ अपनी विशेषता रखती हैं। बदामी और ऐहोली गुफाओं में पार्श्वनाथ और बाहुबली के शिल्पपट उत्कीर्ण हैं। एलोरा की गुफाओं में स्थापत्य, शिल्प और चित्रकारी का मनोहर त्रिवेणी संगम दृष्टिगोचर होता है। एलोरा

सुपार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा (बादामी की गुफा)
गुफा क्र. 4 (7वीं शताब्दी)

में लगभग 6वीं शताब्दी से एक अखंडित कला साधना का स्त्रोत दिखाई देता है। जहाँ हिन्दू गुफाएँ समाप्त होती हैं वहाँ से ही जैन गुफाओं का आरम्भ होता है— छोटा कैलास, जगन्नाथ सभा और इन्द्र सभा जैनों की प्रमुख गुफाएँ हैं। इन जैन गुफाओं का काल 9 और 10वीं शताब्दी का माना जाता है और ये गुफाएँ जैनमत प्रेमी राष्ट्रकूट नृपति गोविन्द और अमोघवर्ष के शासनकाल में खोदी गईं। इनमें पार्श्वनाथ और बाहुबली की मूर्ति का शिल्पपट बहुत ही प्रेक्षणीय है। पार्श्वनाथ पर कमठ का किया गया आक्रमण और धरणेन्द्र यक्ष द्वारा किया गया संरक्षण बहुत ही आकर्षक है। इस शिल्प-पट्ट को देखकर बुद्ध पर मार द्वारा किये आक्रमण की याद आ जाती है जिसको अजंता की चित्रकला और शिल्पकला पटों पर सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। यहाँ की यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ भी प्रेक्षणीय हैं। एलोरा की जैन गुफाओं के भित्ति चित्रों का भारतीय कला में प्रमुख स्थान माना जाता है। जैन गुफाओं की छतों और भित्तियों पर जो शेष चित्रपटल हैं, वे अजंता और मध्ययुगी ताड़पत्रीय और हस्तलिखित चित्रकला की श्रृंखला की एक कड़ी मानी गई हैं। इन्ही भित्ति चित्रों में भारतीय चित्रकला का अखंड विकास समझ में आता है।

पश्चिम भारतीय जैन हस्तलिखित ग्रन्थ जिसमें कई चित्र अंकित हैं, गुजरात के पाटन वौर खंभात में और राजस्थान के जैसलमेर के ज्ञान भण्डार में उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थ के संरक्षण के लिए, जो लकड़ी के पटल ऊपर और नीचे रखे जाते थे, वे भी सुन्दर चित्रों से अलंकृत हैं। यह चित्र सम्पदा 12 वीं और 16 वीं शताब्दी के बीच की है। इन चित्र पटलों पर चित्र प्रदर्शनों में नाट्यपूर्ण गतिमानता के साथ-साथ चित्र अंकित किये गये हैं।

कर्नाटक में जैन कला वास्तु

कर्नाटक में जैन धर्म का प्रचार अति प्राचीन है। मौर्यकाल में उत्तरी भारत में जब भीषण अकाल पड़ा

था, उससे बचने के लिए भद्रबाहु मुनि के नेतृत्व में कई श्रमण दक्षिण की ओर चले गये। भद्रबाहु मुनि ने श्रमण-वेल-गोल के निकट कर्नाटक राज्य में चन्द्रगिरी नामक पर्वत पर तपस्या करते हुए देह त्याग किया। ऐहोली में मेगुती का जैन मंदिर 644 ई० में चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशी के काल में बनाया गया है। कर्नाटक ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष का अत्यन्त अनूठा भव्य शिल्प जिसको कहा जा सकता है वह है गोमेटेश्वर को श्रावण बेलगोल स्थित शैल प्रतिमा, यह एकाश्म शिल्प राछमल्ल सत्यवाक गगराजा के काल में उसके मंत्री चामण्डयराय ने बनवाया था। इस प्रचण्ड मूर्ति का समय 983 ई. माना जाता है। कर्नाटक में
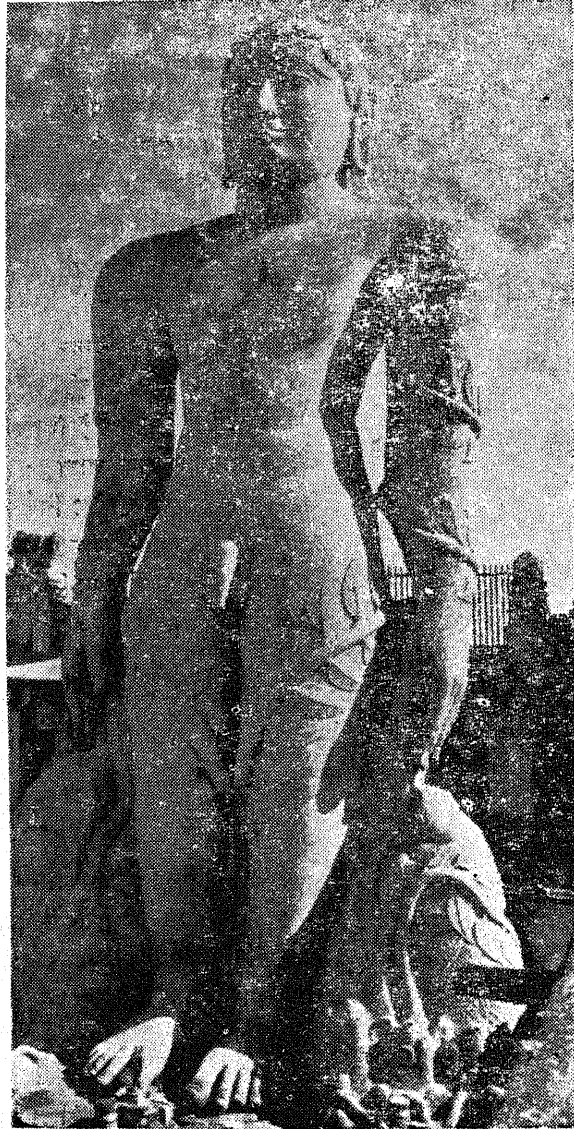
गोमटेश्वर (बाहुबलि) स्वामी की एकाश्म शैल प्रतिमा, श्रवण बेलगोला, (कर्नाटक), 983 ईस्वी

चालुक्य-आधिपत्य के उत्तर काल मे अनेक जैन मन्दिरो का निर्माण हुआ। लकगुडी, जिला धारवाड मे बारहवी शताब्दी का पार्श्वनाथ का मन्दिर है। इस मन्दिर मे तथा अन्य मन्दिरो मे अनेक सुन्दर जिन प्रतिमाएँ हैं। बेलगाँव मे कमल बस्ती नाम का एक जैन मन्दिर है। इस देवालय की छतो की कला सौन्दर्य बहुत ही प्रेषणीय है। कानरा जिले के भटकल गाव में और मगलौर के पास मुडबिनद्री स्थलो पर जैन मदिरो की ऐसी विशिष्ट रचना है जिसे देखकर नेपाली स्थापत्य का आभास होता है। भटकल के मन्दिर के सामने एक ऊँचा स्तम्भ है जिन पर तीर्थंकरो की चहुमुख प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

तामिल देश में जैन प्रभाव

तामिलनाडु राज्य के पदुकोटाई जिले मे कई प्राचीन जैन गुफाएँ मिली हैं। इन गुफाओ मे जैन मुनियो के लिए पत्थरो पर तराशी हुई शय्याएँ मिलती हैं और यहा पाये गये ब्राह्मणी लेख ईसा पूर्व पहली शताब्दी के हैं। तामिलनाडु मे और दूसरे जैन स्थापत्य कला के केन्द्र स्थान हैं किन्तु इनमे उल्लेखनीय हैं सित्तन्नवासल की जैन गुफा मे अजन्ता शैली के 7 वी शताब्दी के भित्ति चित्र सुरक्षित हैं। दूसरा महत्वपूर्ण स्थल काचीपुरम, जिसे जिन-काची भी कहते हैं। 640 ई. में ह्यू एन त्सांग ने लिखा है कि काची मे जैनों की एक बडी बस्ती थी। काचीपुरम की इस बस्ती को तिरुपति कुण्डम् भी कहते हैं। यहाँ चोल राजाओ के आधिपत्य काल मे चन्द्रप्रभ-वर्धमान स्वामी और त्रिकूट बस्ती नाम के जैन मन्दिरो का परिवर्धन किया गया। यहाँ सगीत मडप नाम का एक भाग विजयानगर राजाओ के आधिपत्य में चित्राकित किया गया। इस मंडप और मुखमडल की छतो पर महावीर स्वामी के समवरण के प्रसग चित्रित किए गये हैं इनके साथ ही ऋषभदेव और नेमिनाथ आदि तीर्थंकरो के जीवन प्रसग चित्रित किये गये हैं और हर एक प्रसग के नीचे उचित लेख भी है।

गुजरात-एक महत्वपूर्ण जैन कला केन्द्र

गुजरात मे जैन धर्म का प्रभाव बहुत ही गहरा और प्राचीन है। तलाजा और गिरनार का उल्लेख तो मैंने पहले ही किया है इसके बाद बल्लभी या बल्लभीपुर एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहा था। महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग 980 वर्ष के उपरान्त यहाँ देवर्धिगणी क्षमा-श्रमण के नेतृत्व मे एक जैनमुनि सम्मेलन हुआ था, जिसमें श्वेताम्बर जैन आगम का सकलन किया गया। श्वेताम्बर परम्परा इन आगम ग्रन्थों को प्रमाणभूत मानती है। बल्लभी मे जैन बस्ती के अवशेष और कास्य प्रतिमाएँ मिली हैं।

गुजरात मे चालुक्यो के अभिपत्य काल मे कुमारपाल राजा ने तारगा मे अजितनाथ का मदिर बनवाया, जो एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ है, यह जिला मेहसाना मे सिद्धपुर के निकट है। सौराष्ट्र मे गिरनार पर्वत पर और शत्रुंजय पहाडी पर अनेक जैन मदिर स्थित हैं। ये दोनों स्थान महत्वपूर्ण जैन-तीर्थ माने जाते है। गिरनार में नेमिनाथ के भव्यमन्दिर का जीर्णोद्धार 1278 ई में किया गया था। शत्रुंजय पर्वत पर, जिसको पालिताना भी कहते हैं, ग्यारह प्राकारो के बीच 500 जैन मन्दिर हैं। इनमे से कुछ तो 11 वी शताब्दी के हैं। परन्तु बहुत से मन्दिर 16 वी शताब्दी के बाद के हैं। 1618 ई में यहाँ एक सुन्दर शिखर युक्त दो मजिला मन्दिर अहमदाबाद के एक श्रेष्ठी ने बनवाया। इस मन्दिर के स्तम्भ शीर्ष पर नर्तक और वादक वृन्द उत्कीर्ण हैं। यहाँ 19 वी शताब्दी में भी अहमदाबाद के एक नगर श्रेष्ठी ने एक मन्दिर बनवाया था जिसने पाँच तीर्थों का मानचित्र भी उत्कीर्ण कराया था।

अलौकिक आबू

राजस्थान के आबू पर्वत के अत्यन्त सुरम्य स्थल पर चार प्रमुख देवालय हैं। इनमे विमलशा और तेजपाल ने क्रमशः 1032 ई.

और 1232 ई. में शुभ्र संगमरमर के मन्दिर बनवाये जो अपने विलक्षण सौन्दर्य से दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं। यहाँ का उत्कीर्ण कलाकौशल बहुत ही कोमल और बारीकी का है। ऐसा लगता है कि शुभ्र पाषाण को तराश कर निर्माण किया गया है। यह जनश्रुति प्रचलित है कि हथौड़ा और छैनियों से पत्थर को काटा नहीं गया अपितु छोटे औजारों द्वारा तराशने से निकले हुए चूर्ण की माप के अनुसार कारीगरों को मजदूरी दी जाती थी। इसके मंडप की छत पर उत्फुल्ल कलाकृति का अकन और अप्सराओं का मूर्ति शिल्प देखकर ऐसा लगता है कि इतना कोमल और कलापूर्ण काम कैसे किया गया होगा। कलापूर्ण चातुर्य के चरमोत्कर्ष की अनुभूति इस मन्दिर के दृष्टि-गोचर से होती है।

मध्यप्रदेश में खजुराहो के चन्देल राजाओं ने जो मन्दिर बनवाये हैं उनमें एक जैन मन्दिर समूह भी है। इसमें से पार्श्वनाथ मन्दिर चन्देल नृपति धंग की प्रेरणा से एक जैन श्रावक ने 955 ई. में बनवाया था। इसकी रचना खजुराहो के मन्दिर से थोड़ी अलग है परन्तु इसका वास्तु कौशल और शिल्प सौन्दर्य अत्यन्त मनोहारी है। भारतीय शिल्प कला का परमोत्कर्ष यहां के मूर्ति शिल्प में परिलक्षित होता है। राजस्थान में और कई जैन स्थापत्य के केन्द्र हैं। जिनमें से 3 या 4 का उल्लेख करना अनिवार्य है। 1439 ई. में राणकपुर का 26 मंडप और 420 स्तम्भ युक्त आदिनाथ का चतुर्मुख मन्दिर स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है। गर्भगृह चतुर्मुखी है और प्रत्येक दिशा में प्रांगण युक्त चार मंदिर हैं, जिनकी रचना अत्यन्त कौशल पूर्ण है। प्राकार में 86 लघु देव कुलिकाएँ है। इतना सब होते हुए भी प्रकाश योजना ऐसी है कि मन्दिर का प्रत्येक कोना प्रकाशित रहता है, जिससे उसके कलापूर्ण स्तम्भों और छतों की नक्काशी के काम को मन भर के देखा जा सके। चित्तौड़ किले पर स्थित चैत्यालय के सामने का 25 मीटर ऊँचा मानस्तम्भ स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है, इस स्तम्भ पर आदिनाथ और अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। जोधपुर जिले में
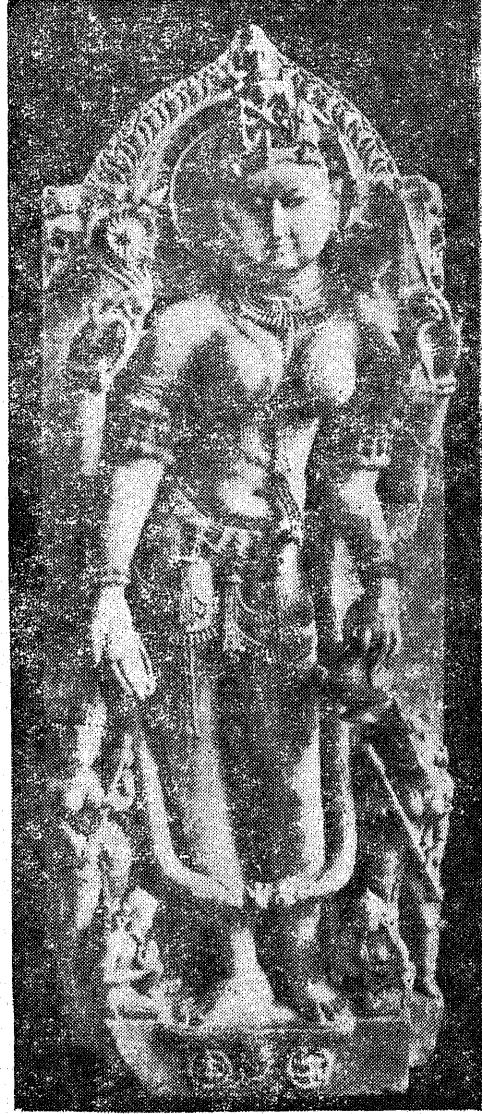
अम्बिका (सरस्वती) की कलात्मक संगमरमर प्रतिमा
(पल्लूगांव—राजस्थान से प्राप्त)

ओसिया नाम के ग्राम मे एक प्रेक्षणीय महावीर मन्दिर है। इस मन्दिर के स्तम्भो की नक्काशी बहुत सुन्दर है यह मन्दिर गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज (770–840) के समय का है परन्तु इसका सभा मडल 10 वी शताब्दी मे सन् 926 का है। जैसलमेर मे 15 वी शताब्दी के जैन मन्दिर हैं। जब भारत वर्ष के उत्तरी प्रदेशो मे मन्दिर स्थापत्य निर्माण समाप्त हो गया था तब यहाँ एक कलात्मक जैन मन्दिर समूह का निर्माण हुआ।

गुफाओ और शैल मन्दिरो की निर्मिति मे लगभग अ तिम प्रयोग ग्वालियर के दुर्ग के परिसर में हुआ। यहाँ की गुफा मे उत्कीर्ण विशाल जिन प्रतिमाए तोमर राजा डूंगर सिह और कीर्ति सिह के जमाने मे बनाई गई। इन प्रतिमाओ के सौन्दर्य से उनकी भव्यता दर्शको को अधिक प्रभावित करती हैं। मध्ययुगीन जैन धर्म शिल्पकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना मानने योग्य राजस्थान के पल्लू ग्राम से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति है जो दिल्ली के राष्ट्रीय सग्रहालय मे सग्रहीत है। यह मूर्ति भारतीय कला को प्रदान की गई अमोल भेंट है। यथायोग्य रूप, भेद प्रमाण बद्धता और लावण्य का सुयोग्य मिश्रण इस मूर्ति मे दिखाई देता है।

जैन कला सम्पदा का मैंने विहगमावलोकन ही किया है इनके अतिरिक्त अनेक वस्तु और वास्तु हैं। जिनका मैंने उल्लेख ही नही किया। इन चीजों का अध्ययन विद्या प्रेमी विद्वानो को करना चाहिए। मेरी आशा है कि 2500 वा भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के निमित्त से इस सुन्दर विषय की अनेक छटाएँ प्रकाश मे आयेंगी।

जैन मूर्तिशास्त्र

(मध्यप्रदेश की जैन मूर्तिकला के सन्दर्भ में)

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी

भारतीय स्थापत्य या भवन निर्माण कला का ऐतिहासिक विवेचन करने से ज्ञात होता है कि जैन देवालयो का निर्माण मौर्य-शासनकाल मे होने लगा था। बिहार मे गया के समीप बराबर नामक पर्वत गुफाओ मे कई शिलालेख मिले हैं। उनसे ज्ञात हुआ है कि मौर्य सम्राट अशोक ने आजीविक नामक एक सप्रदाय के सन्यासियो के निवास के लिए पहाड़ की चट्टानो को काटकर शैल-गृहो का निर्माण कराया। उसके वशज दशरथ नामक शासक ने भी इस कार्य को आगे बढाया। आजीविक सप्रदाय के प्रारभकर्त्ता आचार्य को तीर्थंकर महावीर का समकालीन माना जाता है। बराबर की पहाडी से कुछ दूर नागार्जुनी नामक पहाडी है। वहाँ भी मौर्यकाल मे साधुओ के निवास के लिए कई शैल-गृह बनवाए गए। भारतीय साहित्य मे पर्ण-शालाओ के उल्लेख मिलते हैं। भूमि मे मोटी लकडी के बड़े टुकडो को गाडकर उन पर पत्ते छा दिए जाते थे। इस प्रकार पत्ते की कुटियाँ या पर्णशालाएँ बनायी जाती थीं। उन्ही के ढग पर शैल-गृहो का निर्माण किया गया। जैन साधुओ के लिए शैल-गृह बनाने के कई उदाहरण तामिलनाडु में भी मिले हैं।

ईसवी पूर्व दूसरी और पहली शती में उडीसा तथा पश्चिमी भारत मे पर्वतो को काटकर देवालय बनाने की परपरा विकसित हुई। उडीसा के भुवनेश्वर के समीप कई बडी गुफाएँ पत्थर की चट्टानो को काटकर बनायी गयी। वहाँ खण्डगिरि तथा उदयगिरि नामक जैन गुफाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। तीसरी गुफा का नाम हाथीगुफा है। उसमे कलिग के जैन शासक खारवेल का एक शिलालेख खुदा हुआ है। लेख से ज्ञात हुआ है कि ईसवी पूर्व चौथी शती मे मगध के राजा महापद्मनन्द तीर्थंकर की एक मूर्ति कलिंग से अपनी राजधानी पाटलिपुत्र उठा ले गए थे। खारवेल ईसवी पूर्व दूसरी शती के मध्य मे उस प्रतिमा को मगध से अपने राज्य मे लौटा लाए और उसे उन्होने अपने मुख्य नगर में प्रतिष्ठापित किया।

इस शिलालेख से पता चलता है कि तीर्थंकर मूर्तियो का निर्माण नन्दराज महापद्मनन्द के कुछ पहले प्रारम्भ हो चुका था। जैन साहित्यिक अनुश्रुति से भी पता चलता है कि चन्दन की तीर्थंकर मूर्तियाँ भगवान् महावीर के समय से या उनके निर्वाण के पश्चात् ही बनने ल गी थी।

उत्तर भारत मे जैन कला के जितने केन्द्र थे उनमें मथुरा का स्थान महत्वपूर्ण है। ईसवी पूर्व दूसरी शती

से लेकर ईसवी बारहवी शती तक के दीर्घकाल में मथुरा मे जैन धर्म का विकास होता रहा। यहाँ के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई कई हजार जैन कलाकृतियाँ अब तक मथुरा और उसके आसपास के जिलो से प्राप्त हो चुकी हैं। उनमें तीर्थंकर आदि प्रतिमाओ के अतिरिक्त चौकोर आयागपट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन पर प्राय. बीच में तीर्थंकर मूर्ति तथा उसके चारो ओर विविध प्रकार के मनोहर अलकरण मिलते हैं। स्वस्तिक, नन्दयावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश और मीन युगल—इन अष्टमगल द्रव्यों का आयागपट्टो पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। एक आयागपट्ट पर आठ दिवकुमारियाँ एक-दूसरे का हाथ पकडे हुए आकर्षक ढग से मडल नृत्य में सलग्न दिखाई गई हैं। मण्डल या 'चक्रवाल' अभिनय का उल्लेख 'रायपलेनिय सूत्र' नामक जैन ग्रंथ मे भी मिलता है। एक दूसरे आयागपट्ट पर तोरण द्वार तथा वेदिका का अत्यन्त सुन्दर अकन है। वास्तव मे ये आयागपट्ट प्राचीन जैन कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें से अधिकाश अभिलिखित हैं, जिन पर ब्राह्मीलिपि मे लगभग ई. पू. एक सौ से लेकर ईसवी प्रथम शती के मध्य तक के लेख हैं। मथुरा की जैन कला का प्रभाव मध्यप्रदेश में विदिशा, तुमैन आदि स्थानो की कला पर पडा।

पश्चिमी भारत, मध्य भारत तथा दक्षिण मे पर्वतो को काटकर जैन देवालय बनाने की परपरा दीर्घकाल तक मिलती है। विदिशा के समीप उदयगिरि की पहाडी मे दो जैन गुफाएँ हैं। वहाँ सख्या एक की गुफा मे गुप्तकालीन जैन मन्दिर के अवशेष उपलब्ध हैं। उदयगिरि की सख्या 20 वाली गुफा भी जैन मदिर है। उसमे गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम के समय मे निर्मित कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमा मिली है।

जैन मदिर-स्थापत्य का दूसरा रूप भूमिज मन्दिरो मे मिलता है। इन मदिरो का निर्माण प्राय: समतल भूमि पर पत्थर और ईंटो द्वारा किया जाता था। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, बगाल और मध्यप्रदेश मे समतल भूमि पर बनाए गए जैन मंदिरो की सख्या बहुत वडी है। कभी-कभी ये मदिर जैन स्तूपों के साथ बनाए जाते थे।

जैन स्तूपों के सबध मे प्रचुर साहित्यिक तथा अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं। उनसे ज्ञात होता है अनेक प्राचीन स्थलो पर उनका निर्माण हुआ। मथुरा, कौशाबी आदि कई स्थानों मे प्राचीन जैन स्तूपो के भी अवशेष मिले हैं। उनसे यह बात स्पष्ट है कि इन स्तूपो का निर्माण ईसवी पूर्व दूसरी शती से व्यवस्थित रूप में होने लगा था। प्रारभिक स्तूप अर्धवृत्ताकार होते थे। उनके चारो ओर पत्थर का बाडा बनाया जाता था। उसे 'वेदिका' कहते थे। वेदिका के स्तभों पर आकर्षक मुद्राओ मे स्त्रियो की मूर्तियों को विशेष रूप से अकित करना प्रशस्त माना जाता था। गुप्त काल से जैन स्तूपो का आकार लबोतरा होता गया। बौद्ध स्तूपो की तरह जैन स्तूप भी परवर्ती काल मे अधिक ऊँचे आकार के बनाए जाने लगे।

मध्य काल में जैन मदिरो का निर्माण व्यापक रूप में होने लगा। भारत के सभी भागो मे विविध प्रतिमाओ से अलकृत जैन मदिरो का निर्माण हुआ। इस कार्य मे विभिन्न राजवशो के अतिरिक्त व्यापारी वर्ग तथा जन-साधारण ने भी प्रभूत योग दिया।

चन्देलों के समय में खजुराहो मे निर्मित जैन मदिर प्रसिद्ध हैं। इन मदिरो के बहिर्भाग खजुराहो की विशिष्ट शैली मे उकेरे गए हैं। मदिरो के बाहरी भागो पर समानातर अलकरण पट्टिकाएँ उत्खचित हैं। उनमे देवी-देवताओ तथा मानव और प्रकृतिजगत को अत्यन्त सजीवता के साथ आलेखित किया गया है। खजुराहो के जैन मदिरो मे पार्श्वनाथ मदिर अत्यधिक विशाल है। उसकी ऊचाई 68 फुट है। मदिर के भीतर का भाग

महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भगृह—इन तीन मुख्य भागों मे विभक्त है। उनके चारो ओर प्रदक्षिणा मार्ग है। इस मदिर की छत का कटाव विशेष कलात्मक है और खजुराहो के स्थापत्य विशेषज्ञो की दक्षता का परिचायक है। मदिर के प्रवेश-द्वार पर गरुड पर दसभुजी जैन देवी आरूढ है। गर्भगृह की द्वारशाखा पर पद्मासन तथा खड्गासन मे तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ उकेरी गई हैं। खजुराहो के इन मंदिरो में विविध आकर्षक मुद्राओ में सुरसु दरियो या अप्सराओ की भी मूर्तिया उत्कीर्ण हैं। इन मूर्तियो मे देवागनाओं के अग-प्रत्यगों के चारुविन्यास तथा उनकी भावभंगिमाएँ विशेष रूप से दर्शनीय हैं। खजुराहो का दूसरा मुख्य जैन मदिर आदिनाथ का है। इसका स्थापत्य पार्श्वनाथ मदिर के समान है।

विदिशा जिले के ग्यारसपुर नामक स्थान में माला-देवी का मदिर है। उसके बहिर्भाग की सज्जा तथा गर्भगृह की विशाल प्रतिमाएँ कलात्मक अभिरुचि की द्योतक है। मध्य भारत मे मध्यकाल मे ग्वालियर, देवगढ, चन्देरी, अजयगढ़, अहार आदि स्थानो में स्थापत्य तथा मूर्तिकला का प्रचुर विकास हुआ।

जैन स्थापत्य तथा मूर्तिकला का प्राचुर्य 'देवालय-नगरो' में देखने को मिलता है। ऐसे स्थलों पर सैकड़ों मदिर पास-पास बने हुए हैं। मध्यप्रदेश मे पपौरा, अहार, थूबोन, कुण्डलपुर, सोनागिरि आदि अनेक स्थलो पर जैन मदिर-नगर निर्मित हुए। ऐसे मदिर-नगरो के लिए पर्वत शृंखलाएँ विशेष रूप से चुनी गयी।

भारत के अनेक राजवशो ने जैन-कला की उन्नति मे योग दिया। गुप्त शासको के बाद चालुक्य, राष्ट्रकूट, कलचुरि, गग, कदम्ब चोल तथा पाड्य वश के अनेक राजाओ ने जैन-कला को सरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया। इन वशो के कई राजा जैन धर्मानुयायी थे। इनमे सिद्ध-राज जयसिंह, कुमारपाल, अमोघ वर्ष, अकालवर्ष तथा गगवंशी मारसिंह द्वितीय के नाम उल्लेखनीय हैं। इन शासको को जैन धर्म की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय स्वनामधन्य हेमचन्द्र, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द आदि जैन आचार्यों को है। राज्य-सरक्षण प्राप्त होने एव विद्वान आचार्यों द्वारा धार्मिक प्रचार मे क्रियात्मक योग देने पर जैन साहित्य तथा कला की बडी उन्नति हुई। मध्यकाल मे अठारहवी शती के अन्त तक प्रायः समस्त भारत में जैन मदिरो एव प्रतिमाओ का निर्माण जारी रहा। सामाजिक-धार्मिक इतिहास की जानकारी के लिए यह सामग्री महत्व की है।

□ □

जैन धर्म और संगीत
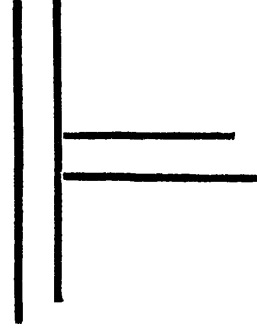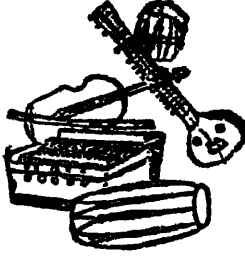
भगवान महावीर ने संसार को अनादि-अनंत कहा है। ससार का न आदि है और न अत। इसलिये जैन दर्शनकारो ने कहा है कि संसार के उत्थान और पतन का क्रम चलता रहता है। इसी उत्थान और पतन की अवस्था में तीर्थंकरो का जन्म होता है और वे इस क्रमानुसार अनन्त हो गये हैं और होते रहेंगे। जितने भी पूर्वकाल में तीर्थंकर हो गये हैं उन्होंने अपना प्रवचन राग 'मालकोश' में ही दिया और भविष्य में होने वाले

गुलाबचन्द्र जैन

भी 'मालकोश' की ध्वनि में ही देवेंगे। सगीत के विषय की उत्पत्ति का निश्चय करना बालचेष्टा ही है। इतना अवश्य है कि रागों में उत्थान और पतन समयानुकूल, प्रकृति के परिवर्तनानुसार होता ही रहता है। इसी दृष्टि से हम लोग ऐतिहासिक तथ्यो पर विशेष भार देकर उसमें उलझने लगते हैं और ध्वनि की वास्तविक तरगों और उसके क्रिया एव शक्ति से हम वचित हो जाते हैं। जैन दर्शन मे रागों का कितना महत्व है और उसका काल कितना लबा है, यह साधारण मानव के बुद्धिग्राह्य के बाहर की बात है। वर्तमान में मानव, जिनकी बुद्धि सीमित है और अनुप्रेक्षा से रहित हैं, उपरोक्त तथ्य को मानने को आज भी तैयार नही हैं परन्तु जो नवीन वस्तुओ को पुन. प्रकाशित करना चाहते हैं वे तथ्यों को कभी भी अस्वीकार नही करते। उनका कहना है कि भूतकाल में जो शक्ति उत्पन्न हुई है उनका नाश कभी नही हुआ है। वे इसी आकाश प्रदेश में विद्यमान हैं क्योकि यदि हम वस्तुओं का विनाश मान लेते हैं तो वस्तुओ का अभाव हो जाता है। वस्तुओं के ही अभाव होने पर उत्पत्ति के आधार का अभाव होता है जो युक्ति सगत नही है। जिस प्रकार वायु अस्थिर रहती है उसी तरह प्रत्येक परमाणु भी स्थिर नही रहते वे निरतर गमनागमन कार्य करते रहते हैं। वायु को जिस प्रकार एकत्रित कर उसमे शक्ति पैदा की जाती है उसी प्रकार परमाणु को भी संग्रहीत कर उससे मनचाहा काम लिया जाता है। प्रत्येक परमाणु में रूप, रग, गध, स्पर्श एवं शब्द आदि गुण एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न रहते हैं। इसलिये उनके सग्रहीत करने मे इस बात का ध्यान रखना पड़ता

है कि किस प्रकार के कपन का और कितनी मात्रा मे उपयोग किया जाय कि परमाणुओ का समूह हमारी इच्छा के अनुसार कार्यरूप मे परिणत हो। भगवान महावीर ने कहा है कि हमारे मुँह से जो शब्द निकलते हैं वे हमें या दूसरो को सुनाई नही पडते। जो भाषा या शब्द हमारे मुँह से निकलते हैं, वे इतने सूक्ष्म और तीव्र गतिशील होते हैं कि एक समय जिसका दो भाग नही हो सकता, उतने समय मे सारे लोकाकाश मे वे फैल जाते हैं और दूसरे समय मे लोकाकाश के अतिम हिस्से से टकराकर समूह रूप में परिणित होते हैं तब सामूहिक परमाणु मे ध्वनि उत्पन्न होती है जो हमे सुनाई पडती है। इसकी पुष्टि शकभाष्य के प्रथम खण्ड और भगवतीसूत्र, परमाणु उद्देशक, पुदगल उद्देशक और भाषा उद्देशक मे मिलती है। उपरोक्त उद्देशको से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परमाणु' पुदगल के रूप मे किस प्रकार परिवर्तित होता है और भाषा वर्गणाओ के लिये कितने परमाणुओ एव परमाणुओ के स्कधो की आवश्यकता पडती है, जो श्रोतेन्द्रियो के ग्रहण योग्य बनती हैं।

वैशेषिक और न्याय दर्शन मे भी परमाणु के विषय में बताया गया है कि सूर्य की किरणें छिद्र मे से होकर बाहर आती हैं तथा उसमे जो छोटे-छोटे अति सूक्ष्म रजकण दिखाई पड़ते हैं उनका साठवा भाग परमाणु मान लिया गया है। परन्तु जैन दर्शनकारों का कथन है कि अनन्त परमाणुओ का स्कध बनने पर भी वे दृष्टिगोचर नही हो सकते। जैन दर्शनानुसार अनन्त परमाणु के स्कध वाले, स्कधो से भी जो अनन्त हो और जब उसका पिण्ड बनता है तब वे इन्द्रिय-ग्राह्य बनते हैं। ऊपर कह आये हैं कि हर एक परमाणु में अपनी विशेष वर्गण शक्ति रहती है। जिस परमाणुओ से भाषा बनती है उन्हें जैन दर्शन मे भाषा वर्गणा कहा हैं। परमाणुओ का स्कध किस तरह बनता है इसके विषय में कहा गया है कि, 'काय वाड्मा मन : कर्मयोग'। अर्थात् मन, बचन और काया के योग से जो एक प्रकार का विशेष रूप से कपन होता है अथवा जिसे कपन क्रिया कहा जाता है उस कम्पनानुसार ही परमाणुओ का स्वत· सचय होता रहता है। जिस प्रकार चुम्बकीय शक्ति से लोह के परमाणु स्वत: खिच कर उसमें आ मिलते हैं उसी प्रकार अपने गुणों के अनुसार स्वधर्मी स्वधर्मी मे आकर मिलते रहे हैं और कार्यरूप मे परिणत होते रहते रहते हैं। उसमे उतार-चढाव अथवा हानि और वृद्धि जो होती रहती है उसका कारण आपस मे मिलकर और पुन. अलग-विलग हो जाने मे होती है। सामान्य दृष्टि से कम्पन की मात्रा एक सैकेण्ड में 240 मान ली है और उस ध्वनि को मन्द, मध्य तथा तीव्र से विभाजित की है जो 22 श्रुतियो के नाम से कही जाती है। तीव्र मे 3800 मात्रायें सगीत के रूप मे मान ली गयी है। उससे अधिक मात्रा होने पर वह ध्वनि सगीत न कहलाकर कोलाहल की श्रेणी मे आती है। कहने का आशय यह है कि सगीत-शास्त्र मे जो श्रुतियो और ध्वनि मात्राओ की रूपरेखा तैयार की है, वह सूक्ष्म दृष्टि से न कर स्थूल दृष्टि से है, क्योकि कार्य रूप मे और इद्रियो के ग्राह्य योग्ण कितना कम्पन कम से कम आवश्यक है, ताकि वह व्यवहार मे सुचारु रूप से उपयोग हो सके। इसलिये उस ध्वनि का नाम सगीत रखा—'सम' अर्थात् सम्यक प्रकार मे श्रोतेन्द्रिय की शक्ति मे किसी प्रकार से विकार पैदा न करे उसकी शक्ति से वृद्धि और सुचारू रूप से उसमे सहायक भूत हो वह सम्यक ध्वनि ही सगीत कही जाती है। सगीत में तीन अक्षर है स–गी–त बीच के अक्षर 'गी' अर्थात् ग्रीवा वाणी को निकालने से; 'सत' बचता है। सतो की 'गी'—अर्थात् वाणी को सगीत कहते हैं। रागद्वेष से रहित सतो के हृदय के भाव, उनके उद्गार जो निकलते थे, उसमे ऐसी शक्ति थी कि लोग आकर्षित हो जाते थे और उसको ही भव्य प्राणी लक्ष्य मानकर अनुकरण करते और वही सगीत कहा जाता था।

यशोधरा में कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी गीत की परिभाषा कही है—"अधर पर मुस्कराहट है, नैनो से नीर बहता है, हृदय की हूक हँस पडती, जिसे जग गीत कहता है।"

जैन आगमो मे यह कहा गया है कि जिस समय भगवान महावीर के कान से खीले खीच कर निकाले गये उस समय उन्हे इतनी अधिक वेदना हुई थी कि उनके मुख से ऐसी तेज ध्वनि (चीख) निकली कि जिस पहाडी के तले वे काउसग्ग मे खडे थे उसमे दरार पड गयी। आज के युग मे इस बात को शायद ही कोई बिरला व्यक्ति मानने पर तैयार हो, पर अधिकांश मानने को तैयार नही हैं। सगीत की ध्वनि मे इतनी शक्ति है तथा आकर्षण है कि वह बडे-बडे पहाड़ो मे भी दरारें पैदा कर देती है।

प्राणियो को "सगीत" ध्वनि तरगो के अनुसार सात्विक, राजस तथा तामस प्रकृतियो मे बदल देता है। ध्वनि तरगो का कितना अकाट्य प्रभाव पडता है जिसका साक्षात्कार हमे नृत्य मे और सरकसो मे, मौत की सीढी पर चढने वालो मे, लडाई में अनेक कर्त्तव्यो को देखकर होता है। शास्त्रो में जो लिखा गया है कि ध्वनि से अनेक बीमारिया कट जाती हैं; उसे आज वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

प्रश्न यहां यह रह जाता है कि भगवान महावीर ने तथा इनके पूर्व मे जितने भी तीर्थंकर हुये वे सभी ने "मालकोश" की ध्वनि में ही क्यो प्रवचन दिये हैं। इस विषय के लिये जिज्ञासुओ को चाहिये कि नदी सूत्र, आवश्यक भाव्य द्रव्यानयोग और भगवती सूत्र आदि आगमो को सूक्ष्म दृष्टि से देखें। इसका सामान्य एक कारण यह भी है कि मालकोश राग मे तेज तत्व विशेष रूप से रहे हुये हैं। वैशेषिक जिसके कर्त्ता कणाद, न्याय सूत्र जिसके कर्त्ता गौतम हैं तथा तर्क-सग्रह जिसके कर्त्ता अन्नभट्ट है, उन्होने अपने ग्रथो मे तेज का स्वरूप बताते हुये बताया कि तेज मे एक विशेष नित्य समवाय सबध तेज-गुण, रूप रहा हुआ है, वही रूप, तेज, हर प्राणी को आकर्षित करता है और उसको ग्रहण करने वाली आँख है। इन सब बातो से यह सरलता से समझ में आ सकता है कि मालकोश की ध्वनि का यही अभिप्राय है कि मानव के अन्दर अज्ञान, अंधकार, मिथ्या ज्ञान, अविवेक जो रहा हुआ है उसे निकालने के लिये तेज शक्ति ताप और वैसे ही रूप की आवश्यकता रहती है कि वह अधकार रूपी मिथयाभिमान से निकलकर वास्तविक अपने स्वरूप को देखे और उस तेज को ग्रहण कर अधकार से छुटकारा पाये। कहावत भी है कि जिसके चहरे और वाणी में तेज (नूर) नही, वह नर होते हुये भी नराधम है। हम आप सभी यही बात कहते हैं कि सामान्य मानव की वाणी कितनी गभीर और तेजपूर्ण है कि उसके वाणी को सुनकर क्रूर से क्रूर हिंसक प्राणी भी; जिस तरह आच पाकर लोहा पिघल कर बहने लगता है, उसी प्रकार उसमे भी रहे हुये बुरे विचार पिघलकर बहने लगते हैं। ऐसी अवस्था मे यदि हम मिथ्या अभिमान को एक बाजू में रखकर शान्त चित्त से विचार करे तो वास्तविकता हमारे समझ में आ जावेगी कि सामान्य जन की वाणी मे ध्वनि का इतना प्रभाव है तो जो तीर्थंकर या अवतारी पुरुष या भगवान होते है उनकी वाणी की ध्वनि कितनी तेज युक्त रहती होगी कि उस वाणी के प्रभाव से तीनों लोक के प्राणी अपनी भूलों को स्वीकार करके उनके चरणो मे मस्तक झुकाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं।

जैन दर्शन ससार को जब अनादि—अनत मानता है तब यह कथन प्रागेतिहासिक काल का हो जाता है। इसलिये हम ऐतिहासिक दृष्टि से इसके विषय में भगवान महावीर की उपस्थिति मे संगीत का जैन दर्शन में कितना स्थान था इसी को लक्ष्य कर ही इसका प्रतिपादन करते हैं। आगमो में जो सकलन किया गया वह क्रमबद्ध न होकर प्रसगानुसार पाया जाता है। हमारे सामने इस समय जो सकलन है वह वाचना देववृद्धि

गणिका है। इसके पूर्व 3 वाचना का सकलन हुआ था जो लिपिबद्ध नही मिलता। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे वाचनायें पुनरावर्ती के रूप मे मुखाग्रही करा दी गयी होगी। यदि लेख रूप मे होते तो कुछ अशो मे अवश्य मिलते। जैन आगमो के सिवाय अन्य प्रकरणो मे और स्वतत्र रूप से भी अति सूक्ष्म दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थ सपूर्ण नही मिलते। उन ग्रन्थो का नाम अन्य ग्रन्थो में भी पाया जाता है। इसमे अनुमान लगाया जाता है कि कुछ असावधानी से खराब हो गये, कुछ बाहर विदेश चले गये और इसके पूर्व भारतीय दर्शन का अधिकाश भाग जैन, वैदिक आदि सभी दर्शनो सहित नष्ट कर दिया गया। इसलिये हमारे सामने जो वर्तमान में ग्रन्थ आगम आदि हैं उन्ही के आधार पर कुछ दिग्दर्शन कराया जा सकता है। वर्तमान अनुसधानकर्ता (रिसर्च करने वाले) वर्तमान ग्रन्थो के आधार पर ही अतिम छाप लगा बैठते हैं। पर यह विचारणीय है कि अतिम छाप तो वह लगा सकता है जो सर्वज्ञ और अतरयामी हो। छद्मस्थ यदि ऐसा करता है तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा है।

वाद्यों से संबंधित ग्रंथ

स्थानाङ्ग 4

प्रस्तुत ग्रन्थ में वाद्यो के चारो प्रकारो के वर्गीकरण का उल्लेख है। जैसे :—

(1) तत्—ततवाद्य, वीणा आदि,

(2) तितत—मढे हुये वाद्य, पटह आदि,

(3) घन—कास्यताल

(4) झुशिर—शुषिर-फूक द्वारा बजने वाले वाद्य, बासुरी आदि।

राजप्रश्नीय सूत्र 64

प्रस्तुत ग्रन्थ मे (1) शख, (2) शृग, (3) शखिका, (4) खरमुही, (5) पेया (6) पीरिपिरिया—शूकर-पुटावनद्धमुखोवाद्य विशेष, (7) पणव–लघु पटह, (8) पटह, (9) होरभ (10) महाढक्का, (11) भेरी, (12) झल्लरी, (13) दुंदुभि–वृक्ष के एक भाग को भेदकर बनाया गया वाद्य, (14) मुरज–शकटमुखी, (15) मृदग आदि 60 प्रकार के वाद्यो का उल्लेख किया गया है।

बृहत्कल्पभाष्यपीठिका 24 वृत्ति

इस पुस्तक में वाद्यो के नामो का निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है :—

(1) भभा (2) मुकुन्द (3) मद्दल (4) कडब (5) झल्लरि (6) हुडुक्क (7) कास्यताल (8) काहल (9) तलिमा (10) वश (11) पणव तथा (12) शख।

स्थानाङ्ग 7, उ. 3 एवं अनुयोग द्वार

उपरोक्त ग्रन्थो मे "सगीत" की व्याख्या विशद रूप से की गयी है। इसमे गीत के तीन प्रकार बताये गये हैं :—

(1) प्रारम्भ में मृदु (2) मध्य में ते (3) अन्त में मन्द।

गीत के दोष

(1) भीत—भयभीत मानस से गया जाय,

(2) द्रुतं—बहुत शीघ्र शीघ्र गाया जाय,

(3) अपित्थ—श्वास युक्त शीघ्र गाया जाय अथवा ह्रस्व स्वर लघु स्वर से ही गाया जाय।

(4) उत्ताल—अति उत्ताल स्वर से व अवस्थान ताल से गाया जाय।

(5) काकस्वर—कौए की तरह कर्ण-कटु शब्दों से गाया जाय।

(6) अनुनासिकम्—अनुनासिका से गाया जाय।

गीत के आठ गुण

(1) पूर्ण—स्वर, लय और कला से युक्त गाया जाय।
(2) रक्त—पूर्ण तल्लीन होकर गाया जाय।
(3) अलकृत—स्वर विशेष से अलकृत होकर गाया जाय।
(4) व्यक्त —स्पष्ट गाया जाय।
(5) अविघुष्ट—अविपरीत स्वर से गाया जाय।
(6) मधुर—कोकिला की तरह मधुर गाया जाय।
(7) सम—ताल, वश, व स्वर से समत्व गाया जाय।
(8) सुललित—कोमल स्वर से गाया जाय।

अन्य आठ गुण

(1) उरोविशुद्ध—अक्षस्थल से विशुद्ध होकर निकलना।
(2) कण्ठविशुद्ध—जो स्वर भंग न हो।
(3) शिरोविशुद्ध—मूर्घा को प्राप्त होकर भी जो स्वर-नासिका से मिश्रित नहीं होता।
(4) मृदुक—जो राग कोमल स्वर से गाई जाय।
(5) रिंगित—आलाप के कारण स्वर अठखेलिया करता सा प्रतीत हो।
(6) पदबद्ध— जो गेय पद विशिष्ठ लालित्य युक्त भाषा में निर्मित किये गये हो।
(7) समताल प्रत्युत्क्षेप—नर्तकी का पाद निक्षेप और ताल आदि परस्पर मिले हो।
(8) सप्त स्वर सोमर—सातो स्वर अक्षरादि से मिलान खाते हों।

अक्षरादि सम भी सात प्रकार का है :—

(1) अक्षर सम—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सानुनासिका से युक्त।
(2) पद—सम : पद विन्यास से युक्त।
(3) ताल—सम ताल के अनुकूल कर आदि का हिलाना।
(4) ग्रह—सम : बासुरी या सितार की तरह गाना।
(5) लय—सम . वाद्य यन्त्रो के साथ स्वर मिला कर गाना।
(6) निश्वसित्तोच्छ्वसितो—सम : श्वास ग्रहण करने और निकालने का क्रम व्यवस्थित।
(7) सचार—सम : वाद्य यन्त्रों के साथ गाना।

प्रकारान्तर से अन्य आठ गुण :

(1) निर्दोष—गीत के बत्तीस दोष से रहित गाना।
(2) सारवन्त—विशिष्ठ अर्थ से युक्त गाना।
(3) हेतुयुक्त—गीत से निबद्ध, अर्थ का गमक और हेतु युक्त।
(4) अलकृत—उपमादि अलकारो से युक्त।
(5) उपनीत—उपनय से युक्त।
(6) सोपचार—कठिन न हो, विशुद्ध हो।
(7) मित—सक्षिप्त व सार युक्त।
(8) मधुरंभ—भोग्य शब्दो के चयन से श्रुति मधुर।

छन्द के तीन प्रकार :—

(1) सम—चारो पाद के अक्षरों की सख्या समान।
(2) अर्धसम—प्रथम और तृतीय, द्वितीय और चतुर्थ पाद समान सख्या बाले हो।

(3) विषमसम—किसी भी पाद की सख्या एक दूसरे से नही मिलती हो।

सप्त-स्वर —

(1) षडज : नासिका, कठ, छाती, तालु, जिव्हा, दात इन छह स्थानो से उत्पन्न।

(2) ऋषभ जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर कण्ठ और मूर्धा से टक्कर खाकर वृषभ के शब्द की तरह निकलता हो।

(3) गाधार जब वायु नाभि से उत्पन्न होकर हृदय और कण्ठ को स्पर्श करता हुआ सगध निकलता हो।

(4) मध्यम : जो शब्द नाभि से उत्पन्न होकर हृदय से टक्कर खाकर पुनः नाभि मे पहुँचे। अर्थात् अन्दर ही अन्दर गूँजता रहे।

(5) पचम . नाभि, हृदय, छाती, कठ और सिर इन पाच स्थानो से उत्पन्न होने वाला स्वर।

(6) धैवत अन्य सभी स्वरो का जिसमें मेल हो, इसका अपर नाम धेवत भी है।

(7) निषाद : जो स्वर अपने तेज से अन्य स्वरों को दबा देता है और जिसका देवता सूर्य हो।

ग्राम और मूर्च्छनाएँ .

सात स्वरो के तीन ग्राम हैं —

(1) षडज् ग्राम (2) मध्य ग्राम तथा (3) गाधार ग्राम।

षडज ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ

(1) मार्गी (2) कौरवी (3) हरिता (4) रत्ना (5) सारकान्ता (6) सारसी (7) शुद्ध षडजा।

मध्य ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ :

(1) उत्तरमदा (2) रत्ना (3) उत्तरा (4) उत्तरासमा (5) समकान्ता (6) सुवीरा (7) अभिरूपा।

गांधार ग्राम की सात मूर्च्छनाएँ

(1) नदी (2) क्षुद्रिका (3) पूरिमा (4) शुद्ध गाधार (5) उत्तरगाधार (6) सुष्ठुतर मायामा (7) उत्तरायत कोटिया।

संगीत-शास्त्र में मूर्च्छनाओं के नाम अन्य उपलब्ध होते हैं —

(1) ललिता (2) मध्यमा (3) चित्रा (4) रोहिणी (5) मतगजा (6) सौबीरी (7) षण्मध्या।

(1) पचमा (2) मत्सरी (3) मृदुमध्यमा (4) शुद्धा (5) अत्रा (6) कलावती (7) तीव्रा।

(1) रौद्री (2) ब्राह्मी (3) वैष्णवी (4) खेचरी (5) सुरा (6) नादावती (7) विशाला।

वर्तमान की उपलब्धियो से वैदिक ग्रन्थो के आधार पर भरत का नाट्यशास्त्र आदि माना जाता है, जिसमें सगीत विभाग (28 से 36 तक) है। उसमें गीत और वाद्यो का विवरण पाया जाता है किन्तु रागों के नाम और उनका विवरण नही बताया गया।

भरत के शिष्य दत्तिल, कोहल और विशाखिल इन तीनो ने ग्रन्थ की रचना की थी। प्रथम का दत्तिलम्, दूसरे का 'कोहलीयम और तीसरे का विशाखिलियम ग्रन्थ था। वर्तमान मे विशाखिलम् अप्राप्त है।

मध्यकाल में हिन्दुस्तानी और कर्णाटक की पद्धतियों का प्रचार हुआ और उसके साथ आचार्यों ने सगीत पर अनेक ग्रन्थ भी लिखने प्रारंभ कर दिये। सन् 1200 में सब पद्धतियों का मथन कर शारगदेव ने, "सगीत रत्नाकार" नामक ग्रथ लिखा। उस पर छ: टीका ग्रथ भी लिखे गये। इनमें से चार टीका ग्रथ उपलब्ध नहीं हैं। अर्धभागधी (प्राकृत) मे रचित "अनुयोग द्वार" सूत्र मे सगीत विषयक सामग्री पद्य मे मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत सस्कृत में भी अनेक ग्रंथ रहे होंगे क्योंकि कोई भी ग्रथ लिखने के लिये उसके पूर्व की आधारशिला आवश्यक रहती है। उपरोक्त जैन आगमो और अन्य ग्रन्थो के आधार पर जैन आचार्यों ने भी सगीत पर कुछ ग्रन्थोकि रचना अति पैनी दृष्टि मे की है।

"संगीत समयसार"

(यह ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में छापा गया है)।

दिगम्बर जैन मुनि अभयचन्द के शिष्य महादेवाचार्य और उनके शिष्य पार्श्वचन्द्र ने, "सगीत समयसार" नाम के ग्रन्थ की रचना लगभग वि. स. 1380 में की है। इस ग्रन्थ में नव अधिकरण है, जिनमें नाद, ध्वनि, स्थायी, राग, वाद्य, अभिनय, ताल, मस्तार और आध्वयोग—इस प्रकार अनेक विषयो पर प्रकाश डाला गया है। इसमें प्रताप दिगम्बर और शकरनामक ग्रन्थो का उल्लेख पाया जाता है और भोज, सामेश्वर, परमर्दी इन तीन राजाओं का नाम भी पाया जाता है। (विशेष परिचय के लिये देखें जैन सिद्धात भास्कर भाग-9 अक-2 और भाग-10 अक-10)।

'सगीतोपनिषत् सारोद्धार"

यह ग्रन्थ आचार्य राजशेखर सूरि के शिष्य सुधाकलश ने वि. सं. 1406 मे लिखा। यह ग्रथ गायकवाडा आरियेन्टल सीरीज, बडौदा से प्रकाशित हो गया है। यह ग्रन्थ स्वय सुधाकलश द्वारा वि. स. 1380 मे रचित "संगीतोपनिषद" का स्वरूप है। इस ग्रथ मे 6 अध्याय हैं और 610 श्लोक हैं। प्रथम अध्याय में गीत प्रकाशन, दूसरे में प्रशस्ति सौपाश्रय—ताल प्रकाशन, तीसरे में गुणस्वर रागादि प्रकाशन और छठें में नित्य पद्धति प्रकाशन है।

यह कृति "सगीत मकरद" और संगीत पारिजात से भी विशिष्ठतर और अधिक महत्व की है।

इस ग्रंथ में नरचन्द्र सूरि का, "सगीतज्ञ" के रूप मे भी उल्लेख हुआ है। प्रशस्ति मे अपनी "संगीतोपनिषत्" रचना के वि. स. 1380 होने का उल्लेख भी है।

मलधारी, अभयदेवसूरि की परम्परा में अभीचन्द्र सूरि हो गये हैं। वे सगीत-शास्त्र मे विशारद थे, ऐसा उल्लेख सुधाकलश मुनि ने किया है।

"संगीतोपनिषत"

आचार्य राजशेखर सूरि के शिष्य सुधाकलश ने "संगीतोपनिषत" ग्रन्थ की रचना स. 1308 में की ऐसा उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वय स. 1406 मे अपने "संगीतोपनिषत सारोद्धार" नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में किया है। यह बहुत बड़ा था जो अभी तक उपलब्ध नही हो पाया।

सुधाकलश ने "एकाक्षरनाम माला" की भी रचना की है।

"संगीत मंडन"

मालवा—मांडवगढ के सुलतान आलमशाह के मत्री मडन ने विविध विषयो पर अनेक ग्रथ लिखे हैं। उनमे

"संगीत मंडल" भी एक है। इस ग्रंथ की रचना सं. 1490 के आस-पास हुई है। इसकी हस्त-लिखित प्रति मिलती है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है।

"संगीत दीपक, संगीत रत्नावली, संगीत पिंगल"

इन तीनों ग्रंथों का उल्लेख जैन ग्रन्थावली मे मिलता है। परन्तु इनके विषय मे अभी तक नाम के सिवाय विशेष जानकारी नही मिलती।

नाट्य

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख दुःख समन्वितः।
सोऽआगाद्यभिनयो येतो, नाट्यमित्यभिधीयते।।

दुःखी, शोकार्त, श्रांत एवं तपस्वी व्यक्तियों को विश्रांति देने के लिये नाट्य की सृष्टि की गयी। सुख-दुःख से युक्त लोक स्वभाव ही आंगिक, वाचिक इत्यादि अभिनयों से युक्त होने के कारण नाट्य कहलाता है। नाट्य मुद्रायें और चित्रकला—प्राणियों के लिये एक विशेष स्वाभाविकता रही है, जिसके आधार पर ही यह अपने मानसिक, वाचिक और कायिक भावो का दूसरो पर प्रभाव डालता है। नाट्यकला, मुद्राकला और संगीत कला ये तीनो कला आपस मे इस तरह मिली हुई हैं कि जिस प्रकार सूर्य से ताप या प्रकाश अलग नहीं किया जा सकता। मानव के अतःस्थल में जब भावावेश की जागृति होती है। तदनुकूल उसकी मानसिक, वाचिक तथा कायिक चेष्टायें स्वतः स्वाभाविक (नेचुरल) प्रकट होने लगती हैं। ये तीनों कलायें सीखनी नहीं पड़तीं। वह (मानव) जन्म से ही साथ लेकर जन्मता है और मरणोपरांत भी पुनर्जन्म के समय उसके साथ बनी रहती हैं। लोक आकर्षण के लिये मानसिक प्रवृत्ति न होने पर भी वैसा भाव दिखाना जब कभी आवश्यक होता है और उसका निराकरण करना भी आवश्यक होता है ऐसी अवस्था में उसमे विशेष रूप से शिक्षा-दीक्षा आदि देकर साधक की रुचि के अनुसार उसमें उसे प्रवीण करा दिया जाता है। किसी भी कार्य की पूर्ति के लिये मुख्य दो साधन होते हैं। प्रथम आतंरिक तथा दूसरा बाह्य। बाह्य साधन आंतरिक का पूरक है। इसलिये ग्रंथो का प्रकाशन शिक्षा-दीक्षा जितने भी कार्य किये या कराये जाते हैं, आंतरिक भावो की जागृति विशेष के लिये ही होते हैं। वह जागृत अवस्था चाहे भौतिक वस्तु की प्राप्ति के लिये हो अथवा आध्यात्मिक निःश्रेय मार्ग को प्राप्त करने के लिये हो, यह तो साधक के मानसिक विचारो और उसके पक्ष पर ही आधारित है। ऋषि-मुनियो ने जो मार्ग दर्शन हमे कराया उनका एकमात्र लक्ष्य निश्रेय मार्ग अर्थात् अपवर्ग मार्ग का ही विशेष लक्ष्य रहा है। परंतु भौतिक या अर्थ की ओर जिनका लक्ष्य रहा, उन्होंने इसका उपयोग अर्थ प्राप्ति के लिये ही किया। इससे इन कलाओं मे स्वाभाविक गुण और शक्ति का ह्रास होने लगा है क्योंकि लक्ष्य, लोक रुचि की ओर होने से लोक रुचि अनुसार रंजकता लाने के लिये इन रागो, मुद्राओं और नाट्य कलाओ मे परिवर्तन करना पड़ता है। इससे वहां की वस्तुकला वास्तविकता से हटकर अपने स्वरूप को खो बैठती है।

"नाट्य दर्पण"

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि के दो शिष्यों कवि कटारयल विरुद्धधारक रामचन्द्र सूरि और उनके गुरु भाई गुणचन्द्र गणि ने मिलकर "नाट्यदर्पण" की रचना वि. स. 1200 के आस-पास की है।

नाट्यदर्पण मे चार विवेक है जिनमे सब मिलकर 207 पद्य हैं।

प्रथम विवेक "नाट्यदर्पण" मे नाटक संबंधी सब बातों का निरूपण किया गया है। इसमें 1 नाटक 2 प्रकरण, 3 नाटिका, 4 प्रकरणी, 5 व्यायोग, 6 समवकार, 7 भाण, 8 प्रहसन, 9 डिम, 10—उत्तमास्ति-

कार्तक 11 इहामृता तथा 12 वीथी—इस प्रकार बारह प्रकार के रूपक बताये गये हैं। पाच अवस्थाओ और पाच सधियों का भी उल्लेख है।

द्वितीय विवेक "प्रकरणाद्यकादशनिर्णय" मे प्रकरण से लेकर बीथी तक के 11 रूपको का वर्णन है। इसमे बृत्ति, रस, भाव और अभिनय का विवेचन है।

तृतीय विवेक "वृत्तिरस भावाभिनय विचार" मे चार वृत्तियो, नव रसों, नव स्थायी भावो, तैंतीस व्यभिचारी भावों, रस आदि आठ अनुभावो और अभिनवो का निरूपण है।

चतुर्थ विवेक "सर्वरूपक साधारण लक्षण निर्णय" मे सभी रूपको के लक्षण बताये गये हैं।

आचार्य रामचन्द्र सूरि समर्थ आशुकवि के रूप मे प्रसिद्ध थे; गुण-दोपो के बड़े परीक्षक थे। इन्होंने नाटक आदि अनेक ग्रथो की रचना की। गुरु हेमचन्द्रचार्य ने जिन नाटक आदि ग्रन्थो पर नही लिखा था उन विषयो पर इन्होंने अपनी लेखनी चलाई। ये प्रबध शतकर्ता भी माने गये हैं। प्रबध शतक ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हुआ है। ऐसे समय कवि की अकाल मृत्यु स. 1230 के आस-पास राजा अजयपाल के निमित्त हुई। ऐसी सूचना प्रबंध से मिलती है। इनके गुरुभाई गुणचन्द्र सूरि भी समर्थ विद्वान थे। उन्होने "सवृत्तिक द्रव्यालकार" आचार्य रामचन्द्र सूरि के साथ रचना की है।

आचार्य रामचन्द्र सूरि ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, उनमे वर्तमान समय मे निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं :—

(1) कौमुदीमियाणद (प्रकरण), (2) नलविलास (नाटक), (3) निर्भय, (4) मल्लिकामकरद (प्रकरण), (5) यादवाभ्युदय (नाटक), (6) रघुविलास (नाटक), (7) राघवाभ्युदय (नाटक), (8) रोहिणी मृगाक (प्रकरण), (9) बनमाला (नाटिका), (10) सत्यहरिश्चन्द्र (नाटक). (11) सुधाकलश (कोष), (12) आदिदेवस्तवन, (13) कुमार विहारशतक, (14) जिनस्तोत्र, (15) नेमिस्त्व, (16) मनुसुव्रस्त्व, (17) यदुविलास, (18) सिद्धहेमचन्द्र, शब्दानुशासन, लघुन्यास, (19) सोलह साधारण जिनस्त्व, (20) प्रसाद्वात्रिंशिकर, (21) युगादिद्वात्रिंशिका, (22) व्यतिरेकद्वात्रिंशिका, (23) प्रबंधशत—यह ग्र थ अभी तक अप्राप्त हैं।

"आचार्य दर्पणवृत्ति"

आचार्य रामचन्द्र सूरि और गुण चन्द्र गणि ने अपने नाट्यदर्पण पर स्वोपज्ञ विवृत्ति की रचना की है। इसमें रूपको के उदाहरण 55 ग्रन्थो से दिये गये हैं। स्वरचित कृतियो से भी उदाहरण लिये हैं। इसमें उपरूपको के स्वरूप का आलेख किया गया है।

धनजय के "दशरूपक" ग्रथों को आदर्श रूप मे रखकर यह विवृत्ति लिखी गयी है। बिवृत्तिकार ने कही-कही धनजय के मत से भिन्न मत भी प्रदर्शित किया है। भरत के नाट्य मे पूर्वापर विरोध है, ऐसा भी उल्लेख किया है। अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्राचार्य के "काव्यानुशासन" में भी कहीं-कही भिन्न मत का भी निरूपण मिलता है। इस दृष्टि से यह कृति विशेष तौर से अध्ययन करने योग्य है। नाट्यदर्पण स्वपोत विवृत्ति के साथ गायकवाडा ओरियेन्टल सीरीज में दो भागो में छपा है। इस ग्रन्थ का के एच. त्रिवेदिकृत आलोचनात्मक अध्ययन लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद, से प्रकाशित हुआ है।

"प्रबंध शतक"

आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्यत्व आचार्य रामचन्द्र सूरि ने 'नाट्यदर्पण" के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र विषयक "प्रबध शतक" नामक ग्रथ की भी रचना की थी जो अप्राप्य है।

कला

"चित्रवर्ण संग्रह"

सोमराज रचित "रत्न परीक्षा" ग्रन्थ के अंत मे "चित्रवर्ण" संग्रह के 42 श्लोको का प्रकरण अत्यंत उपयोगी है।

इसमें भित्तचित्र बनाने के लिये भित्ति कैसी होनी चाहिये, रंग कैसा बनाना चाहिये, इत्यादि ब्योरेवार वर्णन है।

प्राचीन भारत मे सित्तनबासल, अजंता, बाघ आदि गुफाओ में और राजा-महाराजो तथा श्रेष्ठियो के प्रसादों में चित्रो को जो आलेखित किया जाता था, उसकी विधि इस छोटे से ग्रथ से बनाई गई है। यह प्रकरण अप्रकाशित है।

"कला-कलाप"

वायड गच्छीय जिनदत्त सूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि की कृतियो के बारे मे प्रबध कोश मे उल्लेख हैं, जिसनें "कला-कलाप" नामक कृति का भी निर्देश है। इस ग्रंथ का शास्त्र रूप मे उल्लेख है। परन्तु अभी तक यह अप्राप्य है। इसमे 72 या 74 प्रकरणों का निरूपण है, ऐसी संभावना है।

"मसी-विचार"

"मसी-विचार" नामक ग्रन्थ जेसलमेर भंडार में है, जिसमे ताड़पत्र और कागज पर लिखने की स्याही बनाने की प्रक्रिया बतायी गयी है। इसका जैन ग्रन्था-वली पृ. 362 मे उल्लेख है।

□ □

भारतीय शिल्पकला के विकास में

जैन शिल्पकला का योगदान

डा० शिवकुमार नामदेव

भारत की प्राच्य संस्कृति के लिए जहाँ जैन साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, वहीं जैन कला के अध्ययन का भी कुछ कम महत्व नहीं है। जैन कला अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताओं के कारण भारतीय कला मे अपना विशिष्ट महत्व रखती है। जैन धर्म की स्वर्णिम-गौरव-गरिमा की प्रतीक प्रतिमाएँ, पुरातन मदिर, विशाल स्तूपादि प्राचीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के ज्वलत निदर्शन हैं। अतीत इनमे अंतर्निहित है। सभ्यता एव सस्कृति की रक्षा एव अभिवृद्धि मे साहित्यकार जहाँ लेखनी के माध्यम से समाज में अपने भावों को व्यक्त करता हैं, वहीं कलाकार पार्थिव उपादानों के माध्यम द्वारा आत्मस्थ भावो को अपनी सधी हुई छैनी से व्यक्त करता है।

मूर्तिकला के क्षेत्र मे जैनकला ने अर्हन्तो की अगणित कायोत्सर्ग एवं पद्मासन ध्यान मग्न मूर्तियों का निर्माण किया है जो पाषाण से लेकर मूंगा, हीरा, पुखराज, नीलम आदि से निर्मित है। मामूली ताँबा, पीतल से लेकर रजत, स्वर्ण जैसी बहुमूल्य धातुओ से निर्मित आकार मे छोटी से छोटी एव बडी से बडी जैन धर्म की इन प्रतिमाओ मे कितनी ही तो चतुर्मुख एव कितनी ही सर्वतोभद्र हैं। जैन पुरातत्व की प्रमुख वस्तु प्रतिमा है। भारत के विभिन्न भूभागो में जैन मूर्तियो की उपलब्धि होती रहती है, जिनकी मौलिक मुद्रा एक होते हुए भी परिकर मे प्रातीय प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। मुखाकृति पर भी असर होता है।

जैन मत में मूर्तिपूजा की प्राचीनता एवं विकास का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है।[1] जैन मत दो प्रमुख पंथो श्वेतांबर एवं दिगम्बर मे विभाजित है। श्वेतांबर सदैव ही अपनी प्रतिमाओ को वस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित रखते थे। वे पुष्पादि द्रव्यो का प्रयोग करते हैं तथा अपने देवालयों मे दीपक भी नही जलाते। दिगम्बर मूर्तियाँ नग्न रहती थी।

1. जैन मत मे मूर्ति पूजा की प्राचीनता एवं विकास—शिवकुमार नामदेव, अनेकात, मई 1974।

भारत की प्राचीनतम मूर्तियाँ सिन्धु घाटी में मोहन जोदडो एव हडप्पा आदि स्थलो के उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। इस सभ्यता मे प्राप्त मोहन जोदडो के पशुपति को यदि शैव धर्म को देव मानें तो हडप्पा से प्राप्त नग्न धड को दिगम्बर की खडित मूर्ति मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए।[2]

सिन्धु सभ्यता के पशुओ में एक विशाल स्कध-युक्त वृषभ तथा एक जटाजूटधारी का अकन है। वृषभ तथा एक जटाजूट के कारण इसे प्रथम जैन तीर्थकर आदिनाथ का अनुमान कर सकते हैं।[3] हडप्पा से प्राप्त मुद्रा क्रमाक 300, 317 एव 318 में अकित प्रतिमा अजानुलबित, बाहुद्वय सहित कायोत्सर्ग मुद्रा मे है।[4] हडप्पा के अतिरिक्त उपरोक्त साक्ष्य हमे मोहन-जोदडो में भी उपलब्ध होता है।[5]

मथुरा एव उदयगिरि-खण्डगिरि का पुरातत्व भी जिन मूर्तियो के प्राचीन अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। जैन स्तूप पर मूर्तियाँ अकित रहती थी। ईसा की पहली शताब्दी मे मथुरा मे वह प्राचीन स्तूप विद्यमान था जो इस काल मे देव-निर्मित समझा जाता था और जिसे बुल्हर तथा स्मिथ ने भगवान पार्श्वनाथ के काल का बताया था।

भारतीय कला का क्रमबद्ध इतिहास मौर्यकाल से प्राप्त होता है। मौर्यकाल मे मगध जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। इस काल की तीर्थंकर की एक प्रतिमा लोहानीपुर से प्राप्त हुई है।[6] मूर्ति के हाथ एव मस्तक टूट गये हैं। पैर भी जघा के पास से नही हैं। प्रतिमा पर मौर्यकालीन उत्तम पालिश है। तग वक्षस्थल तथा क्षीण शरीर जैनो के तपस्यारत शरीर का उत्तम नमूना है। पीठ प्राय. चौरस है, पीछे से काठ से प्रतीत होती है। यह प्रतिमा किसी ताख मे रखकर पूजार्थ प्रयुक्त की जाती रही होगी। पार्श्वनाथ की एक कास्य मूर्ति जो मौर्यकाल की मानी जाती है, कायोत्सर्गासन मे है। यह प्रतिमा बम्बई के सग्रहालय मे सरक्षित है।

शुगकाल (185 ई पू से 72 ई पू) मे जैन धर्म के अस्तित्व की द्योतक कतिपय प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। लखनऊ सग्रहालय[7] मे सरक्षित शुगयुगीन मथुरा से प्राप्त एक कपाट पर ऋषभदेव के सम्मुख अप्सरा नीलाजना का नृत्य चित्रित है। कपाट मे अनेक नरेशों सहित ऋषभदेव को बैठे हुए दिखाया गया है, नर्तकी का दक्षिण पैर नृत्य मुद्रा में उठा हुआ है तथा दक्षिण हाथ भी नृत्य की भगिमया को प्रस्तुत कर रहा है। सगत-राश निकट ही बैठे हुए हैं।

---

2. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक क्रमाक 1
3. सरवाइवल ऑफ दि हडप्पा कल्चर—टी. जी अमूंथन, पृष्ठ 55।
4. हडप्पा ग्रथ 1, वत्स एम. एस., पृष्ठ 129-130, फलक 93।
5. वही, पृष्ठ 28, मार्शल—मोहन जोदडो एन्ड इन्डस वैली सिविलाइजेशन, ग्रथ 1, फलक 12, आकृति 13. 14. 18, 19, 22।
6. निहाररजन रे—मौर्य एन्ड शुग आर्ट, चित्र फलक 28, काम्प्रिहेनसिव हिस्ट्री ऑफ इन्डिया—सपादक के. ए. नीलकंठशास्त्री, चित्र फलक 38, स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी शाह, चित्र फलक 1 क्रमाक 2, मौर्य साम्राज्य का इतिहास—सत्यकेतु विद्यालकार, चित्र फलक 10, भारतीय कला को बिहार की देन—विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह, चित्र सख्या 30।
7. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक 2, आकृति 5।

प्रिंस ऑफ वेल्सम्यूजियम बम्बई मे जैन तीर्थंकर पाश्र्वनाथ[8] की प्राचीन कास्य प्रतिमा सग्रहीत है। यह कायोत्सर्गासन में है, उनका सर्पफणो का वितान एव दक्षिण कर खडित है । ओष्ठ लंबे एव हृदय पर श्रीवत्स चिन्हाकित नहीं है, जो परवर्तीकाल मे प्राप्त होता है। श्री यू. पी. शाह ने प्रतिमा का काल 100 ई. पू. के लगभग सिद्ध किया है।

शुगकालीन ककाली टीला (मथुरा) से जैन स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं इसके साथ ही उसी काल के पूजा पट्ट भी उपलब्ध हुए है जिन्हें आयाग पट्ट भी कहा जाता था । यह प्रस्तर अलकृत हैं तथा आठ मांगलिक चिन्हो से युक्त है। पूजा निमित्त अमोहिनी ने इसे प्रदान किया था । इस युग का एक प्रधान केन्द्र उडीसा मे था। यहाँ की उदयगिरि पहाडियो पर जैन धर्म से सम्बन्धित गुहायें उत्कीर्ण हैं।

शुंग एव कुषाण युग में मथुरा जैन धर्म का प्राचीन केन्द्र था। यहाँ के ककाली टीले के उत्खनन से बहुसख्यक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ किसी समय मथुरा के दो स्तूपो मे लगी हुई थी । अर्हत नद्यावर्त की एक प्रतिमा जिसका काल 89 ई. है, इस स्तूप के उत्खनन से प्राप्त हुई है।

यहाँ से उपलब्ध जैन मूर्तियाँ, बौद्ध मूर्तियो से इतना सादृश्य रखती हैं कि दोनो का विभेद करना कठिन हो जाता है । यदि श्रीवत्स पर ध्यान न दिया जाय तो ऊपरी अगो की समानता के कारण जैन को बौद्ध एव बौद्ध को जैन मूर्ति कहने में कोई आपत्ति नही होगी । कारण यह था कि कुषाण युग के प्रारम्भ मे कला मे धार्मिक कट्टरता नही थी।

कुषाण युग के अनेक कलात्मक उदाहरण मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से उपलब्ध हुए हैं। यहाँ से प्राप्त एक आयागपट्ट[9] जिस पर महास्वस्तिक का चिन्ह बना है, के मध्य में छत्र के नीचेपद्मासन मे तीर्थंकर मूर्ति है, उनके चारो ओर स्वस्तिक की चार भुजाएँ हैं। तीर्थंकर के मण्डल की चार दिशाओ मे चार त्रिरत्न दिखाये गये हैं । कलात्मक दृष्टि से लखनऊ सग्रहालय मे सरक्षित आयागपट्ट[10] (क्रमाक जे. 249) महत्वपूर्ण है । इसकी स्थापना सिंहनादिक ने अर्हत् पूजा के लिए की थी । मध्य मे पद्मासन पर बैठी हुई तीर्थंकर मूर्ति है। पट्ट की बाह्य चौखट पर आठ मगलिक चिन्ह हैं।

आयागपट्ट पर जो मागलिक चिन्ह हैं उनकी स्थिति से मूर्ति को जैन प्रतिमा मानने मे सदेह नहीं रह जाता ये चिन्ह हैं—स्वास्तिक, दर्पण, भस्मपात्र, बेंत की तिपाई (भद्रासन), दो मछलियाँ, पुष्पमाला एव पुस्तक । कुषाण युग के अन्य आयागपट्ट पर जो मागलिक खुदे हैं उनमे दर्पण तथा नंद्यावर्त का अभाव है। सभवतः कनिष्क के काल (प्रथम सदी ई) तक अष्टमागलिक चिन्हो की अतिम सूची निश्चित न हो सकी थी ।

विवेच्य युग मे प्रधानत तीर्थंकर की प्रतिमाऐं तैयार की गईं जो कायोत्सर्ग एव आसन अवस्था मे हैं। मथुरा के शिल्पयो के सम्मुख यक्ष की प्रतिमायें ही आदर्श थी, अत कायोत्सर्ग स्थिति मे तीर्थंकर की विशालकाय नग्न मूर्तियाँ बनने लगी। ककाली टीले के उत्खनन से प्राप्त बहुसंख्यक नग्न तीर्थंकर की प्रतिमायें लखनऊ के संग्रहालय मे हैं । तीर्थंकर प्रतिमाओ मे

---

8. वही, आकृति 3।
9. भारतीय कला—वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ 281-282, चित्र फलक 316।
10. वही. पृष्ठ 282-283, चित्र सख्या 318।

अधोवस्त्र का समावेष कुषाणयुग के पश्चात किया गया। इस युग मे तीर्थंकरो के विभिन्न प्रतीको का परिज्ञान न हो सका था। विभिन्न तीर्थ करो को पहचानने के लिए तीर्थ करो की चौकियो पर अकित लेखो में नाम का उल्लेख ही पर्याप्त था।

कुषाण युग मे मथुरा कला मे तीर्थंकरो के लाछन नही पाये जाते हैं, जिनसे कालातर में उनकी पहचान की जाती थी। केवल आदिनाथ के कधो पर खुले हुए केशो की लटें दिखाई गई है और सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्पफणों का आटोप है। तीर्थंकर मूर्तियो के वक्ष पर श्रीवत्स एवं मस्तक के पीछे तेजचक्र या प्रभामण्डल पाया जाता है। फणाटोप वाली मूर्तियो में प्रभामण्डल नही रहता। चौकी पर केवल चक्र ध्वज या जिनमूर्ति या सिंह का अकन पाया जाता हैं।

भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से विख्यात गुप्तकाल में यद्यपि जैनधर्म अधिक लोकप्रिय नही था, परन्तु अनेक साक्ष्यों से इस काल में जैन धर्म पर प्रकाश पडता है। इस युग मे कला प्रौढता को प्राप्त हो चुकी थी। जैन प्रतिमायें सुन्दरता एव कलात्मक दृष्टि मे उत्तम हैं। अधोवस्त्र तथा श्रीवत्स ये विशेषतायें गुप्तकाल में परिलक्षित होती हैं। जैन मूर्तियाँ बनावट की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। प्रतिमाओं में चक्र, चौकी के मध्य तैयार किए गये, जिसके दोनों पार्श्व मे दो हिरण या वृषभ खोदे गए हैं। सिरे पर तीन (चक्र) रेखाओं का छत्र दिखलाया गया है जिसके दोनो ओर हस्ति स्थित हैं। गुप्तयुगीन जैन प्रतिमाओ मे यक्ष-यक्षिणी, मालावाही गंधर्व आदि देवतुल्य मूर्तियो को भी स्थान दिया गया था। उत्तर गुप्तकाल में जैन कला सम्बन्धी अनेक केन्द्र काम करने लगे। अतः स्थानीय प्रतिमाओ की सख्या पर्याप्त रूप से मिलती है। तान्त्रिक भावना ने कला को प्रभावित किया। कलाकारो का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया, परन्तु शास्त्रीय नियमों से बद्ध होने के कारण जैन कलाकारो को स्वतत्रता न रही। इस युग में 24 तीर्थ करो से सम्बन्धित चौबीस यक्ष-यक्षिणी को भी कला मे स्थान दिया गया।

प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण नगर विदिशा के निकट दुर्जनपुर ग्राम से कुछ वर्ष पूर्व रामगुप्तकालीन तीन अभिलेख युक्त जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई थी। इन प्रतिमाओ की प्राप्ति से भारतीय इतिहास मे अर्द्धशती से चले आ रहे इस विवाद का निराकरण सभव हो सका कि रामगुप्त गुप्त शासक था या नही।[11]

उपर्युक्त तीनो प्रतिमाओं मे से दो प्रतिमायें चन्द्रप्रभ एव एक अर्हत पुष्पदत की हैं। यद्यपि मूर्तियाँ कुछ नग्न हैं तथापि कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। चन्द्रप्रभ की प्रथम मूर्ति के दक्षिण कर्ण मे एक कडा एव वक्ष पर श्रीवत्स चिन्हांकित हैं। पदमासनस्थ इस प्रतिमा के पाठपीठ पर मध्य में चक्र एव दोनों पार्श्व मे सिंह उत्कीर्ण है। मूर्ति का शरीर गठीला है। मस्तक के पीछे आभामण्डल था जो नष्ट हो गया है। चन्द्रप्रभ की द्वितीय प्रतिमा का मुख भाग पूर्णरूपेण खडित है। पीछे तेजोमण्डल जिसका अर्धभाग ही शेष है। वक्ष पर श्रीवत्स अकित यह प्रतिमा भी पद्मासनस्थ है। पादपीठ के मध्य चक्र उत्कीर्ण हैं। दोनो पार्श्व पर चामरधारी हैं। तृतीय प्रतिमा अर्हत पुष्पदत की है जो उपरिवर्णित प्रतिमा के ही सदृश्य है।

बक्सर के निकट चौसा (बिहार) से उपलब्ध कुछ कास्य प्रतिमायें पठना के सग्रहालय में है। इन

11. विदिशा से प्राप्त जैन प्रतिमायें एव रामगुप्त—शिवकुमार नामदेव, अनेकांत मई 1974। विदिशा से प्राप्त प्रतिमायें एव रामगुप्त—शिवकुमार नामदेव, मध्यप्रदेश सदेश, 28 अक्टूबर 1972। विदिशा से प्राप्त जैन प्रतिमायें एव रामगुप्त की ऐतिहासिकता—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अप्रैल 1974।

प्रतिमाओं में से कुछ पर गंधार कला का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहा से उपलब्ध ऋषभनाथ की एक स्थानक प्रतिमा महत्वपूर्ण है। प्रतिमा का प्रभा मण्डल एव शरीर गठन कला की दृष्टि से सुन्दर नही है। ओष्ठ मोटे प्रतीत होते हैं।[12]

राजगिरि की वैभार पहाड़ी पर एक खंडित देवालय के आले में एक प्रतिमा[13] पद्मासनस्थ ध्यानावस्थित है, प्रतिमा के मूर्तितत्व पर मध्य में एक युवा राजकुमार अंकित है जिनके दोनों पार्श्व मे पैरो के निकट शख हैं। प्रभामण्डल से युक्त इस प्रतिमा को कुछ विद्वानो ने नेमिनाथ को माना था, परन्तु वास्तव मे यह प्रतिमा चक्र-पुरुष की है जो गुप्तयुगीन विचार धारा है। इस प्रतिमा के दोनो ओर दो जिन पदमासन मे बैठे हैं। मस्तक प्रभामण्डल से सुशोभित हैं। अन्य आलो मे भी तीर्थंकर प्रतिमायें हैं। शैली की दृष्टि से ये ई. चौथी सदी की ज्ञात होती है।

गुप्तयुगीन बेसनगर[14] (ग्वालियर संग्रहालय) से प्राप्त एक प्रतिमा के प्रभामण्डल के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधारी अंकित हैं। प्रभामण्डल कुषाण शैली का है। विवेच्य युगीन मथुरा सग्रहालय की दो प्रतिमायें[15] शैली की दृष्टि से बनारस स्कूल के शिल्प की तरह हैं। सारनाथ से प्राप्त अजित नाथ की प्रतिमा का डॉ. साहनी ने गुप्त सवत् 61 माना है, यह काशी सग्रहालय में है। गुप्त नरेश कुमारगुप्त प्रथम के काल मे निर्मित महावीर की एक प्रतिमा मथुरा सग्रहालय में है। यह उत्थित पद्मासन मे है।[16]

सीरा पहाड़ की जैन गुफायें तथा उनमें उत्कीर्ण मनोहर तीर्थंकर प्रतिमाओ का निर्माण इसी काल मे हुआ। यहा से प्राप्त पार्श्वनाथ की मूर्ति सप्तफणों से युक्त पद्मासनरूढ है। भारत कला भवन काशी में संरक्षित राजघाट से प्राप्त धरणेन्द्र एव पदमावती सहित पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से सुन्दर है।

वर्धमान महावीर को दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व जीवत स्वामी के नाम से जाना जाता था। जीवंत स्वामी की गुप्तयुगीन दो प्रतिमायें बड़ौदा संग्रहालय[17] मे सुरक्षित हैं। राजकीय परिधान मे होने से उनकी पहचान सरलता से हो जाती है। अकोठा[18] से प्राप्त प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की एक कास्य प्रतिमा कला की दृष्टि से सुन्दर है। प्रतिमा नग्न है एव उसके मूर्तितल का पता नही है। प्रतिमा के अर्ध निमीलित नेत्र योग की ध्यानमुद्रा की ओर संकेत करते हैं। प्रतिमा का काल 450 ई. ज्ञात होता है।

छठवीं सदी के तृतीय चरण में पाण्डुवंशियो ने शरमपुरीय राजवंस को समाप्त कर दक्षिण कोशल को अपने अधिकार में कर श्रीपुर (सिरपुर, रायपुर जिला) को अपनी राजधानी बनाया। इस काल की पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा[19] सिरपुर से उपलब्ध हुई। ध्यानावस्था मे

---

12. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, चित्र फलक 6, क्रमाक 17।
13 वही, आकृति 18।
14. वही, चित्र फलक 10, आकृति क्रमाक 24।
15. वही, चित्र फलक 11, आकृति क्रमांक 25-26।
16. इम्पीरियल गुप्त, आर. डी. बनर्जी, फलक 28।
17 अकोठा ब्रोन्ज—यू. पी. शाह, पृ 26-28।
18. स्टेडीज इन जैन आर्ट—यू. पी. शाह, फलक 8, आकृति 19।
19. महत घासीराम स्मारक सग्रहालय रायपुर का सूची पत्र भाग 2, चित्र फलक 3 क।

पद्मासनरूढ इस प्रतिमा के केश घुंघराले एवं उष्णीष-बद्ध हैं, कर्ण की लौंडी लम्बी एव हृदय पर श्रीवत्स चिन्ह अंकित है। उनका लाछन नाग तकिया के रूप कुण्डली मारे बैठा है जिसके सातो फण उनके ऊपर छत्र की भांति तने हुए हैं।

उत्तरगुप्तकाल में कला के अनेक केन्द्र थे। कला तांत्रिक भावना से ओत-प्रोत थी। यद्यपि इस काल में कलाकारो का क्षेत्र विस्तृत हो गया था परन्तु वे प्रतिमा निर्माण में स्वतंत्र नही थे अपितु अपनी रचनाओं को शास्त्रीय नियमो के आधार पर ही रूप प्रदत्त करते थे। बंधन के फलस्वरूप मध्ययुगीन जैन कला निष्प्राण सी हो गई थी। इस काल की एक प्रमुख विशेषता जो हमे परिलक्षित होती है, वह है—कला मे चौबीस तीर्थ करों को-यक्ष-यक्षिणी को स्थान प्रदान किया जाना। मध्य कालीन जैन प्रतिमाओं मे चौकी पर आठ ग्रहो की आकृति का अंकन है जो हिन्दुओ के नव-ग्रहों का ही अनुकरण है।

मध्यकाल मे मध्यप्रदेश मे जैन धर्म की प्रतिमायें बहुलता से उपलब्ध होती हैं। मध्यप्रदेश के यशस्वी राजवंश, कलचुरि, परमारो एवं चदेल नरेशो के काल मे उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप जैन धर्म भी इस भू भाग मे पुष्पित एव पल्लवित हुआ। भारतीय जैन कला में मध्यप्रदेश का योगदान महत्वपूर्ण है। अखिल भारतीय परम्पराओं के साथ-साथ मध्यप्रदेश की अपनी विशेषताओं को भी यहाँ की कला ने उचित स्थान दिया।

कलचुरि कालीन तीर्थंकर प्रतिमायें आसन एव स्थानक मुद्रा मे प्राप्त हुई है। कुछ सयुक्त प्रतिमाये भी उपलब्ध हुई हैं। तीर्थ करो मे सर्वाधिक प्रतिमायें तीर्थ कर ऋषभदेव की हैं।

कलचुरि युगीन भगवान ऋषभनाथ की सर्वाधिक प्रतिमायें कारीतलाई[20] से उपलब्ध हुई हैं। ये श्वेत बलुआ पाषाण से निर्मित हैं। सम्प्रति ये सभी प्रतिमाये रायपुर सग्रहालय में सरक्षित हैं। कारीतलाई के अतिरिक्त तेवर (जबलपुर), भल्लार एव रतनपुर (बिलासपुर) आदि से भी आदिनाथ की प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। तेवर से उपलब्ध, सम्प्रति जबलपुर के हनुमानताल जैन मदिर मे सरक्षित 7 फुट 4 इंच ऊँची ऋषभनाथ की प्रतिमा अतिकलापूर्ण एव प्रभावोत्पादक हैं। प्रतिमा के अंग प्रत्यग सुन्दर एव सुडौल हैं मस्तक पर घुंघराले केश आकर्षक हैं। उभय स्कंध पर केश गुच्छ लटक रहे हैं।

द्वितीय तीर्थ कर अजितनाथ की आसन मुद्रा मे दो एवं चन्द्रप्रभ, शातिनाथ, नेमिनाथ की एक-एक मूर्ति प्राप्त हुई है। तीर्थ कर शांतिनाथ की एक आसन एव दो स्थानक मुद्रा मे प्राप्त प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं।[21] बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा धुबेला के सग्रहालय[22] मे सरक्षित हैं। विवेच्य युगीन पार्श्वनाथ की प्रतिमायें सिंहपुर (शहडोल), पेन्ड्रा (बिलासपुर) कारीतलाई (जबलपुर) आदि से उपलब्ध हुई हैं। महावीर की आसन प्रतिमाओ मे कारीतलाई से उपलब्ध प्रतिमा महत्वपूर्ण है। महावीर की श्याम

---

20. कारीतलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अनेकात, अक्टूबर-दिसम्बर 1973।
21. कलिचुरी कालीन भगवान शांतिनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त 1972।
22. धुबेला संग्रहालय की जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण—जून 1974।

बलुआ पाषाण निर्मित कायोत्सर्गासन की एक प्रतिमा जबलपुर से उपलब्ध हुई थी जो सम्प्रति फिल्डेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट मे सग्रहीत है।[23] मूर्ति मे अकित सिंह के कारण यह महावीर की ज्ञात होती है।

विवेच्य आसन एव स्थानक प्रतिमाओ के अतिरिक्त तीर्थंकरों की द्विमूर्तिकायें भी प्राप्त हुई हैं। ये भी स्थानक एवं आसन मुद्रा मे हैं। कारीतलाई से प्राप्त द्विमूर्तिका प्रतिमायें रायपुर सग्रहालय में सरक्षित हैं।[24]

कलचुरियुगीन पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ की एक मूर्तिका सम्प्रति फिल्डेलफिया[25] म्यूजियम ऑफ आर्ट मे सरक्षित है। कृष्ण बादामी प्रस्तर से निर्मित दसवी सदी की इस द्विमूर्तिका मे तीर्थंकर एक वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्गासन मे है।

विवेच्ययुगीन जैन शासन[26] देवियों की मूर्तियाँ बहुतायत से प्राप्त हुई हैं। ये स्थानक एव आसन दोनों तरह की है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कलचुरि नरेशों[27] के काल मे निर्मित अधिकाश प्रतिमायें दसवीं एव बारहवी सदी के मध्य निर्मित हुई थी। मूर्तियाँ शास्त्रीय नियमो पर आधारित हैं। उस मूर्ति कला पर गुप्तकालीन मूर्तिकला का प्रभाव अवश्य पडा है फिर भी कलचुरि कालीन जैन प्रतिमाओ मे कुछ रूढ़ियो का दृढता पूर्वक पालन किया गया है।[28]

मध्यप्रदेश के विश्व प्रसिद्ध कला तीर्थ खजुराहो[29] में चन्देल नरेशो के काल में निर्मित नागर शैली के देवालय वास्तु वैशिष्ट्य एव मूर्ति सपदा के कारण गौरवशाली है। यहाँ के जैन मदिरों मे जिन मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं और प्रवेश द्वार तथा रथिकाओ में विविध जैन देवियाँ। देवालयो के ललाट बिंब में चक्रेश्वरी यक्षी प्रदर्शित है एव द्वार शाखाओ तथा रथिकाओं में अधिकांशत: अन्य जैन देवी देवता जैसे जिनो, विद्याधरो शासन देवताओ आदि की मूर्तियाँ हैं। वर्धमान की माँ ने जो सोलह स्वप्न देखे थे वे सब जैन देवालयो (पार्श्वनाथ को छोडकर) के प्रवेश द्वार पर प्रदर्शित हैं। जैन मूर्तियाँ प्राय: तीर्थंकरो की हैं, जिनमे से वृषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, पद्मप्रभु, शांतिनाथ एव महावीर की मूर्तियाँ अधिक हैं।[30]

बुन्देलखण्ड के जैन तीर्थ अहार (टीकमगढ से 12 मील के प्राचीन देवालय मे बाईस फुट के आकार की एक विशाल शिला है, इसी शिला पर अठारह फुट ऊँची भगवान शांतिनाथ की एक कलापूर्ण मूर्ति सुशोभित है। इसे परमार्दिदेव चन्देल के काल में संवत् 1237 वि मे स्थापित किया गया था। बायी ओर की बारह फुट की कुन्थुनाथ की मूर्ति भी सुन्दर है।

प्रयाग नगरसभा के सग्रहालय में खजुराहो[31] से उपलब्ध 10 वीं सदी की निर्मित पार्श्वनाथ की एक

23. स्टैला केमरिच—इन्डियन स्कलपचर इन द फिल्डेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट, पृष्ठ 82।
24. कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, सितम्बर 1975।
25. स्टैला क्रेमरिच—इन्डियन स्कल्पचर इन द फिल्डेलफिया म्यूजियम ऑफ आर्ट, पृ 83।
26. कलचुरी कला में जैन शासन देवियों की मूर्तियाँ—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अगस्त 1974।
27. भारतीय जैन शिल्प कला को कलचुरि नरेशों की देन, शिवकुमार नामदेव, जैन प्रचारक, सितम्बर-अक्टूबर 1974।
28 भारतीय जैन कला को कलचुरि नरेशो का योगदान—शिवकुमार नामदेव; अनेकात—अगस्त 1974।
29 जैन कला तीर्थ-खजुराहों—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, अक्टूबर 1974।
30. खजुराहो की अद्वितीय जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अनेकात, फरवरी 1974।
31. खण्डहरो का वैभव—मुनि कांतिसागर पृ. 246-47।

विलक्षण प्रतिमा संग्रहीत है। जिनके समीकरण के विषय मे विद्वानो मे मतैक्य है।

प्रतिहारो के पतन के पश्चात् मालवा में परमारो का राज्य स्थापित हुआ। इनके समय मे जैन धर्म मालवा में अपने स्वर्णिम काल मे था। भोजपुर से तीन मील आशापुरी नामक गाँव मे शांतिनाथ की परमार-कालीन प्रतिमा है। निमाड़ के मैदान मे ऊन नामक के अवशेषो मे लगभग एक दर्जन मन्दिर परमार राजाओ की स्थापत्य कला के उत्तम नमूने हैं। केन्द्रीय सग्रहालय इदौर मे परमार युगीन तीर्थंकरो की लेखयुक्त प्रतिमायें हैं।

पूर्व मध्य एव मध्यकाल मे जैन कलाकृतियाँ मध्यप्रदेश[32] के विभिन्न भूभागों से उपलब्ध होती हैं। मुरैना के सिंहोनिया, पढावली, गुना के तिराही एव इन्दौर, पन्ना के दूंडा ग्राम, सिवनी मे घसौर एव बरहटा, ग्वालियर के निकट मुरार, नागौद एव जसो के अतिरिक्त दक्षिण कौशल के अनेको स्थल जैन शिल्प कला से भरे पड़े हैं। मालव भूमि के साँची, धार, दशपुर, बदनावर, कानवन, बडनगर, उज्जैन,[33] जावरा, बडवानी आदि ऐसे कला केन्द्र हैं, यहाँ ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओ के साथ-साथ जैन मूर्तियाँ सरक्षित हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राच्यकाल से ही मध्यप्रदेश के विभिन्न भूभागों मे जैन धर्म का आस्तित्व पूर्व मौर्यकाल से लेकर आद्यावधि निरतर दृष्टिगोचर होता है।[34]

उत्तरप्रदेश मे मध्यकालीन जैन प्रतिमायें बहुलता से प्राप्त हुई है जो इस प्रदेश के विभिन्न सग्रहालयों मे देवालयो एवं यत्र-तत्र अवस्थित हैं। उत्तर प्रदेश के अधिकांश स्थलो से उपलब्ध जैन प्रतिमायें प्रयाग सग्रहालय में हैं,[35] यहाँ सग्रहीत ऋषभनाथ की चुनार पाषाण से निर्मित प्रतिमा उल्लेखनीय है। सग्रहालय मे स्थित हल्के हरे रग के आकर्षक प्रस्तर पर चतुर्विंशतिपट्ट उत्कीर्ण है। प्रतिमाओ का अ ग विन्यास स्वाभाविक है, यह 13वी सदी की कृति है।

नगर सभा संग्रहालय के उद्यान कूप के निकट एक छोटे से छप्पर मे अम्बिका देवी उत्कीर्ण हैं। इसका परिकर न केवल जैन शिल्प स्थापत्य कला का समुज्जवल प्रतीक है, अपितु भारतीय शिल्प स्थापत्य कला मे जैनो की मौलिक देन है। प्रतिमा का काल 12-13वी सदी के मध्य का ज्ञात होता है।[36] उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थलो से जैन यक्षी पदमावती की प्रतिमाये उपलब्ध हुई हैं।[37]

उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के खुरवन्दोग्राम मे भगवान महावीर की प्राचीन मूर्ति स्थापित है। झाँसी जिले के चँदेरी मे भगवान महावीर की लावण्यमयी प्रतिमा आभा से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त

---

32. मध्यप्रदेश मे जैन धर्म एवं कला—शिवकुमार नामदेव, सन्मति सदेश, अप्रैल-मई 1975।
33. जैन धर्म एव उज्जयिनी—शिवकुमार नामदेव, सन्मति वाणी, जुलाई 1975।
34 भारतीय जैन कला को मध्यप्रदेश की देन—शिवकुमार नामदेव, सन्मति वाणी, मई-जून 1975।
35. खण्डहरों का वैभव—मुनि कांति सागर, पृ. 232 एव आगे।
36. खण्डहरों का वैभव—मुनि कातिसागर पृष्ठ 250-253।
37. उत्तर भारत में जैन यक्षी पदमावती का प्रतिमा निरूपण—मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी, अनेकात अगस्त 1974।

महावीर की प्रतिमायें इलाहाबाद मे स्थित पफोसा, देवगढ के मन्दिर क्रमाक 21 आदि मे सुरक्षित हैं।[38]

श्रावस्ती के पश्चिमी भाग मे जैन अवशेष प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। यही पर भगवान सम्भवनाथ का जीर्ण-शीर्ण मन्दिर है। यहाँ पर अनेको प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।[39] जिला गोडा के महत से आदिनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा उपलब्ध हुई है। पदमासन के नीचे दो सिंह और वृषभ हैं। आसन के नीचे कमल है जिस पर आदिनाथ पदमासन पर बैठे हैं। हृदय पर धर्म चक्र बना है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल एव तीन छत्रो वाला छत्र है। सभी ओर अनेक तीर्थकर ध्यान मग्न हैं।[40] बरेली जिले के अहिच्छत्र से अनेको जैन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। यहा से उपलब्ध पार्श्वनाथ की एक सातिशय प्रतिमा हरित पन्ना की पद्मासन मुद्रा मे विराजमान है। प्रतिमा अत्यन्त सौम्य एव प्रभावक है। मूर्ति के नीचे सिंहासन के पीठ के सामने वाले भाग मे 24 तीर्थंकर प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं।[41]

कर्नाटक मे जैन धर्म का अस्तित्व प्रथम सदी ई पू से 11वी सदी ई. तक ज्ञात होता है। होयशल वशी नरेश इस मत के प्रबल समर्थक थे। पूर्वकालीन जैन देवालय एव गुफायें ऐहोल, बादामी एव पट्टडकल आदि मे है। इनके अतिरिक्त जैन देवालय लकुण्डी (लोकिगुण्डी), बकपुर, बेलगाम, हल्शी, बल्लिगवे, जलगुण्ड आदि मे हैं। ये देवालय विभिन्न देव प्रतिमाओ से विभूषित हैं। इस काल की वृहताकार प्रतिमायें श्रावणबेलगोल, कार्कल एव वेनूर मे स्थापित है।

कर्नाटक मे पद्मावती सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षी रही हैं।[42] यद्यपि पद्मावती का सप्रदाय काफी प्राचीन रहा है परन्तु 10वी शती के बाद के अभिलेखीय साक्ष्यो में निरतर पद्मावती का उल्लेख प्राप्त होता है। कन्नड क्षेत्र में प्राप्त पार्श्वनाथ मूर्ति (10वी-11वी सदी) मे एक सर्पफण से युक्त पद्मावती की दो भुजाओ मे पदम एव अभय प्रदर्शित है।[43] कन्नड शोध सस्थान सग्रहालय की पार्श्व मूर्ति में चतुर्भुज पद्मावती, पदम, पाश, गदा या अकुश एव फल धारण करती हैं।[44] इसी सग्रहालय मे चतुर्भुजी पद्मावती की ललितासन मुद्रा मे दो स्वतन्त्र मूर्तियाँ हैं। बादामी की गुफा पाँच, के समक्ष की दीवार पर ललित मुद्रा में आसीन चतुर्भुजी यक्षी आमूर्तित है। आसन के नीचे वाहन सम्भवत हस है। सर्पफणो से विहीन यक्षी के करो मे अभय, अकुश पाश एव फल प्रदर्शित हैं।[45] पद्मावती की तीन चतुर्भुजी कर्नाटक से प्राप्त प्रतिमायें प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम बम्बई मे सरक्षित है।[46]

---

38 भारतीय पुरातत्व एवं कला मे भगवान महावीर—शिवकुमार नामदेव, श्रमण, नवम्बर-दिसम्बर 1974।

39. जैन तीर्थ श्रावस्ती—प बलभद्र जैन—अनेकात, जुलाई-अगस्त 1973।

40 भारतीय प्रतीक विद्या—जनार्दन मिश्र, चित्र सख्या 79।

41. अहिच्छत्र—श्री बलिभद्र, जैन, अनेकात, अक्टूबर-दिसम्बर 1973।

42. जैनिज्म इन साउथ इन्डिया—देसाई, पी वी पृष्ठ 163।

43. नोट्स ऑन द्व जैन मेण्टल इमेज्ेज—हाडवे, डब्ल्यू एस, रूपम, अक 17, जनवरी 1924, पृ. 48।

44. गाइड टू द कन्नड रिसर्च इन्सटीट्यूट म्युझियम धारवाड़—1958 पृ. 19।

45 जैन यक्षाज ऐण्ड यक्षिणीज—साकलिया, कलेटिन डेक्कन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, खण्ड 9, 1940 पृष्ठ 169।

46 वही पृष्ठ 158-159।

कर्नाटक मे गोम्मट की अनेक मूर्तियाँ हैं। चालुक्यो के काल मे निर्मित ई सन् 650 की गोम्मट की एक प्रतिमा बीजापुर जिले के बादामी मे है। तलकाडु के गग राजाओ के शासन काल में गग राजा रायमल्ल सत्य-वाक्य के सेनापति व मन्त्री चामुण्डराज द्वारा बेलगोल मे ई सन् 982 में स्थापित विश्व प्रसिद्ध गोम्मट मूर्ति है। गोम्मट गिरी मे भी 14 फुट ऊँची एक गोम्मट मूर्ति है। इसके अतिरिक्त होसकोटे हल्ली, कार्कल एव वेणूर में पैंतीस फुट ऊँची प्रतिमा है।[47]

बगाल[48] मे जैन धर्म का आस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। यहाँ के धरापात के एक प्रतिमा विहीन देवालय के तीनों ओर के ताको मे विशाल प्रतिमायें विराजित थी जिनमे पृष्ठ भाग वाली में ऋषमदेव, वामँपेक्ष से प्रदक्षिणा करते प्रथम शातिनाथ और अन्त मे तीसरे आले मे जैनेतर मूर्तियाँ हैं। ये सम्भवत 8वी सदी की हैं। बहुलारा नामक स्थल के एक मन्दिर के सामने वेदी पर तीन प्रतिमायें हैं। मध्यवर्ती प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की हैं जो अष्ट प्रतिहार्य और धरणेन्द्र-पद्‌मावती से युक्त है। भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के निम्न भाग में धरणेन्द्र-पद्‌मावती है और मूर्ति निर्माणक दम्पत्ति भी है। बाँकुडा जिले के ही हाडमासरा ग्राम के जगल मे एक पार्श्वनाथ प्रतिमा है। अबिकानगर मे स्थित अबिका देवी के मदिर के पृष्ठ भाग में अवस्थित एक जैन मदिर मे सपरिकर ऋषभ-नाथ की प्रतिमा है। पाकबेडरा में अनेको प्रतिमायें संरक्षित हैं। इनमे 7 फुट ऊँची खडगासन स्थित श्री पद्‌मप्रभु स्वामी की प्रतिमा है। इसी स्थल के एक मदिर मे ऋषभनाथ की पाच प्रतिमायें हैं। जिनमे दो चौबीस तीर्थंकरो की प्रतिमा परिसर युक्त हैं।

उडीसा की खण्डगिरि की नवमुनि एव बारभुजी गुफाओ (8वी-9वी सदी) के सामूहिक अकनों मे भी पार्श्वनाथ के साथ पदमावती आमूर्तित है। नवमुनि गुफाओ मे पार्श्व के साथ उत्कीर्णित द्विभुजी यक्षी ललितमुद्रा मे पदमासन पर विराजमान है।[49] बारभुजी गुफा मे पार्श्व के साथ पाच सर्पफणो से मडित अष्टभुजी पद्‌मावती है। पुरी जिले से उपलब्ध आदिनाथ की एक स्थानक प्रतिमा इडियन म्यूजियम कलकत्ता की निधि है।[50]

तामिलनाडु से भी जैन धर्म से सम्बधित अनेको प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। कलगुमलाई से चतुर्भुजी षदमावती को ललित मुद्रा मे (10 वी-11 वी सदी) मूर्ति प्राप्त हुई है। शीर्ष भाग में सर्पफण से मडित यक्षी, फल, सर्प, अकुश एव पाश धारण करती हैं।[51] मदुरा तामिलनाडु का महत्वपूर्ण नगर है। यहा पर जैन सस्कृति की गौरव गरिमा में अभिवृद्धि करने वाली कलात्मक सामग्री का प्रचुर परिमाण विद्यमान हैं।

बिहार प्रदेश से उपलब्ध अनेको प्रतिमाये पटना सग्रहालय मे सरक्षित हैं। सग्रहालय में चौसा के शाहाबाद से प्राप्त जैन धातु मूर्तिया सुरक्षित हैं। ऋषभनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग स्थिति मे कधे पर बिखरे बाल तथा लबी भुजाओं के साथ बनाई गई थी।'

---

47. कर्नाटक की गोम्मट मूर्तिया — आचार्य प. के भुजबल शास्त्री, अनेकात, अगस्त 1972।
48. बंगाल के जैन पुरातत्व की शोध मे पाच दिन — भवरलाल नाहटा, अनेकात, जुलाई-अगस्त 1973।
49 शासन देवीज इन द खण्डगिरि केव्हस — मित्रा देवल, जर्नल एशियाटिक सोसायटी (बगाल), खण्ड 1, अक 2, 1959, पृ-139।
50. स्टेडीज इन जैन आर्ट — यू पी. शाह, आकृति 36।
51 जैनिज्म इन साउथ इन्डिया — पी. बी देसाई, पृ. 65।

पार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा कायोत्सर्ग तथा पीछे सर्प-फण के साथ है। यहा से उपलब्ध धातु प्रतिमायें कमलासन पर खडी हैं। राजग्रह निवासी कन्हैयालालजी श्रीमाल के सग्रह मे एक प्रस्तर पट्टिका है। इसके निम्न भाग मे महाबीर की प्रतिमा है। ऊपर के एक भाग में भाव शिल्प है जिसका सम्बन्ध महावीर से ज्ञात होता है। [52]

नालदा से उपलब्ध एव नालदा सग्रहालय में सरक्षित ललित मुद्रा मे पद्म पर विराजमान चतुर्भुजी देवी के मस्तक पर पांच सर्पफण प्रदर्शित हैं। देवी की भुजाओ मे फल, खडग, परशु एव चिनमुद्रा में पदमासन का स्पर्श करती देवी की भुजा मे पद्म नालिका भी स्थित है। [53] केवल सर्पफण से ही इमका समीकरण पदमावती से करना उचित नहीं है।

राजस्थान के ओसिया [54] नामक स्थल मे महावीर का एक प्राचीन मदिर है। यह 9 वी सदी की रचना है। मदिर मे विराजमान महावीर की एक विशालकाय मूर्ति है। इसी स्थल से पार्श्वनाथ की एक धातु प्रतिमा उपलब्ध हुई थी जो सम्प्रति कलकत्ता के एक मदिर मे है। इस देवालय के मुखमण्डल के ऊपरी छज्जे पर पद्मावती की प्रतिमा उत्कीर्ण है। कुक्कुट-सर्प पर विराजमान द्विभुज यक्षी की दाहिनी भुजा में सर्प और बायी मे फल स्थित है। स्पष्ट है कि पद्मावती के साथ 8बी सदी में ही वाहन कुक्कुट-सर्प एवं भुजा मे सर्प को सम्बद्ध किया जा चुका था।

ग्यारवी सदी की एक अष्टभुज पद्मावती की प्रतिमा राजस्थान के अलवर जिले मे स्थित झालरपाट्टन के जैन मदिर की दक्षिणी वेदिका बध पर उत्कीर्ण है। ललित मुद्रा मे भट्टासन पर विराजमान यक्षी की भुजाओ मे वरद, वज्र, पद्मकलिका, कृपाण, खेटक, घण्ट एव फल प्रदर्शित है।

विमलशाह गुजरात के प्रतापी नरेश भीमदेव के मत्री थे। इन्होंने ग्यारहवी सदी मे विमलवसही का निर्माण कराया था। इसके गूढमण्डप के दक्षिणी द्वार पर चतुर्भुजी पद्मावती की आकृति उत्कीर्ण है। विमलवसही की देवकुलिका 49 के मण्डप वितान पर उत्कीर्ण षोडशभुजी देवी की सम्भावित पहचान महा-विद्या वैरोट्या एव यक्षी पद्मावती दोनों ही से की जा सकती है। सर्प के सप्तफणो का मण्डन जहा देवी पद्मावती की पहचान का समीकरण करता है, वही कुक्कुट सर्प के स्थान पर वाहन के रूप मे नाग का चित्रण एव भुजाओ में सर्प का प्रदर्शन महाविद्या वैरोट्या से पहचान का आधार प्रस्तुत करता है।

जयपुर के निकट चादनगाव एक अतिशय क्षेत्र है। "यहा महावीर जी के विशाल मदिर मे महावीर की भव्य सुन्दर मूर्ति है। जोधपुर के निकट गाँधाणी तीर्थ [55] मे भगवान ऋषभदेव की धातु मूर्ति 937 ई. की है। बूदी [56] से 20 वर्ष पहले कुछ प्रतिमायें प्राप्त हुई थी। उनमे से तीन अहिच्छत्र ले जाकर स्थापित की गई हैं। तीनों का रग हल्का कत्थई है, एय तीनो शिलापट्ट पर उत्कीर्ण हैं। एक पर पार्श्वनाथ उत्कीर्ण हैं।

चौहान जाति की एक उप-शाखा देवडा के शासको की भूतपूर्व राजधानी सिरोही की भौगोलिक सीमाओ मे स्थित देलवाडा के हिन्दू एब जैन मदिर प्रसिद्ध हैं।

52 खण्डहरो का वैभव—मुनि कातिसागर, पृ. 126।
53. आर्कियालाजीकल सर्वे आफ इन्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट 1930-34, भाग 2, फलक 68, चित्र बी।
54. ओसिया का प्राचीन महावीर मन्दिर—अगरचन्द जैन नाहटा, अनेकात, मई 1974।
55. खण्डहरो का वैभव—मुनि कातिसागर—पृ. 71।
56. अहिच्छत्र—श्री बलिभद्र जैन, अनेकात, अक्टूबर-दिसम्बर 1973।

दिलवाडा के पाच जैन मन्दिर श्वेत सगमरमर से निर्मित हैं। विमलशाह का मन्दिर जिसका निर्माण 1030 ई. मे तथा वस्तुपाल एव तेजपाल के मन्दिर 1231 ई मे बनवाये गये थे। विमलशाह के मन्दिर मे जैन तीर्थ कर आदिनाथ और अन्य दो मदिरो मे नेमिनाथ जी की मूर्तियाँ हैं। सादडी से 14 मील दूर अरावली की पहाडी टेकडी में राणापुर (राणापुर) के मदिरो मे नेमीनाथ, आदिनाथ एव पाश्र्वनाथ के मन्दिर प्रमुख हैं। यहा के आदिनाथ मन्दिर में ऋषभदेब की विशाल पद्मासन मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ एव आकर्षक है कुल मिलाकर वेदियो मे 425 मूर्तिया हैं। इसी प्रकार नेमिनाथ एव पाश्र्वनाथ मन्दिर मे अनेको जैन प्रतिमायें हैं।

महाराष्ट्र प्रदेश मे भी जैन प्रतिमायें बहुसख्या में उपलब्ध होती हैं। दिगबर केन्द्र एलोरा (9वी सदी) की गुफायें तीर्थंकर प्रतिमाओ से भरी पडी हैं। छोटा कैलास (गुहा सख्या 30) मे ऋषभनाथ, पाश्र्वनाथ तथा महाबीर की बैठी पाषाण मूर्तिया पदमासन एव ध्यान मुद्रा मे है। प्रत्येक तीर्थंकर के पार्श्व मे चावर धारण किये यक्ष तथा गधर्व हैं। ऋषभनाथ के कधे पर केश बिखरे हैं। पाश्र्वनाथ के सिर पर सात सर्पफण हैं। सिहासन पर बैठे महावीर की प्रतिमा के ऊपरी भाग मे छत्र दीख पडता है। एलोरा की 30 से 34 क्रमाक तक की गुफायें जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। इन्द्रसभा गुफा (सख्या 33) की उत्तरीय दीवार पर पाश्र्वनाथ, दक्षिण पार्श्व में गोम्मटेश्वर-बाहुबलि के अतिरिक्त महावीर एव अन्य तीर्थंकर मूर्तिया हैं। जगन्नाथ गुफा के बराण्डा मे पाश्र्वनाथ तथा महावीर के अतिरिक्त एक पुस्तर पर चौबीस तीर्थंकरो की छोटी-छोटी मूर्तिया हैं। एलौरा की एक गुफा में अबिका की मानव कद प्रतिमा है।

अकाई-तंकाई में जैनो की सात गुफाये हैं। ये छोटी होते हुए भी शिल्प कलापेक्षया अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। तीसरी गफा के छोर पर इन्द्र और इन्द्राणी हैं। इसके अतिरिक्त शातिनाथ, पाश्र्वनाथ एव गवाक्ष मे जिन प्रतिमायें हैं। रचना शैली की दृष्टि से ये 13वी सदी की ज्ञात होती हैं।

गुजरात जैन शिल्पकला की दृष्टि से समृद्ध राज्य है। गुजरात के चालुक्य राजाओं के काल मे अनक जेन मदिरो का निर्माण हुआ। गुजरात के बनासकाठा जिले मे स्थित कुमारिया[57] एक प्राचीन जैन तीर्थ है। यहा पाच श्वेताम्बरीय, श्वेत सगमरमर से निर्मित जैन मदिर हैं। इनमें महावीर का मदिर सबसे प्राचीन एव भव्य है। मूलनायक के अतिरिक्त गूटमडप मे परिकर युक्त दो अन्य कायोत्सर्गिन की प्रतिमायें हैं। कलापूर्ण कोरणीयुक्त रग मडप के दूसरे भागो की छत मे आबू के विमलवराही जैसे जैन चरित्रो के विभिन्न द्रश्य है। गढ़ मण्डप मे दो विशाल कायोत्सर्ग मूर्तियाँ-शातिनाथ एव अजितनाथ की हैं। श्वेताम्बर परपरा का निर्वाह करने वाली बारहवी सदी की दो चतुर्भुज पदमावती की प्रतिमायें कुमारिया के नेमिनाथ मन्दिर की पश्चिमी देवकुलिका की बाह्य भिति पर उत्कीर्ण है।[58] गुजरात के अन्य मन्दिरो मे शातिनाथ, कुभेश्वर, समवनाथ आदि मुख्य हैं। गुजरात के बडनगर मे चालुक्य नरेश मूलराज (642–997 ई) के काल का आदिनाथ मन्दिर है। मन्दिर के देवकुलिकाओ में आदिनाथ की यक्षयक्षिणी अकित हैं। यही पर चक्रेश्वरी की भी प्रतिमा है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शिल्पकला के विकास में जैन शिल्पकला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की प्राचीन सस्कृति को जानने के लिये जैन शिल्पकला का अध्ययन आवश्यक है। भिन्न-भिन्न कालो और ढँगो पर बनी मूर्तियो से मूर्तिकला के विकास पर गहरा प्रकाश पडता है। ये इसके अतिरिक्त विभिन्न कालीन योगियों के आसन मुद्रा, केश और प्रतिहार्यों पर भी काफी प्रकाश डालती हैं। इन मूर्तियो के अध्ययन से भारतीय लोगो की वेशभूषा आदि का ज्ञान होता है।

□ □

---

57 कुंभारिया का महावीर मन्दिर—श्री हरीहरसिंह, श्रमण, नवम्बर-दिसम्बर 1974, कुंभारिया का कलापूर्ण महावीर मन्दिर—श्री अगरचन्द नाहटा, श्रमण अप्रैल 1974।

58. ऐ ब्रीफ सर्वे आफ द आइकनोग्राफिक डैटा एट कुंभारिया—नार्थ गुजरात, सम्बोधि, खण्ड 2, अक 1, अप्रैल 1973, पृ. 13।

जैन चित्रकला

श्रीमती उषा किरण जैन

कला आत्माभिव्यक्ति का सुन्दरतम स्वरूप है। इस धरा पर मानव जाति के विकास का इतिहास कला के सुन्दरतम हाथो ही लिखा गया है। भारतीय संस्कृति इस दृष्टि से बड़ी सम्पन्न है, भारतीय सभ्यता के उदय के साथ ही भारतीय कला का इतिहास भी प्रारम्भ होता है। यो तो सिन्धु कालीन सभ्यता के काल मे भी भारतीय चित्रकला के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, परन्तु चित्रकला के आधार सामान्यतः प्राचीन मकान और वस्त्र आदि अधिक सुरक्षित न रहने के कारण, अधिक प्राचीन काल के प्रमाण कम ही प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर के बाद के काल से जन-सामान्य की रुचि चित्रकला में निरन्तर बढने सम्बन्धी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इस काल से भारतीय चित्रकला का पर्याप्त विकास और हुआ, समयानुकूल परिस्थितियो के अनुरूप उसमें विभिन्न परम्पराओ का भी विकास हुआ इनमें जैन चित्रकला की भी अपनी विशिष्ट परम्परा रही। परम्परा के प्रारम्भिक काल में यदा-कदा भित्ति चित्रो के रूप मे तथा तदुपरान्त व्यापक रूप से ताड-पत्रों, काष्ठ पट्टिकाओं के अनेक नमूने आज भी जैन भण्डारो मे प्राप्य हैं। इनमे अधिकतर अपभ्रंश कालीन युग के हैं। ताड-पत्रों, वस्त्रो और कागजों पर बने ये चित्र अत्यन्त सजीव, रोचक और कलात्मक होते थे। इनके पश्चात् कागजो पर भी चित्रांकन का कार्य प्रारम्भ हुआ।

जैन चित्रकला की प्राचीनता और उसके उदय के सम्बन्ध में इतिहासकारो के विभिन्न मत हैं। इस दिशा में अभी काफी शोध कार्य अपेक्षित है। अभी तक उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय चित्रकला के अभिन्न अग के रूप मे यह परम्परा उसके उदय के समय से ही विद्यमान थी। वाचस्पति गैरोला के अनुसार" जैन कला के प्राचीन अस्तित्व की खोज निकालने के लिए हमारा ध्यान इस ऐतिहासिक दिशा की ओर उन्मुख होता है तो हमे लगता है कि उसकी दयनीयता न केवल उसके वेष विन्यास एव भावविचारांकन के कारण विश्रुत है, अपितु भारतीय चित्रकला के इतिहास में कागद पर की गई चित्रकारी की दिशा मे उसका पहला स्थान है। राजपूत परम्परा की भाँति जैन कला ऐसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है, जो राजपूत कलम से प्राप्त सबसे प्राचीन चित्रों से भी एक शताब्दी पहले की सिद्ध होती है।"[1]

---

1. भारतीय चित्रकला; वाचस्पति गैरोला, (प्र सं. 1963) पृष्ठ 138

समग्र भारतीय चित्र शैलियो मे जितने भी प्राचीन चित्र प्राप्त हैं उनमे मुख्यता और प्राचीनता जैन चित्रों की है। ये चित्र दिगम्बर जैनियो से सम्बन्धित हैं जिन्हे अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थो को चित्रित करने व कराने का बडा शौक था। प्राकृत भाषा मे रचित जैन ग्रन्थो का अध्ययन करने से तत्कालीन समाज मे विद्वानो साहित्यकारो एव जन-सामान्य में चित्रकला के प्रति अनुराग तथा निष्ठा का बोध होता है। दसवी शती से पन्द्रहवीं शती के मध्यकाल मे भारतीय चित्रकला की परम्परा मे जैन व बौद्ध कला का बाहुल्य है। इससे पूर्व के काल मे जैन कला का समृद्ध रूप मूर्तियो तथा मन्दिरो के शिल्प मे परिलक्षित होता है। इस काल में इसका स्वरूप निखर आया था। चित्रकला के जो नमूने आज उपलब्ध हैं उनमे अधिकतर जैन साहित्य की विभिन्न कृतियो के मध्य विभिन्न सन्दर्भों मे चित्राकित हैं।

जैन कला मे जहाँ मूर्तिकला और शिल्प एवम् स्थापत्य के क्षेत्र मे दिगम्बर परम्परा का बाहुल्य है, वहाँ चित्रकला के क्षेत्र मे श्वेताम्बरीय जैनो का महत्व-पूर्ण योग रहा है। जैन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जैन चित्रकला गुजरात की श्वेताम्बर कलम से पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होकर वर्षों तक राजपूताने मे अपना विकास कराती रही और बाद में ईरानी प्रभावो से मुक्त होकर "राजपूत कलम" में ही विलयित हो गई। 12वी सदी के पूर्व जहाँ मुगल शैली की विका-सावस्था में जैन चित्रकला की प्रगति शिथिल पड गई वहाँ 12 वी सदी के बाद महमूद गजनवी के विध्वशो के बावजूद भी जैन चित्रकला आबू और गिरनार के केन्द्रों में अपने परिवेश मे नव निर्माण की ओर अग्रसर हुई। बाद में जैन चित्रकारों ने राजपूत और मुगल शैलियो से प्रेरणा ग्रहण कर अपने क्षेत्र को और भी व्यापक बनाया।

विभिन्न प्राचीन जैन ग्रन्थो में जैन चित्रकला के विविध पक्षो का वर्णन प्राप्त होता है। कल्पसूत्र आदि मे भगवान महावीर का चित्रमय वर्णन मिलता है। "प्रश्न व्याकरण सूत्र" (2/5/16) मे चित्रो की अनेक श्रेणियो का उल्लेख है। इस व्याकरण ग्रन्थ मे चित्रो की तीन प्रमुख श्रेणियो सचित्त (मानव, पशु, पक्षी), अचित्त (नदी, नद, पहाड़, आकाश) और मिश्र (सयुक्त) मे वर्गीकृत किया गया है। लकडी, कपडे और पत्थर पर अनेक रगो के योग से उरेहे गए चित्रो को "लेपकम्म" कहा है। लोककला के उन्नत स्वरूप के रूप मे इस काल मे अल्पना चित्रो का भी अकन किया जाता था। साथ ही मिट्टी-पत्थर व हाथीदात पर भी चित्र उरेहे जाते थे। एक कथाकृति "नाया-धम्म कहाओ" (1/16/77-80) से विदित होता है कि चम्वा नामक नगरी मे ललित गोष्टी (ललियाएणाम गोठ्ठी) नाम की एक प्रमोद सभा विद्यमान थी। इस ग्रन्थ मे लिखा है (1/1/17) कि महाराज श्रेणिक के महल मे दीवारो पर बडे अच्छे चित्र उरेहे हुए थे। इसी ग्रन्थ में इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरणों का भी उल्लेख है।

इस कला की अनेक जैन साहित्यिक रचनाओ मे भी चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख हैं। श्री गेरोला के अनुसार "11वी-12वीं शताब्दी मे रचित जैन साहित्य की कथा कृतियों मे चित्रकला के सम्बन्ध मे बडी ही उपयोगी चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। मागधी प्राकृत की कथा कृति "सूर सुन्दरी कहा" (रचनाकाल 1338 ई) मे श्लेषोक्ति के द्वारा किसी नायक की एकान्त प्रेमासक्ति को भ्रमर और कुमुदनी का चित्र बनाकर व्यक्त किया गया है। प्राकृत भाषा की दूसरी कथाकृति "तरगवती" (सम्भवत. आंध्रभृत्य राजाओं के आश्रय में निर्मित) मे नायिका तरगवती द्वारा एक चित्र प्रदर्शनी का आयोजन इस उद्देश्य से किये जाने का उल्लेख है कि कदा-चित इस लोभ से उसका रूठा हुआ प्रेमी वहां आ जाय।[2]

---

2. भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 93।

"आचाराग सूत्र" (2/2/3/13) में जैन साधुओ और ब्रह्मचारियो को चित्र शालाओ मे जाने और ठहरने से वर्जित किया गया है । जैनाचार्य हेमचन्द्र (1082-1172 ई.) के महाकाव्य "त्रिषष्टि शालाका पुरुषचरित" में तत्कालीन राज दरबारों मे अनेक चित्रकारो की सभा होने का वर्णन है, जो भित्तिचित्रो से सुसज्जित हुआ करती थी।

प्रभावक चरित्र के "बप्पभट्ट सूरि चरित्र" (सम्वत 1334) मे नवी शताब्दी में भगवान महावीर के चित्रपटो के बनाने का उल्लेख है। "वप्पभट्टि सूरी जी को चित्रकार ने महावीर की मूर्ति वाले चार चित्रपट्ट तैयार करके दिये। सूर जी ने उनकी प्रतिष्ठा करके एक कन्नौज के जैन मन्दिर मे, एक मथुरा में, एक अणहिल्ल पाटण में, एक सत्तारकपुर मे भेज दिये गये जिनमें से पाटणवाला पट्ट मुसलमानों ने पाटण को नष्ट किया तब तक वहाँ के मोढगच्छ के जैन चैत्य में विद्यमान था। नवी शताब्दी में महावीर के चार चित्रपट्ट बनाये जाने का उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु खेद है कि आज उनमे से एक भी प्राप्त नही है। हरिभद्र सूरि ने आवश्यक वृत्ति मे समवशरण चित्रपट्ट का उल्लेख किया है।"[3]

बारहवी से सोलहवी शती के मध्य श्वेताम्बरी जैनो द्वारा अपभ्रंश शैली के अनेक ताडपत्रीय ग्रन्थ चित्रो की रचना की गई। इनमें से कुछ, यथा—"निशीथ चूर्णी" "अग सूत्र", "दशवैकालिक लघुवृत्ति", "ओघ नियुक्ति", "त्रिषष्टि शालाका पुरुष चरित", "नेमिनाथ चरित", 'कथा सरित्सागर" "सग्रहणीय सूत्र", "उत्तराध्ययन सूत्र", "कल्प सूत्र" और "श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णी" आज भी पोथिया, पाटन, खभात, बडौदा और जैसलमेर आदि के ग्रन्थकारो तथा अमरीका के बोस्टन सग्रहालय मे सुरक्षित हैं।

इस काल के चित्रों की शैली के सम्बन्ध मे कला मर्मज्ञों के विभिन्न मत हैं। प्रारम्भ में तो इसे "जैन शैली के नाम से ही सम्बोधित किया जाता था परन्तु बाद मे इस आधार पर कि इस शैली के चित्र जैनेतर और बैष्णव ग्रन्थो में भी प्राप्त होते हैं, रायकृष्णदास ने इसे अपभ्रंश शैली के नाम से सम्बोधित किया है। जौनपुर इस शैली का प्रमुख केन्द्र माना जाता है। अहमदाबाद के श्री साराभाई माणिक लाल ने अपभ्रंश शैली से सैकडो सादे और रगीन चित्रों से युक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "चित्र कल्पद्रुम" (कल्पसूत्र) प्रकाशित किया है जिसका लिपि काल 1465 ई. (1522 वि.) है; इस शैली के कागद पर निर्मित ग्रन्थ चित्र और स्फुट चित्र बडी सख्या मे प्राप्त हुए हैं। इनमे से एक रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई में और दूसरी लीभणी के सेठ आनद जी कल्याण जी के पास बताई जाती हैं। इनका लिपिकाल 1415 ई. है। जौनपुर की "कल्पसूत्र" इसकी तीसरी प्रति है जो स्वर्णाक्षरो में अकित है और सप्रति बड़ौदा के नरसिंह जी पोल के ज्ञान मन्दिर मे सुरक्षित है। यह प्रति 14´7 ई. में जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह शर्की के समय चित्रित की गई थी। कल्पसूत्र की एक चौथी प्रति अहमदाबाद निवासी मुनि दया विजय जी के सग्रह मे है, जिसको 15 वी शती के उत्तरार्द्ध का माना जाता है। यह भी स्वर्णाक्षरो मे अकित है, इसमें अकित चित्र अपभ्रंश शैली के सर्वश्रेष्ठ चित्र माने जाते हैं।

किसी भी कला या उसकी किसी शैली की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करने के लिये उसके प्रमुख प्रतीको का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से जैन कला मे जो प्रमुख प्रतीक हमे प्राप्त होते हैं उनमें तीर्थंकर महावीर की माता त्रिशला को हुए स्वप्नो के चित्र बहुतायात में प्राप्त होते हैं। उनमें एरावत हाथी,

---

3. भगवान महावीर चित्रावली—अगरचन्द्र नाहटा, वीर परिनिर्वाण सितम्बर 1974, पृष्ठ 11।

केशरी सिंह, वृष (बैल), पद्मावती (कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी), पुष्प मालाएँ, सूर्य, चन्द्र, स्वर्ण कलश, सरोवर, समुद्र, विमान (पालकी), रत्न भण्डार, अग्नि मीन युगल व विशाल गगनचुम्बीभवन आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त स्वास्तिक, श्रीवत्स, नदियावत, वर्द्ध-मानक्य, भद्रासन, दर्पण आदि प्रतीकों को आयागपटो पर बहुत ही कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है। इसके साथ ही चौबीस तीर्थंकरो और उनके प्रतीको व चिन्हो को भी चित्रित किया गया। इनमे भी चार तीर्थंकरो महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और ऋषभनाथ के चित्र अधिकाश मात्रा मे प्राप्त होते हैं। इनका वर्ण क्रमशः पीत (पीला), नीला, काला तथा स्वर्णिम, प्रतीक चिन्ह क्रमशः केसरी सिंह, सर्प, शख व वृष तथा दीक्षातरु क्रमश: अशोक, घातकी, वेघस्, कदली अंकित किये गए हैं।

तीर्थंकरो के आसन के रूप मे 'ईषत्प्रभभार' या 'सिद्ध शिला' अंकित की गई है जो तिर्यंक् अर्द्ध चन्द्राकार के स्वरूप की हैं। इसके अतिरिक्त समवशरण की भी रचना की गई है। यह वह स्थान है जहाँ बैठकर तीर्थंकर उपदेश देते थे। इस स्थान का स्वरूप सामान्यतः वृत्ताकार और यदाकदा वर्गाकार भी प्राप्त होता है। इसे मणि-माणिक्य एव सुवर्ण से सजाया जाता था। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के अनुसार त्रैलोक्य रचना, ब्रह्माण्ड सृष्टि' और पौराणिक चित्र भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

जैन कला के प्रतीक के रूप मे नारी-रूपो का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। नारी चित्रो के न्यूनतम उपयोग के बावजूद भी जैन कला की समृद्धि उसका ऐसा महत्व-पूर्ण गुण हैं जो विश्व मे प्राप्त चित्रकला की विभिन्न विधाओ में उसे मौलिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। जैन कला में यदाकदा ही नारी चित्र प्राप्त होते हैं। नारी चित्रण के क्षेत्र में कुछ चित्रों मे तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों मे यक्ष-यक्षणियो के चित्र तथा तीर्थंकरो की अधिष्ठात्री देवियाँ अम्बिका, पद्मावती, सरस्वती, शासन, चक्रेश्वरी तथा सोलह विद्या देवियों के चित्र अंकित किये गए हैं।

रग योजना की दृष्टि से जैन कलाकृतियो का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल मे इनमे हल्दिया रगो का प्रयोग अधिक मात्रा मे होता था। बाद मे लाल रग का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा मे होने लगा। इसके अतिरिक्त आसमानी, पीले, नीले तथा श्वेत रगो का भी समावेश किया गया है। बाद मे इनमे सुनहरी स्याही का भी अधिकाधिक प्रयोग होने लग गया।

वस्त्राभूषणो की दृष्टि से जैन कला मे मुकुटो और मालाओ की सज्जा पर अधिक ध्यान दिया गया है। स्त्रियों की शृंगार सज्जा के रूप मे माथे पर बिन्दी, कानो मे कुण्डल और बाहो में बाजूबन्द अंकित किये गए हैं। गले मे रत्नमालाओ को प्रधानता दी गई है जो लगभग सभी चित्रो मे प्राप्त होती हैं तथा गले से लेकर पैरों तक सारी आकृति को घेरनेवाली मालाओ तक, अनेको प्रकार से अंकित हैं। वस्त्रो में धोतियो की सज्जा मोहक है। प्रारम्भिक चित्रो मे वस्त्रो में मोती जैसे श्वेत तथा स्वर्णिम रग की प्रधानता है, जिसका स्थान बाद मे ईरानी प्रभाव के कारण हल्की छाप, वेल-बूटो की जगह पच्चीकारी तथा स्वर्णीय रगो के काम ने ले लिया। पश्चातवर्ती चित्रो में मुकुटो के स्थान पर पाग (पगड़ियों) का भी अंकन किया गया। जहाँ पुरुषो के वस्त्रो मे धोती व दुपट्टे प्रमुख हैं वहाँ नारी चित्रो में कचुकी, रगीन धोती, चूनरी और कटिपट का प्रयोग किया गया है।

चित्रों मे आकार एव अनुपात का भी पूरा ध्यान रखा गया है। प्रख्यात कला समीक्षक श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार "चित्रो का आकार एकचश्म, डेढ़ चश्म और दोचश्म है। एक चश्म या डेढ चश्म वाले चित्रों मे ठोढ़ी सेब की तरह बाहर की ओर उभर आयी है और उसके नीचे की रेखा मे गौरव, गर्व तथा

अभिमान को प्रकट करने के उद्देश्य से छोल दे दिया गया है। दो चश्म आकार के खडे हुए जैन मुनियो की ठोडी में त्रिशूल की भाँति तीन रेखाएँ और नासिका, भाल की नोक की तरह अकित है। भवे और नयनो का फैलाव समरूप है। एक चश्म तथा डेढ चश्म चेहरों मे नासिका शुकचचु की भाँति नुकीली और अनुपात से अधिक लम्बी हो गयी है। नेत्र उठे हुए तथा बाहर की ओर उभरे हुए हैं। उनकी लम्बाई कर्णभाग को छूती है, वस्तुत: नेत्रों और नासिका के चित्रण में जैन कलाकारो की निपुणता की तुलना नही है।"[4]

इस प्रकार जैन चित्रकला की परम्परा के अन्तर्गत जो कार्य हुआ उसने भारतीय चित्रकला के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। चित्रकला के क्षेत्र मे राजपूत और मुगल शैलियो के पूर्व भी महत्वपूर्ण कार्य इस देश मे जैन चित्रकला के माध्यम से हुआ। भारतीय चित्रकला को जैन चित्रकला ने ऐसी अनुपम सचित्र कृतियाँ दी हैं जो भावाभिव्यक्ति, सौन्दर्य बोध, रग योजना, वर्ण-आकार–सज्जा के अद्भुत सामजस्य के कारण सजीव बन पडी हैं। इसने चित्रकला की अगली परम्पराओ राजपूत और मुगल शैलियो को नवीन प्रवृत्तियाँ तथा प्रगतिशील तत्व दिये हैं।

जैन चित्रकला ने अपने से उत्तरकालीन सभी शैलियो पर अपनी गहरी छाप छोडी है। हिन्दू राजपूत कला जैन चित्रशैली से अत्यधिक प्रभावित हुई। भारतीय चित्र शैलियों में बेलबूटो की बनावट की जन्मदात्री सर्वप्रथम जैन कला ही रही। जैन चित्रकला हिन्दू चित्रकला शैलियो के अति निकट रही है। विषय वस्तु के रूप मे भी जैन कला मे स्वयंभू राम और नेमिनाथ हिन्दू कला के राम और कृष्ण के समान एव समकालीन हैं। हिन्दू शैलियों की सरस्वती, इन्द्र वरुण, काली आदि यक्ष-यक्षिणी तथा अन्य रूपान्तरो मे जैन कला मे भी प्राप्त होते हैं। पश्चात्-वर्ती काल मे जैन कला हिन्दू कला के साथ एकाकार करती प्रतीत होती है। एक मुख्य असमानता जो जैन और हिन्दू कला के मध्य सदैव विद्यमान रही वह थी हिन्दू कला मे नारी चित्रो तथा अति श्रृंगारिक चित्रो के अकन के सम्बन्ध में। हिन्दू कला स्थूल मांसलता की ओर अग्रसर हो, राग-रागिनी, नख-शिख तथा बारहमासा आदि विषयो में सलग्न होती गयी तब भी जैन कला मे अपनी परम्परागत धार्मिक निष्ठा स्थिर रही। यही कारण है कि ज्यो-ज्यो हिन्दू कला राज-प्रसादो मे सिमटती गई और विलासितामयी जीवन के चित्रण में लगती गई, त्यों-त्यो जैन चित्रकला की प्रगति शिथिल होती गई।

बौद्ध कला भी जैन कला से कई स्थानो पर सामंजस्य करती प्रतीत होती है। जैन कला मे जिस प्रकार कथाओ को कई स्थानो पर आधार बनाया गया है, उसी प्रकार बुद्धकला का भी मुख्य आधार जातक कथाएँ हैं। पन्द्रहवी शती के पूर्व जैन एव बौद्ध कलाओ की ही कृतियाँ उपलब्ध हैं। जैन कला ने बौद्ध कला की अलकरण प्रवृत्ति से सामंजस्य स्थापित किया है। एक मुख्य अन्तर जो इन दोनो मे पाया जाता है वह यह कि बौद्ध कला भित्ति चित्रो पर अधिक केन्द्रित रही जबकि जैन कला में भित्ति चित्रो के पश्चात् ताड़पत्रो तथा कागज पर चित्रांकन को प्रमुखता दी गई और वह ग्रन्थ चित्रो की ओर अधिक आकर्षित हुई। बौद्ध कला ने राज्य सरक्षण प्राप्त कर तथा विलासिता पूर्ण, श्रृंगारिक चित्रों तथा नारी चित्रो का अकन अपने क्षेत्र को और व्यापक बनाते हुए जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपना विकास किया वहाँ जैन कला ने सिद्धातो के मूल्य पर कभी परिस्थिति से

4 भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 142।

समझौता नही किया और सदैव धार्मिक आधारों का कठोरतापूर्वक पालन किया।

भारतीय चित्रकला के विकास मे जैन कलाकारो ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। दसवी से पन्द्रहवी शती के बीच का काल तो शुद्ध रूप से मुख्यत: जैन कला का ही काल रहा है। इस युग मे पूर्व परम्परा को जीवित रखकर जिस निष्ठा और लगन के साथ जैन कलाकारो ने जैन शैली को विकसित किया और भविष्य मे राजपूत एव मुगल शैली को जो नये प्रयोग एव भाव विधान दिये, उनके लिए भारतीय चित्रकला जैन चित्रकला की परम्परा की ऋणी है। तिब्बत, नेपाल और गढवाल मे कपड़े पर चित्राकन की प्राचीन परम्परा के अनुरूप भारतीय कला मे वस्त्रो पर अकन व लेखन की सामग्री जैन कला मे ही उपलब्ध होती है। श्रद्धेय मुनि काति सागर ने अपने एक गवेषणात्मक लेख[5] मे ताडपत्रो, वस्त्रो तथा कागजो आदि पर निर्मित जैन चित्रो, उनके चित्रकारों एवं ग्रन्थकारो का वृहद वर्णन किया है। उनके सग्रह के अतिरिक्त लखनऊ, इलाहाबाद, कलकत्ता आदि के सग्रहालयो तथा अनेक व्यक्तिगत संग्रहों मे वस्त्रचित्रो के मूल्यवान एव दुर्लभ नमूने प्राप्त होते हैं। वाशिगटन की फेयर आर्ट गैलरी में सुरक्षित "वसत विलास" नामक कृति (1508 वि. में लिखित) वस्त्र पर चित्रित विज्ञप्ति पत्रो की अपने ढग की विश्व भर में चित्रकला मे अद्वितीय कृति मानी जाती है। ब्रिटिश म्यूजियम में भी जिनभद्रसूरि के समय का जैन शास्त्रो पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला एक बहुमूल्य एव वृहत पट्ट चित्र आज भी सुरक्षित है जिसे मुगल-राजपूत शैलियों से पूर्व का सर्वश्रेष्ठ पट्ट चित्र माना जाता है। नाहटा कला भवन बीकानेर मे भी इस प्रकार के सुन्दर वस्त्रचित्र सुरक्षित हैं।

भारतीय चित्रकला जैन कलाप्रेमियो के कलात्मक वस्तुओ की सुरक्षा के विशिष्ट गुण की भी विशेष ऋणी है जिसके कारण चौदहवी-पन्द्रहवी शती के क्रातिमय समय मे भी, जबकि अल्लाउद्दीन खिलजी जैसे सरदारो ने जहाँ भी हिन्दू कलाकृति देखी नष्ट करदी, जैन विद्वानो ने जी जान से अपनी कला परम्परा या यो कहे कि तत्कालीन भारतीय कला परम्परा की रक्षा की। इन दिनो कागज के स्थान पर काश्मीरी कागज स्वर्णमयी एव रजतमयी स्याही से मूल्यवान चित्रो एव पोथियो का निर्माण किया गया। मुनि कान्तिसागर के अनुसार "कल्पसूत्र" की एक प्रति, जो अहमदाबाद मे सुरक्षित है, इतने महत्व की प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपये तक आँका जा चुका है। भारतीय नाट्य, सगीत और चित्रकला तीनो दृष्टियो मे उसका स्थान अपूर्व है। इन चित्रो मे राग-रागिनी, मूर्छना, तान आदि की योजना सगीत शास्त्र के अनुसार है, और आकाशचारी, पादचारी, भोमचारी, वगैरह भरतमुनि के "नाट्य-शास्त्र" मे वर्णित नाट्य के विभिन्न रूप बड़े ही भाव पूर्ण हैं। प्रत्येक के मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावो का स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्न कर साधारण मानव को भी अपनी ओर आकृष्ट करती है यही उक्त प्रति की कुछ विशेषताएँ हैं।[6]

जैन चित्रकारों द्वारा रगों और रेखाओं के प्रति पूर्ण सजगता बरती गई है। इनका सबसे सुन्दर स्वरूप

---

5. "जैनो द्वारा पल्लवित चित्रकला"—लेखक—मुनि कातिसागर "विशाल भारत" दिसम्बर 1947, भाग 40, अक 6, पृष्ठ 341–348।
6. तदैव।

ताडपत्रो पर निर्मित चित्रो मे देखने को मिलता है जहाँ बारीक रेखाओ द्वारा अल्प स्थान मे ही निर्मित चित्रो में कलाकारों ने अपनी प्रतिभा एव कौशल का पूर्ण प्रदर्शन किया है। जैन शैली के चित्रो मे नेत्रो की बनावट पर विशेष ध्यान दिया गया है। ताडपत्रो पर अकित सूक्ष्म रेखाऐं इतनी सार्थक हैं कि उनके कारण चित्र मे पूर्ण सजीवता प्रतीत होती है जिन्हें देखकर कोई भी कलाकार इनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। जैन पोथियो के बाहर सुरक्षा के लिए बँधी लकडियो की तख्तियों पर भी सुन्दर चित्रकारी देखने को मिलती है। जैसलमेर के जैन मन्दिरो मे ऐसी जितनी भी लकडी की सचित्र तख्तियाँ थीं उनके चित्र लेकर उन्हे सुरक्षित रखा गया है, अन्य जैन शास्त्र भण्डारो में भी ऐसा किए जाने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जहाँ जैन धर्मानुयायियो ने करोडो रुपया व्यय कर कला का पोषण किया है वहाँ जैन मुनियो ने भी एकाग्रभाव से तन्मयतापूर्वक हजारो ग्रन्थो की प्रतिलिपि एव स्वतन्त्र रचना कर कला की समृद्धि मे महान योग दिया है। जैन ग्रन्थकारो की कृतियो मे एक और विशिष्ट विशेषता देखने को मिलती है, कि अनेक कृतियो में लिखने के बीच-बीच इस ढग से खाली स्थान छोडा गया है कि अपने आप छत्र, कमल, स्वस्तिक आदि उभर आते हैं। जैन चित्रकारो मे जहाँ जैन परम्परा के विकास का बडा महत्वपूर्ण कार्य किया है वहाँ अन्य परम्पराओ के विकास में भी कई जैन कलाकारो ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। चौदहवी-पन्द्रहवी शती मे जैन कलाकारो द्वारा जहाँ "मार्कण्डेय पुराण" तथा "दुर्गा सप्तमी" जैसे जैसे वैष्णव ग्रन्थो के चित्र निर्मित किए गये हैं, वहाँ सोलहवी-सत्रहवी शती मे जहागीर के दरबारी चित्रकारो में सालिवाहन नामक जैन चित्रकार द्वारा "आगरा का विज्ञप्ति पत्र" (1667 वि) तथा मतिसार चित्र "धन्नाशालिभद्र-चौपई, का भी चित्राकन किया गया। इसी प्रकार अकबर के काल मे समय सुन्दर नामक जैन मुनि द्वारा "अर्थ रत्नावली" नामक एक ग्रन्थ की रचना कर बादशाह को भेंट किया गया।

इस प्रकार जैन धर्म के प्रति अपनी अटूट निष्ठा को स्थिर रख जैन कलाकारो ने जैन कला का जिस धैर्य, निष्ठा व विश्वास के साथ चित्राकन किया वह विश्व में अपनी सानी नही रखता। राज्याश्रयो के विलासितापूर्ण वातावरण से विलग तथा धार्मिक सीमाओ से बँधे रहने के कारण जैन चित्रकला मे लोक जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति हुई है। उसकी आकृतियो, रेखाओं और साज-सज्जा आदि सभी मे लोककला का समर्थ रूप विद्यमान है उसमे वैसे ही लोक सौन्दर्य एव लोक सस्कृति के तत्व छिपे हैं जैसे साची और भरहुत की कृतियों में है। इसलिए लोक-कला का जो वास्तविक प्रतिनिधित्व जैन कला में समाहित है, वैसा न तो बौद्ध कला मे दिखाई देता है और न राजपूत कला में है।[7]

---

7. भारतीय चित्रकला—वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 143।

० ०

CONTRIBUTION OF MAHAVIRA TO INDIAN CULTURE

KAILASH CHAND JAIN

Mahavira, who lived in the sixth century B C, made distinct and special contributions, to Indian culture. He is described as a supreme personality, and acknowledged as a great Brahmana, a great guardian, a great guide, a great preacher, a great pilot and a great recluse There were several religious thinkers and sects contemporary to Mahavira, but their philosophical dogmas had a merely temporary vogue, and gradually faded away. Inspite of the opposition from time to time, Mahavira's religion came to stay, and influenced the Indian culture in different ways.

For the true understanding of Mahavira's contributions to Indian culture, his contemporary literature, which remained in the form of oral traditions for a considerable time is very helpful. As it was codified much afterwards with certain interpolations and changes, it should be used with caution. This literary evidence is twofold direct and collateral. The direct evidence is that which is furnished by the Jaina literary works specially the *Purvas* and the *Angas*, and the collateral one is gathered from the Buddhist literary works known as *Nikayas*

The most important contribution of Mahavira to Indian Culture is the doctrine of *ahimsa* or non-violence Previously there was too much slaughter of animals and injury to creatures, and this practice of violence polluted the whole atmosphere of the society. Animals were killed even in the religious sacrifices which were performed to please the gods. For the

blissfulnes of the entire being, Mahavira inculcated the doctrine of *ahimsa* or non-violence in thought, word and action. [1] The visible effect of this doctrine was sought to be proved by a practical demonstration Already in Mahavira's time and even afterwards, the righteous kings of India made it a point of duty to vouchsafe lawful protection to all forms of life within the sacred precincts of a religious establishment [2] They even prohibited the slaughter of animals on certain sacred days of the year This principle of causing no harm to any being had a salutary effect on man's habitual diet Those, who came under the influence of Mahavira's personaltiy and teaching, gave up the eating of meat and fish, and adhered to a strictly vegetarian diet

After Mahavira's death, this vegetarian habit seems to have influenced the entire population The Brahmanas, Vaisyas and even Rajaputs became vegetarians because of the influence of Jainism The principle was at the back of many philanthropic and humanitarian deeds performed, and institutions established from time to time The practice of feeding and sustaining the insects, birds and animals followed in ancient times was the result of the doctrine of *ahimsa* It is perhaps due to this principle that Jainism appealed to the masses who formed the different castes such as the Osavalas, the Khandelavalas and the Poravalas etc.

The next contribution of Mahavira is that he observed no distinction of caste and creed According to him, salvation is the birthright of everyone, and it is assured if one follows the prescribed rules of conduct His doctrine of *Karma* (action) made the individual conscious of his responsibility for all actions One becomes a Brahmana or a Kshatriya or a Vaisya or Sudra by one's actions Though he was Kshatriya, he himself was styled '*Mahana*' or *Mahamahana* (Great Brahamana) [3] His religion was accepted by a large number of men and women belonging to different castes and classes The contemporary kings, queens, princes and ministers became his followers Among the kings, Srenika, Kunika and Chetaka are the prominent His chief eleven disciples known as Ganadharas were also Brahmanas who helped the master to spread his faith Besides, he attracted a large number of rich bankers and merchants Mahavira also tried his best to improve the general condition of these down-trodden people Harikeshabala, born in the family of Chandalas, became a monk possessing some of the highest virtues.[4] Several contemporary clans suchas the Lichchhav-

---

1. Uttaradhyayana Sutra VIII, 10
2. Majjhimanikaya, II, p. 101.
3. Uvasagada-sao, 7.
4. Uttaradhyayana Sutra, XII

is, the Vajjis, the Jnatrikas, the Mallas, the Ugras and the Bhogas came under the influence of Mahavira. [5]

Another notable contribution of Mahavira is that he made no distinction of sex by admitting women into his Order Some of them distinguished themselves as teachers and preachers They used to lead a life of celibacy, with the aim of understanding and following the eternal truths of religion and philosophy Ajita Chaudana became the first disciple of Mahavira under whom a large number of nuns practised the rules of right conduct and attained salvation Another famous lady Jayanti, the sister of king Sayaniya of Kosambi, abandoned her royal robe and became a devout nun

As Mahavira was born and brought up in republican atmosphere he organized the monastic order efficiently on democratic principles He possessed a unique power of organization. There were four orders of his community monks, nuns, laymen and laywomen He made laity the participants of the monastic order These laymen were householders who could not actually renounce the world but they at least could observe the five small vows colled *anuvrata* The similarity of their religious duties, differing not in kind but in degree, brought about the close union of laymen and monks. Most of these regulations meant to govern the conduct of laymen were intended apparently to make them participate in a measure and for some time, in the merits and benefits of monastic life without obliging them to renounce the world altogether The type of organization gave the Jaina a root in India, and that root firmly planted amongst the laity enabled Jainism to withstand the storm that drove Buddhism out of India

The next remarkable contribution of Mahavira is that he established strict discipline in the Jaina monastic order by laying down certain rules of conduct for ascetics These rules are classified under such general heads as begging, walking, modes of speech, entry into others possessions, postures; place of study and attending to the calls of nature Here begging included begging food and drink, begging a bowl, begging clothes, and begging a residence of a couch under these subheads are to be found the rules governing the modes of eating, drinking and lying down Walking includes travelling, crossing, swimming and other forms of movement The postures are those that are involved in religious exercises These rules have been prescribed so that a monk may not to prey to the worldly disputes The noble conduct of the monk is essential, for he is regarded as an ideal example to be followed by the people He is actually the guide, the guardian, and the leader of the society.

The ultimate object taught by Mahavira is the conception of *Nirvana* which consists in the attainment of peace and infinite bliss,[6] This highest goal is to

5. Sacred Books of the east XLV (Sutrakritanga) pp 71, 321, 339
6. Satrakritanga, I, 11 11.

be attained though annihilating the old *Karmans* by the practice of austerities, and to step the influx of new *Karmans* by the practice of self-restraint, called *Samvara* with regard to the body, speach and mind. Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct are the three essential points which lead to perfection by the destruction of *Karmans* Without Right Faith, there is no Right Knowledge, without Right Knowledge, there is no Virtuous Conduct, without virtues, there is no deliverance and without deliverance, there is no perfection

The next great contribution of Mahavira is the theory of *Karma* According to him, birth is nothing, caste is nothing, *Karma* is everything, and that on the destruction of *Karma*, all future happiness depends This theory of *Karma* is known as the notion of the freedom of the will According to it, pleasure and pain, and happiness and misery of the individual depend upon his free will, exertion and manly strength *Karma* is the deed of the soul It is a material forming a subtle bond of extremely refined karmic matter which keeps the soul confined to its place of origin or the natural abode of full knowledge and everlasting peace, According to this theory there are as many souls as living individuals, and *Karma* consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on nature of the soul. Thus, the soul is not passive in the sense that it remains untouched or unaffected by what a person does, but is susceptible to the influence of *Karma* [7]

The doctrine of *Naya* as propounded by Mahavira in opposition to the agnosticism of Sanjaya [8] is no less contribution to Indian Culture. The early canonical texts just mention *Nayas* without fixing up their number four or seven [9] In course of time, this doctrine of *Nayas* was called *Syadvada* (*Saptabhanginyaya*), according to which there can be seven alternatives to a decisive conclusion. *Nayas* were actually the ways of expressing the nature of things from different points of view; they were the ways of escaping from the tendencies of insenstivity and dogmatism which Mahavira disliked. It is a midway between scepticism and dogmatism There were many religious sects and philosophical views prevalent in his time Mahavira was tolerant in religious matters and this theory of *Naya* laid stress on the fact that there should be room for the consideration of teachings and views of all religious sects which avoided squabbles and quarrels among religious exponents. This attitude in religious matters produced an atmosphere of mutual harmony among the followers of different sects who began to appreciate the views of their opponents as well Jainism has survived the ravages

7 Sutrakritanga I, II II
8 Sacred books of the East X IV, p XXVII
9. Sutrakritanga II 5 3,Acharanga 1 7 3

of time because of this tolerant attitude imbibed in the doctrine of *Naya*

Another great message of Mahavira to mankind is the doctrine of *aparigraha* or freedom from possession By becoming a monk, he renounced everything by breaking all worldly ties This doctrine enables a person to cut off the ties of attachment and desire, making him indifferent to all agreeable and disagreeable sensations of sound, touch, colour and smell. [10] It leads to the feeling of contentment, which cannot be bought by wealth, pomp and power of the world Had it been possible, the kings and wealthy persons would certainly have attained it. It can certainly be realized through patience, forbearance, self-denial, forgiveness, humanity, compassion, suffering and sacrifice This doctrine created healthy atmosphere in the society. Several kings, ministers and wealthy merchants led simple lives thinking wealth and power not for their own but for the welfare of all living beings

While Parsva taught only four vows for the realization of absolute happiness, Mahavira taught five in all making chastity a separate vow altogether [11] He was compelled to do this because there was a decay of morals of the monastic order He considered it to be the highest austerity This vow of chastity requires the avoidance of sexual pleasure For its attainment, a person should desist from continually discussing topics relating to women. He should not regard and contemplate the lovely forms of women. He should not recall to his mind the pleasures and amusements he formerly had with women. He should not eat and drink too much He should not drink liquer or eat highly seasoned food He should not eccupy a bed or a couch belonging to women [12]

One special contribution of Mahavira is that he preached his doctrines in the language of the masses known as the old *Ardha Magadhi* dialect which soon grew as literary language Traditionally the eleven *Angas* based on the teaching of Mahavira were originally in *Ardha-Magadhi* This literature seems to have been handed down orally in the form of traditions, and it took literary form after much considerable time It underwent many changes in language and subject-matter. The prscentcanon does not belong to one period, but the language of the available canon, however, shows a great influence of Maharashtrian Prakrit,

* * *

---

10. Acharanga 15-1-v.
11 Uttaradhyayanasutra, XXIII, 26-27
11 Uttaradhyayanasytiy, XVI

JAINA IMAGES AND THEIR PREDOMINANT STYLES : DAHALA AND SOUTH KOSALA REGION

Dr. R. N. MISRA

The paper attempts to make a brief study of Jaina sculpures in Central India and their stylistic evolution within an over-all pattern of sculptural style that shaped the images of the region under the Kalachuris of Dahala and South Kosala. [1]

It is of interest to note that although the Kalachuris were devout Saivas, their faith did not come in way of development of Jainism in the region under their control Some official records of the Kalachuris testify to the construction of temples dedicated to Jinas, while prolific remains of sculptures of Jinas, the seated couples (variously identified as Dharanedra-Padmavati, Ambika-Sarvanha or the parents of Jina), the Jaina *sasana devatas* and *Upasakas* indicate the patronage—both royal and individual—that Jainism seems to have enjoyed during the Kalachuri rule That some of these images are related to a distinct ici nic tradition which is *sui geeris* has also been sometimes stressed [2]

---

1 Many of the sites in these regions were explored by Cunningham and his assistants Baglar and Garrick in the last century Among others who worked on this region mention may be made of Bhandarkar and Cousens, Only R D Banerji made a study of some consequence in which he attempted to present a systematic survey of the monuments of Haihayas (also known as Chedis or Kalchuris) of Tripuri Despite these studies no serious attempt was made till recently to systematise the vast amoun of Archaeological evidence in terms of sculptures and monuments in the region These monuments are however are now reeiving some attention.

2 The authors' Yakshini images and the Matrika Tradition in Central India', *Prachya Pratibha*, III, (1), pp, 29-34

Quanti a'ively the epigraphic evidence with regard to Jaina monuments in the region under the survey is scanty We have an inscription of K E. 900/ 1149 A D. referring to the setting up of a Tirthankara image (at Tripuri) by Jasadeva and Jasadhaval of Mathura This short dedicatory inscription is engraved on the pedestal of this image which is now in the collection of Sir Hari Singh Gour Archaeological Museum of University of Sagar. [3]

In the Bahoribandha Jaina image inscription of the time of Gayakarna (1123-1153) we find a reference to the construction of a temple of Tirthankara Santinath by Mhabhoja, son of Sarvadhara [4] This inscription affords information regarding the construction of a *mandira*, 'temple', along with a very white *vitana*, 'canopy', in front of it.. During its heyday, as the inscription testifies, the shrine was a *ramya*, 'beautiful', construction Similarly the *vitana* was 'very white' and 'extremely beautiful'. The name of the *sutradhana*, 'architect', who made it was Sreshthin and the *acharya* who consceratted the image was Subhadra This *acharya* belongs to the *anvaya*, 'line', of the Desigana in the Amnaya of holy Chandrakara, [5]

The Alhaghat inscription of V S 1216/1159 A D refers to the construction of a *shatishadika ghat* and a temple dedicated to Ambika on the road leading to the *ghat* [6] This deed was performed by *Ranaka* Chihula who belongs to the line of the Rautiyas of Kausambi The *Ranaka* himself was a feudatory of the Kalachuri Narsimhadeva (1153-1163) It is difficult to say whether this temple was dedicated to Ambika, the *sasanadevi* of Neminath or to the Brahmanical deity of the same name But the coincidence of the existence of a Jaina temple at Patyan Dae (Satna district) is interesting in this connection That this temple is a Jain monument is beyond doubt It may be dated to about 12th century. Stylisticaly, the figures of Jinas on the lintel of the doorway and the other decorative figures on the doorframe

---

3 Cf Dikshit, M. G , *Madhya Pradesh 'e puratatva ki ruprekha* (in Hindi, Sagar 1954), p 7o, *Tripuri—1952* (Sagar, 1955), p. 12, pl VII, B

4 Cf, Mirashi, V V., *Inscription of the Chedi Kalachuri Era*, Corpus Inscriptionum Indicarum, vol. IV (i) (0otacamound, 1955, inscription no 59, p 310-311; Cunningham, A , *Archaeological Survey of India Reports* Vol IX, p 40; Bhandarkar, *P R. A S W. I* for 1903-04, pp 54-55

5 According to Mirashi this may be identical with the Chandrakapat *Gaccha* of Digambar sect, Cf , *C I I* , IV (i), p 310, note 3,
Indian Antiquary, XXI, p, 73 It is also of Interest to note that Sarvabhadra the father of donor belong to a line namely Golla parva *anvaya* which stil has several adherents in M, P.

6 Mirashi V V., opcit. p. 323-24

appear to belong to a period of the art of Dahala when decadence had already set in But it is curious to note that housed in this temple was an image of Ambika of about 10th century [7] The image now fiills the collection of the Allahabad Municipal Museum

Incidentaly, it may be noted here that the Alhaghat inscription refers to several craftsmen also who might have been associated with the construction of the *ghat* and the Ambika temple No less than five craftsmen are mentioned in it, namely the *Sutradhara* Kamlasimha and his team consisting of Some, Kokasa, Palhana and Dalhana. The inscription seems to indicate that the number of craftsmen and artisans was growing while the patronage and style was fast dwindling by now

This is all that the Kalchuri epigraphs tell about art activity related to Jainism The Jainaremains in the region however are prolific though scattered. Although most of the remains are in nature of loose sculptures, it may be surmised on their basis that Jaina temples must have existed at Bilhari and Karitalai besides the Patyan Dae temple of the Satna district and the Bahoridhandha shrine of Santinatha in the Jabalpur district. The speculation regarding the former two places is based on the doorframes which still exist at Karitalai and Bilhari The connected monuments have disappeared now and their ruins shifted to the Rani Durgavati Museum (Jabalpur) and Mahant Ghasidas Memorial Museum (Raipur) [8] Among these places Bilhari came into prominence architecturally when Nohala, the queen of Yuvarajadeva I (915-945) built the reputed Nohalesvara *matha* and Somanath temple there The remains of these constructions can still be seen in the reconstructed Vishnu-Varaha temple of Bilhari Karitalai became famous for its temples one of which was built in 840-41 A. D. [9] and the other some time dnring the reignm of Lakshmanaraja II (945-70) These constructions define the background of building activity which eventually seems to have influenced the content of Jaina art also, for it was a significant part of a whole in which sharp lines of division in respect of stylistic details get blurred These circumastances also explain as to why in

7 For the details of this image of Ambika, cf, Saraswati, S K,, *Jisoa*, VIII. 148, Shah, U. P *Studies in Jain Art*, Banaras, 1955), p. 18, *Journal of University of Bombay*, Sept 1941

8 Cf Jain, B. C, 'Sculptures from Karitalai in Raipur Museum' *Journal of Indian Museums*, Vol XIV-XVI (1958-60) pp 19-20 cf also *Prachya Pratibha*, vol III (i), 1975, p. 89 During the course of my field work which covered the areas of Vindhya Pradesh and Chattisgarh most of the sites covered contain Jaina Sculptures,

9 This Temple at Karitalai was dedicated probably to the Trinity of Hindu Pantheon. The opening verses of the Karitlai inscription of K E 593/840-41 A D have . *om namostu Druhinopendrarudrebhyayah* cf Mirashi, V V,. opcit , p 181,

the otherwise wholly Jainistic images there is often a distinctive iconographic touch which does not conform to the conventional Jaina iconography. Any number of examples may be cited to indicate this phenomenon of mutual adjustment in the details of images and iconography. A major example of this is to be seen in the Jaina temple of Arang which is an architectural marvel interpreting the *bhumija* style of architecture usually reserved for Saiva temples. [10] Another typical example of iconographic adjutments in Jaina sculpture is afforded by the Hanumantal (Jabalpur) Jina image. A Jaina image from Karitalai (now displayed in the Raipur Museum) similarily interprets a variation of the same idion which is predominent in the Hanumantal image. Stylistically these images conform to the idiom of sculptures of Karitalai and Tripuri-Jabalpur region as a whole, as obtaining in the 10th and 11th century

Sagar and Narsinghpur regions also have several sites abounding in Jaina remains At Bina-Barha and Ranital (Sagar district) there are rich remains exhibiting nine Tirthankara images such as Adinatha, Sambhavanatha, Santinatha. etc and Ambika. Some of these images have now been spoiled due to liberal dabs of oil applied on them. Iconographically however a pillar now standing in the compound of the Town Council office at Narsinghpur is interesting This pillar originally was decorated with the surmounting *sarvatobhadrika* images whose pedestals with their empanelled *sasanadevi* figures have fortunately escaped damage Thus on them we have the figures of Padmavati, Ambika and Chakreshwari (the fourth figure is damaged) [11] A Jina image in the Subhash Park of Narsinghpur is also of interest and seems to articulate the same breadth of style which interprets the Jina images of Sohagpur (the Thakur's collection) and Jabalpur (Cursetjee's collection) published by Banerji [12] Images of Jinas *sasanaevis* and *upasakas* having their bearing on the Jaina art and iconography are [13] fairly abundant in the region of Shadol, (Antara, Singhpur), Jabalpur (Tewar, Karitalai, Bilhari, Darshani Gurji. Bahoribaodha), Sagar (Bina-Barha, Deori, Ranital), Satna (Ramvan Museum collection, Patyan Dae), all of which once formed the part of an

---

10. For a detailed study of Bhumija mode in temple architecture, see Krishna Deva, 'Bhumija Temples', in *Studies in Temple Inian Architecture*, Ed. Pramod Chandra (1975) pp. 90-113
11. Cf. Munikanta Sagar, *khandaharon ka baibhava* in (Hindi), pp 199-200.
12. Banerji, R. D, *The Haihayas of Tripuri and their Monuments* (M. A S .I No. XXIII), p. 100, pl. XLI, B, p. 102 pl XLVIII, B.
13. Bajpai, K. D.. in the *Bulletin of Ancient Indian History and Archaeology*, (Sagar, 1967), p 74.

extensive Dhala Mandala. In the South Kosala region similarly images are known from Bilaspur and Raipur districts at such places as Sirpur. Malhar, Dhanpur, Ratanpur, Padampur, etc.[14] Among these notable examples are from Arang and Malhar All in all, the content of Jaina art in the regions under observation here is fairly rich in types, iconography and style It is the last aspect which has been discussed in the following pages.

II

In the period following the Guptas, Central Indian region indicates a very definite idiom of style in sculptures which seems to have derived itself from the classical mannerisms of art that came up mainly of the Gupta-Vakataka tradition of the north and the Deccan Although securely dated images of the post-Gupta phase in Central India are mostly absent, the stylistic features of evolving images are to some extent traceable in stages from certain dated examples known from Eran, Mandoor and certain other regions in Rajasthan. In the Dahala however the images from Nandchand (Panna district) and Sagar (Ardhanarisvara image in the Sir H S Gouar Museum), provide stylistic indices to the evolution of modes and mannerism in sculptural art and help in establishing its forms that obtained during the transitional phase. A study of trans-formation of 'classical idiom into 'Medieval' has reference here geographically to two different regions of Central India namely the Dahala and the South Kosala[15] In terms of patronage, it appears that the Panduvamsis in the South Kosala and the Kalachuris in Dahala were mainly responsible for developing different styles Of these to the South Kosala idiom has a greater sophistication artistry and a concerted historikal tradition. The inscriptions of the Sarabhapuriyas,[16] Pandus[17] and Nalas[18] in the South Kosala indicate that this region had come to assume an important position in the wake of political conflicts and change of power following the dissolution of the Guptas and the Vakatakas Even as the different dynasties of the South Kosala succeeded the Guptas and the Vakatakas, the prevalent art idiom of the region underwent a change[19] Although the majority of

---

14. *Raipur District Gazetteer*, pp 65-66, *Bilaspur District Gazetteer*, p 61.
15. Cf. Pramod Chandra, *Sculptures in the Allahabad Museum*, (1970), pp, 33 ff
16. Cf. Dikshit, M. G. opcit, (1954 pp. 58-61).
17 Cf. Mirashi, V. V , "*The Pandva* Dynasty of Mekala", *Indica* (Silver Jubilee Volume of Indian Historical Institute, St. Xavier College, Bombay), pp. 268-73.
18. Dikshit, M. G , opcit (1954), pp 60-61, Mirashi, V. V , *E I.*, XXVI. 54.
19 The brick-temples of South Kosala have been assigned to the period of 6th and 7th century A D A transformation from the Gupta-Vakataka to the Traditional phase in the monuments of the area may be traced through the recently discovered temple at Tala near Sirpur. The credit for this discovery goes to Sri Vishnu Singh Thakur of Raipur and Mr. Don Stadner of California Universtty, U. S. A.

monuments existing in this region belonged to the Budhist and Brahmanical sects, some Jaina images coeval in time and Mannerism to these are known from Malhar (Bilaspur district) These images are housed in a dilapidated enclosure known as Parghania Deva temple Some other Jina images of a later date are studded in the walls near the house of Sri Amarnath Sao of Malhar. Important among these and belonging to late 7th (or probably to 8th) century are the images of Adinatha inside the Parghania Deo temple and of another Jina, buried outside the said temple. This latter seated image is of massive proportions, both the images however, reflect a sophistication and purity, distinguished by a balanced conglomeration of conver surfaces bounded with a rhythmic movement In the mellowed and sensitive form of the torso, the sophistry is accentuated by a balanced dispersal of solidity and mass. The modell ng of these images is superb to the extent that even the somewhat stiff thrust of limbs seems subdued These features represent a re-statement of classical' idiom and in articulating it, the images seem to follow dintictly the breadth of a style which flourished in such areas as *Ratanpur* (Kalyansundera panel in the Raipur Museum), *Dhamtari* (same collection), *Kharod* (doorframe of the Sondaridevi temple), *Rajim* (Rajibalochan and Ramachandra temple sculptures and *Mukhlingham* in the Parlakimedi Taluk of Ganjam district in Orissa Although the form of sculptures evident in these reliefs seems to have declined in course of time in the South Kosala, it did not completely disappear On the other hand, the Orissan monuments of early phase (e g Mukteshvara), particularly seem to have imbibed in them the features of this artistic traditon [20] It has been suggested that the art and architecture of the upper Mahanadi valley made a deep impact when it travelled Utkal In that region it helped in initiating a "revival of artistic conception with certain modifications [21]

Not much is known regarding the sculptural trad tion of South Kosala next to the Pandus and Nalas till the advent of

20 The Harbingers of this South Kosala tradition in the Orissan region were primarily the Somavamsis. The Brahmeshwar inscription indicate that Janmejaya, the Somvansi conqurred odra and during the reigns of his successors, the regions of Kosala, Utkala, Kongoda and the parts of what then was knon as Kalinga assumed a unity distinguished by cultural and linguistics bonds Panigrahi, K C. *Archaeo'ogical Remains of Bhuvaneshwer* (Orient Longmen, 1961) p 251.

21. Ibid, p, 251. For special characterstics of Orissan sculptures of the period under the Somavamsis, cf Panigrahi, K. C. pp 251 ff He (pp, 158 ff says that three temples of the formar Baudha State in the upper Mahanadi valley also indicate a similars sophistications.

the Kalchuris, except for a short interlude of the kings of the Bana dynasty [22] During the Kalchuris who first started as a branch of the main line of Tripuri and sometime during the reign of Jajjlldeva I (1090-1120) became independent, Jina images seem to have come up at various places specified above. These images cut in black stone (Ratanpur, Bilaspur) or in greyish sandstones (Malhar), reflect the same modes of style which inform the other sculptures of the region In their lenghthening limbs tending towards extreme lateralism, swollen faces, broad plump chest suddenly constructing to an almost triangular waist with a central lump near the navel, below which are attached feet which look more like unhappy appendages, the sculptures of the South Kosala during this phase interpret an idiom which is emphatically provincial

The exuberant or languorous variations of this idiom are fairly recurrent in the art of South Kosala from about 10th cent. to 14th cent The images of Chadraprabh, Rishabhadeva and othe:s in black stone from Ratanpur (C. 12th cent) have such features The seated Jina type of images seem to have helped in evolving the devotee images of black stone found at several places such as Ratanpur, Kharod, Chhapari, Amarkantak and Malhar On the whole the Kalachuri phase of South Kosala is peculiar for its artistic idiom which was sufficiently wide-spread Geographically, it covered almost the whole of the present Chhattisgarh and Baster regions besides such other places as Amarkantak and Marakanda (Maharashtra). The origins of this idiom may have their moorings in the Mahanadi valley While in the Orissan region it assumed a greater sophistication in various stages at Jajapur Ranipur Jharial, Bhuvaneshwar and Puri, its form in Chhattisgarh remained almost changeless, certain inspired phases here notwithstanding

Exceptional in this regard are the images on the Bhand-Dewala at Arang (Raipur district). This Jaina temple, stellate in plan stands on a *lofty pitha* decorated with seven mouldings in which the major ones consist of *Gajapitha*, *aswapitha* and *narapitha*. The *jangha* of the temple has six verticle butteresses decorated with two bands of sculptures. The sculptured bands are demarcated from each other by a moulding called *vidyadhara pattika*. The images on the *jangha* represent Jaina *sasanadevis* on the Bhadra niches and minor deities, *dikpalas* and *Apsaras* on the other projections The recesses alternating with buttresses have the usual motifs of erotic couples which became an essential feature of the Kalachuri temples from 11th century onwards in the Dahala

22 Mirashi, (C. I. I., vol IV), intro p CXV, CXVII) Ascribes the costruction the Pali temple to the Bana king Vikramaditya in C 9th century Stylistically however the temple in its reconstred form, door-way excluded, is ascribable to 12th century. cf Krishna Deva, *Temples of North India*, p 53

as well as South Kosala region Certain mouldings on *jangha* have figures of Yakshas and Jinas No less than twenty-one figures of Yakshas appear here However it is difficult to relate them to any definite iconographic tradition in absence of their clear cognizances The recesses and projections on the *jangha* follow a definite scheme of decoration regarding placement of motifs such as Apsaras, erotic figures, *sansanadevis*, *upasakas*, *dikpalas*, etc. But the *vyala* figures so commonly used in the other Kalachuri temples eveywhere are conspicuous by their absence here The only notable exception in this is a loan *vyala* figure occupying a recess by the side of the Central Bhadra projection on the south face of the temple The figures of non-Jaina deities *e g* Bhairawa (South face), Natesa (in a recess on south face) and *Krishna Lila* scene (in a recess of north face) also occur on the *jangha* of the temple But the most spirited decorative figures belong to the miscellaneous group thrown around the various places on the walls of the temple representing dance groups, Warriors, wrestlers, etc One such figure on the south face, upper band represents a flute player having two torsos aligned to a single head. Below him we have a drummer The *sikhara* of the temple, a *bhumija* type, has the usual *latas* rising from bhadra, the *lates* have on them a series of panels containing Jina figures in a group of two or more.

The temple on the whole is a unique monuments coming from this region and its importance has recently been proven beyond doubt by Krishna Deva.[23] Stylistically, the decorative images on this temple do not show the contortion of limbs, a feature which otherwise is predominent in this region So the inspiration as well as the execution of the temple should he traced to some other locality preferably the Dahala region That the Virateshwara temple of Sohagpur might have influenced the Bhandadeval is a probability accepted by Krishna Deva

As regards the Dahala region, it is possible to determine the predominant idiom of sculptural style, their epicentres and their spread. Roughly stated, the early images following the Ardhanarishwara of Sagar University, tend to indicate simple decoration unencumbered with profuse ornamental features of the *parikara* In the anthropomorphic form the distinctive features in images reflect an ovaloid face, a simple hair style or crown wherever found, and a short almost squatting proportions devoid of any exaggerated lateralism The images of Jinas at Bina-Barha and those of Natesa from Marh-Piparias and Bina Barha indicate these feature rather imphatically. These forms may be related to the 9th century. The 10th century however was a turning point in the artistic tradion of Dahala when the Kalachuri rulers invited the saints of Mattamayura sect into their territory and established several *mathas* for them This seems to have brought out an upsurge both in quality as well as artistry of sculp-

23. Krishna Deva, Bhumija Temples (1975), pp 110 ff.

ture. The Jina images rom Bilhari and Kalitalai mentioned above seem to belong to this tradition Stylistically, the doorways and other art remains at Baijnath, Marai, Gurgi, Mehsaon, Bilhri and Arjula in that order seem to mark the various stages of development of sculpture during the period extending from 10th through 11th century. They indicate a style in which figures are elongated, torso triangular instead of squarish, resting on thin waist, and feet sometimes columnar The whole standing posture has an rlegance attenuated by the *bhanga* on the main axis of body The close parellel to this idiom is found in the images of the Lakhamaneshwar temple of Khajuraho [24] The images of Karitalai (Raipur Museum) and Bilhari (Dharmasala Compound) have these features adjusted to the canonical requirements from Jina images Among these, of particular significanee are the images of Parshvanatha and of Chandraprabha, Padmaprabha and Parshwanatha at Bilhari. However in the comparatively remote regions of Sagar, Damoh and Narsinghpur a variation of the same idiom is reflected in the Jina images which have otherwise the features similar to the Bilhari-Karitalai idiom with the exception that the face is more squarish than oval The idiom has an anterior history in the region, but in the notable examples of 10th century,reference may be made to the images of Jinas and their Yakshis from Narsinghpur Close to Narsinghpur at at Barahata and Naunia thereare figures of Adinatha, Parshwanatha and Mahavira which also seem to belong to this period

The 11th century, particularly the second and third quarter of it, witnessed the effloroscence of sculptures in the Dahala region. The decorative details increased in the parikara of the sculptures. A very delicate scroll work elegantly covering the portions of halo and the whole background of relief highetens the aesthetic quality of sculptures of this period. The tracerred scroll work, beaded festoons regularly looped through the span of pedastals or seats, the filigried crowns of the attendant deities and minutely fretted and carved *chhatras* on the head of the Jinas leave the viewer spell bound at the wealth of carving displayed on the individual images Although the Jina images are monotonously similar in their seated or standing postures, the wealth of decorative details on the parikara is what makes the images of this period very distinctive As regards the images them-

---

24 Krishna Deva, *Temples of North India*, p. 62. He assigns the Lakhamaneshwar temple to 950 A D

25 Prof. K. D Bajpai deals with these images while describing the Jaina art of the Central India during A D 1300-1800 He however has Indicated that the Jaina art flourished here from about 11th to 13th century A D For his comments c. f. *Jain Art and Architecture*, vol II, Ed A Ghosh (Bhartiya Jnanpitha, New Delhi, 1975), p 353.

selves, although their stiffness is mitigated by the profuse ornamentation, none the less, angularities lateralism and idealisation seems to have started showing up in them now Some typical examples of this sort are known from Jabalpur (the Aranatha image in the Jaina temple), Sohagpur (the Thakur's collection), Lakhanadaun, Narsingpur and Bilhari In these we have variations of the same style but the angularities are always present in them.

We may conclude by some remarks on the *parikaras* of the Jaina images from Dahala region The early images of 9th century lack in details except for the garland bearers at the top of stele and an attendant or attendants on the either side of the Jinas In the 10th century images, the details of *parikara* tend to proliferate and have such motifs as elephants, attendants, Jinagroups standing or seated and fly-whisk bearers Below the Jina images we usually have a couch from which in the middle, hangs an *astaraka* which is sometimes decorated with festoons and carries the cognizance of Jinas Pedastals indicate balusters with the inset figures of devotees, or the lions or such symbols The garland bearing *vidyadharas* and the attendants flanking Jina figures are sometimes striking similar in almost all the details to those found on the images of other deities including the Brahmanical ones This similarity seems to suggest that same artists or their guilds brought out images as required and where iconograhic considerations could be relaxed, they took liberty in experimenting with details irrespective of the secterian plurality

* * *

जैन साहित्य

प्रथम खण्ड

जैन साहित्य

अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है । उसके प्रवर्तक और प्रचारक 24 तीर्थंकर सभी इस भारत-भूमि मे ही जन्मे, साधना करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया और जनता को धर्मोपदेश देकर भारत मे ही निर्वाण को प्राप्त हुए । जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे । उन्होने युगलिक धर्म का निवारण करके असी शास्त्र की मसी लिख कृषि, तथा विद्याओ और कलाओ की शिक्षा देकर भारतीय सस्कृति को एक नया रूप दिया। वे महान अविष्कर्त्ता थे । उन्होने अपनी बडी पुत्री ब्राह्मी को जो लिपि सिखाई वह भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी के नाम से प्रसिद्ध हुई और छोटी पुत्री सुन्दरी को अक आदि सिखाये, जिससे गणित का विकास हुआ । पुरुषो की 72 तथा स्त्रियो की 64 कलाएँ या विद्याएँ भगवान ऋषभदेव की ही विशिष्ट देन हैं । भगवान ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत 6 खण्डों को विजय कर चक्रवर्ती सम्राट बने, और उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारत प्रसिद्ध हुआ । व्यावहारिक शिक्षा देने के बाद भगवान ऋषभदेव ने पिछली आयु मे सन्यास ग्रहण किया और तपस्या तथा ध्यान आदि ।

साधना से आत्मिक ज्ञान प्राप्त किया । उस परिपूर्ण और विशिष्ट ज्ञान का नाम केवल 'ज्ञान' जैन धर्म मे प्रसिद्ध है। इसके बाद उन्होने आध्यात्मिक-साधना का मार्ग प्रवर्तित किया, आत्मिक उन्नति और मोक्ष का मार्ग सबको बतलाया इसीलिए भगवान ऋषभदेव का जैन साहित्य में सर्वाधिक महत्व है यद्यपि उनको हुए असख्यात वर्ष हो गये, इसलिए उनकी वाणी या उपदेश तो हमें प्राप्त नही हैं, पर उनकी परम्परा में 23 तीर्थंकर और हुए । उन्होने भी साधना द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया और सभी केवलियो का ज्ञान एक जैसा ही होता है । इसलिये ऋषभदेव की ज्ञान की परम्परा अतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी और उपदेश के रूप मे आज भी हमे प्राप्त है । समस्त जैन साहित्य का मूल आधार वही केवल ज्ञानी—तीर्थंकरों की वाणी ही है ।

प्राचीनतम जैन साहित्य—

भगवान महावीर के पहले के तीर्थंकरो के मुनियों का जो विवरण आगमो मे प्राप्त है, उसमे मालूम होता है कि 'पूर्वों' का ज्ञान उस परम्परा मे चालू था। आगे चलकर उनको 14 पूर्वों में विभाजित कर दिया मालूम देता है। अत. भगवान महावीर मे समय और उसके कई शताब्दियो तक 14 पूर्वो का ज्ञान प्रचलित रहा। 'क्रमश.' उसमे क्षीणता होती गई और करीब 2 हजार वर्षों से 14 पूर्वों के ज्ञान की वह विशिष्ट परम्परा लुप्त सी-हो गयी।

भगवान महावीर ने जो 30 वर्ष तक अनेक स्थानो मे विचरते हुए धर्मोपदेश दिया, उसे अनेक प्रधान गौतम आदि गणधरो ने सूत्र रूप मे निबद्ध कर दिया। वह उपदेश 12 अग सूत्रो मे विभक्त कर दिया गया जिसे 'द्वादशांग गणि-पिट्टक' कहा जाता है। इनमे से 12वा दृष्टिवाद अग सूत्र जो बहुत बडा और विशिष्ट ज्ञान का स्तोत्र था। पर वह तो लुप्त हो चुका है। बाकी "अग सूत्र करीब हजार वर्ष तक मौखिक रूप से प्रचलित रहे, इसलिए उनका भी बहुत-सा अश विस्मृत हो गया। वीर निर्वाण सवत् 980 मे देवर्धि गणि क्षमाश्रमण ने सौराष्ट्र की वल्लभी नगरी मे उस समय तक जो अग मौखिक रूप से प्राप्त थे उनको लिपिबद्ध कर दिया। अतः प्राचीनतम और जैन साहित्य मे रूप के वे 11 अग और उनके उपाग तथा उनके आधार पर बने हुए जो भी आगम आज प्राप्त हैं उन्हें प्राचीनतम जैन साहित्य माना जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो ये अ ग सूत्रादि लुप्त हो गये माना जाता है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे वे ही आगम ग्रथ प्राप्त और मान्य हैं।

प्राचीनतम जैन साहित्य—

भगवान महावीर के बाद कई जैनाचार्यों ने बहुत-से सूत्र ग्र थ बनाये; पर उन सूत्रो में से 2-4 को छोड़कर बाकी मे रचियता का नाम नही मिलता उनमे से रचियता के नामवाले ग्रन्थो मे सबसे पहला सूत्र है दशवैकालिक, जिनमें जैन मुनियो का आधार सक्षेप मे वर्णित है। इस सूत्र के रचियता राय्यभव सूरि महावीर निर्वाण के 98 वर्ष में स्वर्गस्थ 5 वें पक्षधर हुए हैं। इसके बाद आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली ने वृहद-कल्प, व्यवहार और दशाश्रुत स्कन्ध नामक उछेद सूत्रो की रचना की। 10 आगमो की निर्युक्तियाँ रूप प्राचीन आत विटर टीकाएँ भी भद्रबाहु रचित हैं। पर आधुनिक विद्वानो की राय मे उनके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु पीछे हुए हैं। इसके बाद स्यामाचार्य ने पन्नवणा सूत्र बनाया। इस तरह समय-समय पर अन्य कई आचार्यों और विद्वानो ने ग्रथ बनाकर जैन साहित्य की अभिवृद्धि की।

संस्कृत में जैन साहित्य—

भगवान महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्द्ध-मागधी में उपदेश दिया था और उसी परम्परा को जैनाचार्यों ने भी 500 वर्षों तक तो बराबर निभाया। अतः उस समय तक का समस्त जैन साहित्य प्राकृत भाषा मे ही रचित है। इसके बाद सस्कृत के बढते हुए प्रचार से जैन विद्वान भी प्रभावित हुए और उन्होने प्राकृत के साथ-साथ सस्कृत में भी रचना करना प्रारम्भ कर दिया। उपलब्ध जैन साहित्य मे सबसे पहला सस्कृत ग्रथ आचार्य उमास्वाति रचित 'त्वार्थ सूत्र माना जाता है, जो विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी की रचना है। इसमे छोटे-छोटे सूत्रों के रूप मे जैन सिद्धान्तो का बहुत खूबी से सकलन कर दिया गया है। यह 10 अध्यायो मे विभक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदाय इसे समान रूप से मान्य करते हैं, और दोनो सम्प्रदायवालो की इस पर सही टीकाएँ प्राप्त हैं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार तो तत्थ्यार्थका सूत्र की भाष्य तो स्वय उमास्वाति ने ही रची है। सूत्र ग्रन्थो की परम्परा का यह महत्वपूर्ण सस्कृत जैन ग्रन्थ है।

इसके बाद तो समतभद्र' सिद्धसेन, पूज्यमाद, अकलक हरिभद्र आदि श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायो के विद्वानो द्वारा दार्शनिक, न्याय ग्रथ और टीकाएं आदि सस्कृत में बराबर रची जाती रही। और आगे चलकर तो सस्कृत मे काव्य, चरित्र और सभी विषयो के जैन ग्रन्थ सस्कृत मे खूब लिखे गये।

अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं में जैन साहित्य—

जैन भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता ही रहा है अत. प्राकृत भाषा अपभ्रंश के रूप मे परिवर्तित हो गयी। अपभ्रंश मे भी जैनो ने ही सर्वाधिक साहित्य का निर्माण किया है। वैसे तो प्राचीन नाटकों मे भिन्न जाति एव साधारण पुरुषो और स्त्रियो की भाषा की रचनाऐं 8 वी 9वी शताब्दी से मिलने लगती हैं, और 17 वी शताब्दी तक छोटी-बडी सैकडो रचनाएं जैन कवियो की रचित आज भी प्राप्त है। कवि स्वयभू पुष्पदत, धनपाल आदि अपभ्रंश के जैन महाकवि हैं। जैनेतर रचितग्रथ अपभ्रंश मे नही मिलता क्योंकि उन्होने प्रारम्भ से ही सस्कृत को प्रधानता दी थी; अत उनका सर्वाधिक साहित्य सस्कृत मे है।

अपभ्रंश से उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओ का विकास हुआ। 13वी शताब्दी से राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी मे साहित्य मिलने लगता है। यद्यपि 15वी शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रभाव उन रचनाओं मे पाया जाता है। उस समय तक राजस्थान और गुजरात मे तो एक ही भाषा बोली जाती थी, जिसे राजस्थान वाले पुरानी राजस्थानी एव गुजरातवाले जूनी—गुजराती कहते हैं अत· कई विद्वानो ने उसे 'मरु-गुर्जर' भाषा कहना उचित अधिक माना है। आगे चलकर राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी मे प्रान्तीय भेद अधिक स्पष्ट होता गया। और इन तीनो भाषाओ मे जैन विद्वानो ने प्रचुर रचनाएं बनायी हैं। वैसे कुछ रचनाएं सिन्धी, मराठी की बंगला आदि अन्य प्रातीय भाषाओ में भी जैनो की रचित प्राप्त हैं। हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती मे तो लाखों श्लोक परिमित गद्य और पद्य की जैन रचनाएं प्राप्त हैं एव प्राचीनतम रचनाएं जैनों की ही प्राप्त हैं।

कथाओं का भंडार जैन-साहित्य—

लोकभाषा की तरह लोककथाओ और देशी सगीत को भी जैनो ने विशेष रूप से अपनाया। इसीलिए लोककथाओ का भी बहुत बडा भडार जैन साहित्य मे पाया जाता है। और लोकगीतों की चाल या 'तर्ज' पर हजारो स्तवन, सझाय, ढाल आदि छोटे-बडे काव्य रचे गये हैं। उन ढाल आदि के प्रारम्भ मे किस' लोकगीत की तर्ज पर इस 'गीत' रचना को गाना चाहिए, इसका कुछ उल्लेख करते हुए उस लोकगीत की प्रारम्भिक कुछ पक्तियां भी उद्धृत कर दी गई हैं जिससे हजारों विस्मृत और लुप्त लोकगीतो की जानकारी मिलने के साथ-साथ कौनसा गीत कितना पुराना है, इसके निर्णय करने में भी सुविधा हो गई है। इस सम्बन्ध मे मेरे कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

एक-एक लोककथा को लेकर अनेकों जैन रचनाएं प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी आदि भाषाओं मे जैन विद्वानो ने लिखी हैं। इससे वे लोककथाएं कौनसी कितनी पुरानी है, उनका मूल रूप क्या था और कब-कब कैसा और कितना परिवर्तन उनमे होता रहा, इन सब बातो की जानकारी जैन कथा साहित्य से ही अधिक मिल सकती है। उन लोककथाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाने के लिए उनमे जैन सिद्धातो और आचार विचार का पुट दे दिया गया है जिससे जनता उन कथाओ को सुनकर पापो से बचे और अच्छे कार्यों की प्रेरणा प्राप्त करे। क्योंकि कथाएं, बालक, युवा-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी को समान रूप से प्रभावित करती है इसलिए जैन लेखको ने

-कथाओ सम्बन्धी साहित्य बहुत बडे परिमाण मे रचा है और इससे जन-साधारण के जीवन मे सदाचार और नैतिकता का खूब प्रचार हुआ । जैन साहित्य की एक सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे विकार वर्द्धक और वासनाओ को उभारनेवाले साहित्य को स्थान नही मिला । इससे लोकजीवन का नैतिक-पद ऊँचा उठा, उससे भारत का गौरव बढा ।

साहित्य सरक्षण में जैनों का विशिष्ट योगदान—

जैन साहित्य की एक दूसरी विशेषता यह है कि वह बराबर लिखा जाता रहा और उसकी सुरक्षा का भी बहुत अच्छा प्रयत्न किया जाता रहा । इसलिए हस्तलिखित प्रतियो के ज्ञान-भण्डार जैनो के पास बहुत बडी व अच्छी सख्या में सुरक्षित हैं । प्राचीन और शुद्ध प्रतियों की उपलब्धि स्वरूप ज्ञान भण्डार में एक ताड-पत्रीय प्रति, 10वी शताव्दी से 15वीं शताब्दी तक की ताडपत्रीय प्रतियाँ जैसलमेर, पाटण, खभात, बडौदा आदि में करीब एक हजार सुरक्षित हैं । 13वी शताब्दी से कागज पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे । तब से अब तक की लाखो प्रतियाँ कागज की प्राप्त हैं । इनमे केवल जैन साहित्य ही नही है । ऐसा बहुतसा जैनेतर साहित्य भी है जो अन्यत्र कही नही मिलता । और यदि मिलता है तो भी उन जैनेतर ग्रन्थो की प्राचीन व शुद्ध प्रतियाँ जैन भण्डारो मे जितनी व जैसी मिलती हैं उतनी और वैसी जैनेतर सग्रहालयो मे नही मिलतीं । अर्थात् साहित्य के निर्माण मे ही नही, सरक्षण में भी जैनो का उल्लेखनीय योगदान रहा है । सचित्र, स्वर्णाक्षरी, रौप्याक्षरी, पचपाठ, त्रिपाठ आदि अनेक शैलियो की विशिष्ट प्रतियाँ बहुत ही उल्लेखनीय हैं । लेखनकला और चित्रकला का जैनो ने खूब विकास किया । इस सम्बन्ध मे सौजन्य मूर्ति, महान साहित्य सेवी स्वर्गीय पूज्य विजयजी लिखित 'भारतीय श्रवण सस्कृति अने लेखनकला' नामक गुजराती ग्रन्थ बहुत ही पठनीय हैं जो साराभाई नबाव, अहमदाबाद से प्रकाशित है । भाषा विज्ञान के अध्यापन मे जैन साहित्य की उपयोगिता—भाषा विज्ञान की दृष्टि से जैन साहित्य का महत्व सबसे अधिक है क्योकि जैन मुनि निरन्तर घूमते रहते हैं और सब प्रान्तो मे धर्म प्रचारार्थ और तीर्थ यात्रा आदि के लिए उनका यातायात होता रहा है । उनका जीवन बहुत सयमित होने से उन्होंने साहित्य निर्माण और लेखन मे बहुत समय लगाया, इसी का परिणाम है कि अलग-अलग प्रान्तो की भाषाओ मे जैन विद्वान बराबर लिखते रहे । इससे उन भाषाओ का विकास किस तरह होता गया, शब्दो के रूपो मे किस तरह का परिवर्तन हुआ, इसकी जानकारी जैन रचनाओ से जितनी अधिक मिलती है जैनेतर रचनाओ से नही मिलती । क्योकि एक तो वे इतनी सुरक्षित नही रही और प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की जैन रचनाएं जिस तरह की मिलती हैं वैसी जैनेतरो की नही मिलती ।

प्राकृत भाषा के दो प्रधान भेद हैं—शौरसेनी और महाराष्ट्री । शौरसेनी में दिगम्बर और महाराष्ट्री मे श्वेताम्बर साहित्य रचा गया । इनसे अपभ्रश और अपभ्रश से उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओ की शृखला जुडती है ।

उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओ की तरह दक्षिणी भारत की प्रमुख भाषा 'कन्नड' और 'तमिल, इन दोनो मे भी जैन साहित्य बहुत अधिक मिलता है । आचार्य भद्रबाहु, दक्षिणी भारत में अपने सघ को लेकर पधारे क्योकि उत्तर भारत मे उन दिनों बहुत बडा दुष्काल पडा था । उनके दक्षिण भारत मे पधारने से उनके ज्ञान और त्याग तप से प्रभावित होकर दक्षिण भारत के अनेक लोगो ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया और उनकी सख्या क्रमशः बढ़ती ही गई । आसपास के क्षेत्रो में जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ । जैन मुनि चातुर्मास के सिवाय एक जगह रहते नही हैं, इसलिए उन्होने घूम-फिरकर जैन धर्म का सन्देश

जन-जन मे फैलाया । लोक सम्पर्क के लिए वहाँ जो कन्नड और तमिल भाषाएँ अलग-अलग प्रदेशो में बोली जाती थी, उनमे खूब साहित्य निर्माण किया । अत इन दोनो भाषाओ का प्राचीन और महत्वपूर्ण साहित्य जैनो का ही प्राप्त है। इस तरह उत्तर और दक्षिण भारत की प्रधान भाषाओ मे जैन साहित्य का प्रचुर परिमाण मे पाया जाना बहुत ही उल्लेखनीय और महत्वपर्ण है। भारतीय साहित्य को जैनो की यह विशिष्ट देन ही समझी जानी चाहिए।

विषय वैविध्य—

विषय वैविध्य की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि जीवनोपयोगी प्राय प्रत्येक विषय के जैन ग्रन्थ रचे गये हैं। इसलिए जैन साहित्य केवल जैनों के लिए ही उपयोगी नहीं, उसकी सार्वजनिक उपयोगिता है। व्याकरण, कोश, छन्द, अलकार, काव्य-शास्त्र, वैद्यक, ज्योतिषि मत्र-तत्र, गणित, रत्न परीक्षा आदि अनेक विषयो के जैन ग्रन्थ प्राकृत, सस्कृत, कन्नड, तमिल, और राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती मे प्राप्त है। इनमें से कोई ग्रन्थ तो इतने महत्वपूर्ण हैं कि जैनेतरो ने भी उनकी मुक्त कठ से प्रशसा की है और उन्हे अपनाया है। जैन विद्वानो ने साहित्यक क्षेत्र में बहुत उदारता रखी। किसी भी विषय का अच्छा ग्र थ कही भी उन्हे प्राप्त हो गया तो जैन विद्वानो ने उसकी प्रति यदि मिल सकी तो ले ली या खरीद करवाली, नही तो नकल करवा के भण्डार मे रख ली। जैनेतर ग्रन्थो का पठन-पाठन भी वे बराबर करते ही थे। अत आवश्यकता अनुभव करके उन्होने बहुत से जैनेतर ग्रन्थो पर महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। इससे उन ग्र थों का अर्थ या भाव को समझना सबके लिए सुलभ हो गया और उन ग्रन्थो के प्रचार मे अभिवृद्धि हुई। जैनेतर ग्र थो पर जैन टीकाओ सम्बन्धी मेरा खोजपूर्ण लेख 'भारतीय विद्या' के 2 अको मे प्रकाशित हो चुका है। जैन ग्र थो मे अनेक बौद्ध और वैदिक ग्र थों के उदाहरण पाये जाते हैं। उनमे से कई जैनेतर ग्र थ तो अब उपलब्ध भी नहीं होते। बहुत से जैनेतर ग्र थो को अन्तर बनाये रखने का श्रेय जैनो को प्राप्त है।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। भारतीय इतिहास, सस्कृति और लोकजीवन सम्बन्धी बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री जैन ग्रथो व प्रशस्तियो एव लेखो आदि मे पायी जाती है। जैन आगम साहित्य मे दो-अढाई हजार वर्ष पहले का जो सास्कृतिक विवरण मिलता है, उसके सम्बन्ध मे जगदीश चन्द्र जैन लिखित "जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज", नामक शोध प्रबन्ध चौखम्बा विद्या भवन-वाराणसी से प्रकाशित हुआ है, उससे बहुत-सी महत्वपूर्ण बातो का पता चलता है। जैन प्रबन्ध सग्रह पट्टावलियाँ, तीर्थ मालाएँ और ऐतिहासिक गीत, काव्य आदि मे—अनेक छोटे-बडे ग्रामनगरो वहाँ के शासको, प्रधान व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है। जिनसे छोटे-छोटे गाँवो की प्राचीनता, उनके पुराने नाम और वहाँ की स्थिति का परिचय मिलता है। बहुत से ऐसे शासको के नाम जो इतिहास में कही नही मिलते, उनका जैन ग्र थो मे उल्लेख मिल जाता है। बहुत से राजाओ आदि के काव्य निर्णय में भी जैन सामग्री काफी सूचनाएँ देती है, व सहायक होती है। गुर्वावली तो बहुत महत्वपूर्ण है।

जैन साहित्य की गुणवत्ता—

अब यहाँ कुछ ऐसे जैन ग्र थो का सक्षिप्त परिचय कराया जायगा जो अपने ढग के एक ही हैं। इनमे कई ग्रन्थ तो ऐसे-ऐसे भी हैं जो भारतीय साहित्य ही में नही विश्व साहित्य मे भी अजोड़ हैं। प्राचीन भारत मे ज्ञान-विज्ञान का कितना अधिक विकास हुआ था और आगे चलकर उसमे कितना ह्रास हो गया, इसकी कुछ झाँकी आगे दिये जानेवाले विवरणो से पाठको को मिल जायगी। ऐसे कई ग्रथो का तो प्रकाशन भी हो चुका है पर उनकी जानकारी विरले ही व्यक्तियो को होगी। वास्तव मे जैन साहित्य अब तक

बहुत ही उपेक्षित रहा है और बहुत से विद्वानो ने तो यह गलत धारणा बना ली है कि जैन साहित्य, जैन-धर्म आदि के सम्बन्ध मे ही होगा । सर्वजनोपयोगी साहित्य उसमे नही है। पर वास्तव मे सर्वजनोपयोगी जैन साहित्य बहुत बडे परिमाण मे प्राप्त है जिससे लाभ उठाने पर भारतीय समाज का बहुत बडा उपकार होगा। बहुत-सी नई और महत्वपूर्ण जानकारी जैन साहित्य के अध्ययन से प्रकाश में आ सकेगी।

प्राकृत भाषा का एक प्राचीन ग्रन्थ 'अगविज्जा' मुनि पुण्य विजय जी सपादित प्राकृत ग्रन्थ परिषद से प्रथम ग्रन्थाङ्क के रूप मे सन् 1947 में प्रकाशित हुआ है। 1 हजार श्लोक परिमित यह ग्रन्थ अपने विषय का सारे भारतीय साहित्य मे एक ही ग्रन्थ है। इसमे इतनी विपुल और विविध सास्कृतिक सामग्री सुरक्षित है कि उस समय के जैनाचार्य का किन-किन विषयो का कैसा विशद ज्ञान था यह जानकर आश्चर्य होता है। डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल ने हिन्दी मे और डा मोतीचन्द्र ने अग्रेजी मे इस ग्रन्थ का जो विवरण दिया है, उससे इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है । निवित्त शास्त्र के 8 प्रकारो में पहली 'अग विद्या' है। अग्रवालजी ने लिखा है कि अग विद्या क्या थी ? इसको बतानेवाला एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ यही जैन साहित्य मे अग विज्जा के नाम से बच गया है।

यह अग विज्जा नामक प्राचीन शास्त्र सास्कृतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। अग विज्जा के आधार पर वर्तमान प्राकृत कोषो मे अनेक नये [illegible] को जोडने की आवश्यकता है। मुनि पुण्य [illegible]जी ने जो ग्रथ के अन्त में शब्दकोश दिया है, उसमे हजारों नाम व शब्द आये हैं जिनमे से बहुत सो का सही अर्थ बतलाना भी आज कठिन हो गया है। मुनि-श्री ने लिखा है कि सामान्यतया प्राकृत वाकया में जिन क्रियापदों का उल्लेख सग्रह नही हुआ है, उनका संग्रह इग ग्रन्थ मे विपुलता से हुआ है जो प्राकृत समृद्धि की दृष्टि से बडे महत्व का है। फलादेश विषयक यह ग्रन्थ एक पारिभाषिक ग्रन्थ है । डॉ अग्रवालजी ने इसे कुषाण गुप्त युग की सन्धि काल का बतलाया है अर्थात् यह ग्रन्थ बहुत पुराना है इस तरह के न मालूम कितने महत्वपूर्ण ग्रन्थ काल मे समा गये हैं।

प्राकृत भाषा का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है सघ दास गणि रचित 'वसुदेव हिन्डी' यह भी तीसरी और पाँचवी शताब्दी के बीच की रचना है । इसमे मुख्यत. तो श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण और कई विवाहो का वर्णन है, पर इसमे प्रासगिक रूप में अनेक पौराणिक और लौकिक कथाओ का समावेश भी पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानो और डॉ. जगदीश चन्द्र जैन तथा डॉ साडेसरा आदि के अनुसार यह वृहद् कथा नामक लुप्त ग्र थ की बहुत अ शो में पूर्ति करता है। सास्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इसका बहुत ही महत्व है। इस सम्बन्ध में 2 बडे-बडे शोध प्रबघ ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वसुदेव हिन्दी व मध्यम खण्ड भी असख्य मिले हैं — प्राकृत भाषा का तीसरा उल्लेखनीय ग्र थ है—ऋषि जैन बौद्ध और वैदिक तीनो धर्मों के हैं। अपने ढग का यह एक ही ग्र थ है। इसी तरह हरिभद्र सूरि का धूर्ताख्यान भी प्राकृत भाषा का अनूठा ग्र थ है। ये दोनो ग्र थ प्रकाशित हो चुके हैं।

भारतीय मुद्रा शास्त्र सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण ग्र थ है 'द्रव्य परीक्षा' जिसकी रचना अलाउद्दीन खिलजी के कोषाध्यक्ष या भण्डारी खरतर गच्छीय जैन श्रावक 'ठक्कुर फेरु' ने की है। उस समय की प्रचलित सभी मुद्राओ के तौल, माप मूल्य आदि की जो जानकारी इस ग्र थ मे दी गई है, वैसी और किसी भी ग्र थ मे नही मिलती। ठक्कुर फेरु ने इसी तरह धातोत्पत्ति वास्तुनुसार गणितसार, ज्योतिषसार रत्न परीक्षा आदि महत्वपूर्ण ग्र थ बनाये हैं । इन सबकी प्राचीन हस्त-लिखित प्रति की खोज मैंने ही की, और मुनि जिन विजयजी द्वारा सभी ग्र थो को एक सग्रह ग्र थ में

प्रकाशित करवा दिया है । राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से यह प्रकाशित है ।

सस्कृत भाषा मे एक विलक्षण ग्र थ है 'पार्श्वाभ्युदय काव्य जिसकी रचना आ जिनसेन ने की है। इसमे मेघदूत के समग्रचरणो की पादपूर्ति रूप में भगवान पार्श्वनाथ का चरित्र दिया है । कालिदास के पद्यो के भावो को आत्मसात करके ऐसा काव्य यह सबसे पहले समग्र पादपूर्ति के रूप मे बनाकर ग्र थकार ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है ।

विश्व साहित्य मे अजोड अन्य जैन सस्कृत ग्र थ है- 'अष्ठ लक्षी' । इसे सम्राट अकबर के समय में महोपाध्याय समय सुन्दर ने सवत् 1649 मे प्रस्तुत किया था । इस आश्चर्यकारी प्रयत्न से सम्राट बहुत ही प्रसन्न हुआ । इस ग्र थ में 'राजा नोद दते सोख्यम्' इन आठ अक्षरोवाले वाक्य के 10 लाख से भी अधिक अर्थ किये हैं । रचियता ने लिखा है कि कई अर्थ संगति मे ठीक नही बैठे तो भी 2 लाख शब्दो को बाद देकर आठ लाख अर्थ तो इसमे व्याकरण सिद्ध हैं ही इसीलिए इसका नाम 'अष्ट लक्षी' रखा है । यह ग्र थ देवचन्द लाल भाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत से प्रकाशित 'अनेकार्थ रत्न मजूषा' में प्रकाशित हो चुका है ।

सस्कृत का तीसरा अपूर्व ग्र थ है—सप्त सधान महाकाव्य, यह 18वी शताब्दी के महान विद्वान् उपाध्याय मेघविजय रचित है । इसमे भी ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाँच तीर्थंकरो और श्लोक प्रसिद्ध महापुरुष राम और कृष्ण, इन संतो-महापुरुषो की जीवनी एक साथ चलती है । यह रचना विलक्षण तो है ही । कठिन भी इतनी है कि बिना टीका के सातो महापुरुषो मे सजीवन प्रत्येक श्लोक की सगति बैठाना विद्वानो के लिए भी सभव नही होता । यह महाकाव्य टीका के साथ पत्राकार रूप मे प्रकाशित हो चुका है । वैसे द्विसधान, पचसधान आदि तो कई काव्य मिलते हैं पर सप्तसधान काव्य विश्वभर मे यह एक ही है । ग्र थकार ने ऐसा काव्य पहले आचार्य हेमचन्द्र ने बनाया था, उल्लेख किया है, पर वह प्राप्त नही है ।

दक्षिण के दिगम्बर जैन विद्वान हसदेव रचित, मृग पक्षी शास्त्र, भी अपने ढग का एक ही ग्र थ है । इसमे पशु-पक्षियो की जाति एव स्वरूप का निरूपण है । इस ग्र थ का विशेष विवरण मेरी प्रेरणा से श्री जयत ठाकुर ने गुजराती मे लिखकर 'स्वाध्याय पत्रिका' मे प्रकाशित कर दिया है । इस ग्र थ की प्रतिलिपि बडौदा के प्राच्यविद्या मन्दिर मे है । पशु-पक्षियो सम्बन्धी ऐसी जानकारी अभी किसी भी प्राचीन ग्र थ मे नही मिलती ।

कन्नड साहित्य का एक विलक्षण ग्र थ है 'भूवलय' । यह अ को मे लिखा गया है । कहा जाता है कि इसमे अनेको ग्र थ सकलित हैं एव अनेको भाषाए प्रयुक्त हैं । इसका एक भाग जैन मित्र मडल दिल्ली से प्रकाशित हुआ है । राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी के समय तो इस ग्र थ के सम्बन्ध मे काफी चर्चा हुई थी । पर उसके बाद उसका पूरा रहस्य सामने नही आ सका ।

हिन्दी भाषा मे एक बहुत ही उल्लेनीय रचना है 'अर्द्ध कथानक' । 17वीं शताब्दी के जैनसुकवि बनारसी दासजी ने अपने जीवन की आत्मकथा बहुत ही रोचक रूप मे इस ग्रंथ मे दी है इस आत्मकथा की प्रशसा श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने मुक्त कठ मे की है । इस तरह के और भी अनेक महत्वपूर्ण ग्र थ जैन साहित्य-सागर मे प्राप्त हैं, जिससे भारतीय साहित्य अवश्य ही गौरवान्वित हुआ है । वास्तव में इस विषय पर तो एक स्वतत्र ग्र थ ही लिखा जाना अपेक्षित है । यहाँ तो केवल सक्षिप्त झाँकी ही दी है

* * *
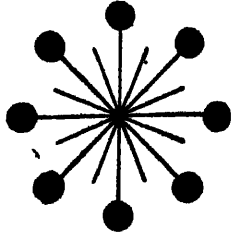
मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में वर्णित सद्‌गुरु-सत्संग की महत्ता

डा० श्रीमती पुष्पलता जैन

साधना की सफलता और साध्य की प्राप्ति के लिए सदगुरु का सत्सग प्रेरणा का स्रोत रहता है। गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक, शान्ति और आत्मशुद्धि करने वाला होता है।[1] उसके लिए श्रमण और वैदिक साहित्य मे आचार्य, बुद्ध, पूज्य, धर्माचार्य, उपाध्याय, भन्ते, भदन्त, सदगुरु, गुरु आदि शब्दो का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैनाचार्यों ने अर्हन्त और सिद्ध को भी गुरु माना है और विविध प्रकार से गुरुभक्ति प्रदर्शित की है। इहलोक और परलोक में जीवो को जो कोई भी कल्याणकारी उपदेश प्राप्त होते हैं वे सब गुरुजनो की विनय से ही होते हैं।[2] इसलिये उत्तराध्ययन में गुरु और शिष्यों के पारस्परिक कर्त्तव्यो का विवेचन किया गया है।[3] इसी सन्दर्भ मे सुपात्र और कुपात्र के बीच भेदक रेखा भी खीची गई है।[4]

जैन साधक मुनिरामसिंह[5] और आनदतिलक[6] ने गुरु की महत्ता स्वीकार की है और कहा है कि गुरु की कृपा से ही व्यक्ति मिथ्यात्व रागादि के बन्धन से

---

1 उत्तराध्ययन, 1.27-

2 जे केइ वि उवएसा, इह पर लोर सुहावहा सति।
विणएण गुरुजणाण सव्वे पाउणइ ते पुरिसा॥ वसुनन्दि-श्रावकाचार, 339, तुलनार्थ देखिये—घेरड सहिता, 3,12-14

3 उत्तराध्ययन, प्रथम स्कन्ध।

4 श्वेताश्वेतरोपनिषद् 3-6,22; आदि पर्व, महाभारत, 131 34-58

5. ताम कुतित्थइ परिभमई धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पमाएँ जान णवि अप्पा देउ मुणेइ॥ योगसार, 41, पृ 380
गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहु परपरहु जो दरिसावइ भेउ॥ दोहापाहुड, 1

6 गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणतय सारु।
सो दरिसावइ अप्प परु आणदा! भव जल पावइ पारु॥ आणदा, 36

मुक्त होकर भेद विज्ञान कर अपनी आत्मा के विशुद्ध रूप को जान पाता है। इसलिए उन्होंने गुरू की वन्दना की है। आनन्दतिलक भी गुरू को जिनवर सिद्ध, शिव और स्व-पर का भेद दर्शनिवाला मानते हैं। जैन साधकों के ही समान कबीर ने भी गुरू को ब्रह्म (गोविन्द) से भी श्रेष्ठ माना है। उसी की कृपा से गोविन्द के दर्शन सम्भव हैं।[7] रागादिक विकारों को दूर कर आत्मा ज्ञान से तभी प्रकाशित होती है जब गुरू की प्राप्ति हो जाती है।[8] उनका उपदेश सशयहारक और पथ प्रदर्शक रहता है।[9] गुरू के अनुग्रह एवं कृपा दृष्टि से शिष्य का जीवन सफल हो जाता है। सदगुरू स्वर्णकार की भाँति शिष्य के मन से दोष और दुर्गुणों को दूर कर उसे तप्त स्वर्ण की भाँति खरा और निर्मल बना देता है।[10] सूफी कवि जायसी के मन मे पीर (गुरू) के प्रति श्रद्धा दृष्टव्य होती है। वह उनका प्रेम का दीपक है।[11] हीरामन तोता स्वय गुरू का रूप है।[12] और ससार को उसने शिष्य बना लिया है।[13] उनका विश्वास है कि गुरू साधक के हृदय मे विरह की चिनगारी प्रक्षिप्त कर देता है और सच्चा साधक शिष्य गुरू की दी हुई उस वस्तु को सुलगा देता है।[14] जायसी के भावमूलक रहस्यवाद का प्राणभूत तत्व प्रेम है और यह प्रेम पीर की महान् देन है। पद्मावतके स्तुतिखण्ड मे उन्होंने लिखा है—

> सैयद असरफ पीर पियारा,
> जेहि मोहिं पथ दीन्ह उजियारा।
> लेसा हिए प्रेम कर दिया,
> उठी जोति भा निरमल हीया।[15]

सूर की गोपियाँ तो बिना गुरू के योग सीख ही नही सकी। वे उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती हैं जहाँ जाकर वे गुरू श्याम से योग का पाठ ग्रहण कर सकें।[16] भक्ति-धर्म में सूर ने गुरू की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है और उसका उच्च स्थान माना है— सदगुरू का उपदेश ही हृदय में धारण करना चाहिए क्योंकि वह सकलभ्रम का नाशक होता है—

> सदगुरू कौ उपदेश हृदयधरि,
> जिन भ्रम सकल निवारयौ ।।[17]

---

7. गुरू गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पायँ।
   बलिहारी गुरू आपकी जिन्ह गोविन्द दियो दिखाय ।। सत वाणी सग्रह, भाग 1, पृ 2
8. बलिहारी गुरू आपणै द्यौ हाड़ो कै बार।
   जिनि मानिष तै देवता करत न लागी बार ।। कबीर ग्रथावली, पृ. 1.
9. ससै खाया सकल जग, ससा किनहूँ न खद्ध, वही, पृ. 2-3.
10. वही, पृ. 4।
11. जायसी ग्रन्थमाला पृ. 7।
12. गुरू सुआ जेइ पथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।। पद्मावत.
13. गुरू होइ आय, कीन्ह उचेला। जायसी ग्रन्थावली, पृ. 33.
14. गुरू विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला ।। वही, पृ 51.
15. जायसी ग्रन्थावली, स्तुतिखण्ड, पृ. 7.
16. जोगविधि मधुबन सिखिहैं जाइ। ....
    बिनु गुरू निकट सदेसनि कैसे, अवगाह्यौ जाइ। सूरसागर (सभा) पद 4328.
17. वही, पद 336।

सूर गुरू महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हरि और गुरू एक ही स्वरूप हैं और गुरू के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरू के बिना सच्ची कृपा करनेवाला कौन है ? गुरू भवसागर मे डूबते हुए को बचानेवाला ओर सत्पथ का दीपक है।[18] सहजोबाई भी कबीर के समान गुरू को भगवान से भी बडा मानती हैं।[19] दादू लौकिक गुरू को उपलक्ष्य मात्र मानकर असली गुरू भगवान को मानते हैं।[20] नानक भी कबीर के समान गुरू की ही बलिहारी मानते हैं जिसने ईश्वर को दिखा दिया अन्यथा गोविन्द का मिलना कठिन था।[21] सुन्दरदास भी "गुरूदेव बिना नही मारग सूझय" कहकर इसी तथ्य को प्रकट करते हैं।[22] तुलसी ने भी मोह भ्रम दूर होने और राम के रहस्य को प्राप्त करने मे गुरू को ही कारण माना है। रामचरित मानस के प्रारम्भ में ही गुरू वन्दना करके उसे मनुष्य के रूप मे करुणासिन्धु भगवान माना है। गुरू का उपदेश अज्ञान के अधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यों के समान है—

ब दउँ गुरूपद कज कृपासिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पु ज जासु वचन रवि कर निकर ॥[23]

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार-सागर को पार करने के लिए गुरू की स्थिति अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान भी, बिना गुरू के ससार से मुक्त नही हो सकता।[24] सदगुरू ही एक ऐसा कर्णधार है जो जीव के दुर्लभ कामो को भी सुलभ कर देता है—

करनधार " सदगुरू दृढ नावा,
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियो ने भी गुरू को इससे कम महत्व नही दिया। उन्होने तो गुरू को वही स्थान दिया है जो अर्हन्त को दिया है। पच परमेष्ठियो मे सिद्ध को देव माना और शेष चारों को गुरू रूप स्वीकारा है। ये सभी 'दुरित हरन दुखदारिद दौन" के कारण है।[25] कबीरादि के समान कुशललाभ ने शाश्वत सुख की उपलब्धि को गुरू का प्रसाद कहा है—"श्री गुरू पाय प्रसाद सदा सुख सपजइ रे"[26] रूपचन्द ने भी यही माना।[27] बनारसी दास ने सद-गुरू के उपदेश को मेघ की उपमा दी है जो सब जीवो

---

18 सूरसागर, पद 416-417; सूर और उनका साहित्य,

19. परमेसुर से गुरू बडे गावत वेद पुरान—सतसुधासार, पृ. 182.

20. आचार्य क्षितिमोहन सेन दादू और उनकी धर्म साधना, पाटल सन्त विशेषाक भाग 1, पृ 112

21. बलिहारी गुरू आपण्यें द्यौ हाडी के बार।
जिनि मानिषतें देवता, करत न लागी बार ॥ गुरू ग्रथ साहिब, म 1, आसादीवार, पृ-1

22 सुन्दरदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ. 8

23. रामचरितमानस, बालकाण्ड 1-5

24. गुरू बिनु भवनिधि तरइ न कोई जौ विरचि सकर सम होई।
बिन गुरू होहि कि ज्ञान-ज्ञान कि होई विराग बिनु। रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, 93.

25. वही, उत्तरकाण्ड, 43/4.

26 बनारसी बिलास, पचपद विधान, 1-10. पृ. 162-163

27. हिन्दी जैन्न भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117.

का हितकारी है।[28] मिथ्यात्वी और अज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते पर सम्यग्दृष्टि जीव उसका आश्रय लेकर भव से पार हो जाते हैं।[29] एक अन्यत्र स्थल पर बनारसी दास ने उसे "ससार सागर तरन तारन गुरू जहाज विशेखिये" कहा है।[30]

मीरा ने "सगुरा" और 'निगुरा' के महत्व को दृष्टि मे रखते हुए कहा कि सगुरा को अमृत की प्राप्ति होती है और निगुरा को सहज जल भी पिपासा की तृप्ति के लिए उपलब्ध नहीं होता। सदगुरू के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।[31] रूपचन्द का कहना कि सदगुरू की प्राप्ति बडे सौभाग्य से होती है। इसलिए वे उसकी प्राप्ति के लिए अपने इष्ट से अभ्यर्थना करते हैं।[32] धानतराय को

"जो तजै विषै की आसा, द्यानत पावै सिववासा ।
यह सदगुरू सीख बताई, काहू विरलै के जिय जाई"

के रूप मे अपने सदगुरू से पथप्रदर्शन मिला।[33]

सन्तो ने गुरू की महिमा को दो प्रकार से व्यक्त किया है—सामान्य गुरू का महत्व और किसी विशिष्ट व्यक्ति का महत्व। कबीर और नानक ने प्रथम प्रकार को अपनाया तथा सहजोबाई आदि अन्य सन्तो ने प्रथम प्रकार के साथ ही द्वितीय प्रकार को स्वीकार किया है। जैन सन्तों ने भी इन दोनो प्रकारों को अपनाया है। अर्हन्त आदि सदगुरुओ का तो महत्वगान प्रायः सभी जैनाचार्यों ने किया है पर कुशलाभ जैसे कुछ भक्तो ने अपने लौकिक गुरुओं की भी आराधना की है।[34]

---

28. ज्यौं बरषा बरषै समै मेघ अखंडित धार।
    त्यौं सदगुरू वानी खिरै, जगत जीव हितकार ॥ नाटक समयसार, 6, पृ. 338.
29. वही, साध्यसाधक द्वार, 15-16, पृ 342-3.
30 बनारसीविलास, भाषासूक्त मुक्तावली, 14, पृ 24.
31. सतगुरू मिलिया सुंज पिछानी ऐसा ब्रह्म मैं पाती।
    सगुरा सूरा अमृत पीवे निगुरा प्यासा जाती।
    मगन भया मेरा मन सुख में गोविन्द का गुणगाती।
    मीरा कहे इक आस आपकी औरों सू सकुचाती ॥ संतवाणी सग्रह, भाग 2, पृ. 69.
32 अब मोहि सदगुरू कहि समझायौ,
    तो सो प्रभु बडे भागनि पायौ।
    रूपचन्द नटु विनवै तोही,
    अब दयाल पूरौ दै मोही ॥ हिन्दी पद सग्रह, पृ. 49.
33. वही, पृ. 127; तुलनार्थ देखिये–
    मन वचकाय जोग थिर करके त्यागो विषय कषाई।
    द्यानत स्वर्ग मोक्ष सुखदाई सतगुरू सीख बताई ॥ वही, पृ. 133.
34. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ 117.

गुरू के इस महत्व को समझकर ही साधक कवियो ने गुरू के सत्सग को प्राप्त करने की भावना व्यक्त की है। परमात्मा से साक्षात्कार करानेवाला ही सदगुरू है।[35] सत्सग का प्रभाव ऐसा होता है कि वह मजीठ के समान दूसरो को अपने रग मे रग लेता है।[36] काग भी हस बन जाता है।[37] रैदास के जन्म-जन्म के पाश कट जाते हैं।[38] मीरा सत्सग पाकर ही हरि चर्चा करना चाहती हैं।[39] सत्सग से दुष्ट भी वैसे ही सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी सुवर्ण बन जाता है।[40] इसलिए सूर दुष्ट जनो की सगति से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं।[41]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियो ने भी सत्सग का ऐसा ही महत्व दिखाया है। बनारसीदास ने तुलसी के समान सत्सगति के लाभ गिनाये हैं —

कुमति निकद होय महा मोह मद होय,
जगमगै सुयश विवेक जगै हियसो।
नीति को दिठाव होय विनैको बढाव होय,
उपजै उछाह ज्यो प्रधान पद लिये सो॥
धर्म को प्रकाश होय दुर्गति को नाश होय,
बरतै समाधि ज्यो पियूष रस पियेसो।
तोष परि पूर होय, दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहिं सत-सगति के कियेसौं॥[42]

---

35 भाई कोई सतगुरू संत कहावै, नैनन अलख लखावै"—कबीर, भक्ति काव्य मे रहस्यवाद, पृ. 146.

36 दरिया सगत साधु की, सहजै पलटै अग।
जैसे संग मजीठ के कपडा होय सुरग॥ दरिया 8, सत वाणी सग्रह, भाग 1 पृ 129

37. सहजो सगत साध की काग हस हो जाय। सहजोबाई, वही पृ. 158.

38 कह रैदास मिलै निजदास, जनम-जनम के काटे पास—रैदास वानी, पृ 32.

39. तज कुसग सतसंग बैठ नित, हरि चर्चा सुण लीजो—सतवाणी सग्रह, भाग 2, पृ 77.

40 जलचर थलचर नभचर नाना, जे जड चेतन जीव जहाना।
मीत कीरति गति भूमि मिलाई, जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई।
जो जानव सतसग प्रभाऊ, लोकहुँ वेद न आन उपाऊ।
बिनु सतसग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।
सतसगति मुद मगल मूला, सोइ फल सिधि सव साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाई, पारस परस कुधात सुहाई। तुलसीदास-रामचरितमानस, बालकाण्ड 2-5.

41. तजौ मन हरि विमुखन को सग।
जिनके सग कुमति उपजत है परत भजन मे भग।
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजग।
कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गग।
सूरदास खल कारी कामरि, चढै न दूजौ रंग॥ सूरसागर, पृ. 176

42. बनारसी विलास, भाषासूक्त मुक्तावली, पृ. 50.

द्यानतराय कबीर के समान उन्हें कृतकृत्य मानते हैं जिन्हें सत्सगति प्राप्त हो गयी है।[43] भूधरदास सत्सगति को दुर्लभ मानकर नरभव को सफल बनाना चाहते हैं—

प्रभु गुन गाय रे, यह औसर फेर न पाय रे ॥
मानुष भव जोग दुहेला, दुर्लभ सतसगति मेला ।
सब बात भली बन आई, अर्हन्त भजौ रे भाई ॥1॥[44]

दरिया ने सत्सगति मजीठ के समान बताया और नवलराम ने उसे चन्द्रकान्तमणि जैसा बताया है। कवि ने और भी दृष्टान्त देकर सत्सगति को सुखदायी कहा है—

सतसगति जग मे सुखदायी ॥
देव रहित दूषण गुरू साँचो,
धर्म्म दया निश्चै चितलाई ॥

सुक मैना सगति नर की करि,
अति परवीन वचनता पाई ।
चन्द्र कांति मनि प्रगट उपल सौ,
जल ससि देख झरत सरसाई ॥
लट घट पलटि होत षटपद सी,
जिन कौ साथ भ्रमर को थाई ।
विकसत कमल निरखि दिनकर कों,
लोह कनक होय पारस छाई ॥

बोझ तिरै सजोग नाव कै,
नाग दमनि लखि नाग न खाई ।
पावक तेज प्रचड महाबल,
जल परता सीतल हो जाई ॥

सग प्रताप भुयगम जै है,
चदन शीतल तरल पटाई ।
इत्यादिक ये बात घणेरी,
कौलो ताहि कहौ जु बढाई ॥[45]

इसी प्रकार कविवर छत्रपति ने भी सगति का महात्म्य दिखाते हुए उसके तीन भेद किये हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।[46]

---

43 कर-कर सपत संगत रे भाई ॥
पान परत नर नरपत कर सो तौ पाननि सौ कर असनाई ॥
चन्दन पास नीव चन्दन ह्वै काठ चढ्यो लोह तरजाई ।
पारस परस कुधात कनक ह्वै बूंद उद्ध पदवी पाई ॥
करई तौवर सगति के फल मधुर मधुर सुर कर गाई ।
विष गुन करत सग औषध के ज्यों बच खात मिटै वाई ॥
दोष घटै प्रगटै गुन मनसा निरमल ह्वै तज चपलाई ।
द्यानत धन्न धन्न जिनकै घट सत सगति सरधाई ॥ हिन्दी पद सग्रह, पृ. 137.

44 हिन्दी पद सग्रह, पृ. 155.

45. वही, पृष्ठ 185–86.

46. देखो स्वाति बूंद सीप मुख परी मोती होय
केलि मे कपूर बास मांहि बंसलोचना ।
ईख मे मधुर पुनि नीम मे कटुक रस,
पन्नग के मुख परी होय प्रान मोचना ॥

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन साधको ने विभिन्न उपमेयो के आधार पर सदगुरू और उनकी सत्सगति का सुन्दर चित्रण किया है। ये उपमेय एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए दिखाई देते हैं जो नि.-सन्देह सत्सगति का प्रभाव है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैनेतर कवियो ने सत्सगति के माध्यम से दर्शन की बात अधिक नही कि जबकि जैन कवियो ने उसे दर्शन मिश्रित रूप मे अभिव्यक्त किया है।

□ □

अबुज दलमिपरि परी मोती सम दिपै,
तपन तबेनै परी नसै कछु सोचना।
उतकिस्ट मध्यम जघन्य जैसौ सग मिलै,
तैसौ फल लहै मति पोच मति पोचना ॥147॥
मलय सुवास देखौ निबादि सुगध करै, पारस पखान लोह कचन करत है।
रजक प्रसग पट समलतें श्वेत करै, भेषज प्रसग विष रोगन हरत है॥
पडित प्रसग जन मूरखतें बुध करै, काष्ठ के प्रसग लोह पानी में तरत है।
जैसौ जाकौ सग ताकौ तैसौ फल प्रापति है, सज्जन प्रसग सब दुख निरवत है ॥148॥
मन मोदन पचशती, पृ. 70-71.

जैन साहित्य एवं संस्कृति के विकास में भट्टारकों का योगदान

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

भगवान महावीर के पश्चात् होनेवाले अधिकाश आचार्यों ने साहित्य निर्माण मे विशेष रुचि ली और उसके प्रचार-प्रसार के लिए अथक् परिश्रम किया। प्राकृत भाषा के साथ-साथ उन्होने सस्कृत, अपभ्र श एव प्रादेशिक भाषाओ को भी प्रश्रय दिया और जन-साधारण की रुचि के अनुसार विविध विषयो मे विशाल साहित्य का सर्जन किया । ऐसे आचार्यों मे आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शताब्दी), उमा स्वामी (तृतीय शताब्दी) समन्तभद्र (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी), सिद्वसेन (पचम शताब्दी), देवनन्दि, पात्रकेसरी, अकलक (सातवी शताब्दी), वीर सेन (आठवी शताब्दी) विद्यानन्दि माणिक्य नन्दि, जिनसेन, गुणभद्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवती, अमृत चन्द्र, देवसेन, पद्मनन्दि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी आचार्य अपने-अपने समय के अत्यधिक ओजस्वी एव सशक्त विद्वान् थे।

लेकिन जब देश की राजनैतिक एकता समाप्त होने लगी और सम्राट हर्षवर्धन के बाद जब कोई भी शासक देश को एकता के सूत्र मे बांधने मे असमर्थ रहा तब देश मे एकता के स्थान पर अनेकता ने सिर उठाया । चारो ओर अशान्ति का वातावरण छाने लगा। 11वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे और 13वी शताब्दी के आते-आते वहाँ मुसलमानो का हमेशा के लिये शासन स्थापित हो गया। देश मे आतक का साम्राज्य छा गया। मुसलमानो के भयपूर्ण शासन मे अहिंसकों का जीना दूभर हो गया। नग्न साधुओ का विहार और भी कठिन हो गया। मन्दिरों को लूटना, मूर्तियों को तोडना एव स्त्री-पुरुषो तथा बच्चो को मौत के घाट उतारना साधारण-सी बात हो गयी। ऐसे समय मे बादशाह् अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में नन्दि सघ के भट्टारक प्रभाचन्द्र ने दिल्ली मे अपना केन्द्र स्थापित किया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत मे भट्टारक परम्परा को नव स्वरूप प्रदान किया।

भट्टारक प्रभा चन्द्र (सवत् 1314 से 1408) के पश्चात् सारे देश में भट्टारको ने शनैःशनैः लोकप्रियता प्राप्त की और एक-के-पश्चात् एक दूसरे प्रान्तो

मे भट्टारक गादियाँ स्थापित होने लगी । राजस्थान मे चित्तौड, चम्पावती, तक्षकगढ, आमेर, सागानेर, जयपुर, श्री महावीर जी, अजमेर, नागौर, जौबनेर, मध्यप्रदेश मे ग्वालियर एव सोनागिरि जी, बागडप्रदेश मे डूगरपुर, सागवाडा, बासवाड़ा एवं रिषभदेव, गुजरात मे नवसारी, सूरत, खम्भात, घोघा, गिरनगर, महाराष्ट्र में कारजा एव नागपुर, दक्षिण मे मूडबिद्री, हुम्मच एव श्रवण बेलगोला आदि स्थानो मे भट्टारको की गादियाँ स्थापित हो गयी । इन भट्टारको ने अपने-अपने गण सघ व गच्छ स्थापित कर लिए । अपने प्रभाव से क्षेत्र बाँट लिए और अपनी-अपनी सीमाओं में धर्म के एक-मात्र स्तम्भ बन गये । 16वी शताब्दी मे देहली गादी के भट्टारकों ने अपने ही अधीन मडलाचार्य पद बनाये जो भट्टारको की ओर से प्रतिष्ठा, पूजा एव समारोह आदि का नेतृत्व करने लगे ।

इन भट्टारको ने जैन साहित्य और सस्कृति के विकास मे अपना महत्वपूर्ण योग दिया । 1350 से 1850 तक भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एव मुनि रूप मे जनता द्वारा पूजे जाते रहे तथा जैन सस्कृति के प्रधान स्तम्भ रहे । इन 500 वर्षो मे जितने भी प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित हुए उनमें इनकी प्रेरणा एव आशीर्वाद ने जबरदस्त कार्य किया । सवत् 1548, 1664, 1783, एव 1826 में देश में विशाल प्रतिष्ठा समारोह आयोजित हुए, इन सब में भट्टारको का बोल बाला रहा । हजारो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित होकर देश के विभिन्न मन्दिरो मे विराजमान की गई । उत्तर भारत के अधिकाश जैन मन्दिरों मे आज इन सवतो में प्रतिष्ठापित मूर्त्तियाँ प्राप्त होती हैं । आज सारा बागडप्रदेश 'मालवा' कोटाबूंदी एव झालावाड का प्रदेश, चम्पावती, टोडाराम सिंह एव रणथम्भौर का क्षेत्र जितना जैन पुरातत्व से समृद्ध है उतना देश का अन्य क्षेत्र नहीं । संवत् 1548 मे भट्टारक जिनचन्द्र ने मुंडासा नगर में हजारो मूर्त्तियो की प्रतिष्ठा करवा कर सारे देश मे जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार मे विशेष योग दिया । देश के गाँव-गाँव मे मन्दिरों का निर्माण हुआ जिसमे सस्कृति ही पुनर्जीवित नही हुई अपितु मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदि कलाओ को भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । 1664 मे मोजमाबाद (राजस्थान) मे तीन शिखरोवाले मन्दिर के जीर्णोद्धार के पश्चात् जो विशाल प्रतिष्ठा हुई थी उसे तो बादशाह अकबर एव आमेर के महाराज मानसिंह का भी आशीर्वाद प्राप्त था । करोडों रुपया पानी की तरह बहाया गया : इसी तरह 1826 मे सवाई माघोपुर के भट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति के तत्वाधान व प्रेरणा से जो अभूतपूर्व प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित हुआ सम्भवतः वह अपने ढग का पहला महोत्सव था । राजस्थान में आज कोई ऐसा मन्दिर नही है जिसमें 1826 में प्रतिष्ठापित मूर्ति न हो । जयपुर, सागवाडा, चाँदखेडी, झालरापाटन मे जो विशाल एव कलापूर्ण मूर्त्तियाँ हैं उन सबकी प्रतिष्ठा में इन भट्टारको का प्रमुख हाथ था ।

जब इन भट्टारको की कीर्ति अपनी चरम सीमा पर पहुचने लगी तो इनकी निशेधिकाएँ व कीतिस्तम्भ बनने लगे । आवा (राजस्थान) में पहाड़ पर भट्टारक प्रभाचन्द्र, जिनचन्द्र और शुभचन्द्र की इसी तरह की तीन निषेधिकाएँ हैं जो भट्टारकों में तत्कालीन जनता की श्रद्धा एव भावना को व्यक्त करनेवाली हैं । इसी तरह चित्तौड किले मे प्रतिष्ठापित कीर्तिस्तम्भ चाकसू में बनवाया गया जिसमे भट्टारको की मूर्तियों के अतिरिक्त उनके होने का भी समय दिया हुआ है । इसी तरह का कीर्तिस्तम्भ आमेर के बाहर की बस्ती में स्थापित किया हुआ है । ये सब कीर्तिस्तम्भ भट्टारको के उत्कर्ष के तो प्रमाण हैं ही किन्तु उनके द्वारा सम्पादित सास्कृतिक सेवाओं को भी घोषित करनेवाले हैं ।

जयपुर के काला छावडा के मन्दिर मे पार्श्वनाथ की एक धातु की मूर्त्ति है जिसकी प्रतिष्ठा सवत् 1413 मे वैशाख सुदी 6 के दिन हुई थी । इसमें भट्टारक प्रभाचन्द्र का उल्लेख हुआ है । इसी तरह आवां तथा

बयाना में संवत् 1400 तथा 1404 की मूर्त्तियाँ हैं जिसमें भट्टारक प्रभाचन्द्र एव उनके शिष्य पद्मनन्दि दोनों का उल्लेख किया गया है। भट्टारक पद्मनन्दि (सवत् 1385 से 1450) को गुजरात मे प्रतिष्ठा महोत्सव के सचालन के लिए ही भट्टारक पद पर स्थापित किया गया। कविवर बख्तराम शाह ने अपने बुद्धि विलास मे निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

सवत् तेरह सौ पिचिहतरयौ जानि वै
भये भट्टारक प्रभाचन्द्र गुनखानि वै।
तिनको आचारिज इक हो गुजरात मे,
तहाँ सवै पचनि मिलि ठानी बात में॥
कीजै इक प्रतिष्ठा तो सुभ काज ह्वै
करन लगे विधिवत सब ताकौ साज वै
भट्टारक बुलवाये तो पहुँचे नही,
तवै सबै पंचनि मिलि यह ठानी सही।
सूरि मच वाहि आचारिज को दियो।
पद्मनन्दि भट्टारक नाम सु यह कियौ॥

भट्टारक पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठित सैकड़ों मूर्त्तियाँ राजस्थान मे मिलती हैं।[1] सागानेर के सघीजी के मन्दिर मे इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठापित शान्तिनाथ स्वामी की मूर्त्ति है जिसकी प्रतिष्ठा सवत् 1464 में हुई थी। इसी सवत् की प्रतिष्ठित मूर्ति पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर में टौंक में विराजमान है। भट्टारक सकल कीर्ति ने अपने जीवन में 14 बिम्ब प्रतिष्ठाओं का सचालन किया था। इनके द्वारा संवत् 1490, 1492 एव 1497 में प्रतिष्ठापित मूर्त्तियाँ उदयपुर, डूगरपुर एवं सागवाडा के जैन मन्दिरों में मिलती हैं। सवत् 1548 में जीवराज पापडीवाल ने जो विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न कराया था उस महोत्सव के प्रधान थे भट्टारक जिनचन्द्र। सर्वप्रथम इन्होंने सवत् 1502 में वैशाख सुदी 3 के दिन पार्श्वनाथ प्रतिमा की स्थापना करवायी थी। इसके अगले वर्ष सवत् 1503 मे प्रतिष्ठापित चौबीसी की एक प्रतिमा जयपुर के एक मन्दिर मे विराजमान की। सवत् 1504 में नगर (राजस्थान) मे आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव में भाग लिया था। इन्ही भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र द्वितीय ने कितने ही मन्दिरों के निर्माण एवं प्रतिष्ठा महोत्सवो को अपना आशीर्वाद दिया था। मडलाचार्य धर्मचन्द जो भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे, ने, आवा (राजस्थान) मे सवत् 1583 मे जिस विशाल प्रतिष्ठा समारोह का नेतृत्व किया था वह इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है। धर्मचन्द्र ने भट्टारक जिनचन्द्र का निम्न शब्दों मे स्मरण किया है—

तत्पट्टस्थ-श्रुताधारी प्रभाचन्द्र त्रिया निधिः।
दीक्षितो पो लसत्कीर्तिः प्रचण्ड पण्डिता गुणी॥

सोमकीर्ति अपने समय के लोकप्रिय भट्टारक थे। सवत् 1527, 1532, 1536, एव 1540 में इनके द्वारा प्रतिष्ठित कितनी ही मूर्तियाँ राजस्थान के विभिन्न मन्दिरो में उपलब्ध होती हैं। अपने समय के मुसलमान शासको से इनका अच्छा सम्बन्ध था। 16वी शताब्दी मे भट्टारक ज्ञानभूषण भट्टारक सकलकीर्ति परम्परा में अत्याधिक प्रभावशाली भट्टारक हुए जिन्होने प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार, नवीन मन्दिर निर्माण, पच कल्याणक प्रतिष्ठाएँ सास्कृतिक समारोह, उत्सव एव मेलो आदि के आयोजनों को प्रोत्साहित किया। इनके द्वारा संवत् 1531, 1534, 1535, 1540, 1543, 1544, 1545, 1552, 1557 व 1560 तथा 1561, मे प्रतिष्ठापित सैंकड़ो मूर्त्तियाँ बागड़ प्रदेश के नगरों मे उपलब्ध होती हैं।[2]

---

1. मूर्ति लेख सग्रह भाग 1 पृष्ठ 68 एव भाग 2 पृष्ठ स. 305 (महावीर भवन जयपुर द्वारा सग्रहित)।
2. वीर शासन के प्रभावक आचार्य—पृष्ठ स. 135

भट्टारक ज्ञानभूषण के समान भ विजयकीर्ति का भी अपने समय मे बहुत ही प्रभाव था । इनके काल में कितने ही मन्दिरों का निर्माण हुआ तथा सवत् 1557, 60, 61, 64 68, 70 मे जो प्रतिष्ठा महोत्सव हुए, उनके सम्पादन मे इनका विशेष योग रहा । भट्टारक विजयकीर्ति राजस्थान एव गुजरात के कितने ही शासको द्वारा सम्मानित थे । एक गीत मे भ. विजय कीर्ति की निम्न प्रकार प्रशसा की गई :—

अनेक राजा चरण सेवि मालवी मेवाड
गूज्जर सोरठ सिन्धु सहिजी अनेक भड भूपाल ।
दक्षण मरहठ चीण कुंकण पूरवि नाम प्रसिद्ध ।
छत्रीस लक्षण कला बहुतरि अनेक विद्यावारिधि ।

भ. विजयकीर्ति के पश्चात् और भी अनेक भट्टारक हुए जिनमें भ. शुभ चन्द्र, भ. रत्नकीर्ति, भ कुमुदचन्द्र, भ. चन्द्रकीर्ति, भ देवेन्द्रकीर्ति (प्रथम) भ. देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) आदि कितने ही भट्टारक हुए जिन्होने देश व समाज के सास्कृतिक विकास मे जबरदस्त योग दिया । सवत् 1664 मे तीन विशाल शिखरो से युक्त आदिनाथ के मन्दिर के निर्माण और उसकी भव्य प्रतिष्ठा समारोह में भ देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) का प्रमुख योगदान था । इस समारोह मे भव्य और विशाल आकार की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गयी जो आज भी देश के विभिन्न मन्दिरो में विराजमान हैं ।[3] वास्तव में इन 500 वर्षों मे (सवत् 1350 से 1850 तक) इन भट्टारको का जैन सस्कृति के विकास मे योगदान रहा ।

साहित्यक क्षेत्र के विकास में भट्टारको का योगदान सर्वाधिक उल्लेखनीय है । भट्टारक सकल कीर्ति एव उनकी परम्परा के अधिकाश विद्वान्, साहित्य सेवी थे । भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, सोमकीर्ति, जय सागर, भट्टारक महीचन्द्र आदि पचासो भट्टारको ने साहित्य निर्माण मे अत्यधिक रुचि ली थी । जब साहित्य का निर्माण, शास्त्र भण्डारो की स्थापना, नवीन पाण्डुलिपियो का लेखन एव उनका सग्रह आदि सभी इनके अद्वितीय कार्य थे । आज भी जितना अधिक संग्रह भट्टारको के केन्द्रो पर मिलता है उतना अन्यत्र नही । अजमेर, नागौर एव आमेर जैसे नगरो मे स्थित शास्त्र भण्डार इस तथ्य के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । ये भट्टारक ज्ञान की ज्वलत मूर्त्ति थे । प्राकृत एव अपभ्र श के स्थान पर इन्होने सस्कृत और हिन्दी मे ग्रन्थ रचना को अधिक प्रोत्साहन दिया और स्वय भी इन्ही भाषाओ मे साहित्य निर्माण करते रहे । वे साहित्य की किसी एक विधा से भी नही चिपके रहे किन्तु साहित्य के सभी अगो को पल्लवित किया । उन्होने चरित काव्यो के साथ साथ पुराण, काव्य, वेलि, रास, पचासिका, शतक, पच्चीसी बावनी, विवाह लो, आख्यान, पद व गीतो की रचना मे गहरी रुचि ली और सस्कृत व हिन्दी मे सैकडो रचनाओ का निर्माण करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया ।

भट्टारक सकल कीर्ति (15वी शताब्दी) ने अपने जीवन के अन्तिम 22 वर्षों मे 26 से भी अधिक सस्कृत एव 8 राजस्थानी रचनाएँ लिखी । वे सगीत, तथा छन्द शास्त्र मे निपुण थे तथा अपनी कृतियों को जन-जन मे प्रचार की दृष्टि से सरल एव आकर्षक शैली मे लिखते थे । सकल कीर्ति की प्रमुख रचनाओ के नाम इस प्रकार हैं—

संस्कृत कृतियाँ :

आदि पुराण, उत्तर पुराण, नेमिजिन चरित्र, शान्ति नाथ चरित्र, पार्श्वनाथ चरित्र, वर्द्धमान चरित्र,

---

3. मूर्ति लेख सग्रह प्रथम भाग—पृष्ठ स. 176 ।

मल्लिनाथ चरित्र. सद्भाषितावलि, जम्बू स्वामी चरित्र, श्रीपाल चरित्र, तत्वार्थसार दीपक सुकुमाल चरित्र ।

राजस्थानी कृतियाँ :

आराधना प्रतिवोधसार, नेमिश्वर गीत, मुक्तावलि गीत, णमोकारक गीत, सोलहकारण रास, सारसीखा मणिरास तथा शान्तिनाथ फागु ।[4]

आचार्य सोमकीर्ति (सवत् 1516-40) ने भी सस्कृत व हिन्दी को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया । इनकी सप्तव्यसन कथा, प्रद्युम्न चरित्र एव यशोधर चरित्र सस्कृत मे निबद्ध रचनाएँ हैं तथा गुर्वावलि, यशोधर रास, ऋषभनाथ की धूलि, त्रेपनक्रियागीत, आदिनाथ एवं मल्लगीत इनकी राजस्थानी कृतियाँ हैं । सभी कृतियाँ भाषा एवं शैली की दृष्टि से उत्तम रचनाएं है । कवि ने इन रचनाओ में जनसाधारण की भावनाओ को अच्छी तरह प्रदर्शित किया है तथा उसकी दृष्टि में वही नगर एव ग्राम श्रेष्ठ माने जाने चाहिए जिनमें जीववध नही होता । सत्याचरण किया जाता हो तथा नारी समाज का जहाँ अत्याधिक सम्मान हो । यही नही यहाँ के लोग अपने परिग्रह सचय की प्रतिदिन सीमा भी निर्धारित करते हों तथा जहाँ रात्रि को भोजन करना भी वर्जित हो ।

भ सकल कीर्ति के शिष्य एव लघु भ्राता बह्न जिनदास सस्कृत एवं हिन्दी के प्रकाशमान नक्षत्र हैं। उन्होने हिन्दी की सबसे अधिक सेवा की और उसमें 60 से भी अधिक कृतियाँ निबद्ध करके इस दिशा मे एक नया कीर्तिमान स्थापित किया । उनकी रामसीतारास (सवत् 1520) राजस्थानी की प्रथम रामायण है जो छन्द संख्या की दृष्टि से रामायण से भी बडी है । बह्न जिनदास 15वीं शताब्दी के विद्वान् थे तथा मीरा व सूरदास के पूर्व ही उन्होंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार मे महत्वपूर्ण योग दिया तथा जन-साधारण की भाषा में सबसे अधिक रचनाएँ लिखी । बह्न जिनदास की हिन्दी की प्रमुख रचनाएँ निम्न प्रकार हैं—

राम सीतारास, यशोधररास, नागकुमाररास, परमहंसरास, आदि पुराणरास, हरिवंश पुराण, श्रेणिक रास, जम्बू स्वामीरास, भद्रबाहु, चारुदन्त सबन्धरास, धन्य कुमाररास, भविष्य दन्तरास, जीवन्धर रास करकण्डुरास, पुष्पाजलिरास, सुभौम चक्रवर्तीरास, धनपालरास, सुदर्शनरास ।

ज्ञानभूषण भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे । भट्टारक बनने से पूर्व ही वे साहित्य निर्माण में लग गये थे और भट्टारक पद छोडने के पश्चात् भी वे इसी दिशा में लगे रहे । आदीश्वर फाग उनकी सर्वश्रेष्ठ व परिष्कृत रचना है । इसमें 501 फाग हैं जिनमें 262 हिन्दी के तथा शेष 239 पद्य सस्कृत में निबद्ध हैं । आदीश्वर फाग के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओ में पोषह रास, जलगालन रास तथा षटकर्म रास के नाम उल्लेखनीय हैं ।

17वी शताब्दी में होनेवाले भट्टारकों में भट्टारक रत्नकीर्ति एव भट्टारक कुमुदचन्द्र का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है । ये गुरू व शिष्य दोनो ही बडे लोकप्रिय सन्त थे तथा जन-जन में भगवद् भक्ति को उभारने के लिये छोटे-छोटे भक्तिपरक पदो की रचना किया करते थे । नेमि राजुल को लेकर भी दोनो ही

---

4. मो पूज्यो नृप मल्लि भैरव महादेवेन्द्र मुख्यै नृपै ।
षट्तर्कागम शास्त्र कोविद मति जाग्रंत मशश्चन्द्रमा ।।
भव्याम्भोसह भास्करः शुभ करः ससार विच्छेदकः ।
सोऽव्याच्छी विजयादि कीर्ति मुनियो भदारकाधीश्वरः ।

कवियो ने अनेक पदो की रचना की । रत्नकीर्ति के पदो की सख्या 38 है तथा कुमुदचन्द्र के भी इतने ही पद होंगे । रत्नकीर्ति का एक पद देखिये—

सखी री नेमि न जानी पीर ।

बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, सग लेई हलधर वीर ।
नेमि मुख निरखि हरषी मनसूं, अब तो होई मन धीर ।
तामे पसूय पुकार सुनी करि, गयो गिरिवर के तीर ।
चन्दवदनी पोकारती डारती, मण्डन हार उर चीर ।
रत्नकीरती प्रभु भये वैरागी, राजुल चित्त कियो धीर ।

कुमुदचन्द्र के पदो मे अध्यात्म, विरह और भक्ति तीनो का सामजस्य है । 'मैं तो नर भव वारि गया यो' पद यदि अध्यात्मपरक है तो 'सखी री अब तो रह्यो नहिं जात, विरहपरक पद हैं । इन दोनों सन्तो ने हिन्दी साहित्य मे जो पद साहित्य लिखने की परम्परा डाली वह भविष्य मे होनेवाले कवियो के लिये वरदान सिद्ध हुई ।

16वीं 17वी शताब्दी मे एक और प्रभावशाली भट्टारक हुए जिनका नाम भ. शुभचन्द्र है । भ. शुभचन्द्र शास्त्रो के पूर्ण मर्मज्ञ थे । उन्हें षट्भाषा कवि चक्रवर्ती कहा जाता था । इन्होंने जो साहित्य सेवा अपने जीवन में की वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है । इन्होने संस्कृत मे 40 रचनाएँ तथा हिन्दी मे 7 रचनाओं को निबद्ध करके भारतीय साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की । इनकी सभी हिन्दी कृतियाँ लघु हैं किन्तु भाव व शैली की दृष्टि मे उत्तम हैं "तत्व सार दूहा, इनकी सुन्दर कृति है । इसमे दोहे व चौपाई हैं । रचना छोटी होने पर भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं । एक स्थान पर आत्मा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा कि किसी की भी आत्मा उच्च अथवा नीच नही है । कर्मों के कारण ही उसे ऊँच व नीच की सज्ञा दी जाती है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नामो से सम्बोधित किया जाता है । आत्मा तो राजा है वह शूद्र कैसे हो सकती है ।

ऊँच नीच नवि अघ हुयि, कर्म कलक तणो कीतु सोई ।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य न शूद्र, अधा राजा नवि होय शूद्र ।

इनके पश्चात् एक के बाद एक भट्टारक होते गये । अजमेर, नागौर, आमेर, जयपुर, डूंगरपुर, गालिया कोट, कारजा, उदयपुर आदि स्थानो मे उनकी गादियाँ स्थापित हुईं तथा वही से वे बिहार करके जन-जन में साहित्य के प्रति रुचि पैदा किया करते, अपने शिष्यो को साहित्य निर्माण की ओर प्रोत्साहित किया करते रहते । ब्र. जिनदास, ब्रह्मराय मल्ल, बख्तराम शाह, लक्ष्मीराम चाँदवाडा जैसे विद्वान् इन्ही भट्टारको के शिष्य थे जिन्होने साहित्यिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया और देश के साहित्यिक पक्ष को मजबूत किया । इन भट्टारको ने सस्कृत भाषा को अपना कर देश मे उसे उच्च स्थान दिया तथा अपने काव्यों के माध्यम से उसे जन-सामान्य मे लोक-प्रिय बनाया गया । एक ओर सस्कृत तथा दूसरी ओर हिन्दी राजस्थानी दोनो ही भाषाओ को अपनाकर इन्होंने साहित्य क्षेत्र में उदार वातावरण को स्थान दिया । वास्तव मे 500 वर्षों तक इन भट्टारको ने देश का साहित्यिक एव सास्कृतिक दृष्टि से जो विकास किया वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है । लेकिन अभी तक इनकी सेवाओ का जितना मूल्याकन होना चाहिए था उतना नही हो सका है और उसकी महती आवश्यकता है ।

* *

जैन साहित्य के आद्य पुरस्कर्ता

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

जैन अनुश्रुति के अनुसार लेखन कला का आविष्कार कर्मभूमि, या सभ्य युग, के उदयकाल मे आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव ने किया था। उनकी प्रथम शिष्या, जिसके निमित्त से उन्होने इस क्रान्तिकारी कला का आविष्कार किया था, स्वय उनकी सुपुत्री ब्राह्मी थी। यही कारण है कि भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। सिन्धु घाटी की प्रागैतिहासिक सभ्यता के अवशेषो मे प्राप्त लेखांकित मुद्राएँ इस बात का असदिग्ध प्रमाण हैं कि अब से छ-सात सहस्र वर्ष पूर्व भी भारतवासी लेखनकला से भलीभाँति परिचित थे और लोक व्यवहार मे उसका पर्याप्त उपयोग करते थे। इसके पश्चात् एक ऐसा दीर्घकालीन अन्तराल पडा प्रतीत होता है जिसमे लेखनकला बहुत कुछ उपेक्षित रही—तथाकथित वैदिक युग मे लेखन का प्रचार बहुत विरल रहा प्रतीत होता है। तथापि ऋग्वेद विश्व पुस्तकालय का अधुनाज्ञात सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, और इसका रचनाकाल दो सहस्र वर्ष से लेकर एक सहस्र ईस्वी पूर्व के मध्य अनुमान किया जाता है। वेदो की 'ब्राह्मण' और 'आरण्यक' नामक प्रारभिक व्याख्याओ मे से कुछ एक, कई एक उपनिषद् मूल धर्मशास्त्र और संभवतया कुछ एक दार्शनिक सूत्र भी, 6ठी-5वी शती ईस्वी पूर्व तक रचे और लिखे जा चुके विश्वास किये जाते हैं। इन्द्र और पाणिनि के व्याकरण, सुश्रुत की सहिता (वैद्यक शास्त्र), और कौटिल्य का मूल अर्थशास्त्र भी 5वी और 3री शती ईस्वी पूर्व के मध्य लिखे जा चुके थे, ऐसा कहा जाता है।

किन्तु, सिन्धुघाटी की उक्त मुद्राओ के अतिरिक्त प्राय. और कोई भारतीय शिलालेख या अभिलेख ऐसा अभी तक प्राप्त नही हुआ है जिसका समय निश्चित रूप से छठी शती ई. पूर्व से पहिले का स्थिर किया जा सके। ब्राम्हणो, बौद्धो या जैनो के किसी भी ग्रन्थ की प्राय. एक भी ऐसी प्रति अभी तक प्राप्त नही हुई है जिसे असदिग्ध रूप से दो हजार वर्ष पुराना भी कहा जा सके। ऊपर जिन ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है वे अवश्य ही मौर्य युग के अन्त (लगभग 200 ई. पू) के पूर्व की सहस्राब्दि मे रचे जा चुके थे। किन्तु रचे जाने के साथ-ही-साथ वे लिपिबद्ध भी किये जा चुके थे, यह केवल अनुमान ही है, निश्चय के साथ कुछ नही कहा जा सकता।

अस्तु, यद्यपि इस बात में प्राय. सन्देह नही है कि ससार की प्राचीन सभ्य जातियों मे भारतीय जाति ही लेखन कला का आविष्कार एव प्रयोग करनेवाली

कदाचित् सर्वप्रथम जाति थी, तथापि यह भी स्पष्ट है कि महावीर और बुद्ध के समय तक लिखने का प्रचार अत्यन्त विरल रहा था। कम-से-कम, जहाँ तक धर्मशास्त्रों या धार्मिक साहित्य का सम्बन्ध है, भारत के प्राचीन ऋषि मुनि और आचार्य अपनी स्मृति पर ही अधिक निर्भर रहते थे और लिखने के झंझट मे पडना पसन्द नही करते थे। श्रुति, स्मृति, आगम आदि शब्द बहुत पीछे आकर धार्मिक साहित्य के अङ्गक विशेषो के लिये रूढ हुए, प्रारम्भ में यह सब प्रायः पर्यायवाची थे—जो परम्परा से स्मृति में सुरक्षित रहता आया है, मौखिक द्वार से उपदेशा जाता रहा है और कानों से जिसे सुनते चले आये हैं वही स्मृति, आगम या श्रुति रूप धर्मशास्त्र था। महावीर और बुद्ध के पश्चात् भी शताब्दियो पर्यन्त भारतवर्ष मे धर्मोपदेश, मौलिक शिक्षण-प्रशिक्षण, तथा व्यक्तिगत एव राजनैतिक लोक-व्यवहार भी मौखिक-शाब्दिक ही रहता रहा। लिखने या लिखित वस्तुओं का सहारा बहुत कम लिया जाता था। यदि ऐसा न होता तो पार्श्व, महावीर, बुद्ध आदि के उपदेश तुरन्त ही अथवा थोडे समय उपरान्त ही लिपिबद्ध कर लिये जाते। यह कार्य उक्त धर्मोपदेष्टाओ के चार-पाँच सौ वर्ष पश्चात् ही आरम्भ हुआ। तीसरी-दूसरी शती ई पूर्व से भारतवर्ष में लिखने का प्रचार, अनेक कारणो से, पर्याप्त द्रुत वेग से बढ़ा। उसी के फलस्वरूप भारत के पुस्तक साहित्य का वास्तविक प्रणयन प्रारम्भ हुआ। जैनो आर बौद्धो के पुस्तक साहित्य निर्माण का इतिहास दूसरी पहली शती ईस्वी पूर्व से आगे नही जाता, और ब्राम्हण परम्परा के विषय मे भी यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे इस सम्बन्ध मे जैनो और बौद्धो से कुछ बहुत आगे रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि जैनी लोग अपने साहित्यिक इतिहास के विषय में बहुत सावधान, ईमानदार और यथार्थवक्ता रहे हैं,। बौद्धो का साहित्यिक इतिहास भी सिंहली, चीनी, तिब्बती, वर्मी आदि भारतेतर साधनो के आधार पर बहुत कुछ ठीक ठीक निर्माण हो चुका है। किन्तु वैदिक परम्परा के अनुयायियो का साहित्यिक इतिहास अभी तक पर्याप्त अस्पष्ट एव विवादग्रस्त बना हुआ है। वह अधिकाशत अनुमानो, कल्पनाओ, धारणाओ और मनमानी मान्यताओ पर आधारित है। आचार्य शकर और महाकवि कालिदास जैसे पर्याप्त परवर्ती व्यक्तियो की तिथियों के सम्बन्ध में भी अभी तक एकमत नही हो पाया है। विभिन्न विद्वानो के बीच इन विषयो मे दो-चार वर्षों या दो-चार दशको के नही, वरन् शताब्दियो का, और कभी-कभी सहस्राब्दियो का मतभेद पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, उत्तरोत्तर सम्मिलित किये जाते रहे क्षेपको, सवर्धनो, परिवर्धनो आदि के कारण ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दि मे रचे गये ग्रन्थो के भी वर्तमान मे उपलब्ध सस्करण बहुत ही कम ऐसे हैं जो निश्चयपूर्वक मूल रचनाओ की यथावत् प्रतिलिपि कहे जा सकें।

अतएव, जहाँ हम तीर्थंकर पार्श्व और महावीर के सम्बन्ध में, महावीर की शिष्य परम्परा मे होनेवाले गुरुओ के सम्बन्ध में जैन साहित्य प्रणयन के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध मे प्राचीन जैनाचार्यों एव ग्रन्थकारों और उनका कृतियो के सम्बन्ध मे प्राय: निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं, कि अमुक व्यक्ति, रचना या घटना की तिथि यह है उसका पूर्वापर यह है, इत्यादि, और इसी प्रकार जहाँ हम यह भी प्राय: निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि पालि त्रिपिटक सर्वप्रथम ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य के लगभग सिंहल देश मे सकलित एव लिपिबद्ध हुए और भारत बौद्धो के पुस्तक साहित्य का इतिहास कुषाण काल (2री शती ई.) मे महाकवि अश्वघोष और दार्शनिक नागार्जुन के साथ प्रारम्भ हुआ, ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थकारो और धार्मिक अथवा लौकिक ग्रन्थो के सम्बन्ध मे वैसी कोई बात निश्चयपूर्वक कहना नितान्त कठिन है। तथापि, जिन विशेषज्ञ विद्वानो ने इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिक पद्धति से विधिवत् अनुसधान किया है, उनका यह प्राय: निश्चित मत है कि वर्तमान हिन्दू परम्परा के

पुस्तक साहित्य के इतिहास का वास्तविक प्रारम्भ शुग काल मे ब्राह्मण पुनरुत्थान से ही किया जाना चाहिये। वास्तव मे इस परम्परा के वर्तमान में उपलब्ध पुस्तक साहित्य का अधिकाश, जिसमें वैदिक सहिताएँ (अपने अन्तिम रूप मे), निरुक्त, अधिकाश उपनिषदें, श्रुतियाँ, स्मृति या धर्मशास्त्र, दार्शनिक सूत्र, वाल्मीकि की रामायण, सौति का महाभारत (जो मूलत दश-सहस्री थी, अब जैसी शत-सहस्री नही), तथा विष्णु पुराण आदि प्राचीनतम पुराणग्रन्थ, शुग काल और गुप्त काल के मध्य, अर्थात् 3-2री शती ई. पू से लेकर 4-5वी शती ईस्वी के बीच ही रचे गये हैं। लौकिक काव्य नाटकादि, क्लेसिकल सस्कृत साहित्य तथा ज्योतिष, गणित, वैद्यक आदि वैज्ञानिक साहित्य अधिकतर गुप्त काल एव गुप्तोत्तर काल की देन हैं। इस ब्राम्हण पुनरुत्थान एवं पुस्तक साहित्य प्रवर्तन के प्रमुख आद्य पुरस्कर्ता महर्षि पतञ्जलि, कामन्दक, वाल्मीकि, सौति, यास्क, वात्स्यायन, कात्यायन, ईश्वर कृष्ण, आदि विद्वान् थे।

अस्तु, क्या आश्चर्य है कि उस समय के पूर्व जैनो का भी प्राय कोई उल्लेखनीय पुस्तक साहित्य विद्यमान नही था। उनका धर्मशास्त्र या आगम जो द्वादशाङ्ग श्रुत कहलाता है, सर्वप्रथम अत्यन्त प्राचीन समय मे—सभ्य युग के उदय काल मे ही—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित किया गया था। उनके पश्चात् एक के बाद एक अठारह तीर्थंकरो ने उसी सत्य का प्रतिपादन किया। तदनन्तर, रामायण मे वर्णित घटनाओ और राम-रावणादि के समय मे 20वें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ ने उसी उपदेश की प्राय पुनरावृत्ति की। इतिहासकार इन घटनाओ का समय लगभग 2000 ई. पू अनुमान करते हैं। 21वें तीर्थंकर नमिनाथ थे और 22वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे जो नारायण कृष्ण के ताउजात भाई थे और महाभारत काल (अनुमानतः 15वी शती ई. पूर्व) मे विद्यमान थे। 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ वाराणसी के उरगवशी राजकुमार थे। इनका सुनिश्चित समय 877-777 ई पूर्व है। इनके द्वारा उपदेशित द्वादशाग श्रुत का प्रचार महावीर और बुद्ध के समय तक बराबर बना हुआ था। अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' (599-527) व्रात्य क्षत्रियों की वज्जि जाति के वैशाली गणतन्त्र (गणराज्य सघ) के अर्न्गत कुण्डग्राम के लिच्छवियो के ज्ञातृक वशी राजपुत्र थे। तीस वर्ष की अवस्था मे इस बालब्रम्हचारी ने गृह का परित्याग करके बारह वर्ष पर्यन्त कठिन आत्मसाधना की। फलस्वरूप कैवल्य की प्राप्ति करके अर्हंत तीर्थकर के रूप मे तीस वर्ष (557-527 ई पू) पर्यन्त देश-विदेश मे विहार करते हुए 'सर्व सत्वान हित सुखाय' तीर्थंकरो के द्वादशाग मे निहित सिद्धान्तो का निरन्तर प्रचार किया। उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने पूर्ववर्ती तीर्थंकरो के गणधरों की भाँति ही, अपने गुरु तीर्थंकर महावीर के उपदेशो का सार द्वादशाङ्ग श्रुत के रूप मे सकलित किया अर्थात् उसे बारह अङ्गों और चौदह प्रकीर्णको मे विभाजित किया। प्रत्येक अग मे भी कई उपविभाग हैं, विशेषकर बारहवें दृष्टिप्रवाह अग के पाँच विभाग हैं—जिनमें एक का नाम 'पूर्व' है। पूर्वों की सख्या 14 है। इस प्रकार द्वादशाङ्ग श्रुत को बहुधा ग्यारह अङ्क-चौदह पूर्व' भी कहते हैं। बारहवें अग का ही एक अन्य भेद 'प्रथमानुयोग' है जिस पर समस्त जैन पुराण साहित्य आधारित है। ये अङ्ग पूर्व विविवत् 'वस्तुओं', 'अधिकारों' और 'प्राभृतो' मे विभाजित हैं। यही भाषाबद्ध मूल जिनागम या जैन धार्मिक साहित्य है। सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी गुणो से विशिष्ट तीर्थंकरो द्वारा उपदेशित और परम ज्ञानी-ध्यानी तपस्वी गणधरो द्वारा गुथित एव संकलित जिनागम या द्वादशाङ्ग श्रुत मे सम्पूर्ण मानवी आध्यात्मिक ज्ञान का सार समन्वित है। गौतमादि गणधरो के पश्चात् वह आगम ज्ञान या जैन श्रुत साहित्य गुरु-शिष्य परम्परा मे मौखिक द्वार से प्रवाहित हुआ और लगभग सात शताब्दियो तक मोखिक प्रवाह की इस

परम्परा को पूर्ण सक्षम ज्ञानी-ध्यानी तपस्वी निर्ग्रन्थाचार्यों ने सुरक्षित बनाये रखा।

मौखिक द्वार से गुरु-शिष्य परम्परा मे श्रुतज्ञान का प्रवाह तो चलता रहा, किन्तु अनेक कारणो से, चौथी शती ईसा पूर्व के मध्य के उपरान्त उसके विस्तार मे द्रुतवेग से ह्रास होने लगा, मतभेद और पाठभेद भी उत्पन्न होने लगे। अतएव दूसरी शती ईसापूर्व के मध्य के लगभग कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल की प्रेरणा से मथुरा के जैन सघ के आचार्यों ने श्रुत सरक्षण की भावना से सरस्वती अन्दोलन चलाया, जिसका प्रधान उद्देश्य आगम साहित्य को पुस्तकारूढ़ करना तथा धार्मिक पुस्तक प्रणयन था। ज्ञान की अधिष्ठात्री पुस्तकधारिणी सरस्वती देवी को उक्त आन्दोलन का प्रतीक बनाया गया। फलस्वरूप ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द, लोहार्य, शिवार्य आदि ने परम्परागत श्रुत के आधार से पाहुड आदि ग्रन्थ रचे, और गुणधराचार्य एव धरसेनाचार्य ने तथा उनके सुयोग्य शिष्यों आचार्य आर्यमक्षु, नागहस्ति, पुष्पदन्त, भूतबलि आदि ने अवशिष्ट आगमो के महत्वपूर्ण अशो का उपसहार करके उन्हे पुस्तकारूढ किया। उमास्वाति, विमलसूरि, समन्तभद्र, यतिवृषभ आदि अन्य कई आचार्यपु गवो ने भी धार्मिक साहित्य के विविध अगों का आगमाधार से प्रणयन किया।

इस काल मे जैन सघ दो भागो मे विभक्त हो चुका था। दिगम्बर आम्यना के मुनि स्वयं को मूलसघी कहते थे। दूसरी शाखा जो कालान्तर मे श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हुई वह अपनी परम्परा में सुरक्षित अवशिष्ट श्रुतागम को ही मान्य करती थी। उसने भी उसकी वाँचना एव संकलन करने का प्रयास किया। अतएव उसमे एक-एक करके आगमो की तीन वाँचनाएँ हुईं–दो मथुरा मे और एक वल्लभी मे। सौराष्ट्र के वल्लभी नगर मे आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में, पाँचवी शती ईस्वी के मध्य के लगभग सम्पन्न तीसरी वाँचना मे ही इस परम्परा में सुरक्षित आगमों का सकलन एव लिपिबद्धीकरण हुआ। यह भी मूल द्वादशाग श्रुत का अत्यन्त अल्पाश ही था। तथापि, आगमो के इस प्रकार पुस्तकारूढ होने से उन पर रचे जानेवाले निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि अत्यन्त विपुल व्याख्या साहित्य के लिए द्वार उन्मुक्त हो गया। विविध विषयक, विभिन्न भाषाओ और शैलियो मे अनगिनत स्वतन्त्र रचनाएँ भी रची जाने लगी, और उभय सम्प्रदाय के मनीषी आचार्य जैन भारती के भडार को उत्तरोत्तर समृद्ध से समृद्धतर करते गये।

अस्तु, जैन धार्मिक साहित्य के आद्य प्रस्तोता तो ऋषभादि-महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकर भगवान हैं, उनके बाद गौतमादि गणधर भगवान और भद्रबाहु प्रभृति श्रुतकेवलि हैं, और अन्त मे कुन्दकुन्दादि-देवर्द्धि पर्यन्त श्रुतधर आचार्य पुगव हैं।

* * *

प्राचीन जैन राम-साहित्य में सीता

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

जैन राम-साहित्य :

जैन वाङ्मय मे विपुल रामकथा तथा राम काव्य मिलता है । जैन रामकथा सामान्यतया आदिकवि वाल्मीकि से प्रभावित है । जैन राम-साहित्य प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श तथा कन्नड़ मे मिलता है यह इसका पुरातन रूप है ।

विमल सूरि की परम्परा में निम्नलिखित साहित्य मिलता है :—

प्राकृत में चार ग्रन्थ लिखे गये जिनमें सीता का चरित्र-चित्रण सम्यकरूपेण मिलता है—विमल सूरि का पउमचरिय शीलाचार्य की रामलक्खण चरियम् भद्रेश्वर की कहावती में रामायणम् और भुवनतु ग सूरि का रामलक्खणचरिय । संस्कृत में रविषेण के पद्मचरित आचार्य हेमचन्द्र के जैन रामायण, जिनदास के रामदेव पुराण, पद्मदेव विजयगणि के रामचरित, सोमसेन के रामचरित, आचार्य सोमप्रभकृत लघुत्रियशलाकापुरुष चरित, मेघविजय गणिवर के लघुत्रियष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । अपभ्र श मे स्वयम्भू का पउमचरिउ, रइधू का पद्मपुराण आदि प्रसिद्ध हैं । कन्नड़ में नागचन्द्र के रामचन्द्र चरित पुराण, कुमुन्देन्दु के रामायण, देवप के रामविजयचरित, देवचन्द्र के रामकथावतार और चन्द्रसागर के जिन रामायण को विस्मृत नही किया जा सकता ।

जैन सीता–साहित्य :

इसी परम्परा में सीता को लेकर भी कतिपय काव्य लिखे गये थे जो कि विशेष उल्लेखनीय हैं— भुवनतु ग सूरि का सीया चरिय (प्राकृत), आचार्य हेमचन्द्र का सीता रावण कथानकम् (सस्कृत), ब्रह्मनेमिदत्त, शात सूरि और अमरदासकृत सीताचरित्र (सस्कृत); हरिषेण का सीताकथानम् । हरितमल्ल ने 'मैथिली कल्याण' नामक नाटक सस्कृत मे लिखा था ।

जैन-रामकथा की द्वितीय परम्परा के जनक गुणभद्र थे जिनका 'उत्तर पुराण' और कृष्णदास कवि कृत 'पुण्य चन्द्रोदय पुराण' संस्कृत में लिखा गया । प्राकृत में पुष्पदन्त का तिसट्ठी–महापुरिस गुणालंकार और कन्नड में चामुण्डराय का त्रिषष्टि शलाकापुरुष पुराण लिखा गया ।

जैन-रामकथा मे विमल सूरि की परम्परा को अधिक प्रश्रय मिला है। यह श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो सम्प्रदायों मे प्रचलित है, परन्तु गुणभद्र की परि-पाटी सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदाय में ही मिलती है।

काव्य के अतिरिक्त सीता को लेकर नाटक-साहित्य तथा कथा-साहित्य मे भी लिखा गया।

जैन कवि हस्तिमल्ल ने सन् 1290 के आसपास सस्कृत मे 'मैथिली कल्याण' लिखा जिसका विवेच्य विषय शृगार है। इसके प्रथम चार अको मे राम और सीता के पूर्वानुराग का चित्रण मिलता है। वे मिलन के पूर्व कामदेव मदिर तथा माधवी बन मे मिलते हैं। तृतीय तथा चतुर्थ अक में अभिसारिका सीता का वर्णन मिलता है। पचम तथा अतिम अक मे राम-सीता के विवाह का वर्णन है।

सघदास के 'वसुदेवहिण्डि' मे जैन महाराष्ट्रीय गद्य जो रामकथा मिलती है उसमे सर्वप्रथम सीता का जन्मस्थल लका माना गया है। वह मंदोदरी तथा रावण की पुत्री है परन्तु परित्यक्त होकर राजर्षि जनक की दत्तक पुत्री बन जाती है। सीता स्वयंवर मे सीता अनेक राजाओं मे से राम का चयन एवं वरण करती है। सघदास ने गुणभद्र को भी प्रभावित किया था क्योंकि 'उत्तर पुराण' मे रावण की वशावली एव सीता की जन्म-गाथा पर्याप्त रूप मे 'वसुदेवहिण्डि' से सादृश्य रखती है।

कालक्रमानुसार प्राचीन जैन-राम-साहित्य के प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित महाकवि थे .—

(क) विमल सूरि—'पउमचरिय' (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई.) (प्राकृत)

(ख) रविषेण—'पद्मचरित' (660 ई.) प्राचीन-तम जैन सस्कृत ग्रन्थ (सस्कृत)

(ग) स्वयभू—'पउमचरिउ' या 'रामायण पुराण' (अष्टम शताब्दी ई) (अपभ्रश)

(घ) गुणभद्र—'उत्तर पुराण' (नवम शताब्दी ई) (सस्कृत)

उपरिलिखित ग्रन्थो मे सीता के चरित्र के विविध पक्षो का सम्यक उद्‌घाटन मिलता है।

विमल सूरि और गुणभद्र की सीता :

विमल सूरि ने सीताहरण का कारण इस प्रकार विवेचित किया है – शम्बूक ने सूर्यहास खंग की प्राप्ति के हेतु द्वादश वर्ष की साधना की थी। खग के प्रकट होने पर लक्ष्मण उसे उठाकर शम्बूक का मस्तकोच्छेदन कर देते हैं। चन्द्रनखा पुत्र वियोग मे विलाप करती है। वह राम-लक्ष्मण की पत्नी बनना प्रस्तावित करती है। लक्ष्मण खरदूषण की सेना को रोक देते हैं। रावण सीता पर मुग्ध हो जाता है। वह अवलोकनी विद्या से जान लेता है कि लक्ष्मण ने राम को बुलाने हेतु सिंह-नाद का संकेत निश्चित किया है। इसलिए वह युक्ति पूर्वक सिंहनाद करके सीता से लक्ष्मण को पृथक् कर सीताहरण करने मे सफल हो जाता है।

'पउम चरिय' के छियत्तरवें पर्व मे लका मे श्री राम प्रविष्ट होकर सबसे पहले सीता के पास जाते हैं। दोनो का मिलन देखकर देवगण फूल बरसाते हैं और सीता में निष्कलक तथा पुनीत सात्विक चरित्र का साक्ष्य देते हैं। इस ग्रन्थ मे श्रीराम की किसी शका या सीता की अग्नि परीक्षा का कोई उल्लेख नही है।

'उत्तर पुराण' में भी राम परीक्षा के बिना सीता को स्वीकार करते हैं। सीता अनेक रानियो के साथ दीक्षा लेती है। अत मे सीता को स्वर्ग मिलता है।

स्वयंभू की सीता :

स्वयभू के 'पउमचरिउ' मे प्रारम्भ में मूक सीता के दर्शन होते हैं। सागरवृद्धि भट्टारक तथा ज्योतिषी

सीता के कारण रावण एव राक्षसो के विनाश की भविष्यवाणी कर देते हैं—

तेहिं हणेवउ रक्खु महारगे।
जगय-णराहिव-तणयहें कारणे।
और
आयहे कण्णहें कारणेण होइस।
विणासु बहु-रक्तसहुँ ॥

वन में सीता के चरित्र का विकास मौन रूप मे होता है। सीता युद्धो के विपरीत है—

कर चलण-देह-सिर-खण्डणहु।
णिव्विण माए हउ भण्डणहु ॥
हउ ताए दिण्णी केहाहु।
कलि-काल-कियन्तहु जेहाहुँ ॥

सीता-हरण के समय वह अपने को बडी अभागिनी मानती है—

को सथवई मइ को सुहि कहो दुक्खु महन्तउ।
जहिं जहिं नामि हउ त त जि पएसु पलित्तउ॥

रावण के प्रलोभनों तथा उपसर्गों से सीता का हिमालय जैसा अचल और गगा जल जैसा पवित्र चरित्र रचमात्र भी विचलित नही हो पाया। सीता अग्नि परीक्षा मे सफल होती है—

किं किजइ अण्णइ दिव्वे,
जेण विसुज्झहो महु मणहो।
जिह कणय-लालि डाहुत्तर,
अच्छणि मज्झे हुआरुहण हो ॥

अत मे सीता का विरागी मन स्त्री न बनने की घोषणा कर देता है—

एवहिं तिह करेमि पुणु रहुवइ।
जिह ण होमि पडिवारी तियमइ ॥

स्वय भू ने सीता के चरित्र को अनुपम तथा दिव्य स्वरूप प्रदान किया है।

जैन-राम-साहित्य में सीता-निर्वासन प्रसंग :

राम-कथा के समान सीता-निर्वासन के आख्यान को भी प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय महर्षि वाल्मीकि को है।

गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' में सीता-त्याग की कोई चर्चा नही मिलती। इसकी शृ खला में महाभारत, हरिवश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण, नृसिंह पुराण और अनायक जातक भी आते हैं जिनमें सीता-निर्वासन-आख्यान का अभाव है। परन्तु सीता-त्याग को अधिकाश जैन-राम-साहित्य स्वीकार करता है।

सीता-निर्वासन के मुख्य चार कारण थे—

(क) **लोकापवाद**—जैन-राम-साहित्य मे इसका प्रतिपादन विमल सूरि के 'पउम चरिय' तथा रविषेण के 'पद्म चरित' मे मिलता है। स्वयभू ने अपने महाकाव्य 'पउम चरिउ' में इसकी पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए लिखा है अयोध्या की कतिपय पुश्चली नारियो ने अपने पतियों के समक्ष यह तर्क किया कि यदि इतने दिनो तक रावण के यहाँ रहकर आनेवाली सीता राम को ग्राह्य हो सकती है तो एक-दो रात अन्यत्र बिता-कर उनके घर लौटने में पतियों को आपत्ति क्यो हो?—इस चर्चा को लेकर नगर में सीता-विषयक प्रवाद फैलता है—

पर-पुरिसु रमेवि दुम्महिलउ,
देंति पडुत्तर पइ-यणहो।
किं रामण भुजइ जणय-सुय,
वरिसु वसेवि घरे रामण हो ॥

राम कुल की मर्यादा के कारण सीता को निष्कासित कर देते हैं। 'पउम चरिउ' अनेक मार्मिक तथा भाव-प्रवण प्रसगों से परिपूर्ण है परन्तु सीता-त्याग का

प्रसग सर्वाधिक कारुणिक और विदग्ध है । विभीषण सीता के पवित्र चरित्र की निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं । लका से त्रिजटा आकर गवाही देती है । अत मे सीता की अग्नि परीक्षा होती है । दूसरे दिन जब सीता को सबेरे सभा मे लाकर आसन पर बिठाया जाता है, तब सीता वर आसन पर सस्थित ऐसी शोभायमान होती है जैसे जिन आसन पर शासन-देवता—

सीय पइट्ठ णिवट्ठ वरासणे ।
सासण देवए ज जिण-सासणे ॥

प्रखर तथा स्पष्टवादिनी सीता का, शकालु तथा नारी-चरित्र की भर्त्सना करनेवाले श्री राम को कितना आत्माभिमानपूर्ण एव सतेज उत्तर है कि गगा जल गँदला होता है, फिर भी सब उसमे स्नान करते हैं। चन्द्रमा सकलक है, लेकिन उसकी प्रभा निर्मल, मेघ काला होता है परन्तु उसमे निवास करनेवाली विद्युत्छटा उज्ज्वल । पाषाण अपूज्य होता है, यह सर्वविदित है परन्तु उससे निर्मित प्रतिमा मे चन्दन का लेप लगाते हैं । कमल पक से उत्पन्न होता है लेकिन उसकी माला जिनवर पर चढती है, दीपक स्वभाव से काला होता है लेकिन उसकी शिखा भवन को आलोकित करती है । नर तथा नारी मे यही अन्तर है जो वृक्ष और बेलि मे । बेलि सूख जाने पर भी वृक्ष को नही छोडती—

साणुण केण वि जणेण गणिज्जइ ।
गगा णइहिं त जि ण हाइज्जइ ॥
ससि क्लक तहिं जि पह णिम्मल ।
कालउ मेहु तहिं जें तणि उज्जल ॥
उवलु अपुइजु ण केण वि छिप्पइ ।
तहिं जि पडिप चन्दणेण विलिप्पइ ॥
धुज्जइ पाउ पकु जइ लग्गइ ।
कमल-माल पुणु जिणही बलग्गइ ॥
दीवउ होइ सहावें कालउ ।
वट्टि-सिहए मण्डिज्जइ आलउ ॥
णर णारिहि एवड्डउ अन्तउ ।
मरणे विवेल्लिण मेल्लिय तरुवरु ॥

अत मे सीता तपश्चरण के लिए प्रस्थित हो जाती है । स्वयभू ने सीता के चरित्र को सम्वेदनशीलता मे आपूर्ण कर दिया है । वह पाठको की दया, सम्वेदना तथा सहानुभूति की अधिकारिणी बन जाती है ।

स्वयभू के पूर्व विमल सूरि, रविषेण तथा आचार्य हेमचन्द्र ने सीता-त्याग के प्रसग का सम्यक प्रतिपादन किया है ।

'पउम चरिय' के पूर्व 92 94 मे सीता-त्याग का विस्तृत वर्णन मिलता है । लका से लौट आने के समय भी जनता के अपवाद की चर्चा मिलती है । श्री राम स्वत. गर्भवती सीता को वन मे विभिन्न जैन चैत्यालय दिखला रहे थे कि अयोध्या के अनेक नागरिक उनके पास आए और अभयदान पाकर उन्होने अपने आगमन का निमित्त निरूपित किया । उनसे श्री राम को सीता का अपवाद विदित होता है और वे अपने सेनापति कृतातवदन को जिन-मदिर दिखलाने के बहाने सीता को गगा पार के वन मे छोड आने का आदेश देते हैं । सयोग से वन मे पुण्डरीकपुर के नरेश वज्रजघ ने सीता का करुण क्रन्दन सुन लिया जिस पर वह उन्हे अपने भवन मे ले आया और उसके यहाँ सीता के दो पुत्र हुए ।

'पद्मचरित' के छियान्नवे पर्व में सीता के ग्रहण स्वरूप दुष्परिणामो मे प्रजा का मर्यादाविहीन स्वरूप और नारियो का हरण, प्रत्यावर्तन तथा उनकी स्वीकृति बतलाई गयी है ।

'योगशास्त्र' (द्वादश शताब्दी) में सीता निर्वासन के तदन्तर एक घटना का वृत्तात मिलता है । तदनुसार श्री राम अपनी भार्या के अन्वेषण मे बन गये हुए थे

किन्तु सीता कही नही मिल पायी। राम ने यह विचार करके कि सीता किसी हिंसक पशु द्वारा समाप्त हो चुकी है, अतएव, उन्होने परावर्तित होकर सीता का श्राद्ध किया।

(ख) धोबी का आख्यान :

जैन-राम-साहित्य मे इसकी चर्चा नही मिलती।

(ग) रावण का चित्र

इस वृत्तात को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम एवं प्राचीनतम श्रेय जैन–राम-साहित्य को है।

हरिभद्र सूरि के (अष्टम शताब्दी) उपदेश पद में सीता द्वारा रावण के चरणों के चित्र निर्मित करने का सूत्र मिलता है। टीकाकार मुनिच्चन्द्र सूरि (द्वादश शताब्दी) के कथानानुसार सीता ने अपनी ईर्ष्यालु सपत्नी के प्रोत्साहन से रावण के पैरो का चित्र बनाया था। इस पर सुपत्नी ने राम को यह चित्र दिखला दिया दिया और उन्होने सीता का त्याग कर दिया।

भद्रेश्वर की 'कहावली' (एकादश शताब्दी) मे यह आख्यान आया है कि सीता के गर्भवती हो जाने पर ईर्ष्यालु तथा द्वेषमयी सपत्नियो के आग्रह पर सीता ने रावण के पैरो का चित्र निर्मित किया जिसे उन्होंने सीता द्वारा रावण के स्मरण के प्रमाण स्वरूप राम के समक्ष उपस्थित कर दिया। राम ने इसकी उपेक्षा करदी। सौतो ने रावण चित्र का किस्सा दासियों के द्वारा जनता मे फैला दिया। तत्पश्चात् राम गुप्त वेष धारण कर नगरोद्यान में गये जहाँ उन्होंने अपनी इस हेतु निंदा सुनी। गुप्तचरों ने भी लोकापवाद की चर्चा की। राम का निर्देश पाकर कृतातवदन तीर्थयात्रा के बहाने सीता को वन मे छोड आया। उसके बाद राम ने लक्ष्मण एव अन्य विद्याधरो के साथ विमान मे चढकर सीतान्वेषण किया परन्तु उन्हे न पाकर यह समझ लिया कि वे किसी हिंसक जानवर का ग्रास बन गईं हैं।

हेमचन्द्र के 'जैन रामायण' (द्वादश शताब्दी) मे भी यही गाथा है। नागरिको ने भी सीता के लोकापवाद की चर्चा की जिसे राम ने ठीक पाया।

देवविजयगणि के 'जैन रामायण' (सन् 159′) मे नारियाँ राम से शिकायत करती हैं कि सीता रावण के चरणों की पूजा-अर्चना करती है—

> स्वामिन् एषा सीता रावण मोहिता रावणाही
> भूमौ लिखित्वा पुष्पादिभि पूजयति ॥

जैन रावण-चित्र-कथा का भारतीय रामायणों पर प्रभाव :

जैन राम-साहित्य मे आयी, सीता द्वारा रावण के चित्र के निर्माण की घटना का भारतीय रामायणो पर व्यापक प्रभाव पडता दिखलायी देता है।

बगाल में कृतिवास ओझा द्वारा लिखित रामकथा 'कृतिवास रामायण' या 'श्रीराम पाचाली' (पन्द्रहवी शताब्दी का अत) मे सखियो से प्रेरित होकर सीता रावण का चित्र खीचती है।

सिक्खो के दशमेश गुरु गोविन्दसिंह ने 'रामावतार कथा' या गोविन्द 'रामायण' (सन् 1668) में रावण-चित्र के कारण राम के सीता पर सदेह होने का वृत्तात मिलता है।

सस्कृत की 'आनन्द रामायण' (पन्द्रहवी शताब्दी) के तृतीय सर्ग में कैकयी के आग्रह पर सीता रावण के सिर्फ अँगूठे का चित्र बनाती है जिसे कैकयी पूरा करती है, और राम को बुलाकर नारी-चरित्र की आलोचना करती है—

> यत्र-यत्र मनोलग्नं स्मर्यते हृदि तत्सदा।
> स्त्रियाश्च चरित्र को वेत्ति शिवाद्या मोहिता.
> स्त्रिया ॥

'काश्मीरी रामायण' अथवा 'रामावतार चरित' (अट्ठारहवीं शताब्दी) मे दिवाकर भट्ट ने रावण के चित्र के ही कारण सीता-त्याग को चरितार्थ होते निरूपित किया है । राम की सगी बहिन सीता से चित्र बनवाती है ।

नर्मदा द्वारा रचित गुजराती रामायण 'रामायण-नोसार' (उन्नीसवीं शताब्दी) के अनुसार राम सीता को रावण का चित्र खींचते हुए और अपनी दासी से रावण का वृत्तात कहते हुए सुनते हैं ।

जैन हिन्दी रामकथा 'पदम पुराण' (सन् 1661) में दौलत राम ने भी रावण के चित्र का उल्लेख किया है ।

सम्राट जहाँगीर के समय मे मुल्ला ममीह या सादुल्लाह् कैरानवी तखल्लुस मसीह ने फारसी में लिखित 'रामायण मसीही' अथवा 'हदीस-इ-राम-उ-सीता' के अनुसार राम की बहिन ने सीता से रावण का चित्र खिचवाकर कहा कि सीता रात-दिन इस चित्र की पूजा करती है ।

जैन रावण चित्र-कथा का लोकगीतों पर प्रभाव .

इस मूलस्रोत को हमारे लोकगीतो ने भी स्वीकार किया है । लोकगीतो मे सीता-परित्याग की घटना का अत्यन्त मार्मिक वर्णन तथा सीता का चरित्र-चित्रण मिलता है । एक अवधी सोहर लोकगीत मे ननद के कहने से सीता ने रावण का चित्र बनाया था—

ननद भौजाई दुइनो पानी गयी अरे पानी गयी ॥
भौजी जौन खन तुम्हे हरि लेइ ग उरेहि देखावहु हो ॥
जौमे खना उरेहो उरेहि देखावउ, उरेहि देखावउना ।
ननदी सुनि पइहैं बिरना तोहार तौ देसवा निकरि हैं हो ॥
लाख दोहइया राजा दशरथ राम मथवा छुवौ,
राम मथवा छुवौना ।
भौजी लाख दोहइया लुछिमन भइया जौ भइया बतावउ हो
मागौं न गाग गगुलिया गगाजल पानी, गगाजल पानी हो
ननदी समुहे कै ओवरी लियावउ तौ खना उरेहो हो ॥
मागिन गाग गगुलिया गगाजल पानी, गगाजल पानी हो
हेइ हो, समुहें कै ओवरी लिपाइन तौ खना उरेहैं हो ।
हथवा उरेही सीता गोडवा उरेही अवर उरेही दुइनो
आंखि ।
हेइ हो, आइ गये सिरीराम आंचर छोरि मू दिनि हो ॥

लोकगीतो मे सर्वत्र सीता-परित्याग का कारण रावण के चित्र का निर्माण ही बताया गया है । सीता पहले से ही चित्रकला विशारदा थी और लोकगीतो मे विवाह के पूर्व भी कई स्थलों पर सीता के चित्रकला प्रावीण्य का वृत्तात मिलता है । अतएव, लका से लौटने के बाद सीता के द्वारा रावण के चित्र के निर्माण मे कोई अस्वाभाविकता आती प्रतीत नही होती । एक भोजपुरी लोकगीत सोहर मे भी इसी भावना की परम पुष्टि मिलती है—

राम अवरु लछुमन भइया,
आरे एकली बहिनियाँ हइहो की ।
ए जीवा रामजी बइठेले जेवनवा,
बहिन लइया लखे रे की ॥
ए भइया भौजी के दना बनवसवा,
जिनि खना उरेहे ले की ।
जिनि सीता भूखा के भोजन देली,
और लागा कै बहुतरवा ॥
होनी से हो सीता गइबाइ रे आसापति,
कइसे बनवासिन हो कि ॥

इसी प्रकार एक बुन्देली लोकगीत मे भी सीता-निर्वासन का कारण रावण के चित्र का निर्माण है—

चौक चदन बिन आगन सूनौ कोयल बिन अमराई ।
रामा बिना मोरी सूनी अजोध्या लछमन बिन ठकुराई ॥
सीता बिना मोरी सूनी रसोइया कौन करे चतुराई ।
आम इमलिया की नन्ही नन्ही पतियाँ, नीम की शीतल
छाई ।

ओई तरें बैठी ननद भोजाई कर रही रावन की बात।
जौन खना भौजी तुमें हर लेगव हमे उरेह बताव।
रावन उरे हो जबई बारी ननदी घर में खबर न होय।
जो सुन पाहें बीरन तुम्हारे घर में देंय निकार।
राम की सौगध लखन की सौगध दसरथ लाख दुहाई।
हमारी सौगध खाओ बारी ननदी तुमको कहा घट जाई।
अपनी सौगध खात हो भौजी, सिजिया पावन देऊ।
सुरहन गऊ के गोबर मगाओ बैया मिटिया देव लिपाई।
हाथ बनाये, पाव बनाये और बत्तीसई दांत।
ऊपर को मस्तक लिखन नहिं पाओ, आ गए राजाराम।
ल्याव ने बैया पिछौरिया लिखना देंय लुकाय॥

जैन रावण चित्र-कथा का विदेशी रामकाव्य पर प्रभाव :

जावा के 'स्रत काण्ड' मे कैकयी स्वत सीता के पखे पर रावण का चित्र अकित करती है और सुषुप्तावस्था मे लीन सीता के पर्यंक पर रख देती है। हिकायत सेरी राम' मे कीकवी देवी भरत-शत्रुघन की सहोदरी है। सीता ने कीकवी देवी के आग्रह के कारण पखे पर रावण का चित्र खीच दिया। कीकवी ने उसे सीता के वक्षस्थल पर रख दिया और यह आक्षेप किया कि सोने के पूर्व सीता ने उस चित्र का चुम्बन किया था। राम ने कीकवी पर विश्वास कर लिया।

हिन्देसिया के 'हिकायत महाराज रावण' में यह वृत्तात आया है कि रावण वध के उपरान्त राम को लका मे रहते सात माह हो गये। रावण की पुत्री अपने पिता का चित्र सोती सीता की छाती पर रख देती है। सीता निद्रावस्था मे उस चित्र का चुम्बन करती है, उसी क्षण राम उनके पास आते हैं और उस दृश्य को देखकर राम आग बबूला हो जाते हैं।

हिन्दचीन अर्थात् ख्मेर-वाङ्मय की सर्वाधिक सशक्त कृति 'रामकेति' (सत्रहवीं शताब्दी) है। इसके पचहत्तरवें सर्ग मे अतुलय राक्षसी सीता की सखी बनकर उससे रावण का चित्र अकित कराती है और इस चित्र मे प्रविष्ट हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप सीता प्रयास करने के बाद भी उस चित्र को मिटा नही पाती है, और अंतत हताश होकर पलग के नीचे उसे छिपा देती है। तदुपरात राम के इस पलग पर लेट जाने पर उनको तेज बुखार हो आता है। जब उन्हे उस चित्र का पता चलता है तो वे लक्ष्मण को सीता को वन मे ले जाकर मार डालने का आदेश देते हैं।

श्यामदेश की रचना 'राम कियेन' मे अदुल नामक शूर्पणखा की पुत्री सीता से रावण का चित्र अकित करवाती है और तत्पश्चात् इसी चित्र में प्रवेश कर जाती है जिससे सीता उसे मिटा नही पाती है।

श्याम के उत्तर पूर्वीय प्रातों के लाओ भाषा मे सोलहवी शताब्दी में 'राम जातक' की रचना हुई थी जिसमे भी रावणचित्र के कारण सीता-त्याग होता है।

लाओस के 'ब्रह्मचक्र' या 'पोम्पचका' मे शूर्पणखाँ स्वत. छद्मवेश में सीता के पास आकर उनसे चित्र बनवा लेती है।

थाईलैंण्ड की 'थाई रामायण' मे भी इसी चित्र की पर्याप्त चर्चा है।

सिंहली रामकथा में उमा सीता के पास आकर उनसे केले के पत्ते पर रावण का चित्र अकित करवाती है। अकस्मात राम के आगमन पर सीता इस चित्र को पलग के नीचे फंक देती है। राम उस पलग पर बैठ जाते हैं और पलग काँपने लगता है। कारण विदित होने पर राम अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते है।

रावण के चित्र का मूल उत्स जैन-साहित्य है जिसने विदेशो मे जाकर बडा उग्र तथा विशिष्ट रूप धारण कर लिया है।

(घ) परोक्ष कारण—

'पउम चरिय' के पूर्व 103 मे यह कथा आयी है कि सीता ने अपने पूर्व जन्म में मुनि सुदर्शन की बुराई की थी और इसके परिणामस्वरूप वह स्वय लोकापवाद की पात्र बन गयी ।

समाकलन :

सम्पूर्ण जैन राम-साहित्य सीता की विभिन्न छबियो तथा बिम्बो से परिपूर्ण है । उनको जैन कवियो ने अपने धर्म-सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त के अनुसार गढने का सफल प्रयास किया है । भारतीय वाङ्मय को जैन राम-साहित्य का यह अप्रतिम प्रदेय है कि उसने सीता को धरती-पुत्री के समान ही आकलित किया ।

हिन्दी की जैन-राम-कथा की मध्यकालीन परम्परा मे मुख्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं —

(क) मुनिलावण्य की 'रावण मन्दोदरी सम्वाद्' ।

(ख) जिनराजसूरी की 'रावण मन्दोदरी सम्वाद्' और

(ग) ब्रह्मजिनदास का 'रामचरित' या 'रामरस' और 'हनुमत रस' ।

इनमे सीता के चरित्र के अनेक उज्ज्वल तथा सरस पार्श्वों को सफलतापूर्वक उद्घाटित किया गया है ।

* * *

जैन-आचार्यों का संस्कृत काव्यशास्त्र में योगदान

डा० अमरनाथ पाण्डेय

सस्कृत-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे जैनो का योगदान रहा है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे भी उनकी सेवा महनीय है। ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो की सूक्ष्म परीक्षा की है और अनेक उद्भावनायें प्रस्तुत की हैं। यहाँ सक्षेप मे इन आचार्यों के योगदान की चर्चा की जा रही है।

हेमचन्द्र[1] ऐसे जैन-आचार्य हैं, जिन्होंने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। इन्होने अपनी सेवा और साधना से विद्वत्परम्परा की सर्जना की। इनका जन्म 1090 ई. मे गुजरात प्रान्त के धुन्धुका ग्राम में वैश्य वश में हुआ था। इनके पिता का नाम चचिभ और माता का नाम चाहिणी या पाहिणी था। दीक्षित होने के पहले इनका नाम चङ्गदेव था। इन्होने आठ वर्ष की अवस्था मे देवचन्द्रसूरि से जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इक्कीस वर्ष की अवस्था में 'सूरि' पद प्राप्त होने पर ये 'हेमचन्द्र' नाम से प्रसिद्ध हुए।

जयसिंह सिद्धराज (1093-1143 ई.) और कुमारपाल (1143-1173 ई.) से आचार्य हेमचन्द्र को अत्यधिक सम्मान मिला था। हेमचन्द्र के अनेक योग्य शिष्य थे, जिनमे रामचन्द्र, गुणचन्द्र, वर्धमानगणि, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्रमुनि, यशश्चन्द्रगणि आदि थे। हेमचन्द्र ने व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनका काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस पर लेखक की अपनी टीका है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र (गद्य), वृत्ति और उदाहरण। सूत्रभाग का नाम काव्यानुशासन, वृत्तिभाग का नाम अलङ्कारचूडामणि

---

1 हेमचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान के लिए द्रष्टव्य—प्रभाचन्द्र विरचित प्रभावकचरित, मेरुतुङ्गसूरि विरचित प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखरसूरि विरचित प्रबन्धकोष, सोमप्रभसूरि विरचित कुमारपालप्रतिबोध, बूलर—कृत 'लाइफ ऑफ हेमचन्द्र' आदि।

तथा उदाहरणभाग का नाम विवेक है। इसमे आठ अध्याय हैं। प्रथम मे काव्य के उद्देश्य, हेतु आदि, द्वितीय मे रस, तृतीय मे दोष, चतुर्थ मे गुण, पञ्चम मे शब्दालङ्कार, षष्ठ मे अर्थालङ्कार, सप्तम मे नायक-नायिका के गुण और प्रकार तथा अष्टम में दृश्य और श्रव्य काव्य के भेदोपभेदो तथा लक्षणों का निरूपण हुआ है।

काव्यानुशासन के अतिरिक्त इनके ग्रन्थ सिद्धहेमशब्दानुशासन, वादानुशासन, धातुपारायण, छन्दोऽनुशासन, द्वयाश्रय महाकाव्य, सप्तसन्धान महाकाव्य, त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रमाणमीमासा आदि हैं।

हेमचन्द्र के शिष्यो मे रामचन्द्र और गुणचन्द्र प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। रामचन्द्र के जीवन का अन्त दुःखमय था, क्योकि ये अन्धे हो गये थे। जयसिंह सिद्धराज ने रामचन्द्र को 'कविकटारमल्ल' उपाधि से अलकृत किया था। रामचन्द्र-न्याय, व्याकरण और साहित्य मे निष्णात थे। उन्होने रघुविलास की प्रस्तावना मे अपने को 'विद्यात्रयीचण' कहा है—

'पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन
विद्वन्मन·सदसि नृत्यति यस्य कीर्त्ति।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्र
कस्त न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम्॥

रामचन्द्र 'प्रबन्धशतकर्त्ता' के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी 39 कृतियो का पता चलता है, जिनमे नाट्यदर्पण, नलविलासनाटक, निर्भयभीमव्यायोग, सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, कुमारविहारशतक, कौमुदीमित्राणन्द आदि प्रमुख हैं।[2]

रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण की रचना की है। नाट्यदर्पण चार विवेकों में विभक्त है। इसमे कारिकाएँ हैं और उन पर ग्रन्थकारो की विवृति है। इसमे दशरूपको के अतिरिक्त दो सङ्कीर्ण भेदो-नाटिका और प्रकरणी-का भी निरूपण हुआ है।

ग्रन्थकारो ने अनेक स्थलो पर दशरूपककार के मत का खण्डन किया है।

दशरूपककार के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए,[3], किन्तु नाट्यदर्पण के आचार्यों के अनुसार धीरललित भी नाटक का नायक हो सकता है।[4]

दशरूपककार अमात्य को धीरप्रशान्त नायक मानते हैं।[5] रामचन्द्र और गुणचन्द्र अमात्य को धीरोदात्त

---

2. नाट्यदर्पण (दिल्ली विश्वविद्यालय का सस्करण) की प्रस्तावना, पृ 16

3. 'अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्त· प्रतापवान्।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपति॥'
दशरूपक (चौ स) 3/22–23

4. 'ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते, न ते मुनिनयाध्यवगाहिन। नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकनां दर्शनात कविसमयबाह्यादच। नाट्यदर्पण 1/7 की विवृति।

5. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्॥
धीरप्रशान्त सापाय धर्मकामार्थतत्परम्। दशरूपक 3।39-40

मानते हैं।[6] वे दशरूपककार द्वारा दिये गये अमात्य के 'धीरप्रशान्त' विशेषण को ठीक नही मानते।

ग्रन्थकारो ने अनेक स्थलो पर धनञ्जय के मत का उल्लेख अन्ये, केचित् आदि के द्वारा किया है।

नाट्यदर्पणकारों ने मम्मट के भी मत का खण्डन किया है मम्मट ने अङ्ग-रस.के अतिविस्तार को रस-दोष माना है ओर हयग्रीववध के हयग्रीव-वर्णन को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।[7] नाट्यदर्पण के आचार्यों की मान्यता है कि यह वृत्त (कथा) का दोष है, रस का दोष नही।[8]

रामचन्द्र और गुणचन्द्र के मौलिक विचार अनेक स्थानो पर उपलब्ध होते हैं। उनका परीक्षण और मूल्याङ्कन स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हैं।

जैन-आचार्य वाग्भट (प्रथम) जयसिंह सिद्धराज के मन्त्री थे। इनका प्राकृत-नाम बाहड था और इनके पिता का नाम सोम था—

बम्भण्डसुत्तिसम्पुडमुक्तिअमणिणो पहासमूहव्व।
सिरि बाहड त्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥[9]

प्रभाचन्द्राचार्य के प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि वाग्भट ने अपने धन से जैन-मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसमे श्रीमहावीर की प्रतिष्ठा सवत् 1179 में की गयी थी—

अथास्ति वाहडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणी।
गुरूपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ॥
आदिश्यतामतिश्लाघ्य कृत्य यत्र धन व्यये।
प्रभुराहालये जैने द्रव्यस्य सफलो व्यय.॥
शतैकादशके साष्टसप्ततौ विक्रमार्कत·।
वत्सराणा व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरय·॥
आराधनाविधिश्रेष्ठ कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
धामपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिव ययु।
वत्सरे तत्र चैकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभि।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठा स बाहडोऽकारयन्मुदा॥

वाग्भट का निवासस्थान अणहिल्लपट्टन बतलाया जाता है। वाग्भटालङ्कार के अधोलिखित श्लोक से वाग्भट की जैन-धर्म के प्रति श्रद्धा और आस्था प्रकट होती है—

श्रिय दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा।
मोक्षमार्गं सता ब्रूते यदागमपदावली॥'[10]

---

6. 'सचिवो राज्यचिन्तकः। अय वणिग्विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त—धीरप्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवत इति प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्त·। यस्त्वमात्य नेतारम्युपगम्य धीरप्रशान्तनायकमिति 'प्रतरण' विशेषयति, स वृद्धसम्प्रदायवन्ध्य.।' नाट्यदर्पण 2।1 की विवृति।

7 काव्यप्रकाश (झलकीकर की टीका से समन्वित, 1950 ई.), पृ. 441।

8 'केचिदत्र हयग्रीववधे हयग्रीववर्णनमुदाहरन्ति।स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्पवर्णनात्। तत्र हि वीरो रस·। स विशेषतो वध्यस्य शौर्यविभूत्यतिशयवर्णनेन सूच्यत इति। नाट्यदर्पण 3।23 की विवृति।

9. वाग्भटालङ्कार (चौ. स), 4।147

10. वही 1।1। इस पर देखिए—सिंहदेवगणि की टीका, जिसमें उन्होने अतिशयचतुष्टय तथा रत्नत्रय का निर्देश किया है।

वाग्भट ने वाग्भटालङ्कार की रचना की है। इसमे पाँच परिच्छेद हैं। इसमे काव्यफल, काव्योत्पत्ति, काव्यशरीर, दोष, गुण, अलङ्कार और रस के विषय मे सक्षेप मे विचार किया गया है। प्रथम परिच्छेद मे 26 श्लोक, द्वितीय मे 29 श्लोक, तृतीय मे 181 श्लोक, चतुर्थ में 152 श्लोक, और पञ्चम में 33 श्लोक हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मन्त्रीश्वर वस्तुपाल की प्रेरणा से अलङ्कारमहोदधि की रचना 1225-26 ई. में की।[11] राजशेखरसूरि ने न्यायकन्दलीपञ्जिकाप्रशस्ति मे नरेन्द्रप्रभसूरि को अलङ्कारमहोदधि का कर्त्ता बतलाया है—

तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुर्नरेन्द्रप्रभः प्रभाढ्यः।
योऽलङ्कारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिं च ।।[12]

नरचन्द्रसूरि नरेन्द्रप्रभसूरि के गुरू थे। नरेन्द्रप्रभसूरि ने गुरू की आज्ञा पर श्रीवस्तुपाल की प्रसन्नता के लिए अलङ्कारमहोदधि का निर्माण किया—

तन्मे मातिसविस्तर कविकलासर्वस्वगर्वोद्धुर।
शास्त्र ब्रूत किमप्यनन्यसदृश बोधाय दुर्मेधसाम्।
इत्यभ्यर्थनया प्रतीलमनस. श्रीवस्तुपालस्य ते।
श्रीमन्तो नरचन्द्रसूरिगुरव साहित्यतत्त्व जगु ।।
तेषा निदेशादथ सद्गुरुणा श्रीवस्तुपालस्य मुदे तदेतत्।
चकार लिप्यक्षरसनिविष्ट सूरिर्नरेन्द्रप्रभनामधेय. ।।
काव्यालङ्कारसूत्राणि स्वानि किञ्चिद् विवृण्महे।
तन्मनस्तन्मयीकृत्य विभाव्यं कोविदोत्तमैः. ।।[13]

अलङ्कारमहोदधि आठ तरङ्गो मे विभक्त है। प्रथम मे काव्यप्रयोजन आदि, द्वितीय मे शब्द-वैचित्र्य, तृतीय में ध्वनिनिर्णय, चतुर्थ में गुणीभूतव्यङ्ग्य, पञ्चम मे दोष, षष्ठ में गुण, सप्तम मे शब्दालङ्कार और अष्टम मे अर्थालङ्कार का निरूपण हुआ है।

अजितसेन ने अलङ्कारचिन्तामणि और शृङ्गारमञ्जरी की रचना की शृङ्गारमञ्जरी छोटी रचना है। अजितसेन ने शृङ्गारमञ्जरी की रचना 1245 ई. के लगभग और अलङ्कारचिन्तामणि की रचना 1250-1260 ई मे की।[14] अलङ्कारचिन्तामणि का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से 1973 ई. मे हुआ है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने विस्तृत भूमिका और अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इसमे पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम (106 श्लोक) का नाव कविशिक्षाप्ररूपण, द्वितीय (189½ श्लोक) का नाम चित्रालङ्कारप्ररूपण, तृतीय (41 श्लोक) का नाम यमकादिवचन, चतुर्थ (345 श्लोक) का नाम अर्थालङ्कारविवरण तथा पञ्चम (406 श्लोक) का नाम रसादिनिरूपण है।

अरिसिंह तथा अमरचन्द्र की कृति काव्यकल्पलता के नाम से प्रसिद्ध है। अरिसिंह ने इसके सूत्रो की रचना

---

11. अलङ्कारमहोदधि (ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बडोदा स. 1942 ई) के अन्तिम श्लोक में ग्रन्थ का रचनाकाल सवत् 1282 दिया गया है—
'नयनवसुसूरि (1282) वर्षे निष्पन्नाया. प्रमाणमेतस्याः।
अजनि समस्तचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पञ्चशती ।।'
इस श्लोक से ग्रन्थ का प्रमाण 4500 श्लोक ज्ञात होता है।
12. वही, प्रस्तावना, पृ 16।
13. वही, 1।18.20
14. अलङ्कारचिन्तामणि की प्रस्तावना, पृ. 33-34।

की है और अमरचन्द्र ने वृत्ति। अमरचन्द्र ने अलङ्कारप्रबोध की भी रचना की।[15] अरिसिंह और अमरचन्द्र का समय त्रयोदश शताब्दी है।

वाग्भट (द्वितीय) नामक एक अन्य जैन-आचार्य हुए हैं। ये वाग्भटालङ्कार के कर्त्ता वाग्भट से भिन्न हैं। इनका समय सम्भवत. चतुर्दश शताब्दी है। इनके पिता का नाम नेमिकुमार था[16] और का माता नाम वसुन्धरा। ये राघापुर मे रहते थे। इन्होने काव्यानुशासन की रचना की।[17] काव्यानुशासन वाग्भट की अलङ्कारतिलक टीका के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित हो चुका है।

इसके सूत्र गद्य मे हैं। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायो में विभक्त है। प्रथम मे काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, द्वितीय मे दोष-गुण, तृतीय मे अर्थालङ्कार, चतुर्थ मे शब्दालङ्कार तथा पञ्चम मे रस, नायक-नायिकाओ के प्रकार और रस-दोषो का विवेचन हुआ है। वाग्भट ने अपनी टीका मे विभिन्न प्रदेशो, नदियो, वृक्षो और अनेक विशिष्ट वस्तुओ का स्थल स्थल पर उल्लेख किया है। इन्होने छन्दोऽनुशासन तथा ऋषभदेवचरित की भी रचना की थी।[18]

भावदेवसूरि ने काव्यालङ्कारसार नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना की। यह नरेन्द्रप्रभसूरि-विरचित अलङ्कारमहोदधि के परिशिष्ट के रूप मे प्रकाशित हुआ है। इसमे आठ अध्याय हैं। प्रथम मे काव्यफलहेतु, द्वितीय मे शब्दार्थ, तृतीय मे शब्दार्थदोष, चतुर्थ में गुण, पञ्चम मे शब्दालङ्कार, षष्ठ मे अर्थालङ्कार, सप्तम मे रीति और अष्टम मे रस का निरूपण हुआ है। इसकी श्लोक-सख्या 132 है। आठ अध्यायो में क्रमश· 5, 15, 24, 13, 13, 49, 5 और 8 श्लोक हैं।

मन्त्रिमण्डन श्रीमाल वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका समय विक्रमीय पन्द्रहवी शताब्दी है। इन्होने अलङ्कारमण्डन नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमे पाँच परिच्छेद हैं। काव्यमण्डन-चम्पूमण्डन-शृङ्गारमण्डन-सङ्गीतमन्डन-सारस्वतमण्डन-कादम्बरीमण्डन-चन्द्रविजय आदि भी इनकी रचनाएँ बतलायी जाती हैं।[19]

अणुरत्नमण्डन या रत्नमण्डनगणि (15 वीं शताब्दी) ने कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ 'जल्पकल्पलता' की रचना की। इनकी अन्य कृति मुग्धमेधाकर है, जिसमें मुख्य रूप से अलङ्कारो का विवेचन किया गया है।[20]

जयमङ्गलाचार्य-कृत कविशिक्षा और आचार्य विनयचन्द्र-कृत कविशिक्षा मे कवियो के लिए आवश्यक निर्देशो का प्रतिपादन हुआ है।[21]

---

15. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना; पृ. 20।

16, 17. 'नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जित—
स्फारोदारयशः प्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रय.।
श्रीमन्नेमिकुमारसूनुरखिलप्रज्ञालुचूडामणि
काव्यानामनुशासन वरमिद चक्रे कविर्वाग्भट ॥
काव्यानुशासन (निर्णयसागर स., 1915 ई0) का अन्तिम श्लोक।

18. कृष्णमाचार्य, हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल सस्कृत लिटरेचर, पृ. 764।

19. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

20. कृष्णमाचार्य, हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल सस्कृत लिटरेचर, पृ 780।

जैन-टीकाकार

अनेक जैन-आचार्यों ने काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना की है।

वादिसिंह ने दण्डी के काव्यादर्श की टीका की।[22]

रुद्रट के काव्यालङ्कार के कई जैन-टीकाकार हुए हैं। नमिसाधु काव्यालङ्कार के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनके गुरु शीलभद्र थे। इन्होने अपनी टीका की रचना 1069 ई. मे की—

एव रुद्रटकाव्यालङ्कृतिटिप्पणकविरचनात् पुण्यम्।
यदवापि मया तस्मान्मन. परोपकृतिरति भूयात्॥
थारापद्रपुरीयगच्छतिलक. पाण्डित्यसीमाभवत्—
सूरिर्भूरिगुणैकमन्दिरमिह श्रीशालिभद्राभिध·।
तत्पादाम्बुजषट्पदेन नमिना सङ्क्षेपसम्प्रेक्षिण
पु सो मुग्धधियोऽधिकृत्य रचित सट्टिप्पण लहवद॥
पञ्चविंशतिसयुक्तैरेकादशसमाशतै.।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीद समर्थितम्॥[23]

काव्यालङ्कार के अन्य जैन-टीकाकार आशाधर हैं। इन्होने अपने पिता का नाम सल्लक्षण और पुत्र का नाम छाहड बतलाया है। इन्होने टीका की रचना 1239-43 ई. में की। इनकी अन्य रचनाएँ हैं—अमर-कोश की टीका, वाग्भट-कृत अष्टाङ्गहृदय की टीका, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, रत्नत्रयविधानशास्त्र आदि।[24]

काव्यप्रकाश की सबसे प्राचीन टीका माणिक्यचन्द्र-कृत सङ्केत है। माणिक्यचन्द्र सागरेन्दु के शिष्य थे। इन्होने टीका की रचना 1159 ई. मे की।[25] माणिक्य-चन्द्र गुर्जरदेश के निवासी थे। इनकी टीका मे किसी टीका या टीकाकार के नाम का उल्लेख नही मिलता। अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुल और सरस्वतीकण्ठाभरण-कार भोजराज का उल्लेख मिलता है।[26]

गुणरत्नगणि ने काव्यप्रकाश की सारदीपिका नामक टीका की रचना की तथा भानुचन्द्र-सिद्धचन्द्र ने काव्य-प्रकाशविवृति का प्रणयन किया।[27]

21., 22. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

23. काव्यालकार की नमिसाधु-कृत टीका के अन्तिम श्लोक।

24 काणे, सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (मोतीलाल स., 1966 ई), पृ. 197-98 और अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

25. गुणानपेक्षिणी यस्मिन्नर्थालङ्कारतत्परा।
प्रौढापि जायते बुद्धिः सङ्केत. सोऽयमद्भुतः॥1॥
मदमदनतुषारक्षेपपूषाविभूषा जिनवदनसरोजावासिवागीश्वरीया।
ध्रुमुखमरिवलतर्कग्रन्थपङ्केरुहाणा तदनु समजनि श्रीसागरेन्दुर्मुनीन्द्रः॥10॥
माणिक्यचन्द्राचार्येण तदङ्घ्रिकमलालिना।
काव्यप्रकाशसङ्केत स्वान्योपकृतये कृत·॥11॥
रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (सवत् 1216) मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽय समर्थित·॥12॥
काव्यप्रकाश (झलकीकर की टीका) की प्रस्तावना के पृ 21-22 पर सङ्केत के श्लोक उद्धृत।

26. वही, पृ. 21।

27. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

अनेक जैनों ने वाग्भटालङ्कार की टीका की। सिंहदेवगणि की टीका चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित (1957 ई.) हुई है। इन्होंने मुग्धजनों के प्रबोध और अपनी स्मृति की वृद्धि के लिए टीका की रचना की—

वाग्भटकवीन्द्ररचितालङ्कृतिसूत्राणि किमपि विवृणोमि।
मुग्धजनबोधहेतो स्वस्य स्मृतिजननवृद्ध्यै च ॥,[28]

वाग्भटालङ्कार के अन्य जैन-टीकाकार हैं—जिन-वर्धनसूरि, क्षेमहंसगणि, ज्ञानप्रमोदगणि, वादिराज, राजहंसोपाध्याय, समयसुन्दर आदि।[29]

आजड ने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा जिनप्रभ, शिव-चन्द्र, विनयरत्न, विद्यासागर आदि ने धर्मदास-कृत विदग्धमुखमण्डन की टीका की।

□ □

28. काव्यालङ्कार की टीका के प्रारम्भ में द्वितीय श्लोक।
29. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना, पृ. 19 तथा कृष्णमाचार्य-कृत हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ 762-63।
30. अलङ्कारमहोदधि की प्रस्तावना।

राजस्थान के कवि ठकुरसी

परमानन्द जैन शास्त्री

राजस्थान भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण अग है। यहाँ की भूमि वीर प्रसव रही है। यहाँ के वीरो की वीरता, साहस, शौर्य की गरिमा मे राजस्थान गौरवान्वित है। उसी तरह वह साहित्य और सस्कृति के लिए भी गौरव का स्थान रहा है। यहाँ के साहित्य मनीषियो ने वीर योद्धाओ की तरह संस्कृति के सरक्षण और साहित्य निर्माण द्वारा देशभक्ति, नैतिकता और सांस्कृतिक जागरूकता का परिचय दिया है। इस दृष्टि से राजस्थान की महत्ता लोक गौरव का प्रतीक है। राजस्थान के विपुल शास्त्र भडारों मे विविध भाषाओं मे कवियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। वहाँ अनेक जैनाचार्यों, विद्वानों, भट्टारको और कवियो का यत्र-तत्र विहार रहा है, जिससे देश मे जागृति और धार्मिक मर्यादाओ का सरक्षण हुआ है। उन्होने अनेक सकटो और भयावह समयों के झझावातों से भारतीय साहित्य को सरक्षण प्रदान किया है। इस कारण वे अभिनदनीय हैं। कवि ठकुरसी राजस्थान की इस महान परम्परा के एक प्रमुख कवि थे, भारतीय साहित्य को उनकी देन अविस्मरणीय है।

कवि ठकुरसी कविवर घेल्ह के पुत्र थे। इनकी माता बडी धर्मिष्ठा थी। गोत्र पहाड्या, जाति खडेलवाल और धर्म दिगम्बर जैन था।[1] यह सोलहवी शताब्दी के अच्छे कवि कहे जाते थे। कविता करना एक प्रकार से आप की पैतृक सम्पत्ति थी, क्योंकि आपके पिता भी अच्छी कविता करते थे। परन्तु अद्यावधि उनकी कोई रचना अवलोकन में नही आई। सभव है अन्वेषण करने पर प्राप्त हो जाय।

1. पपड पहाडिह वंस शिरोमणि, घेल्हा गरू तसु तियवर धरमिणी।
   ताह तणइ कवि ठाकुरि सुन्दरि, यह कहि किय सभव जिणमदिरि ॥
   मेघमालावय प्रशस्ति

कवि की इस समय सात कृतियाँ उपलब्ध हैं। वे सभी कृतियाँ अभी तक अप्रकाशित हैं। उनका अवलोकन करने से जहाँ कवि की काव्य-शक्ति का परिचय मिलता है वहाँ उनकी प्रतिभा का दर्शन हुए बिना नही रहता। रचनाओं में स्वाभवत माधुर्य्य और प्रासाद है, और गति मे प्रवाह है, उन्हे पढ़ते हुए जी अरुचि नही होती, किन्तु शुरू करने पर उसे पूरी किये बिना छोड़ने को जी नही चाहता। आपकी सातो रचनाओ के नाम निम्न प्रकार हैं—

कृपाण चरित्र, पारसनाथ श्रवण सत्ताइसी, जिनचउबीसी, मेघमाला व्रतकथा, पचेन्द्रिय वेलि, नेमिसुर की वेलि, और चिन्तामणि जयमाल। इनमें से प्रथम रचना का परिचय प. नाथूरामजी प्रेमी बम्बई ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कराया था। कृपण चरित की एक प्रतिलिपि मेरे पास है, जिसे मैंने सन् 1945 में जयपुर के किसी गुच्छक पर से नोट की थी। कवि ने इसमे अपनी आँखों देखी एक घटना का चित्रण किया है, घटना सजीव है, और कवि ने उसे 35 पद्यों मे अंकित करने का प्रयत्न किया है। रचना सरस और प्रसाद गुण से भरपूर है। और कवि ने उसे वि. सं. 1580 के पौष महीने की पंचमी के दिन पूर्ण किया है, घटना का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

एक प्रसिद्ध कृपण व्यक्ति उसी नगर मे रहता था, जहाँ कविवर निवास करते थे। वह जितना अधिक कृपण था उसकी धर्मपत्नी उतनी ही अधिक उदार और विदुषी थी। वह दान-पूजा-शील आदि का पालन करती थी। कृपण ने सम्पदा को बडे भारी यत्न और अनेक कौशलों से प्राप्त किया था। धन सचय की उस की लालसा इतनी अधिक बढी हुई थी, वह उसका जोडना जानता था, किन्तु खर्च करने का उसे भारी भय लगा रहता था। वह रात दिन इसी चिन्ता में संलग्न रहता था, कि किसी तरह से सम्पत्ति सचित होती रहे परन्तु उसे खर्च न करना पडे। उसने कभी दान, पूजा, माला, उत्सव आदि धार्मिक कार्यों में धन खर्च न किया था। माँगनेवालो को कभी भूलकर भी नही देता था, और न किसी देव मन्दिर, गोठ या सहभोज मे ही धन को व्यय करता था। भाई, बहिन, बुआ, भतीजी और भाणिजी आदि के न्योता आने पर कभी नही जाता था, किन्तु सदा रूखा-सा बना रहता था। उसने कभी सिर में तेल डालकर स्नान नही किया था। धन के लिए झूठ बोलता था, झूठा लेख लिखाता था, कभी पान नही खाता था और न किसी को खिलाता था। न कभी सरस भोजन ही करता था, और न कभी चन्दनादि द्रव्य का लेप ही करता था। न कभी नया कपडा पहिनता था, कभी खेल-तमाशे देखने भी नहीं जाता था, और न गीत रस ही सुहाता था, कपडा फट जाने के भय से उन्हें कभी नही धोता था। कभी-कभी अभ्यागत या पाहुना आ जाने पर भी उसे नही खिलाता था—मुँह छिपाकर हर जाता था इसी से पत्नी से रोजाना कलह होती थी, जैसा कि कवि की निम्न पंक्तियों से प्रकट है।—

"झूठ कथन नित खाइ लेखै लेखौ नित झूठी,
झूठ सदा सहु करै, झूठ, नहु होइ अपूठी।
झूठी बोलै साखि, झूठे झगडे नित्य उपावै,
जहि तहि बात विसासि धूति धनु घर महि ल्यावै
लोभ कौल यो चेते न चिति जो कहिजै सोइ खवै,
धन काज झूठ बौलै कृपणु मनुखजनम लाधो गवै ॥5॥

कदेन खाइ तबोलु सरसु भोजन नहीं भक्खै,
कदे न कापड़ नवा पहिरि काया सुख रक्खै।
कदे न सिर में तेल घालि मल मूरख न्हावै,
कदे न चन्दन चरचै अंग अबीर लगावै।
पेषणो कदे देखै नही श्रवणु न सुहाई गीत-रसु।
घर घरिणी कहै इम कत स्यौं दई काइ दीन्हौं न यसु ॥6॥

वह दे न खाण खरचै न किवें दुवै करहि दिनि कलह अति
सगी भतीजी भुवा वहिणि भाणिजी न ज्यावै।
रहे रूसडो मोडि आपु न्योतो जब आवै।
पाहुणो सगो आयो सुणै रहै छिप्पौ मुख रखिकर
जिव जाय तिवहि नीसरै यो धनु सच्यो कृपण नर।।"

कृपण की पत्नी, जब नगर की दूसरी स्त्रियो को अच्छा खाते-पीते और अच्छे वस्त्र पहिनते तथा धर्म-कर्म का साधन करते देखती तो अपने पति से भी वैसा ही करने को कहती। इस पर दोनो मे कलह हो जाती थी। तब वह सोचती है कि मैंने पूर्व में ऐसा क्या पाप किया है जिससे मुझे ऐसे अत्यन्त कृपण पति का समागम मिला। क्या मैंने कभी कुदेव की पूजा की, सुगुरु साधुओ की निन्दा की, कभी झूठ बोला, दया न पाली, रात्रि में भोजन किया, या व्रतों की सख्या का अपलाप किया। मालूम नही मेरे किस पाप का उदय हुआ जिससे मुझे ऐसे कृपण पति के पाले पड़ना पडा, जो न खरचे, न खरचने दे, निरन्तर लडता ही रहता है।

एक दिन पत्नी ने सुना कि गिरनार की यात्रा करने सघ जा रहा है। तब उसने रात्रि में हाथ जोड कर हँसते हुए पति से सघ यात्रा का उल्लेख किया और कहा कि सब लोग सघ के साथ गिरनार और शत्रुजय की यात्रा के लिए जा रहे हैं। वहाँ नेमि-जिनेन्द्र की वन्दना करेंगे, जिन्होंने राजमति को छोड़ दिया था। वे वन्दना-पूजाकर अपना जन्म सफल करेंगे, जिससे वे पशु और नरक गति मे न जायेंगे, किन्तु अमर पद प्राप्त करेंगे। अतः आप भी चलिए। इस बात को सुनकर कृपण के मस्तक में सिलवट पड गई, वह बोला कि क्या तू बावली हुई है, जो धन खरचने की तेरी बुद्धि हुई। मैंने धन चोरी से नही लिया और न पडा हुआ पाया, दिन रात नीद, भूख, प्यास की वेदना सही, बडे दु.ख से उसे प्राप्त किया है। अतः खरचने की बात अब मुँह से न निकालना।

तब पत्नी बोली हे नाथ ! लक्ष्मी तो बिजली के समान चचला है। जिनके पास अटूट धन और नवनिधि थी, उनके साथ भी धन नही गया। जिन्होने केवल सचय किया, उन्होने उसे पाषाण बनाया, जिन्होने धर्म कार्य मे खर्च किया, उनका जीवन सफल हुआ। इसलिए अवसर नही चूकना चाहिए, नही मालूम किन पुण्य परिणामो से अनन्त धन मिल जाय। तब कृपण कहता है कि तू इसका भेद नही जानती। पैसे बिना आज कोई अपना नही है। धन के बिना राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी को बेचा था। तब पत्नी कहती है कि तुमने दाता और दान की महत्ता नहीं समझी। देखो, ससार मे राजा कर्ण और विक्रमादित्य से दानी राजा हो गये हैं, सूम का कोई नाम नही लेता, जो निस्पृह और सन्तोषी हैं वह निर्धन होकर भी सुखी हैं किन्तु जो धनवान होकर भी चाह-दाह मे जलता रहता है वह महादुखी है। मैं किसी की होड नही करती, पर पुण्य कार्य मे धन का लगाना अच्छा ही है। जिसने केवल धन सचय किया, किन्तु स्व-पर के उपकार में नही लगाया वह चेतन होकर भी अचेतन जैसा है, जैसे उसे सर्प ने डस लिया हो।

इतना सुनकर कृपण गुस्से से भर गया और उठ-कर बाहर चला गया। तब रास्ते में उसे एक पुराना मित्र मिला। उसने कृपण से पूछा, मित्र ! आज तेरा मन म्लान क्यो है? क्या तुम्हारा धन राजा ने छीन लिया, या घर मे चोर आ गए, या घर में कोई पाहुना आ गया है, या पत्नी ने सरस भोजन बनाया है। किस कारण से तेरा मुख आज म्लान दीख रहा है। कृपण ने कहा—मित्र ! मुझे घर में पत्नी सताती है, यात्रा मे जाने के लिए धन खरचने के लिए कहती है, जो मुझे नही भाता, इसी कारण मैं दुर्बल हो रहा हूँ। रात-दिन भूख नही लगती। मित्र मेरा तो मरण आ गया है। तब मित्र ने कहा, हे कृपण ! सुन, तू मन में दुख न कर। पापिनी को पीहर पठाय दे, जिससे तुझे कुछ सुख मिले। यह सुनकर कृपण को अति हर्ष हुआ।

एक आदमी को बुलाकर एक झूठा लेख लिख दिया कि तेरे जेठे भाई के घर पुत्र हुआ है, अतः तुझे बुलाया है। यद्यपि पत्नी पति के इस प्रपच को जानती थी, किन्तु फिर भी वह उस पुरुष के साथ पीहर चली गई।

जब सघ यात्रा से लौट कर आया, तब ठौर-ठौर ज्योनारें की गई, महोत्सव किए गये और माँगनेवालों को दान दिया गया, अनेक बाजे बजे, और लोगों ने असख्य धन कमया। जब इस बात को कृपण ने सुना तो अपने मन मे बहुत पछताया। यदि मैं भी गया होता तो खूब ज्योंनार खाता, व्यापार करता, और धन कमाकर लाता। पर हाय मैं कुछ भी नही कर सका। दैव योग से कृपण बीमार हो गया। उसका अन्त समय समझकर कुटुम्बियो ने उसे समझाया और दान-पुण्य करने की प्रेरणा की। तब कृपण ने गुस्से से भरकर कहा कि मेरे जीने या मरने पर कौन मेरा धन ले सकता है। मैंने धन को बडे यत्न से रखा है। राजा, चोर, और आग से उसकी रक्षा की है। अब मैं मृत्यु के सम्मुख हूँ, अत. हे लक्ष्मी तू मेरे साथ चल, मैंने तेरे कारण अनेक दु ख सहे हैं। तब लक्ष्मी कृपण से कहती है कि—

"लच्छि कहै रे कृपण झूठ हो कदे न बोलो,
जु को चलण दुइ देइ गैलत्मागी तसु चालो।
प्रथम चलण मुझ एह देव-देहुरे ठविज्जें,
दूजे जात-पतिट्ठ दाणु चउ सघहिं दिज्जै।
ये चलण दुवै तैं भजिया ताहि विहूणी क्यों चलौ,
झखमारि जाय तू हौ रही वहुडि न सगि थारै चलौं॥"

मेरी दो बातें हैं, उनमे से प्रथम तो मैं देव मन्दिरो मे रहती हूँ। दूसरे यात्रा, प्रतिष्ठा, दान और चतुर्विध सघ के पोषणादि कार्य हैं। उनमे से तूने एक भी नही किया। अत. मैं तुम्हारे साथ नही जा सकती।

इस तरह कृपण विचार कर ही रहा था कि जीभ थक गई, वह बोलने मे असमर्थ हो गया, और वह इस ससार से विदा हो गया और कुगति में गया। पश्चात् पत्नि आदि ने उस सचित द्रव्य को दान धर्मादि कार्यों मे लगाया।

कवि की दूसरी कृति 'पारसनाथ श्रवण सत्ताइसी' है, जिसमे जैनियो के तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन-परिचय और स्तवन दिया हुआ है। रचना में 27 पद्य अकित हैं। रचना साधारण होते हुए भी सुन्दर और प्रवाहयुक्त है, और सोलहवी शताब्दी के हिन्दी भाषा के विकास क्रम को प्रस्तुत करती है। इस कृति में कवि के निवास स्थान चम्पावती (चाकसू) में सवत् 1578 के लगभग घटित एक ऐतिहासिक घटना के आँखो देखे दृश्य का चित्रण किया गया है— जिससे उसका ऐतिहासिक महत्व हो गया है। कवि ने इस कृति की रचना सवत् 1578 के माघ महीने शुक्ल पक्ष की दोइज के दिन पूरा किया था जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

थेल्ह णदण ठकुरसी नामु, जिण पाय पंकय मसलु।
तेण पास थुम कियउ सचो जवि।
पंदरासय अठहत्तर माह मास सिय पख दुय जवि।
पढ़हि गुणहिं जे णारि-णर तह पूरिय मन आस।
इउं जाणे पिणु नित्त तुहु पढि पडित मल्लिदास ॥27

शाह इब्राहीम ने जब रणथम्भौर पर आक्रमण किया, और उसका प्रबल सैन्यदल नगर मे और उसके आसपास के स्थानो में लूट-खसोट और मार-काट करने लगा, तब चम्पावती को छोडकर अन्य नगरों के जन सत्रस्त होकर इधर-उधर भागने लगे उन्हें देखकर चम्पावती के निवासी जन भी घबडाने लगे, और उनमें से कितने ही जन भागने को उद्यत हुए। तब नगर के प्रमुख पडित मल्लिदास आदि सज्जनो ने पार्श्व भवन मे जाकर भगवान पार्श्वनाथ की मिलकर

स्तुति की, और यह प्रार्थना की, कि भगवन् ! हमें आपका ही सहारा है, हम सब लोगो की, इस विपत्ति से रक्षा हो। ऐसा कहने के पश्चात् भी लोगों को यह विश्वास न था कि इस विपत्ति से हमारा सरक्षण हो जावेगा। किन्तु उसी समय जनता को यह स्वयं आभास होने लगा, कि घबडाओ नहीं, शान्त चित्त से रहो, सब शान्ति हो जायेगी। और लोगो के देखते-देखते ही वह भयकर विपदा सहसा टल गई। लोगो को अभय मिला, प्रजा में शान्ति होगई, चित्त में निर्भयता आई। यह दृश्य देख जनता पार्श्वनाथ की जय बोलने लगी। जो लोग भय से भाग गये थे, वे अधिक दुःखी हुये, किन्तु नगर में रहनेवाले जन सुखी रहे। यह कवि का आँखो देखा घटना वर्णन कवि के शब्दो मे इस प्रकार है :—

जब सुलीय उ राणि संग्राम, रणथमुवि दुग्ग गढु।
जब इब्राहिम साहि कोपिउ, बलु बोली मोकलिउ।
बोलु कबलु सबु तेण लोपिउ, जिव लग उग्गलि हाथ सउं
मेच्छ मूढ भय वज्जि, चपावति बिणु देस सब, गणदहद
दिसभजि ॥21

तबहि कंपिउ सयल पुरलोउ, कोइ न कसु वर जिउ रहइ
भाजि दहै दिसि जाण लगै, मिलिविकरी तब बीनती।
पारसणाह स्वामी सु अगै, सवणा जोतिक केवलि।
चिंतु न करै विसासु, कालि पंचमइ पास पहु, जुग
लगउ तु आस ॥22॥

एम जं पि विकरि विथुई पुज्ज, मल्लिदास पडित पमुह।
स इह था समीपु चायउ, उच्चावत न उच्चयउ।
हुवो जाणि सुरगिरि सवीयउ, इणविधि परतिउवारतिहु।
पूरि वि हरी भणति, जयबंतहु हो पास पहु, जेण करी
सुख साति ॥24॥

कवि की तीसरी कृति 'जन चउबीसी' है, जिसमें जैनियों के चौबीस तीर्थंकरो का स्तवन किया गया है। स्तवन सुन्दर है।

चौथी कृति 'मेघमाला व्रतकथा' है। इस कथा की उपलब्धि भट्टारक हर्षकीर्ति अजमेर के शास्त्र भंडार के एक गुटके पर से हुई है। यह कथा 115 कडवक और 211 श्लोको के प्रमाण को लिए हुए है। इस ग्रन्थ की आदि अन्त प्रशस्ति में इस कथा के रचने में प्रेरक, तथा कथा कहाँ बनाई गई, वहाँ के राजा और कथा का रचना काल दिया हुआ है।

मेघमाला व्रत भाद्रपद मास की प्रथम प्रतिपदा से शुरू करे, उस दिन उपवास करे, और जिन पूजा विधान तथा अभिषेक करे, सारा दिन धर्म ध्यान मे व्यतीत करे। और पाँच वर्ष पर्यन्त इस व्रत का अनुष्ठान करे। पश्चात् उसका उद्यापन करे, उद्यापन की शक्ति न हो तो दूने दिनो तक व्रत पाले। जिन लोगो ने उस समय इस व्रत का पालन किया था, कवि ने उनका नाम भी प्रशस्ति में अंकित किया है। उससे ज्ञात होता है कि उस समय चम्पावती मे इस व्रत के अनेक अनुष्ठाता थे, जिन्होने निष्ठा से व्रत का पालन किया था। उस समय वहाँ राजा रामचन्द्र का राज्य था, और भट्टारक प्रभाचन्द्र वहाँ मौजूद थे।

इस ग्रन्थ की आदि प्रशस्ति मे बतलाया है कि कि ढुढाहड देश के मध्य में चम्पावती (जयपुर राज्य वर्तमान चारसू) नाम की एक नगरी है, जो उस समय धन-धान्यादि से विभूषित थी और जिसके शासक राजा रामचन्द्र थे। वहाँ भगवान पार्श्वनाथ का मन्दिर भी बना हुआ था जिसमे तात्कालिक भट्टारक प्रभाचन्द्र गौतम गणधर के समान बैठे थे और जो नगर निवासी भव्यजनों को धर्मामृत का पान करा रहे थे। उनमे मल्लिदास नामक वणिक पुत्र ने कवि ठकुरसी से मेघमाला व्रत कथा कहने की प्रेरणा की। उस समय चम्पावती नगरी में अन्य समाजों के साथ खंडेलवाल जाति के अनेक घर थे जिनमें अजमेरा और पहाडया गोत्रादि के सज्जनों का निवास था, जो श्रावकोचित

क्रियाओं का सदा अनुष्ठान करते रहते थे। वहाँ तोषक नाम के एक विद्वान भी रहते थे । श्रावकजनों मे उस समय जीणा, ताल्हु, पारस, वाकुलीवाल, नेमिदास, नाथूसि और भुल्लण आदि श्रावको ने मेघमाला व्रत का पालन किया था । यहां हाथुव साहू नाम के एक महाजन भी रहते थे, उनके और भट्टारक प्रभाचन्द्र के उपदेश से कवि ने मेघमाला व्रत की विधि-विधान का उल्लेख करते हुए संवत 1580 में प्रथम श्रावण सुदी छठवी के दिन उक्त कथा को पूर्ण किया था जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

हाथुव साहु महत्ति महते, पहाचद गुरुउवए सते।
पणदह सइ जि असीते, आगल सावण मासि छट्ठिय
मगल ।।

कवि की पाँचवी कृति 'पचेन्द्रिय की बेलि, है। कवि ने स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) इन पाचों इन्द्रियों के रूपक द्वारा जो शिक्षा या अनुभूति प्रदान की है। वह केवल सुन्दर ही नहीं है, किन्तु मानव जीवन को आदर्श बनाने के लिये पीयूषधारा है। कवि ने एक-एक इन्द्रिय के विषय मे अच्छा विचार किया है और दृष्टान्तो द्वारा उसे पुष्ट किया है। उस पर दृष्टि डालने से मानव उन इन्द्रिय-विषयो से विरक्त होकर आत्मसाधना की ओर अग्रसर हो सकता है। कवि को अपनी इस कृति पर स्वाभिमान है। उसकी मान्यता है कि— 'करि वेलि सरस गुण गाया चित चतुर मनुष समझाया'। कवि को अपनी सफलता पर दृढ विश्वास है। उसने स्पष्ट शब्दो में लिख दिया है—'जिह्व मनु इन्द्रिय वसि कीया, तिह हरत परत जग जीया'। जिस मानव ने अपनी इन्द्रियों को वश मे कर लिया है, उसने जगत को जीत लिया है।

कवि ने प्रस्तुत वेलि में इन्द्रियों का विवेचन जातियों के क्रम से किया है। प्रारम्भ में एक दोहे में स्पर्शन इन्द्रिय का स्वरूप हाथी का उदाहरण देकर समझाया है । कवि ने लिखा है कि स्पर्शन इन्द्रिय प्रबल है, उसे वश मे करना दुष्कर कार्य है किन्तु जिन्होंने उसे वश मे किया वे ससार में सुखी हुए—

वन तरुवर फल खातु फिर, पय पीवतौ सुछद।
परसण इन्द्रिय प्रेरियौ, बहु दुख सहई गयद ।।

कवि ने आगे पद्य मे स्पर्शन इन्द्रिय की आसक्ति से होनेवाले दु:खो का वर्णन करते हुए लिखा है कि कामातुर हाथी कागज की हथिनी के कारण गड्ढे मे पड़कर क्षुधा-तृषादि के घने दुःख सहता है, वह वहाँ से भाग भी नही सकता। उसके दुःख का कौन कवि वर्णन कर सकता है। कहाँ तो उसका सुछन्द वनभ्रमण, वृक्षो के उत्तम फल, और नदियो का निर्मल नीर, और कहाँ पराधीन हुए हाथी की प्राण घातक अंकुश की चोटें ?

'बहु दुख सहै गयदो, तुम होय गई मति मदो।
कागज के कुंजर काजै, पडि खाडै स क्यो न भाजै ।।
तिहि सहीय घणी तिथि भूखो, कवि कौन कहै तिस दूखो।

इस तरह स्पर्शन इन्द्रिय के कारण अनेक मानवों ने भी दुख भोगे हैं। रावण भी इसी कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ, उसकी कथा प्रसिद्ध है। इसके वेग के कारण मानव अन्धा हो जाता है; उसे हित-अहित का विवेक नहीं रहता। इसको वश मे करने से लोक में यश और सुख मिलता है।

रसना इन्द्रिय के वश हुआ मानव भी अपना सतुलन खो बैठता है, वह विवेक को ताक में रख देता है। रस के स्वाद मे अनुरक्त हुआ अपने को भूलकर स्वादु बन जाता है, जो अन्त मे उसके मरण का कारण होता है। कवि ने मानव रूपी मछली के रूपक द्वारा इस सत्य की विशद व्यजना की है। दोहे मे रूपक की छटा देखते ही बनती है—

'केलि करता जनम जल, गाल्यौ लोभ दिखालि ।
मीन मुनिख संसार सरि, काढयो धीवर कालि ।।

इस दोहे मे जन्म को जल, मनुष्य को मछली, ससार को सरिता और काल को धीवर के रूप मे देखना कितना सार्थक है । कवि ने आगे लिखा है—

'सो काढ्यो धीवर कालै, तिण गाल्यो लोभ दिखाले ।
मथ नीर गहीर पईठौ, दिठि जाय नही जहा दीठौ ।।
इह रसना रसकौ घाल्यौ, घलि आइ सवइ दुख साल्यौ ।
इह रसना रस के नाई, नर मुसै बाप गुरु भाई ।।
घर फेडइ वा पाडै वाटा, नित करइ कपट घण घाटा ।
मुख झूठ साच नहि बोलै, घर छाडि दिसावर डोलै ।।
कुल ऊँच नीच नहि लेखइ, मूरख माहि भलि लेखइ ।
यह रस के लीये नर, कुण-कुण करम न कीये ।।
रसना रस विषय बिकारौ, वसि होय न औगुण वागारौ ।
जिह इहु विषय वसि कीयौ, तिहि मुनिख जनम फल
लीयौ ।।"

इस पद्य मे कवि ने रसना की आसक्ति से होनेवाले परिणाम का दिग्दर्शन कराया है । रसना के जाल मे पडकर लोग घर की पूँजी और प्रतिष्टा को घूलि मे मिला देते हैं और छल-कपट का सहारा लिये भले मानुष इधर-उधर भटकते फिरते हैं। स्वाद के साम्राज्य में कुल परम्परा और सत्य को ताक मे रखकर दिसावरो में डोलते फिरते हैं । यह कितना चुभता हुआ व्यग है, जिसमें कोई काटा और चुभन नही है परन्तु वह हृदय को उद्वेलित कर देता है । अन्त में कवि ने वह भावना व्यक्त की है कि जिसने रस विषय पर विजय प्राप्त करली, उसी का जीवन सफल है—

"भ्रमर पइट्ठो कमल दिनि, घ्राण गन्धि रस रूढ ।
रैण पडयां सो सकुँच्यौ, नीसर सवयो न मूढ ।।
सो नीसर सवयो न मूढौ, अति घ्राण गधि रस गूढौ ।
मनचिंते रयणि सवायौ, रस लेस्यो आज अघायौ ।
जब ऊगै लो रवि विमलो, सरवर विकसइ लौ कमलो ।
नीसर स्यो तव यह छोडै, रस लेस्यौ आइ वहोडै ।।
चिंतवतै ही गज आयौ, दिनकर उगवा न पायौ ।
जल पेठौ सखर पीयौ, नीसरत कमल खड लीयौ ।।
गहि सू डि पावतल चप्यौ, अलिमास्रो घर हरि कप्यौ ।
इहु गध विषम छै भारी, मनि देख हुव्यौ न विचारी ।।

घ्राण इन्द्रिय की शक्ति बडी प्रबल है । वह दूर से ही छिपी हुई वस्तु का पता लगा लेती है । बिल्ली को दूध का पता जल्दी लग जाता है और भोरे को कमल का, चीटी को मिठाई का । सुरभित सुवास मिलने पर हम प्रमुदित होते हैं और बीभत्स गंध मिलने पर नाक-मुँह सिकोड लेते हैं और उससे दूर भागने का यत्न करते हैं । जिस तरह गध लोलुपी भ्रमर कमल की पराग का रस लेता हुआ, उसमे इतना आसक्त हो जाता है कि कमल की कली से निकलना भूल जाता है । दिनास्त मे कमल कली सम्पुट हो गई । और रस की खुमारी मे बेसुध हुआ भ्रमर अनेक रगीन कल्पना करता है—रातभर खूब रस पिऊँगा, जब प्रातःकाल सूर्योदय होगा, कमल कलियाँ विकसित होंगी, मैं उससे निकल जाऊँगा । इसी विचार मुद्रा में एक हाथी सरोवर मे जल पीने आया, और जल पीकर कमल को उखाड लिया, और पग तले दाबकर उसे खा गया । बेचारा भौंरा अपने प्राणों से हाथ धो बैठा । अस्तु भौंरे के मरण को दृष्टि मे रखते हुए गध का लोभ और आसक्ति का परित्याग करना चाहिये ।

आँखो का काम देखना है । यह जीव नेत्रो द्वारा रूप देखने का आदी है । जब यह रूप-सौन्दर्य के अवलोकन मे आसक्त हो जाता है, तब अपना आपा खो बैठता है । आज ससार मे रूपासक्ति के कारण कितना व्यभिचार हो रहा है । पतग ज्योति रूप को देखकर अपने प्राण निछावर कर देता है, उसके अग-प्रत्यग विदग्ध हो उठते हैं । उसी तरह पुरुष भी नारी के अप्रतिम सौन्दर्य को निरखकर रूपासक्त हो अपना सर्वस्व खोकर प्राणों से

भी हाथ धोने बैठता है। कवि ठकुरसी ने रूपक के सहारे इस तथ्य को प्राणवान बना दिया है—'दिठि देख तके पर गोरी' वाक्य मे कितनी सरल व्यजना की है। इतना ही नही किन्तु कवि ने अहिल्या और तिलोत्तमा का उदाहरण देकर अपने कथन को पुष्ट किया है। इन पाँचो ही इन्द्रियो का स्वामी मन है, वह इन्द्रियो का सबल है, वही इनका प्रेरक है। यदि उसे वश मे कर लिया जाय तो इन्द्रियो की विषयो में प्रवृत्ति ही न हो और वे निर्दोष बनी रहे, क्योकि मन ही उन्हें कामासक्त बनाता है। अतएव कवि ने ठीक ही कहा है—'लोयणे दोस को नाही, मन प्रेरे देखन जाही।' अत विवेकी मनीषियो का कर्तव्य है कि वे मन को वश मे करने का प्रयत्न करें। उससे सुख मिलता है—

नेह अचागल तेलतसु, वानी वचन सुरग।
रूप ज्योति पर तिय दिखै, पडइति पुरुष पतग ॥
पडइति पुरुष पतगो, दुख दीवै दहै ति अगो।
पडि होइ तहा जीवि पाखै, दिठि खचि न मूरख राखै ॥
दिठि देख करै नर चोरी, दिठि देख तके पर गोरी।
दिठि देख करै नर पायो, दिठि दीठा बधइ सतायो ॥
दिठि देखि अहिल्या इदो, तनु विकल गई मति मदो।
दिठि देखि तिलोत्तम भूल्यो, तप तपो विधाता झूल्यो ॥
ए लोयण लपट कूठा, वरज्या नहिं होय अपूठा।
ज्यो वरजै त्यो रस वाया, रग देखे आपण माया ॥
लोयणे दोस को नाही, मन प्रेरै देखन जाही।
जो नयण हु ते वसि राखै, सो हूरत परत सुख चाखै ॥

श्रोत्र इन्द्रिय का विषय शब्द की मधुरता, कोमलता, और प्रियता पर प्राण निछावर करना जीव का स्वभाव है। सगीत की स्वर्णिम लहरी मानव को अपनी ओर आकृष्ट करती है। केकी का रव बादलों की घटा फोडकर सागर लहरा देता है। कुरग वधिक का गीत सुनकर प्राण घातक तीर से व्यथित हो प्राणो को छोड देता है। सर्प भी नाद से मत्रमुग्ध हो बिल से निकलकर मनुष्य के आधीन हो जाता है, इसलिये कवि ने ठीक ही कहा है—यह नाद सुणतो सांपो, बिल छोड नीसरची आपो'—उसी तरह यह मानव भी हिरण की तरह मधुर नाद के वशवर्ती होकर अपने प्राणो का परित्याग कर देता है।

वेग पवन मन सारिसौ, वनवासै लय मीतु।
वधिक बाण मार्‌यो हिरण, कानि सुणतो गीतु ॥
धणु खेचि वधिक सर हणियो, रस वीधो बाण न गिणियो।
इह नाद सुणतो सापो, बिल छोडि नीसर्‌यो आपो ॥"

इस तरह कवि ने इस रचना मे पाचो इन्द्रियो के विषयासक्त पाँच प्रतीको द्वारा मानव को उद्‌बोधित करते हुए पाँचो इन्द्रियो को बस मे करने का निर्देश किया है। जो मानव इन पाँचो इन्द्रियो को वश मे कर लेता है, वह उभयलोक में सुख पाता है किन्तु जो इनके वशवती होकर इन्द्रियो मे विषयासक्त रहता है, वह जल्दी अपनी जीवन लीला से हाथ धो बैठता है—

अलि, गज, मीन, पतग, मृग, एके के दुख दीद्ध।
जायत भौ-भौ दुख सहै, जिहि वसि पच न कीद्ध ॥

कवि की इस कृति का रचना काल सवत् 1585, कातिक सुदी त्रयोदशी है।

सवत पदरे से पचासे तेरिस सुद कार्तिक मासे।
जिहिमनु इन्द्रिय वसि कीया, तिह हूरत परत जग जीया ॥

कवि की छठवी कृति नेमीसुर की वेलि है जिसमे जैनियो के 22वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और राजुल का जीवन-परिचय अकित किया गया है। रचना शिक्षाप्रद है। कवि ने इसमे रचना काल नही दिया।

कवि की सातवी कृति 'चिन्तामणि जयमाल' है। यह 11 पद्यो की जयमाल है जिसमे पार्श्वनाथ के स्तवन रूप मे मानव को सयमित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित किया गया है, क्योंकि असयम दुर्गुणो की खान है। सयम के प्रभाव से ही शूली से

सिंहासन और सप से फूलो की माला बन गई थी। इससे सयम की महत्ता स्पष्ट है। रचना सक्षिप्त होते हुए भी रोचक है। अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

घत्ता—इय वर जयमाला गुणहँ विसाला,
वेल्ह सुतन ठाकुर कहए।
जो णरु सुणि सिक्खवइ, दिण-दिण अक्खइ,
सो सुहुमण बछि उलहए॥

कवि की प्रायः सभी रचनाएँ पुरानी हिन्दी की है, उनमे अपभ्र श भाषा के पुट के अतिरिक्त देशी भाषा के शब्दो की बहुलता है। इनका प्रकाशन व इन पर शोध कार्य होना चाहिये।

□ □

महापंडित टोडरमल

⊙ डा० हुकमचन्द भारिल्ल

डा. गौतम के शब्दो में "जैन हिन्दी गद्यकारो में टोडरमलजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने टीकाओ और स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप में दोनों प्रकार से गद्य-निर्माण का विराट उद्योग किया है। टोडरमलजी की रचनाओ के सूक्ष्मानुशीलन से पता चलता है कि वे आध्यात्म और जैन धर्म के ही वेत्ता न थे, अपितु व्याकरण, दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त के ज्ञाता थे। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था।"[1]

ईसवी की अठारहवी शती के अन्तिम दिनो में राजस्थान का गुलाबी नगर जयपुर जैनियो की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी की अगाध विद्वता और प्रतिभा से प्रभावित होकर संपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में संचालित तत्वगोष्ठियो और आध्यात्मिक मण्डलियों में चर्चित गूढतम शंकायें समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थी और जयपुर से पडितजी द्वारा समाधान पाकर तत्व-जिज्ञासु समाज अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्र. रायमल ने अपनी "जीवन-पत्रिका" मे तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"तहाँ निरन्तर हजारों पुरुष स्त्री देवलोक की सी नांई चैत्याले आय महापुण्य उपारजै, दीर्घकाल का संच्या पाप ताका क्षय करै। सो पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र बाचनें वारे पाईए, दस बीस सस्कृत बाचने वारे पाईए, सौ पचास जनें चरचा करने वारे पाईए और नित्यान का सभा के शास्त्र बांचने का व्याख्यान विषै पांच सै सात सै पुरुष तीन सै चारि सै स्त्रीजन, सब मिली हजार बारा सै पुरुष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै बीस तीस वार्या शास्त्राभ्यास करै, देश देश का प्रश्न इहाँ आवै तिनका समाधान होय उहा पहुचे, इत्यादि अद्‌भुत महिमा चतुर्थकालवत या नग्र विषै जिनधर्म की प्रवर्ति पाईए है।"[2]

1 हिन्दी गद्य का विकास : डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर कानपुर, पृ० 188।

2. पंडित टोडरमल, व्यक्तित्व और कृतृत्व, परिशिष्ट 1, प्रकाशक : पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4 बापूनगर, जयपुर।

यद्यपि सरस्वती माँ के वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओ से ओतप्रोत है, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र में भी उनका प्रदेय कम नही है। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारो एव क्रान्तिकारियों में से हैं जिन्होने आध्यात्मिक क्षेत्र में आई हुई विकृतियो का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नही किया, वरन् उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका। उन्होने तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा ब्रज में दार्शनिक विषयों का विवेचक ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो उनके पूर्व विरल है।

पडितजी का समय ईस्वी का अठारहवीं सदी का मध्यकाल है। वह संक्रान्तिकालीन युग था। उस समय राजनीति मे अस्थिरता सम्प्रदायो मे तनाव, साहित्य मे शृ गार, धर्म के क्षेत्र मे रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन में विषमता एवं सामाजिक जीवन में आडबर, ये सब अपनी चरम सीमा पर थे। उन सब से पडितजी को सघर्ष करना था जो उन्होने डटकर किया और प्राणो की बाजी लगाकर किया।

पडित टोडरमलजी गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निराभिमानी, विवेकी अध्ययनशील, प्रतिभावान बाह्याडबर विरोधी, दृढ श्रद्धावी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्त ग्रन्थो के सफल टीकाकार एव परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र दृढ़श्रद्धानी विद्वान एव सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज में तत्वज्ञान सबंधी प्रकरणो में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक उत्सवो में जनता की अधिक से-अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग आकर्षण के रूप मे किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

पडितजी के पिता का नाम जोगीदासजी एव माता का नाम रम्भादेवी था। वे जाति से खण्डेलवाल थे और गोत्र था गोदीका, जिसे भौंसा व बडजात्या भी कहते हैं। उनके वशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे पर उनकी पत्नि व ससुराल पक्षवालो का कही कोई उल्लेख नही मिलता। उनके दो पुत्र थे—हरीचन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम भी उनके समान उच्च कोटि के विद्वान और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बड़े-बड़े विद्वान भी तत्व का रहस्य समझने आते थे। पडित देवीदास गोधा ने "सिद्धान्तसार सग्रह टीका प्रशस्ति' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पडित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त वे पडितजी द्वारा सचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे। उनके नाम से एक पथ भी चला जो 'गुमान पथ' के नाम से जाना जाता है।

पडित टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापथ) शैली मे हुई, जिसका बाद में उन्होने सफल सचालन भी किया। उनके पूर्व बाबा बंशीधर जी उक्त शैली के सचालक थे। पंडित टोडरमलजी गूढ तत्वो के तो स्वयबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व "क्षपणासार" की महटिटयाँ आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं "शास्त्रविषेलिख्या नाही और बतावने वाला मिल्या नाहीं"।

सस्कृत, प्राकृत, और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूल ग्रथो को वे कन्नड लिपि मे पढ-लिख सकते थे। कन्नड भाषा और लिपि का ज्ञान एव अभ्यास भी उन्होने स्वय किया। वे कन्नड

---

3. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका।

भाषा के ग्रथो पर व्याख्यान करते थे एव उन्हें कन्नड़ लिपि मे लिख भी लेते थे। ब्र रायमल ने लिखा है—

"दक्षिण देश सू पाच सात और ग्रन्थ ताड़पत्राविषे कर्णाटी लिपि मे लिख्या इहाँ पधारे हैं, ताकू टोडरमलजी बाँचे है। वाका यथार्थ व्याख्यान करे है, वा कर्णाटी लिपि मे लिखते हैं।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु कुल 27 वर्ष कही जाती रही, परन्तु उनकी साहित्यिक साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि वे 47 वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस सम्बन्ध मे साधर्मी भाई ब्र रायमल द्वारा लिखित चार्चा सग्रह ग्रन्थ की अलीगज (एटा उ. प्र) मे प्राप्त हस्त-लिखित प्रति के पृष्ठ 173 का निम्नलिखित उल्लेख विशेष द्रष्टव्य है—

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका का बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ उनके शास्त्रो के अनुस्वरि और आत्मानुशासनजी की टीका हजार तीन या तीना ग्रन्था की टीका भी टोडरमलजी सैंतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषं गमन की।"

उनकी मृत्यु तिथि विक्रम सवत् 1823-24 के लगभग निश्चित है, अत. उनका जन्म विक्रम सवत् 1776-77 मे होना चाहिए।

पडित बखतराम शाह के अनुसार कुछ मताध लोगो द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी के उखाड़ने के आरोप के सदर्भ में राजा द्वारा सभी श्रावको को कैद कर लिया गया था और तेरापथियो के गुरु महान धर्मात्मा, महापुरुष पडित टोडरमलजी को मृत्यु दण्ड दिया गया था। दुष्टो के भडकाने मे आकर राजा ने उन्हें मात्र प्राणदण्ड ही नही दिया बल्कि गदगी मे गड़वा दिया था।[4] यह भी कहा जाता है कि उन्हे हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मारा गया था।[5]

पडित टोडरमलजी आध्यात्मिक साधक थे। उन्होंने जैन दर्शन और सिद्धान्तों का गहन अध्ययन ही नही किया अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा मे लिखा भी है। उसमे उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जन-साधारण तक पहुँचाना था। पडितजी ने प्राचीन जैन ग्रंथों की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएँ लिखी। इन भाषा-टीकाओं में कई विषयो पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते जो उनके स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद में इन्ही विचारों के आधार पर उन्होने कतिपय मौलिक ग्रन्थो की रचना भी की। उनमें से सात तो टीकाग्रन्थ हैं और पाँच मौलिक रचनाएँ। उनकी रचनाओं को दो भागो में बाँटा जा सकता है :—

(1) मौलिक रचनाएँ (2) व्याख्यात्मक रचनाएँ।

मौलिक रचनाएँ गद्य और पद्य दोनो रूपों में हैं। गद्य रचनाएँ चार शैलियों में मिलती हैं :—

(क) वर्णनात्मक शैली, (ख) पत्रात्मक शैली, (ग) यन्त्र रचनात्मक (चार्ट) शैली, (घ) विवेचनात्मक शैली।

वर्णनात्मक शैली में समीसरण आदि का सरल भाषा में सीधा वर्णन है। पडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शकाएँ भेजते थे, उसके समाधान मे वह जो कुछ लिखते थे, वह लेखन पत्रात्मक शैली के अन्तर्गत आता है। इसमे तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रो में एक पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। सोलह पृष्ठीय यह पत्र 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से

---

4. बुद्धि विलास : बखतराम साह, छन्द 1303, 1304।
5. (क) वीरवाणी : टोडरमल अक पृ० 285, 286। (ख) हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड, पृ० 500।

प्रसिद्ध है। यत्र रचनात्मक शैली मे चार्टों द्वारा विषय को स्पष्ट किया है। अर्थ संदृष्टि अधिकार इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली मे सैद्धान्तिक विषयों को प्रश्नोत्तर पद्धति में विस्तृत विवेचन कर के युक्ति व उदाहरणो से स्पष्ट किया है। मोक्षमार्ग प्रकाशक इसी श्रेणी में आता है।

पद्यात्मक रचनाएँ दो रूपों मे उपलब्ध हैं :
(1) भक्ति परक, (2) प्रशस्ति परक।

भक्तिपरक रचनाओं में गोम्मटसार पूजा एव ग्रन्थो के आदि, मध्य और अन्त में मगलाचरण के रूप में प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाएँ हैं। ग्रन्थों के अन्त मे लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तियाँ प्रशस्तिपरक श्रेणी मे आती हैं।

पंडित टोडरमलजी की व्याख्यात्मक टीकाएँ दो रूपो में पाई जाती हैं :—

1. सस्कृत ग्रन्थो की टीकाएँ।
2. प्राकृत ग्रन्थों की टीकाएँ।

सस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ आत्मानुशासन भाषा टीका और पुरुषार्थ सिद्धयुपाय भाषा टीका है। प्राकृत ग्रन्थों में गौम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार हैं, जिनकी भाषा-टीकाएँ उन्होंने लिखी हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड लब्धिसार और क्षपणसार की भाषा-टीकाएँ पंडित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनाई थीं, परन्तु उन चारो टीकाओ को परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित एव परस्पर एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन में सहायक जानकर उन्होंने उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर एक कर दिया तथा उसका नाम "सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका" रख दिया।

'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। प्रारम्भ मे इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली में सम्पादित ग्रन्थो की भूमिका का बड़ा महत्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र में दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरंभिक रूप है, उसमे हलकापन कहीं भी देखने को नही मिलता है। इसके पढने से ग्रंथ का पूरा हार्द खुल जाता है एव इस ग्रन्थ के पढ़ने में आनेवाली पाठक की समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। हिन्दी आत्मकथा साहित्य में जो महत्व महाकवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक को प्राप्त है, वही महत्व हिन्दी भूमिका साहित्य मे 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' की पीठिका का है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पंडित टोडरमलजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन साहित्य को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न था, पर खेद है कि यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका, अन्यथा यह कहने में संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कही एक जगह सरल, सुबोध और जन-भाषा मे देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसके कई सस्करण निकल चुके हैं[6] एवं खडी बोली मे

---

6. (क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन लाहौर, (वि० स० 1954)।
(ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (सन् 1911)।
(ग) बाबू पन्नालालजी चौधरी, वाराणसी (वी० नि० सं० 2451)।
(घ) अनन्त कीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई (वी० नि० स० 2463)।
(ङ) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली
(च) वही।
(छ) वही।
(ज) वही।

इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं। यह उर्दू में भी छप चुका है।[8] मराठी और गुजराती मे इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।[9] अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी 51200 प्रतियाँ छप चुकी हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैन मन्दिरो के शास्त्र भण्डारो मे इस ग्रन्थराज की हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं। समूचे समाज मे यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पंडित टोडरमलजी दिगम्बर जैन समाज मे सर्वाधिक पढे जानेवाले विद्वान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूल प्रति भी उपलब्ध है।[10] एवं उसके फोटोप्रिंट करा लिए गए हैं, जो जयपुर[11], बम्बई[12], दिल्ली[13] और सोनगढ़[14] मे सुरक्षित हैं। इस पर स्वतत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएँ भी मिलती हैं।[15]

यह ग्रन्थ विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखा गया है। प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गम्भीर विषय है, पर जिस विषय को उठाया गया है उसके सम्बन्ध में उठनेवाली प्रत्येक शका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता एव मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शका के समाधान मे द्वितीय शका की उत्थानिका निहित रहती हैं। ग्रन्थ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रन्थ पढते समय पाठक को आगे पढ़ने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य रचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गम्भीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नही है पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नही रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कही भी विषय का विस्तार हुआ है वहाँ उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। वह विषय विस्तार सांगोपांग विषय विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय

---

7. (क) अ० भा० दिगम्बर जैन सघ, मथुरा (वी० नि० सं० 2005)।
   (ख) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ (वी० नि० सं० 2023)।
   (ग) ,, ,, ,, (वि० स.० 2026)।
   (घ) ,, ,, ,, (वि० स० 2030)।
8. दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकला, दिल्ली (वि० सं० 2027)।
9. (क) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ
   (ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारजा।
10. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवान भदीचन्दजी, घीवालो का रास्ता, जयपुर।
11. वही, जयपुर।
12. श्री दिगम्बर जैन सीमधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई।
13. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा, देहली।
14. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़
15. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किए गये प्रवचन, मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण नाम से दो भागों मे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ से हिन्दी व गुजराती भाषा में कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।

को उन्होंने छुआ उसमे "क्यो" का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयगम हो जाता है।

पडितजी का सबसे बडा प्रदेय यह है कि उन्होने सस्कृत, प्राकृत मे निबन्ध आध्यात्मिक तत्वज्ञान को भाषा-गद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्व विवेचन में एक नई दृष्टि दी। यह नवीनता उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि मे है।

टीकाकार होते हुए भी पडितजी ने गद्यशैली का निर्माण किया है। डॉ गौतम ने उन्हें गद्य निर्माता स्वीकार किया है।[16] उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियो और चमत्कारो से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक मे है। तत्कालीन स्थिति मे गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम बनाना बहुत सूझबूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली मे उनके चितक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलकता है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्यशैली मे व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी मौलिक विशेषता हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पडित टोडरमल केवल न टीकाकार थे बल्कि आध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियो और बढते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ मे एकदम सटीक है।

लोकभाषा काव्यशैली मे 'रामचरित मानस' लिखकर महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनके दो सौ वर्ष बाद गद्य में जिन आध्यात्म को लेकर पडित टोडरमलजी ने किया।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वों से दूर रहनेवाले निरन्तर आत्मसाधना व साहित्य-साधनारत इस महामानव को जीवन की मध्यवय मे ही साम्प्रदायिक विद्वेश का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पड़ा।

इनके व्यक्तित्व और कतृत्व के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिए लेखक के शोध प्रबन्ध "पडितटोडरमल : व्यक्तित्व और कतृत्व[17] का अध्ययन करना चाहिये। इनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है :—

"तातैं बहुर कहा कहिए" जैसे रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसे रागादि मिटवाने का जानना होय सोही सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसे रागादि मिटे सो ही सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[18]

□ □

---

16. प्रकाशक . पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर-41
17. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-313।

वैज्ञानिक
सन्दर्भों में
जैन धर्म
सप्तम खण्ड

परमाणु और लोक
(ATOM AND THE UNIVERCE)

प्रो० जी० आर० जैन

"अणुरणीयान महतोमहीयान्"

(इस धरा पर जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु हमें दृष्टि-गोचर होती है उससे भी और अधिक सूक्ष्म वस्तुओं का अस्तित्व है और जो बडे-से-बडा भूखण्ड दृष्टिगोचर होता है उससे भी और अधिक बडे भूखण्ड मौजूद हैं।)

तत्वार्थ अधिगम सूत्र के अध्याय 5 का 11वा सूत्र है "नाणो" जिसका अर्थ है कि अणु से छोटी और कोई वस्तु नही है और आगे चलकर सूत्र 27 में कहा गया है "भेदादणु." जिसका अर्थ है कि जड वस्तुओ के अनन्तवें भाग को अणु कहते हैं। उसका और विखण्डन नहीं हो सकता। जिसे हम साइन्स की भाषा में एटम कहते हैं वह जैन दर्शन का अणु नही है, परन्तु हम आपको पहले आधुनिक एटम का ही वृत्तान्त सुनाते हैं—

यदि हम जल की एक बूंद लें और उसके खण्ड करते चले जायें तो सबसे अन्तिम छोटे से छोटा खण्ड जिसमे जल के सभी गुण विद्यमान हो उस छोटे जल-कण को जल स्कध कहते हैं। तीस ग्राम जल मे इन स्कधो की सख्या इतनी अधिक है कि यदि संसार के समस्त प्राणी—स्त्री पुरुष, बाल और वृद्ध—उन स्कधो को गिनना प्रारम्भ करदें और रात-दिन गिनते ही रहे और बहुत जल्दी-जल्दी 1 सेकिंड मे 5 की गति से गिनते रहे तो स्कधो की पूरी सख्या को गिनने में 40 लाख वर्ष लगेंगे। इससे स्कधो की सूक्ष्मता का भी आभास मिलता है।

यदि आप जल-स्कंध को तोड़ने का प्रयत्न करेंगे तो जल, जल नही रहेगा। जल-स्कध हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणुओ से मिलकर बना है, यह परमाणु पृथक् हो जावेंगे।

अब हम हाइड्रोजन के परमाणु का विशेष वर्णन करते हैं। परमाणु, चाहे वह किसी भी पदार्थ का हो, पत्थर की गेंद की तरह ठोस नहीं है, वह अन्दर से खोखला है। परमाणु के केन्द्र में एक बीज है जिसे नाभि (न्युक्लीयस) कहते हैं और उसके चारों ओर पर्याप्त दूरी पर ऋण-विद्युत (इलेक्ट्रोन) के कण ठीक उसी प्रकार चक्कर काटते रहते हैं जिस प्रकार सूर्य के चारो ओर नियत परिधियों में ग्रह चक्कर लगाते हैं अथवा जिस प्रकार भगवान कृष्ण की रासलीला मे गोपियाँ कृष्ण के चारों ओर चक्कर लगाया करती थी। यह परमाणु ससार के प्रत्येक पदार्थ में असीम संख्या मे व्याप्त हैं; उदाहरणस्वरूप समुद्र के जल की एक बूंद मे स्वर्ण के 50 अरब परमाणु पाये जाते हैं। यह बात सुनकर तुम तुरन्त बाल्टी लेकर बम्बई की ओर न दौड पडना, क्योंकि परमाणु बहुत ही सूक्ष्म वस्तु हैं। समुद्र के 60 टन जल में से यदि सोने के सभी परमाणु एकत्रित करने मे आप सफल भी हो गये तो, तब भी

उन परमाणुओ का तौल चौथाई रत्ती भी न बैठेगा। परमाणु की सूक्ष्मता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि हाइड्रोजन के 20 करोड परमाणु यदि एक पंक्ति मे रख दिये जायँ तो पंक्ति की लम्बाई केवल 1 इंच होगी और 40 हजार शंख परमाणुओ का तौल केवल 1 खसखस के दाने के बराबर होगा। इतना छोटा होने पर भी यह अन्दर से पोला है। जितने स्थान मे परमाणु की नाभि स्थित है उससे 1 लाख गुना दूरी पर इलेक्ट्रोन चक्कर लगा रहे हैं। यूँ समझिये कि जैसे एक 30 फीट व्यास के गोले के केन्द्र मे एक आलपिन की नोक रखी हो। ठीक उसी प्रकार परमाणु के मध्य में उसकी नाभि स्थित है। नाभि ऐसे पदार्थ से बनी है जिसके 1 घन सेंटीमीटर की तौल 24 करोड टन है जबकि 1 घन सेंटीमीटर सोने की तौल केवल डेढ़ तोला ही होती है। परमाणुओ के अन्दर की पोल को देखकर ही एक वैज्ञानिक ने कहा था कि "मनुष्य का शरीर जिन परमाणुओ से बना है उन परमाणुओ की अन्दर की पोल को यदि समाप्त कर दिया जाय और सब इलेक्ट्रोन-प्रोटोन एक स्थान पर एकत्रित कर लिये जायें तो मनुष्य का शरीर केवल इतना-सा रह जायेगा कि नंगी आँख से तो नही किन्तु शायद सूक्ष्मदर्शी लेंस से दिखाई दे जाय।" सोचिये तो सही, इस खोखलेपन पर भी यह भोला मनुष्य अपने रूप और शक्ति के अहंकार में चूर है।

जब परमाणुओ के बीच की पोल निकल जाती है और केवल नाभियाँ ही एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं तो उस भारी पदार्थ की उत्पत्ति होती है जो लुब्धक (सीरियस) तारे के प्रकाशहीन साथी तारे मे पाया जाता है और जो प्लैटिनम से 2000 गुना अधिक भारी है, इसे 'न्यूक्लियर मैटर' कहते हैं और भारतीय भाषा में 'वज्र' कह सकते हैं। इस प्रकाशहीन तारे का व्यास सूर्य के व्यास का 30 वां भाग है किन्तु इसकी तौल सूर्य की तौल का तीन-चौथाई है। हिसाब लगाने से पता चलता है कि जिस पदार्थ का यह बना हुआ है यदि आप उसका इतना बडा टुकडा तोड लें जो आपकी जाकट की जेब मे समा जाय तो उसका वजन 1 टन से भी अधिक होगा।

जो धनुष भगवान राम ने तोडा था, बाल्मीकि रामायण के अनुसार वह दधीचि ऋषि की वज्रमयी हड्डियो का बना हुआ था और केवल 10 फीट लम्बा था। सम्भवत: इसी कारण वह इतना भारी था कि रावण जैसे महायोद्धा भी उसे हिला न सके।

परमाणु की नाभि के चारो ओर चक्कर काटने वाले इलेक्ट्रोन 1 इंच लम्बाई मे 50 खरब समा जाते हैं और 8 करोड शंख इलेक्ट्रोनो की तौल केवल पोस्त के दाने के बराबर होती है। यह इलेक्ट्रोन 1300 मील प्रति सेकंड की गति से घूमते रहते हैं, जबकि बन्दूक की गोली 1 सेकिंड मे आधा मील ही जाती है।

परमाणुओं की नाभि मे न केवल प्रोटोन ही पाये जाते हैं अपितु वहां न्यूट्रोन नाम का एक और कण भी होता है। न्यूट्रोन नाम के कण, उदासीन कण होने के कारण, परमाणुओ के वक्ष को भेदने मे बडे कुशल होते हैं। इनके सम्बन्ध में बिहारी की यह उक्ति ठीक बैठती है कि 'देखन में छोटे लगें, करें घाव गम्भीर।' कई-कई फीट मोटे शीशे की चादरों के पार निकल जाने की इनमे क्षमता है, जिन्हें एक्स किरणें भी नहीं पार कर पाती। इन्ही न्यूट्रोन कणो की सहायता से एटम बम का विस्फोट होता है। जिस वायु से हम सास लेते हैं उसमे भी न्यूट्रोन विद्यमान हैं। वायु के 1 अरब परमाणुओ में केवल 5 न्यूट्रोन कण हैं। यदि मनुष्य के शरीर मे यूरेनियम (वह धातु जिसका एटम बम बनता है) होता तो सास के साथ जानेवाले यह न्यूट्रोन हमारे शरीर का उसी प्रकार विस्फोट कर देते, जैसे एटम बम में होता है। परमपिता परमात्मा की लीला देखिये कि उसने मनुष्य का शरीर बनाने में उस मिट्टी का प्रयोग किया है जिसमे लोहा, तांबा आदि धातुएँ तो थी, किन्तु यूरेनियम नही था।

भिन्न-भिन्न तत्वो के परमाणु 92 प्रकार के हैं। ये सब प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन की भिन्न-भिन्न सख्याओं से मिलकर बने हैं। अर्थात् इनमे कोई मौलिक अन्तर नही है। दीवाली के त्यौहार पर विकनेवाले खाड के खिलौनो के समान कोई बन्दर दिखता है और कोई रानी; किन्तु वे हैं सब एक ही खाड के बने हुये। रानी के खिलौने को गलाकर बन्दर बनाया जा सकता है।

हाइड्रोजन परमाणु के केन्द्र में 1 प्रोटोन है और उसके चारों ओर एक ही इलैक्ट्रोन घूमता है। हीलियम गैस के परमाणु के केन्द्र मे 2 प्रोटोन और 2 न्यूट्रोन हैं और 2 इलेक्ट्रोन बाहर की परिधि मे घूमते हैं। लीथियम के केन्द्र मे 3 प्रोटोन और 4 न्यूट्रोन हैं और 3 इलेक्ट्रोन बाहर की परिधि में घूमते हैं। इसी प्रकार यह सख्या बढती चली गई है। तांबे के परमाणु में 29, चांदी मे 47, सोने मे 79, पारे मे 80 और सबसे भारी परमाणु यूरेनियम मे 92 प्रोटोन होते हैं।

प्रोटोन और न्यूट्रोन की तौल लगभग बराबर है। हल्के हाइड्रोजन के परमाणु केन्द्र मे केवल 1 प्रोटोन है, उस परमाणु की तौल 1 है। भारी हाइड्रोजन के परमाणु की तौल 2 है, उसके केन्द्र मे 1 प्रोटोन और 1 न्यूट्रोन हैं। हीलियम के परमाणु की तौल 4 है इसलिये उसमे 2 प्रोटोन और 2 न्यूट्रोन हैं। ताबे के परमाणु की तौल 65 है अतएव उसमें 29 प्रोटोन और 36 न्यूट्रोन हैं। पारे के परमाणु की तौल 200 है और उसमे 80 प्रोटोन और 120 न्यूट्रोन हैं। और यूरेनियम के परमाणु की तौल 238 है और उसके परमाणु केन्द्र में 92 प्रोटोन और 146 न्यूट्रोन हैं।

जिस भारी हाइड्रोजन का अभी उल्लेख किया है उससे 'भारी जल' का निर्माण हुआ है जिस प्रकार हल्के हाइड्रोजन से नित्यप्रति व्यवहार मे आनेवाले जल का निर्माण हुआ है। यह भारी पानी प्रकृति ने हल्के पानी मे ही मिला रखा है—6 सेर पानी में केवल 20 बूंद। लगभग 13000 टन पानी मे से विद्युत द्वारा 1 मन भारी पानी पृथक् किया जाता है। निरा भारी पानी विष है। उसके पीने से मनुष्य मर जाता है। किन्तु जिस प्रकार मनुष्य कुचला, सखिया आदि विष अत्यन्त अल्प मात्रा मे ताकत के लिये व्यवहार करते हैं उसी प्रकार प्रकृति ने भारी जल जैसे विष को अल्प मात्रा में साधारण जल मे मिला दिया है—उन अभागे व्यक्तियो के लिये जो जीवन पर्यन्त निर्धनता अपने भाग्य मे लिखाकर लाये हैं। यही कारण है असाधारण परिस्थितियो मे मनुष्य इस भारी जल की चन्द बूंदो के सहारे कई-कई दिन भूखे काट देते हैं। विधि का विधान विलक्षण है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सोना, चांदी, लोहा आदि जो भिन्न-भिन्न पदार्थ इस धरा पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन सबका निर्माण एक ही प्रकार की ईंट-चूने से हुआ है। उनका नाम है—प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन।

पुद्गल—ससार की रचना में दो द्रव्यों का प्रमुख भाग है—पहला जीव (चेतन) या आत्मा और दूसरे को प्रकृति (जड) या अचेतन कहा जाता है। जैनाचार्यों ने प्रकृति (जड) को पुद्गल के नाम से पुकारा है और पुद्गल शब्द की व्याख्या उसके नाम के अनुरूप ही उन्होंने की है 'पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः' अर्थात् पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें पूरण और गलन क्रियाओ के द्वारा नई पर्यायो का प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान की भाषा में इसे फ्यूजन और फिशन या इन्टीग्रेशन और डिसइन्टीग्रेशन कहते हैं। एटम बम को फिशन बम और हाइड्रोजन बम को फ्यूजन बम इसी कारण कहा गया है। एटम बम मे एटम के टुकडे-टुकडे हो जाते हैं और तब शक्ति उत्पन्न होती है और हाइड्रोजन बम मे एटम परस्पर मिलते हैं तब उसमे शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

'तत्वार्थ सूत्र' के पंचम अध्याय सूत्र न० 33 मे कहा गया है—'स्निग्धरुक्षत्वाद्बंधः' अर्थात् स्निग्ध और

रुक्षत्व गुणो के कारण एटम एक सूत्र में बँधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' टीका मे एक स्थान पर लिखा है 'स्निग्धरुक्षगुणनिमित्तो विद्युत्' अर्थात् बादलो मे स्निग्ध और रुक्ष गुणो के कारण विद्युत की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रुक्ष का अर्थ खुरदरा नही है। ये दोनो शब्द वास्तव मे विशेष टेक्निकल अर्थों मे प्रयोग किये गये हैं। जिस तरह एक अनपढ मोटर ड्रायवर बैटरी के एक तार को ठंडा और दूसरे तार को गरम कहता है (यद्यपि उनमे से कोई तार न ठडा होता है और न गरम) और जिन्हे विज्ञान की भाषा मे पोजिटिव व निगेटिव कहते हैं, ठीक उसी तरह जैन धर्म मे स्निग्ध और रुक्ष शब्दो का प्रयोग किया गया है। डा० बी. एन. सील ने अपनी कैम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक 'पोजिटिव साइन्सिज ऑफ एनशियन्ट हिन्दूज' मे स्पष्ट लिखा है कि जैनाचार्यों को यह बात मालुम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओ को आपस में रगडने से पोजिटिव और नेगेटिव बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इन सब बातों के समक्ष, इसमें कोई सन्देह नही रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पोजिटिव और रुक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है।

एटम की रचना का जो वैज्ञानिक स्वरूप हमने ऊपर खीचा है उससे स्पष्ट है कि ससार के सभी परमाणु, चाहे वह किसी भी पदार्थ के हों, प्रोटोन (स्निग्ध कण) और न्यूट्रोन (उदासीन कण) भिन्न-भिन्न सख्याओ मे इनके मिलने से बने हैं। इस बात से 'स्निग्धरुक्षात्वाद्-बध.' सूत्र की प्रामाणिकता सम्पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाती है। जब स्निग्ध अथवा रुक्ष कणो की सख्या बढानी पडती है तो उसे 'पूरण' क्रिया कहते हैं और जब घटानी पड़ती है तब उसे 'गलन' क्रिया कहते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नही कि आजकल के वैज्ञानिक विश्लेषण के ठीक अनुकूल जैनाचार्यों ने इस विलक्षण 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थों में बहुत वर्षों पहले किया था।

जिसे हम गलन क्रिया कहते हैं यूरेनियम और रेडियम नाम के पदार्थों मे स्वतः ही स्वाभाविक रूप से होती रहती है और नये पदार्थों का जन्म होता है। यूरेनियम की एक डली मे अल्फा, बीटा, गामा किरणें अबाध गति से निरन्तर निकलती रहती हैं और लगभग 2 अरब वर्षों मे यूरेनियम की आधी डली रेडियम मे परिवर्तित हो जाती है। यही गलन की प्रतिक्रिया रेडियम मे भी रात-दिन हुआ करती है। रेडियम की एक डली का आधा भाग लगभग 6 हजार वर्षों मे सीसे (लैड) मे परिवर्तित हो जाता है।

वैज्ञानिको ने इसी प्रक्रिया को कृत्रिम रूप से प्रयोग-शालाओ मे उत्पन्न किया है। इस क्रिया मे अतिशीघ्र-गामी न्यूट्रोन कणो को गोली के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन गोलियो से जब किसी परमाणु पर प्रहार किया जाता है तब उस परमाणु का हृदय विदीर्ण हो जाता है। परमाणु का रूपान्तर हो जाता है। इस प्रकार से वैज्ञानिको ने नाइट्रोजन को ऑक्सीजन मे, सोडियम को मैग्नेशियम में, मैग्नेशियम को एल्यूमीनियम मे, एल्यूमीनियम को सिलीकन मे, सिलीकन को फास-फोरस में, बैरीलियम को कार्बन में बदल कर दिखा दिया है। इससे पुद्गल शब्द की व्याख्या पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध होती है। सबसे आश्चर्यजनक घटना पारे को सोने में परिवर्तित करने की है। पारे का अणु भार 200 है और प्रोटोन का भार 1 है। जब पारे के परमाणु पर प्रोटोन का आघात होता है तो पूरण क्रिया के द्वारा 201 भार का परमाणु बना जाता है। अब इस परमाणु पर न्यूट्रोन की गोली द्वारा प्रहार किया जाता है तो उसमे से गलित होकर एक अल्फा कण बाहर निकल आता है। अल्फा कण का भार 4 है। 201 में से 4 कम हुये तो 197 भार का परमाणु रह जाता है। सोने का अणु भार 197 है। दूसरे शब्दों में पूरण और गलन की प्रतिक्रियाओं के द्वारा पारे का परमाणु सोना बन गया। (सोना बनाने की यह विधि बहुत महगी पड़ती

है) । यहा पर हमे याद आता है कि नवी शताब्दी में नालन्दा (बिहार) विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी नागार्जुन ने यह घोषणा की थी कि मैं पारे का सोना बनाकर दुनिया की दरिद्रता को दूर कर दूंगा। उसकी भविष्यवाणी तो पूरी हो गई, किन्तु दरिद्रता का विनाश अभी बहुत दूर है।

विगत 10 वर्षो से परमाणु की एक और तस्वीर विज्ञान जगत मे उभर रही है, जिसे परमाणु का क्वार्क मॉडल कहा जा रहा है। इस क्वार्क की अमेरिका और अन्य देशो मे हर तरफ बडी खोज हो रही है—वायु मण्डल की ऊँचाइयो मे और समुद्र की गहराइयो मे, किन्तु लाखो आदमियो के अथक प्रयास के बावजूद अभी तक यह मिला नही है। किन्ही सैद्धान्तिक कारणो से वैज्ञानिक इस बात से सहमत नही हैं कि प्रोटोन, न्यूट्रोन, इलेक्ट्रोन अणु के मूलभूत तत्व हैं। उनके विचार मे यह तीनो किसी ऐसे पदार्थ के सयोग से बने हैं जिसे उनने क्वार्क का नाम दिया है। आगे-पीछे जब इस क्वार्क की खोज हो जायेगी तो यही क्वार्क जैनों का पुद्गल होगा। कितनी विलक्षण बात है कि वैज्ञानिको ने क्वार्क को षट्कोणी माना है और जैनों ने अपने पुद्गल परमाणु को 'गोमट्टसार' मे षट्कोणी कहा है। हमे अपने पूर्व आचार्यों के इस ज्ञान पर गर्व है। उन्होने आज से हजारों वर्ष पूर्व यह बात बतलाई थी कि ताप, प्रकाश और विद्युत जो शक्ति के रूप हैं, पुद्गल का स्थूल-सूक्ष्म रूप है। यही बात आगे चलकर सन् 1905 मे समार के महान वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने बताई। उन्होने इतना बतलाया कि 3000 टन पत्थर के कोयले को जलाने से जितनी उष्मा उत्पन्न होती है, यदि उसे एकत्रित करके तौलना सम्भव हो तो उसका तौल 1 ग्राम होगा। परमाणु की कहानी यहां समाप्त होती है।

जैन मान्यता के अनुसार यह लोक छः द्रव्यो का समुदाय है, अर्थात् यह ब्रह्माण्ड छ. पदार्थों से बना है—जीव, अजीव (मैटर एण्ड एनर्जी), धर्म (मीडियम ऑफ मोशन) वह माध्यम जिसमें होकर प्रकाश की लहरें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती हैं, अधर्म (मीडियम ऑफ रैस्ट) यानी फील्ड ऑफ फोर्स, आकाश और काल (टाइम)। जैन ग्रथों में जहा-जहा धर्म द्रव्य का उल्लेख आया है वहा धर्म शब्द का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ मे प्रयोग किया गया है। यहा धर्म का अर्थ न तो कर्त्तव्य है और न उसका अभिप्राय सत्य, अहिंसा आदि सत्कार्यो से है। 'धर्म' शब्द का अर्थ है एक अदृश्य, अरूपी (नोन मटीरियल) माध्यम जिसमे होकर जीवादि भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ एव ऊर्जा गति करते हैं। यदि हमारे और तारो के बीच में यह माध्यम नही होता तो वहाँ से आनेवाला प्रकाश, जो लहरो के रूप मे धर्म द्रव्य के माध्यम से हम तक पहुँचता है, वह नही आ सकता था और ये सब तारे अदृश्य हो जाते।

यह माध्यम विश्व के कोने-कोने मे और परमाणु के भीतर भरा पड़ा है। यह द्रव्य नही होता तो ब्रह्माण्ड मे कही भी गति नजर नही आती। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तु के स्थायित्व के लिये उसकी शक्ति अविचल रहनी चाहिये। यदि उसकी शक्ति शनैः शनै नष्ट होती जाय या बिखरती जाय तो कालान्तर मे उस वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इस ब्रह्माण्ड को कुछ लोग तो ऐसा मानते हैं कि इसका निर्माण आज से कुछ अरब वर्ष पहले किसी निश्चित तिथि पर हुआ। दूसरी मान्यता यह है कि यह ब्रह्माण्ड अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और ऐसा ही चलता रहेगा। आइन्सटाइन का विश्व सम्बन्धी बेलन (सिलिण्डर) सिद्धान्त मे इसी प्रकार की मान्यता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह ब्रह्माण्ड तीन दिशाओ (लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई) मे सिलिंडर की तरह सीमित है किन्तु सीमा की दिशा मे अनन्त है। दूसरे शब्दो मे हमारा ब्रह्माण्ड अनन्त काल से एक सीमित पिण्ड की भाति विद्यमान है।

वैसे तो अगर हम यह सोचने लगें कि ये आसमान कितना ऊंचा होगा, तो उसकी सीमा की कोई कल्पना नही की जा सकती। हमारा मन कभी यह मानने को तैयार नहीं होगा कि कोई ऐसा स्थान भी है जिसके आगे आकाश नही है। जैन शास्त्रो में भी विश्व को अनादि अनन्त बताया है और उसके दो विभाग कर दिये हैं—एक का नाम 'लोक' रखा है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा तारे आदि सभी पदार्थ गर्भित हैं और इसका आयतन 343 घनरज्जु है। आइन्सटाइन ने भी लोक का आयतन घन-मीलो में दिया है। एक मील लम्बा, एक मील चौड़ा और एक मील ऊंचे आकाश खण्ड को एक घनमील कहते हैं। इसी प्रकार एक रज्जु लम्बी, एक रज्जु चौडी और एक रज्जु ऊंचे आकाश खण्ड को एक घनरज्जु कहते हैं आइन्सटाइन ने ब्रह्माण्ड का आयतन 1037×10^{63} घनमील बताया है अर्थात् 1037 लिखकर उसके आगे 63 बिन्दु लगाने से जो संख्या बनेगी (कुल अकों की संख्या 67) उतने घनमील विश्व का आयतन है। इसको 343 के साथ समीकरण करने पर एक रज्जु 15 हजार शंख मील के बराबर होता है।

ब्रह्माण्ड के दूसरे भाग को 'अलोक' कहा गया है। लोक से परे सीमा के बन्धनों से रहित यह अलोकाकाश लोक को चारो ओर से घेरे हुये है। यहा आकाश के सिवाय जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है।

लोक और अलोक के बीच की सीमा का निर्धारण करनेवाला धर्म द्रव्य अर्थात् 'ईथर' है। चूंकि लोक की सीमा से परे ईथर का अभाव है इस कारण लोक मे विद्यमान कोई भी जीव या पदार्थ अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप मे अर्थात् एनर्जी के रूप में भी लोक की सीमा से बाहर नहीं जा सकता। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि विश्व के समस्त पदार्थ और उसकी सम्पूर्ण शक्ति लोक के बाहर नहीं बिखर सकती और लोक अनादि काल तक स्थायी बना रहता है। यदि विश्व की शक्ति शनैः शनैः अनन्त आकाश मे फैल जाती तो एक दिन इस लोक का अस्तित्व ही मिट जाता। इसी स्थायित्व को कायम रखने के लिये आइन्सटाइन ने कर्वेचर ऑफ स्पेस की कल्पना की। इस मान्यता के अनुसार आकाश के जिस भाग मे जितना अधिक पुद्गल द्रव्य (मैटर) विद्यमान रहता है उस स्थान पर आकाश उतना ही अधिक गोल हो जाता है। इस कारण ब्रह्माण्ड की सीमायें गोलाईदार हैं। शक्ति जब ब्रह्माण्ड की गोल सीमाओ से टकराती है तब उसका परावर्तन हो जाता है और वह ब्रह्माण्ड से बाहर नहीं निकल पाती। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है और इस तरह वह अनन्त काल तक चलती रहती है।

पुद्गल की विद्यमानता से आकाश का गोल हो जाना एक ऐसे लोहे की गोली है जिसे निगलना आसान नही। आइन्सटाइन ने इस ब्रह्माण्ड को अनन्त काल तक स्थायी रूप देने के लिये ऐसी अनूठी कल्पना की। दूसरी ओर जैनाचार्यों ने इस मसले को यूं कहकर हल कर दिया कि जिस माध्यम मे होकर वस्तुओं, जीवों और शक्ति का गमन होता है, लोक से परे वह हैं ही नही। यह बडी युक्तिसगत और बुद्धिगम्य बात है। जिस प्रकार जल के अभाव में कोई मछली तालाब की सीमा से बाहर नहीं जा सकती, उसी प्रकार लोक से अलोक मे शक्ति का गमन ईथर के अभाव के कारण नहीं हो सकता। जैन शास्त्रो का धर्म द्रव्य मैटर या ईथर के अभाव के कारण नही हो सकता। जैन शास्त्रो का धर्म द्रव्य मैटर या एनर्जी नही है, किन्तु साइन्सवाले ईथर को एक सूक्ष्म पौद्गलिक माध्यम मानते आ रहे हैं और अनेकानेक प्रयोगों द्वारा उसके पौद्गलिक अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु वे आज तक इस दिशा में सफल नही हो पाये हैं। हमारी दृष्टि से इसका एकमात्र कारण यह है कि ईथर अरूपी पदार्थ है। कहीं तो वैज्ञानिकों ने ईथर को हवा

से भी पतला माना है और कही स्टील से भी अधिक मजबूत। ऐसे परस्पर विरोधी गुण वैज्ञानिको का ईथर में पाये जाते हैं और चू कि प्रयोगो के द्वारा वे उसके अस्तित्व को सिद्ध नही कर सके हैं इसलिये आवश्यकतानुसार वे कभी उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और कभी इन्कार। वास्तविकता यही है जो जैनागम मे बतलाई गई है कि ईथर एक अरूपी द्रव्य है जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण मे समाया हुआ है और जिसमे से होकर जीव और पुद्गल का गमन होता है। यह ईथर द्रव्य प्रेरणात्मक नही है, यानी किसी जीव या पुद्गल को चलने की प्रेरणा नही करता वरन् स्वय चलनेवाले जीव या पुद्गल की गति में सहायक हो जाता है, जैसे ऐंजिन के चलने मे रेल की पटरी (लाइनें) सहायक हैं। इस द्रव्य के बिना किसी द्रव्य की गति सम्भव नही है।

अब हम पाठको को विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कुछ बातें बताते हैं—हिन्दुओ के संकल्प मन्त्र के अनुसार इस पृथ्वी का जन्म आज से 1 अरब 97 करोड 29 लाख 49 हजार 76 वर्ष पूर्व हुआ। सकल्प मत्र इस प्रकार है—ओऽम् तत्सत् ब्रह्मणे द्वितायेे परार्द्धे, श्री श्वेत वाराह कल्पे, वैवस्वत् मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे, कलियुगे, कलि प्रथम चरणे इत्यादि।'

(सकल्प मन्त्र मे से सृष्टि सम्वत् की यह सख्या किस प्रकार निकलती है, लेख का कलेवर बढ जाने के भय से हम यहाँ बतलाना उचित नही समझते।)

कुछ समय पूर्व साइन्स की भी यही धारणा थी कि पृथ्वी का जन्म लगभग 2 अरब वर्ष पूर्व हुआ, किन्तु अब यह मान्यता बदल गई है। एक मान्यता ऐसी है कि पृथ्वी के प्रशान्त महासागर से चन्द्रमा का जन्म हुआ। अमृत-मथन की कथा मे इसी बात का सकेत मिलता है। जब चन्द्रमा पृथ्वी से पृथक् हुआ तो उसकी गति भिन्न थी और यह गति अब घट गई है और जिस रेट से यह घट रही है उसका हिसाब लगाने से सृष्टि की आयु 4 अरब 60 करोड वर्ष निश्चित होती है। सृष्टि की आयु से अभिप्राय यह है कि आज जिस रूप मे हम सृष्टि को देख रहे हैं वह रूप लगभग साढ़े चार अरब वर्ष पुराना है।

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? विज्ञान के क्षेत्र मे इस सम्बन्ध मे मुख्य दो सिद्धान्त हैं—(1) महान आकस्मिक विस्फोट का सिद्धान्त, और (2) सतत् उत्पत्ति का सिद्धान्त।

महान आकस्मिक विस्फोट का सिद्धान्त जिसे सन् 1922 मे रूसी वैज्ञानिक डा० फ्रैडमैन ने जन्म दिया, हिन्दुओ की कल्पना से मेल खाता है। जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड का जन्म हिरण्य गर्भ (सोने का अण्डा) से हुआ। सोना धातुओं में सब से भारी है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जिस पदार्थ से विश्व की रचना हुई है वह बहुत भारी था। उसका घनत्व सब से अधिक था। बढते-बढते यही अण्डा विश्वरूप हो गया।

अमेरिका के प्रोफेसर चन्द्रशेखर ने गणित के आधार पर बतलाया है कि विश्व रचना के प्रारम्भ में पदार्थ का घनत्व लगभग 160 टन प्रति घन इच था। जबकि 1 घन इच सोने का तोल केवल 5 छटाक होता है। दूसरे शब्दो में वह पदार्थ अत्यन्त भारी था।

आजकल के वैज्ञानिक इस प्रश्न पर दो समुदायो मे बँटे हुये हैं—एक वह जिनका मत है कि यह ब्रह्माण्ड अनादिकाल से अपरिवर्तित रूप में चला आ रहा है और दूसरा वह जो यह विश्वास करते हैं कि आज से अनुमानत. 10 या 20 अरब वर्ष पूर्व एक महान आकस्मिक विस्फोट के द्वारा इस विश्व का जन्म हुआ। हाइड्रोजन गैस का एक बहुत बडा धधकता हुआ बबूला अकस्मात फट गया और उसका सारा पदार्थ चारो दिशाओ मे दूर-दूर तक छिटक पडा और आज भी वह पदार्थ हम से दूर जाता हुआ दिखाई दे रहा है।

ब्रह्माण्ड की सीमा पर जो क्वैसर नाम के तारक पिंडो की खोज हुई है जो सूर्य से भी 10 करोड गुना अधिक चमकीले हैं, हम से इतनी तेजी से दूर भागे जा रहे हैं कि इनसे आकस्मिक विस्फोट के सिद्धान्त की पुष्टि होती है (भागने की गति 70,000 से 150,000 मील प्रति सेकिंड)। किन्तु भागने की यह क्रिया एक दिन समाप्त हो जायेगी और यह सारा पदार्थ पुन: पीछे की ओर गिरकर एक स्थान पर एकत्रित हो जायेगा और विस्फोट की पुनरावृत्ति होगी। इस सम्पूर्ण क्रिया में 80 अरब वर्ष लगेंगे और इस प्रकार के विस्फोट अनन्त काल तक होते रहेंगे। जैनाचार्यों ने इसे परिणमन की क्रिया कहा है। इसमें षटगुणी हानि वृद्धि होती रहती है।

दूसरा प्रमुख सिद्धान्त सतत् उत्पत्ति का सिद्धान्त है जिसे अपरिवर्तनशील अवस्था का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसके अनुसार यह ब्रह्माण्ड एक घास के खेत के समान है जहाँ पुराने घास के तिनके मरते रहते हैं और उसके स्थान पर नये तिनके जन्म लेते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि घास के खेत की आकृति सदा एक-सी बनी रहती है। यह सिद्धान्त जैन धर्म के सिद्धान्त से अधिक मेल खाता है। जिसके अनुसार इस जगत का न तो कोई निर्माण करनेवाला है और न किसी काल विशेष में इसका जन्म हुआ। यह अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक ऐसा ही चलता रहेगा। हमारी मान्यता गीता की उस मान्यता के अनुकूल है, जिसमें कहा गया है—

"न कर्तृत्व न कर्माणि, न लोकस्य सृजति प्रभु।"

एम० आई० टी० (अमरीका) के डा० फिलिप मोरीसन इस सम्बन्ध में कहते हैं—"ज्योतिषियो ने जो अब तक परीक्षण किये हैं उनके आधार पर यह निर्णय नही किया जा सकता कि खगोल उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो में से कौनसा सिद्धान्त सही है। इस समय इनमे से कोई सा भी सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से वस्तु स्थिति का वर्णन नही करता।"

इस सम्बन्ध में हम ससार के महान वैज्ञानिक प्रो० आइन्सटाइन का सिद्धान्त ऊपर वर्णन कर चुके हैं, जिसके अनुसार यह ससार अनादि अनन्त सिद्ध होता है।

विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे लेख का निष्कर्ष यह निकलता है कि महान आकस्मिक विस्फोट सिद्धान्त के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का प्रारम्भ एक ऐसे विस्फोट के रूप मे हुआ, जैसा आतिशबाजी के अनार मे होता है। अनार का विस्फोट तो केवल एक ही दिशा मे होता है। यह विस्फोट सब दिशाओं मे हुआ और जिस प्रकार विस्फोट के पदार्थ पुन: उसी बिन्दु की ओर गिर पडते हैं, इस विस्फोट मे भी ऐसा ही होगा। सारा ब्रह्माण्ड पुन: अण्डे के रूप मे सकुचित हो जायेगा। पुन: विस्फोट होगा और इस प्रकार की पुनरावृत्ति होती रहेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार भी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शून्य मे से नही हुई। पदार्थ का रूप चाहे जो रहा हो, इसका अस्तित्व अनादि अनन्त है।

दूसरा सिद्धान्त सतत् उत्पत्ति का है। इसकी तो यह मान्यता है ही कि ब्रह्माण्ड रूपी चमन अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और चलता रहेगा। इस सिद्धान्त को आइन्सटाइन का आशीर्वाद भी प्राप्त है। अतएव जगत उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का सिद्धान्त सोलहों आने पूरा उतरता है।

इस लेख की समाप्ति हम यह कहकर कर रहे हैं कि 343 घन रज्जु इस लोक में इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन आदि मूलभूत कणों की सख्या 10^{72} से लेकर 10^{75} तक है, अर्थात् 1 का अक लिखकर 73 या 75 बिन्दु लगाने से यह संख्या बनेगी।

अणुरणीयान महतोमहीयान

जैन गणित-विज्ञान की शोध दिशाएँ

लक्ष्मीचन्द्र जैन

वर्तमान वैज्ञानिक आधारो पर हुई खोजों के सदर्भ में अभिनव अवधि मे अनेक लेख जैन गणित एव विज्ञान पर प्रकाशित हो चुके हैं।[1] ये लेख सतही अथवा साहित्यिक नही हैं, किन्तु एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

---

1 (अ) Datta B B., The Jaina School of Mathematics, Bull. Cal Maths. Soc., 21 (1929) pp 115–145.

(ब) Datta B B , Mathematics of Nemicandra, The Jaina Antiquary, Arrah, 1, no ii (1935) pp 25–44.

(स) Singh A. N , Mathematics of Dhavala – I, Satkhandagama, book iv, edited by Dr. H L. Jain and others, Amaraoti, 1942. pp, v – xxi.

(द) Singh, A. N , History of Mathematics in India from Jaina Sources, The Jaina Antiqary, 15, no ii, (1949). pp. 46–53; and 16, no ii (1950), pp. 54–69. The Central Jaina Oriental Library, Arrah.

(इ) Jain, L. C., Tiloapannatti ka Ganita, Reprinted from introduction to Jambu Divapannatli Samgaho, Jivaraj Granthamala. Sholapur, 1958, pp. 1-109.

(फ) Jain L C , On the Jaina School of Mathematics, Babu Chotelal Jaina Smriti Grantha, Calcutta, 1967, pp 265-292

(क) Jain, L. F , Set Theory in Jaina School of Mathematics, I J. H S vol, 8, no. 1, 1973, pp 1-27

(ख) Jain, L C , The Kinematic Motion of astral real and counter Bodies in Trilok-asara, I J H S., vol II, no. 1, 1976, pp 58-74.

(ग) Das, S R., The Jaina Calendar, The Jaina Antiquary, Arrah, vol. 3, no. ii, sep. 1973, pp. 31-36

अपनाकर प्रस्तुत किये गये हैं। वलोदर्स्की ने श्रीधर तथा महावीराचार्य पर विशेष शोध लेख लिखे हैं। सिकदार के लेखो मे जहाँ दर्शन और विज्ञान को यथा-योग्य मर्यादाओ तक विस्तृत कर नवीनता प्रखर उठी है, वहाँ महेन्द्र कुमार एव जैन के लेखो मे इतिहास, गणित एव विज्ञान के विभिन्न पहलुओं को सयुक्त क्षेत्रो की खोज प्रस्तुत की गयी है। दत्त और सिंह ने बुनियादी कार्य किया है गणित इतिहास का, तथा गुप्ता ने गणित इतिहास की अज्ञात गहराइयो मे पहुँच की है। लिश्क एव शर्मा ने जैन ज्योतिष के गणितानुयोग पर कार्य किया है तथा सरस्वती ने प्राकृत ग्र थो के गणित पर अभिव्यंजना की है। शुक्ला ने आर्यभट्ट प्रथम के टीकाकार भास्कर प्रथम की टीका मे पूर्ववर्ती प्राकृत ग्र थों की आर्याओं और गाथाओं को खोजा है। अग्रवाल का शोध प्रबन्ध विस्तृत रूप मे जैन गणित और ज्योतिष की जानकारी देता है। इस प्रकार अब तक जो कार्य हो चुका है वह नई शोध दिशाओं की ओर इगित करता है तथा विभिन्न विद्या के केन्द्रों मे जैन गणित-विज्ञान मे शोध हेतु यथोचित प्रबन्ध कराने की ओर प्रेरणा देता है। ध्यान रहे कि यह सब शोध मुख्यत. ऐसे स्थानों मे हुआ है जहाँ जैन ग्र थ केन्द्र नही हैं अत ये अनेक ग्र थो के अभाव में हुए हैं। गोम्मटसारादि ग्र थो की वृहद् टीकाओ की सामग्री मे पडित टोडरमल द्वारा बडा अशदान है और उक्त प्राय: 3000 पृष्ठो की

(घ) Shastri, N. C, Bhartiya Jyotisa ka Posaka Jaina Jyotisa, Varni Abhinandana Grantha, Saugor, 1962, pp

(च) Sikdara, J C, Jaina Atomic Theory, I J. H. S, 5 2 (1970), pp 197-218.

(छ) Shukla, K S, Hindu Mathematics in the seventh century as found in Bhaskara I's commentary on Aryabhatiya (iv), Ganita, vol. 23, Dec, 1972, no. 2, pp 41-50.

(ज) Gupta, R C., Circumference of the Jambudvipa in Jaina Cosmography, vol. 10, no 1, 1975, 38-46

(झ) Volodarsky, A. I, Articles on Sridhara and Mahavira, Fiziko matematicheskie nauki V stranakh vostoka 1 (1966) and 2 (1969) Cf. also a special chapter on India, History of Mathematics from the earliest Times to the Beginning of the 19th Century, vol I, edited by A. P. Yushkevich (Moscow 1970-1972).

(ट) Lishk S. S, and Sharma S. D., The Evolution of Measures in Jain Astronomy, Tirthankar, vol 1, nos 7-12, Jul-Dec 1975, pp 83-92.

(ठ) Jain, L C., Aryabhata the Astronomer and Yativrsabha, the Cosmographer, ibid, pp. 102-106.

(ड) प्रमुख शोध प्रबन्धों में मुकुट बिहारी अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत, "गणित एव ज्योतिष के विकास मे जैनाचार्यों का योगदान" आगरा विश्वविद्यालय, 1972 है, तथा लिश्क, सज्जनसिंह द्वारा जैन ज्योतिष—वेदांगोत्तर एव हेलेनयुगपूर्व, नामक शोध प्रबन्ध पजाब विश्वविद्यालय मे अक्टूबर '76 में प्रस्तुत होने जा रहा है। महावीरराज गेलड़ा द्वारा भी रसायन विज्ञान में शोध अग्रसर है।

सामग्री शोध छात्रो हेतु शीघ्र ही छपाना अब अति आवश्यक प्रतीत हो रहा है ।[2]

जैन लौकिक गणित एवं ज्योतिष को (व्यावहारिक) गणित रूप में महावीराचार्य, श्रीधराचार्य तथा राजादित्य ठक्कर फेरू ने विकसित किया । ज्योतिष के गणित को विकसित करने मे प्रमुख रूप मे कालकाचार्य, हरिभद्र, चन्द्रलेख, महेन्द्र सूरी, लब्धचन्द्र गणि के अशदान भी उल्लेखनीय हैं ।[3]

उपरोक्त लौकिक रूप लोकोत्तर गणित-ज्योतिष से भिन्न रूप से विकसित हुआ प्रतीत होता है । विशेषकर कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी गणित को विकसित करने के लिए तिलोय पण्णत्ती[4] जैसे ग्रथो मे आधार निर्मित किया गया है । षटखडागम[5] के प्रथम पाँच खडो में भूमिका डाली गयी है तथा महाबन्ध ग्रथो[6] में बन्ध तत्त्व का निरूपण राशि सिद्धान्त के आश्रय से किया गया है । पुनः कसाय पाहुड[7] मे उपशम और क्षपणा के गणितीय रूप का निखार है । इन ग्रथो के सार रूप एव टीका रूप ग्रथो मे तथा इतर श्वेताम्बर कार्यादि ग्रथो मे गणित विज्ञान की सामग्री इतिहास तथा प्रयोग एव विश्लेषण शोध कार्य हेतु अद्वितीय है ।

इतिहास सम्बन्धी गणित ज्योतिष एवं कर्मगणित सिद्धान्त की शोध—

इस लेख मे हम मुख्यत: लोकोत्तर गणित-विज्ञान शोध का विवरण प्रस्तुत करेंगे । लोकोत्तर गणितादि के प्रमाण यूनान, भारत और चीन में बेबिलनीय स्रोत के कुछ अश लेकर प्रकट हुए हैं, जिनमें रवानी लाने का श्रेय वर्द्धमान महावीरकालीन मुनि मडल को है जिनके अशदान पश्चिम और पूर्व के उच्च मस्तिष्को के लिए प्रेरणा एव कौतूहल की वस्तु बन गये । यह निश्चत है कि महावीर पूर्व परम्पराओ की अभिलेख-बद्ध सामग्री मिश्र, चीन, बेबिलिन, सुमेरु आदि स्थलो पर जिस रूप मे उपलब्ध है वह भारत मे सिन्धु हड़प्पा के अज्ञात रूप मे दिखाई देती है, किन्तु उन सभी मे वह शक्ति नही थी कि वे विश्व की महावीरकालीन जागृति की ज्योति मे नये गणित का उद्‌भव कर सकें ।[8] इसी हेतु इतिहास का यह पक्ष उभारना श्रेयस्कर होगा कि कर्म सिद्धान्त का निर्माण करने में जिस गणित विद्या की आवश्यकता हुई वह लोकोपकारी प्रवृत्ति को लेकर हुई तथा उसे उन्नत करने में विश्व के प्रत्येक भाग मे विभिन्न गणित की शाखाएँ प्रस्फुटित होती चली गयीं । अलौकिक प्रेरणा का स्रोत भारत, यूनान तथा

---

2. गोम्मटसार, लब्धिसार एवं क्षपणासार, (वृ. तीन टीकाओ सहित), गाधी हरिभाई देवकरण ग्रथमाला, कलकत्ता, 1919 । इनमे प टोडरमल कृत सम्यक्ज्ञान चन्द्रिका टीका है जिसमे अर्थ सदृष्टि अधिकार अलग से दिये गये हैं ।
3. देखिये, नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्योतिष, ज्ञानपीठ, वाराणसी 1970 पृ. 125—160 ।
4. तिलोय पण्णत्ती भाग 1 (1943), तथा भाग 2 (1952), शोलापुर ।
5. षट्खण्डागम, (धवल टीका स) भाग 1—16, डा. हीरालाल आदि, (अमरावती विदिशा 1939—1959)
6. महाबध, भाग 1—7, ज्ञानपीठ—काशी (प. सु च दिवाकर एव प फू. च. सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित), 1947—1958
7. कसायपाहुड—सूत्र और चूर्णि अनुवादादि, प. हीरालाल सि शा. कलकत्ता—1955 । साथ ही, कसाय पाहुड (जयधवल टीका), मथुरा 1944 आदि ।
8. देखिये, B L. Vander Waerden, Science Awakening, Holland, 1945 ।

चीन रहा, किन्तु अहिंसा और सत्य के रूपो का चित्रण जिस रूप मे वर्द्धमानकालीन भारत में हुआ, तथा उनकी विचारधारा मे हुआ वह अन्यत्र उपलब्ध नही है।[9]

आज के गणित-इतिहासकार भले ही ऐसे स्रोत की प्रेरक उपस्थिति की परिकल्पना बेबिलन में क्यो न करें किन्तु गणितीय विधियो मे आमूल-चूल परिवर्तन प्राकृत ग्रथो मे ही—न्यायायिक समन्वय लिए, पर्याप्त रूप मे तथा आवश्यकीय कारणो से हुआ दृष्टिगत होता है। कर्म सिद्धान्त मे ही अनादि अनन्त विषयक द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव राशियाँ, उनके अल्प-बहुत्व, उनका अर्द्धच्छादि सलगा गणन, उनका वैश्लेषिक अध्ययन आदि किया गया है। सर्वाधिक रहस्य उस इतिहास का है जो क्रातिकारी सिस्टम सिद्धान्त के तथ्यो को कर्मों के सामयिक विलक्षण परिवर्तनो मे प्रकट करता है।

जहाँ इटली में जीनो (460 ई पू) के अनत-विभाज्यता सम्बन्धी तर्क विस्मय और कौतूहल उत्पन्न करते हैं, तथा यूनानियो को अनन्त की गणना से भयभीत करते हैं,[10] तथा जहाँ चीन मे 'हुई शिह' (पाँचवी सदी ई पू.) के असद्भास [11] से सह्मम्बद्ध प्रतीत होते हैं वहाँ प्राकृत ग्रंथों में वे सिद्धान्त रूप से उपधारित किये जाकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्ररूपणा का आधार बनते हैं। (धवल पु. 3 एवं 4)। कणाद[12] से प्राय 200 वर्ष पूर्व जहाँ उमास्वाति ने पुद्‌गल परमाणु और उसके अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति-अशो) की चर्चा की है वहाँ उसी आधार पर सीमित क्षेत्र मे अनन्त-विभाज्यता का खण्डन करने वाले जीनो के तर्क और मोशिंग (370 ई. पू.) की बिन्दु-परिभाषा सह-सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।[13] अविभागी समय सम्बन्धी प्रकरण जीनो के अतिम दो तर्कों का विषय बनते हैं। प्राकृत ग्रथो में अनेक प्रकार के अविभागी प्रतिच्छेद यथार्थ अनन्तो के इतिहास का निर्माण करते हैं तथा अनेक प्रकार के द्रव्यात्मक, भावात्मक, कालात्मक एव क्षेत्रात्मक अनन्तों के अल्प-बहुत्व को देकर इतिहास मे अमरत्व प्रदान करते हैं। (ये प्रकरण धवल पु 3 तथा 4 में तथा महाबन्ध ग्रन्थो में विशेष रूप से निर्वचनीत किये गये हैं।)

अनन्तों के अल्प-बहुत्व के प्रकरण यूरोप मे पुन: गैलिलियो (1564 — 1642) की एक-एक संवाद चर्चाओ में प्रकट होते हैं [14] तथा जार्ज केण्टर (1845-1958) के जीवन भर के अथक, अटूट, दुस्साहसपूर्ण प्रयासों में जन्म लेते हैं [15] तथा वृक्ष रूप में पल्लवित होते हैं। उसके फलस्वरूप प्राय 25 वर्ष से प्रस्फुटित हुए सिस्टम-सायबर्नेटिक सिद्धान्त हैं जिन्हें कर्म-सिद्धान्त

---

9. देखिये, महावीराचार्य—गणित सार सग्रह—प्रस्तावना, शोलापुर 1963।
10. T. Heath, Greek History of Mathematics, vol I (1921) pp. 275 et seq.
11. Needham J. and Ling W., Science and Civilization in China, vol. 1, Cambridge, p. 144 (1954), vol. 3. (1959).
12. देखिए Ray, P., History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Calcutta, 1956, pp. 46, 291, et seq
13. देखिये, नीधम, भाग 1, पृ. 155। धवला पुस्तक 3 तथा 4 भी देखिए। आज का गणित अपरिभाषित बिन्दु को लेकर व्यवहार करता है।
14. Bell E T., Development of Mathematics, 1945, p. 273.
15. Fraenkel A A., Abstract Set Theory, 1953, introduction.

का गणित, नवीन सामग्री अपने राशि सिद्धान्त पर आधारित कर दे सकेगी।[16] (देखिये लब्धिसार एव क्षपणासार-वृहदटीकाएँ।) जहा जार्ज केन्टर को कोई ऐसी आवश्यकता का कोई आधार नही था वहाँ प्राकृत ग्रथो के इस गणित को कर्म-सिद्धान्त प्रतिपादित करने की कठोर आवश्यकता का विशाल एव गहन आधार था। परिणामों की अतीव निर्मलता का उद्देश्य जगत इतिहास की उपेक्षा करने मे अपने नामो को छिपाकर अमर हो गया। प्राय. प्रत्येक घटना मे सातता, अनुमान और अभिबिन्दुता प्रस्थापित कर समाधान कर लिया जाता है। किन्तु असीम गहराइयो और अनन्त ऊचाइयों मे पहुँच करने हेतु नवीन गणितीय उपकरणो का आविष्कार करना होता है—वह आज की आधुनिक ज्यामिति और बीजगणित जिनका सहसम्बन्ध प्राकृत ग्रथो के क्षेत्रो और बीजों से करने परने पर इतिहास के पृष्ठ स्वर्णिम किए जा सकते हैं।

स्पष्ट है कि वर्द्धमान युग मे एक नवीन पथ की ओर मोड़ देने के लिए, सर्वदृष्टियो से आदर्श को तौलने के लिये, भारत तथा विदेशों मे भी प्रचलित लौकिक गणितो को साधन रूप मे अवश्य चुना गया होगा। उसमे नवीन प्रसाधन अपने साध्यो के आधार पर आविष्कृत किये गये होगे और युगान्तर मे उनका प्रचलन पुन.-पुन. हारमोनीय भावो मे देश-देशान्तरो मे होता चल गया होगा। अभिलेखबद्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि नवीन पद्धतियो का उपयोग सम्भवत: निम्न-रूप मे विकसित हुआ होगा :—

1. विविध प्रतीकत्व का विकास (देखिए ति प एवं अ स)
2. सख्याएँ लिखने तथा व्यक्त करने मे दसार्हा आदि पद्धतियो का प्रयोग
3. ह्रासित गुण्य राशियो के लिखने मे स्थानार्हा पद्धति का प्रयोग (अ. स)
4. सलागा गणन का उपयोग (धवल, पु 3-4)
5. एक-एक, एक-बहु तथा बहु-बहु सवाद विधि का प्रयोग (धवल, पु -3)
6. विरलन-देय गुणन तथा वर्गन सवर्गन विधियो का प्रयोग (धवल एव तिलोयपण्णत्ती)
7. क्षेत्र प्रयोग विधि तथा काल प्रयोग विधि का उपयोग (धवल, पु. 3)
8. वर्गादि स्थानो मे खण्डित, भाजित, बरलित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति एव विकल्प विधियो का प्रयोग। धवल, पु 3, पृ. 40, आदि)
9. धाराओ द्वारा अनेक अनन्तात्मक एव असख्यात्मक तथा सख्येय राशियो के पद एव पद-स्थानो का निरूपण।[17] (त्रिलोकसार, प्र अध्याय)
10. सूच्यगुल जगश्रेणि, अतर्मुहूर्त, पल्य, सागर, अविभागी प्रतिच्छेद, प्रदेश, समय आदि इकाइयो एव सख्या तथा उपमा मानो के निरूपण और तीनो लोक के खडो द्वारा विभिन्न राशियो के निरूपण।

---

16. Kalman R E, Falb, P. L and Arbib M A Topics in Mathematical System Theory, T M H, Bombay, 1969
17. आचार्य नेमिचद्र सि. च., "त्रिलोकसार" माधवचंद्र त्रैविद्य कृत टीका, बम्बई, 1920।

11. 109800 गगन खडो के कोणीय माप तथा योजन के दूरीय माप द्वारा ज्योतिष बिम्बो का स्थिर एव गतिशील प्रमाणों का निर्धारण । [18]

12. ज्योतिष बिम्बों का युग्मीय विधि से सम्मुख प्रस्थापन कर गतिशील घटनाओं के आकलन । कुतल-दीर्घवृत्तीय बिम्बगमनशीलता का एक क्षेत्रीय सिद्धान्त ।[19]

उपरोक्त आविष्कारो की ठीक तिथियाँ निर्धारण करना कठिन है, किन्तु स्मृति मद होने के फलस्वरूप उनका उत्तरोत्तर अभिलेखन वर्द्धमान के बाद की प्रक्रिया अवश्य प्रतीत होती है, जिसका शृ खलाबद्ध प्रस्फुटन आज का विशालतम वैज्ञानिक गणितीय साहित्य रूप मे दर्शनीय है। उपरोक्त सामग्री का अतिम ऐतिहासिक रूप पडित टोडरमल कृत गोम्मटसारादि की बृहद टीकाओं मे द्रष्टव्य है। [20] इसमें उन्होने ऋण प्रतीक के लिए पाँच चिन्हों का प्रयोग बतलाया है। शून्य का विभिन्न अर्थों मे प्रतीक-बद्ध उपयोग है। उसमें सलगा गणन के भी प्रयोग हैं जिनमे फलन के फलन के प्रतीक की अवधारणा को विकसित करने की ओर असफलता मिली प्रतीत होती है। यदि वे प्रयास इस ओर बढ़ते और भारतीय गणित विद्वानों का झुकाव इस ओर अधिक होता, तो कुछ शताब्दियों पूर्व ही आज का युग उपस्थित होता और यह श्रेय भारत को यथोचित मिलता। इसमे प्रयुक्त हुए कुछ प्रतीक गिरनार एव अशोक काल से पूर्व के शिलालेख कालीन प्रतीत होते हैं। अशोक के पूर्व के बडली ग्राम (अजमेर) तथा नेपाल की तराई के प्रिपाबा नामक स्थान मे उपलब्ध सामग्री मे जो 'ई' का चिन्ह है, उससे ऋण (रिण अथवा रि) के लिए प्रयुक्त चिन्हों का सबध सभवत स्थापित किया जा सकता है।[21] (देखिये, ओझा रचित भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ 2, 47, 1959 दिल्ली)।

जहाँ अरस्तू (384 ई. पू. से 322 ई. पू.) आत्माओ की श्रेढि के सिद्धान्त का प्ररूपण करते हैं, वहाँ चीन में ऐसा ही सिद्धान्त शुइनत्जू (298 ई. पू.—238 ई. पू., Hsun Tzu या Hsun Chhing) द्वारा प्ररूपित किया गया है, और यही भारत में जीवो के मार्गणा स्थानादि रूप मे निरूपित है। (नीधम, भाग 1, पृ 155)। चीन से लेकर यूनान तक ऐसी अवधारणाओ का युगपत् प्रकट होना इतिहास की समस्या है। इसी प्रकार चन्द्रमा के बढने-घटने के कारण समुद्रों के नीचे की पाताल वायु का फैलना (ति. प भाग 1, 4—2403, शोलापुर, 1943), चीन और यूनान मे क्रमश. लू शिह चुन चिउ (चौथी से तीसरी शताब्दी ई. पू.) और अरस्तू द्वारा चन्द्रमा की कलादि के कारण समुद्री रीढहीन जन्तुओं के फैलने आदि की चर्चा से समन्वय रखता प्रतीत होता है। इन तथ्यो के हजारों मील दूर फैलनेवाला स्रोत कहाँ था यह इतिहास की समस्या है।[22]

भारत से एक ओर पिथेगोरस और दूसरी ओर कन्फ्यूशन (छठी सदी 50) द्वारा पश्चिम और पूर्व मे नवीन प्रतिभा का नेतृत्व सचालन एक अद्भुत क्रांति को प्रकट करता है। पिथेगोरस सम्बन्धी अनेक किंव-

---

18. देखिये 1 (ख)।
19. वही।
20. देखिये 2।
21. देखिये 1 (फ)।
22. नीधम, भाग 1, पृ. 150—151 आदि।

दतियाँ उनके अहिंसा पथ और गणितादि के विलक्षण ज्ञान को बतलाती है। लोक मे जीवसख्या की अचलता के आधार पर जनता को हिंसा तथा माँसाहार की ओर से मोडकर शाकाहारी तथा हरियाली रहित भोजन की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न पिथेगोरस की निजी प्रतिभा का द्योतक है (E. T. Bell, Magic of Numbers, 1946, pp. 87, 88, 91, 92)। यदि कोई साधारण स्रोत यूनान और चीन के मध्य रहा, तो ऐसे प्रकरण चीन मे कन्फ्यूशस या ताओ काल में दृष्टिगत होना चाहिए। नीधम के अनुसार बौद्ध धर्म का चीन मे प्रथम प्रवेश ई. पश्चात् 65 मे हुआ जिसके प्राय 100 वर्ष पश्चात् प्रथम सूत्रो का चीनी भाषा मे लोयाग मे अनुवाद प्रारम्भ हुआ। (नीधम, भाग 1, पृ. 112)। मिस्र देश की जागृति का काल भी प्राय: यही है, जबकि सायटिक युग (663-525 ई) मे वहाँ अहिंसक कूफू कालीन प्राचीन परम्पराओ का अकस्मात अनुसरण प्रारम्भ हुआ था और नरसिंह (Sphinx) प्रतीक पुन: पूजा की वस्तु बन गया था। सम्भवत. यही आकर्षण पिथेगोरस के पूर्व देश भ्रमण का कारण बना होगा।[23]

अविभागी पुद्गल परमाणु के आधार पर परिभाषित बिन्दु के प्रयोग मे वीरसेन द्वारा कतिपय नवीन विधियो का उपयोग प्रकट हुआ है। इनमें से निश्लेषण विधि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा शकु के समच्छिन्नक का घनफल निकाला गया है। इससे π का मान निकालने के ऐसे सूत्र का उपयोग किया गया है जो चीन मे त्सु शुग-चिह्न (प्राय· पाँचवी सदी Tsu Chhung-Chih) द्वारा प्रयुक्त हुआ है। जैन ग्र थो—धवल—मे राशि सिद्धान्त मे प्रयुक्त मिन्न कलन चीन तथा मिस्र देशो के कलन से श्रेष्ठ है। चीन मे सलगागणन (ई. पू 4थी शताब्दी मे), भारत मे प्राय· 6वी सदी अथवा कतिपय ग्र थो (पट्खण्डागमादि) मे ई पश्चात् 2री सदी मे उपलब्ध है। जहाँ चीन मे वर्ग और घनमूल ई पू प्रथम सदी में दृष्टिगत हैं वहाँ षट्खण्डागम मे सीमित क्षेत्र मे स्थिति प्रदेश बिन्दुओ की सख्या का बारहवाँ वर्गमूल निकालने का उल्लेख है और जिसके तुल्य मान क्षेत्र, काल, भाव मे प्रदत्त हैं। चीन मे ज्यामितीय सामग्री ई पू तृतीय सदी में उपलब्ध है, वही तिलोयपण्णत्ती मे पाँचवी सदी तथा इतर ग्र थो मे ई पू भी दृष्टिगत है। जहा चीन मे प्राय· 1000 वर्ष पूर्व बीजगणित तथा ज्यामिति की मूलभूत तादात्म्य प्रकट है वहा धवल (9वी सदी) तथा अलख्वारिज्मी (9 वी सदी) में दृष्टव्य है। चीन मे कूट स्थिति के प्रयोग भी प्राकृत ग्र थो मे उपलब्ध हैं। इसी प्रकार अनिर्धृत विश्लेषण सुन त्जू (4थी सदी) तथा प्राकृत ग्र थों मे दृष्टिगत है।

लोकोत्तर गणित विज्ञान मे ज्योतिष बिम्बो की सख्या का निर्धारण, उनकी गमनशीलता, सुमेरु से दूरी, चित्रातल से ऊचाई, बिम्बों के आकार, तथा माप, आदि विविध प्रकार की सामग्री विकसित की गयी। इन प्राचीन तत्वो को हजारो वर्षों से अपरिवर्तित रखा गया (ति प, पृ. 16-17)। यूनान से ये विधियाँ अत्यत मिन्न हैं।[24]

कर्म सिद्धान्त के गणित का इतिहास विगत 25 वर्ष के विश्व विज्ञान मे प्रोद्भूत गणितीय सिस्टम सिद्धान्त से प्रारम्भ हुआ है। नियत्रण योग्यता तथा परिणाम योग्यता के आकलन गणितीय रूप मे विश्व के

---

23 Salem Hossan, The Sphinx, Its History in the Light of Recent Excavations, Cairo, pp. 219-221, (1949)

24. देखिये 1 (ख)।

इतिहास मे केवल कर्म सिद्धात मे ही निहित हैं। इसमे से फलित ज्योतिष आदि का विकास स्वाभाविक है।[25]

विज्ञान-विकास सम्बन्धी शोध दिशा :

जिस प्रकार आज के विज्ञान का आधार राशि-सिद्धान्त है, उसी प्रकार कर्म विज्ञान का आधारभूत गणित राशि-सैद्धान्तिक है। सिकदार द्वारा परमाणु सिद्धान्त पर विस्तृत शोध प्रबन्ध तथा अनेक शोध लेख प्रस्तुत किये गये हैं जिनमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण लिया गया है। वास्तव में कर्म सिद्धान्त का एक आधार परमाणु सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त एक-सूत्री तथा सगत सिद्धान्त के रूप मे अनेक उपधारणाओ (Postulates) तथा परिकल्पनाओ (Hypothesis) का आधार लेकर निर्मित किया गया। यह प्रिंसपिल थ्योरी के रूप मे विकसित हुआ न कि कन्सट्रक्टिव थ्योरी के रूप में।[26]

अभी तक जो विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन जी आर. जैन, एव कोल जे. एफ. आदि द्वारा हुए हैं उनसे स्थिति आशाजनक तो प्रतीत होती है।[27] घटनाओं का इस प्रकार का आशिक समाधान ही किसी सिद्धान्त को सगत सिद्ध नही कर सकता है। अपितु सिद्धान्त का महत्त्व तब सिद्ध होता है, जब कि वह आधुनिक सिद्धान्तो की समस्याओ को हल करने मे योगदान देकर नवीन फलित को निकालने का पथ-प्रदर्शन कर सके।

कर्म सिद्धान्त मे सन्निहित तत्त्वो मे निम्नलिखित प्रमुख धारणाओ का सन्निवेश है .—

1. अनन्तों या अनन्त राशियो का पूर्णांकों पर आधारित, धारा ज्ञान से उपधारित, अल्प-बहुत्वादि अनेक राशि सम्बन्धी सिद्धान्त।[28]
2. समय की अविभाज्यता के आधार पर महत्तम एव लघुत्तम प्रवेग की अवधारणा, जिससे काल और क्षेत्र के क्वाटम का प्रादुर्भाव।[29]
3. पुद्गल परमाणु की अविभाज्यता तथा उनकी राशि की यथार्थ गणात्मक उपधारणा। यह राशि जीव राशि से अनन्त गुनी है।
4. पुद्गल परमाणु का अनन्त पुद्गल परमाणुओं के साथ एक ही प्रदेश में अवगाहन।
5. द्रव्यों तथा उनके गुण पर्यायो का एक-दूसरे के गुण पर्यायों मे अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ता

---

25 ज्योतिष सम्बन्धी चीन में उपलब्ध सामग्री हेतु देखिये, 11, भाग 3। मिश्र, यूनान तथा बेबिलन आदि मे प्राप्त सामग्री हेतु देखिये Neugebauer, O., The Exact Sciences in Antiquity, Providence, 1957। कर्म सिद्धान्त मे फलित ज्योतिष सवाद के रूप मे स्वभावत उपस्थित हो जाता है। आय, व्यय, पुण्य, पाप आदि भावों का सत्त्व, आस्रव निर्जरा से सम्बन्ध अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

26 इन सिद्धान्तो का विवेचन डा आइन्स्टाईन ने The London Times, Nov. 28, 1919 मे दिया था।

27. Jain, G. R, Cosmology, Old and New, Lucknow 1942, Kohl, J. F., Physikalische und Biologische Weltbild der Indischen Jaina Sekte, Aligang, 1956.

28, धाराओ से सम्बन्धित एक लेख शीघ्र प्रकाशित होने वाला है—Jain, L. C., Divergent Sequences Locating Transfinite Sets in Trilokasara (I. J. H. S. Calcutta)

29. देखिये Jain, L C, Mathematical Foundations of Jaina Karma System, Bhagwan Mahavira and his relevance in modern times, Bikaner, 1976, pp. 132-150.

भावादि। इसे द्रव्य स्वातन्त्र्य भी कहते हैं जो केवल जिनागम मे ही उपलब्ध है, अन्यत्र नही।

6. स्पर्श गुण के अविभागी प्रतिच्छेदों (ऊर्जा स्तरों) के निश्चित आधार पर पुद्गल परमाणुओ का बन्ध।[30]

7. समयो के बीतने की अतीत-अनागत दिशा—अथवा क्रमबद्ध पर्यायों से सह सम्बन्ध। यह Causality का सिद्धान्त है जिसका उपयोग सिस्टम सिद्धान्त मे हुआ है।[31]

8. उपादान शक्तियो के सिवाय पुद्गल का अन्य द्रव्यो से उदासीन अनुग्रह (सहकारिता) से गमन, परिणमन, अवगाहन तथा स्थिरता होना।

9 पुद्गल मे वर्ण, रस, गध, स्पर्श विशेष गुणों के सिवाय सामान्य गुणो (प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अनन्त गुणी हानिवृद्धि, आदि) का होना।

10. केवल जीव तथा पुद्गल मे क्रियावती एव भाववती शक्ति का अस्तित्व। (द्रव्यो के देशान्तर प्राप्ति हेतु प्रदेशो के हलन-चलनरूप परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं। उनमें होनेवाले अविरल प्रवाह रूप परिणमन को भाव कहते हैं।)

11 योग और मोह रूपी अध्यवसाय (input functions) विचरण से गुण स्थानों (control stations) सम्बन्धी परिणाम (output functions)। इनका चित्रण सिस्टम सिद्धान्त का एक अग है।

12. आस्रव (input values) तथा उदयादि-निर्जरा (output values) युक्ति से सत्त्व (State) का ज्ञान। इसका चित्रण सिस्टम सिद्धान्त का दूसरा अंग है।

13. कर्म सिद्धान्त मे सिस्टम सिद्धान्त की अपेक्षा बन्धादि तत्त्वो का समावेश। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त एकसूत्री सगत सिद्धान्त से सिस्टम सिद्धान्त में अनेक सुझाव तथा उन्नयन हेतु नवीन पथ का अनुसरण।[32]

14. ज्योतिष सिद्धान्त मे एकसूत्री सिद्धान्त (जो तिलोय पण्णत्ती प्रभृति ग्रन्थो मे उपलब्ध है) द्वारा गणितीय गमनशीलता के नवीन नियमो की व्युत्पत्ति। कुन्तल-दीर्घवृत्तीय ज्योतिष बिम्बगमन द्वारा पंचाग सम्बन्धी समस्त जानकारी का आनयन।[33]

15. आधुनिकतम बीजगणितीय एव ज्यामितीय ज्ञान के उपयोग से कर्म सिद्धान्त की यथार्थ गहराइयो में पहुँच की पूर्ण सभावना।[34]

---

30. देखिये, वही।
31 देखिये, Jain L. C, The Jaina Theory of Ultimate Particles, paper read at the univerity of Indore on 8-4-1976.
32. देखिये, 29।
33 देखिये 1 (ख,।
साथ ही देखिये, Jain L. C, On Spiro elliptic orbit of the Sun in Tiloyapannatti, paper read at the University of Saugar.
34. इस विषय पर विस्तृत लेख System Theory in Jaina School of Mathematics प्राय: समाप्ति पर है।

जहाँ तक प्रत्यक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रश्न है, उनकी सम्भाव्यता का प्राकृत ग्रथो मे आधुनिक काल के लिए निषेध है। तब मति और श्रुत से परोक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रकरण सम्मुख आता है। पुद्गल द्रव्य विषयक दर्शन ज्ञान की उपलब्धि श्रुत के सिवाय मति से होती है। गति का आकार सदेशवाहक, पुद्गलक क्रियाएँ हैं। सदेश वाहन काल पर आधारित होने से सापेक्षता सिद्धान्त की आवश्यकता स्पष्ट है। सापेक्षता सिद्धान्त मे जब महत्तम प्रवेग की उपधारणा की जाती है, तो भौतिक विज्ञान के प्रारम्भिक आधुनिक प्रयोगो की पुष्टि होती है। साथ ही अल्पतम क्रिया (action) के क्वाण्टम की उपधारणा से क्वाटम याँत्रिकी का आधार बनता है, जिसमे अनिश्चिति के अनुबन्ध भी प्रयुक्त होते हैं।[35] आधुनिक सापेक्षता सिद्धान्त मे जहाँ एक ओर महत्तम प्रवेग को उपधारित किया गया है, वहाँ उसे अल्पतम प्रवेग तथा अविभागी समय से अछूता रखा गया है। क्वाण्टम यांत्रिकी में पुद्गल की द्वैतमय (तरगात्मक एव कणिकात्मक) दशाओ तथा गति और स्थिति के सम्बन्ध मे समाधान नही मिलता है क्योकि यह कन्स्ट्रक्टिव थ्योरी है, सापेक्षता सिद्धान्त की भाँति प्रिंसीपल थ्योरी नही है। इन समस्याओ का समाधान जैन समय तथा मद तम प्रवेग की अवधारणाएँ करता प्रतीत होता है।[36]

प्राकृत ग्रथो में अतीत काल समय राशि से अनागत काल राशि अनन्तगुणी बतलाना गणित की एक विलक्षण वस्तु है। इससे भी विलक्षण तथ्य है सुक्रमबद्धी साध्य (well-ordering theorem) गर्भित प्रक्रिया का अस्तित्व, "कि सर्वधारा मे 1, 2, 3, से प्रारम्भ करते हुए, समस्त सख्येय, असख्येय तथा अनन्त राशियाँ पार करते हुए केवल ज्ञान राशि तक पहुँचना।" इस साध्य को सिद्ध करने का आश्वासन जार्ज केण्टर ने दिया था। किन्तु यह साध्य अब कथचित सिद्ध किया जा सकता है।[37]

अनन्तो के अल्प-बहुत्व स्थापित करने मे केण्टर और डेडिकेंड की ज्यामितीय विधियो मे स्पष्ट अन्तर है। जहाँ आज सरलरेखा अथवा व्यवहार काल की अतीत-अनागत दिशायें किन्ही भी दो बिन्दुओ के अन्तराल मे अगण्य (non-denumerable) राशि की मान्यता है, वहाँ प्राकृत ग्रथो मे बिन्दुओ की राशि की सीमित (असख्येय अथवा सख्येय) सख्या की मान्यता है।[38] असख्यात कालाणुओ से लोकाकाश-द्रव्य की अखडता पूर्णरूपेण सम्पाती है।

इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त विषयक अनेक तथ्यो को आधुनिक तथ्यों की तुलना मे रखते हुए नवीन अंशदान का प्रयास करना होगा। ज्यामिति की अपेक्षा सिस्टम तथा कर्म सिद्धान्त में बीजगणितीय दृष्टि विकसित की गयीं है जो घटना-चक्र की जानकारी अत्यत सहज ढग से देती है। इस आधार पर बीजगणितीय अध्ययन का शोध-क्षेत्र लाभदायक सिद्ध होता प्रतीत होता है।[39]

* * *

---

35. देखिये, 29।
36. देखिये, वही।
37. देखिये, Z lot, W L., The Role of the Axiom of Choice in the Development of the Abstract Theory of Sets, Library of Congress, Mic 57-2164, Columbia University Thsis (1957)
38. देखिए 1 (इ)।
39. देखिये, Kalman, R E Introduction to the Algebriac Theory of Linear Dynamical Systems, Lecture notes, vol II, Springer Verlag, 1969.

शाकाहार

वैज्ञानिक एवं चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण

डा० पदमचन्द्र जैन

प्रत्येक प्राणी को सर्वाधिक प्रिय उसका जीवन है। वह जीना चाहता है, और मुख्यत· जीने के ही लिये या यथासभव सुखी जीवन जीने के ही लिये अपने जीवन के विविध उपक्रम करता है। कोई भी जीव अनायास ही मरना नही चाहता। यही कारण है कि महापुरुषो और धर्मावतारो ने सभी को जीने के अधिकार का समर्थन किया है। सभी महापुरुष हिंसा के विरोधी रहे हैं, या यो भी कह सकते है कि ससार ने या मानव जाति ने उन्हीं को महापुरुष या धर्मावतार के रूप मे मान्य किया है जिन्होंने हिंसा के कुचक्र से निकलकर सभी जीवों के जीने के समान अधिकार का समर्थन किया है, सुख और शान्ति का अहिंसक मार्ग बताया है। सम्भवत· कोई भी धर्म या दर्शन ऐसा नही है, जिसमें जीव-हत्या या जीव भक्षण को उचित माना हो। सभी ने मनुष्य द्वारा हिंसा को अप्राकृतिक माना है और प्राकृनिक रूप से जीने और दूसरो को जीने देने के लिये और उत्तम आचरण के लिये उपदेश दिये हैं।

जहाँ उत्तम आचरण की चर्चा आती है वहाँ हमारा ध्यान इस प्रसग पर जाता है कि आचरण को निर्मित करनेवाले विभिन्न पक्ष क्या हैं ? इस प्रसंग पर दार्शनिको, और वैज्ञानिको के विचारो के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के आचरण को प्रभावित करनेवाला सर्वप्रमुख तत्व है, उसका आहार। मनुष्य का आहार, उसकी बुद्धि, विचार शक्ति, शारीरिक सरचना, व्यवहार और सस्कारों पर अत्याधिक प्रभाव डालता है। यही कारण है कि दार्शनिको ने इस पर तीव्र चिंतन और वैज्ञानिको ने गहन अनुसधान किये हैं। उन्होंने मनुष्य के आहार को दो भागों मे बाँटा है—शाकाहार और दूसरा माँसाहार। दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों दृष्टियो से प्रथम प्रकार के आहार "शाकाहार" को मनुष्य का प्राकृतिक आहार माना जाता है, और माँसाहार को अप्राकृतिक। इस प्रकार शाकाहार ही श्रेष्ठ आहार माना गया है, इसकी श्रेष्ठता पर विचार करने के लिये इसके विभिन्न पक्षो पर विचार करना आवश्यक है —

प्राकृतिक पक्ष

प्राकृतिक दृष्टि से शाकाहार का पक्ष अत्याधिक सबल है। इसका सबसे बडा प्रमाण मनुष्य की शारी-

रिक सरचना है। उसके मुँह, दाँतो, हाथ की उगलियो एव नाखूनों की बनावट के आधार पर प्रसिद्ध शरीर-रचना शास्त्री एव वैज्ञानिक उसे त्रण-कुशाचारी पशुओं की भाँति वनस्पत्याहारी अथवा शाकाहारी प्राणियो मे गिनते हैं, माँसाहारी प्राणियो में नही। लारेन्स, किंग्सफोर्ड, कुवियर, पॉशेट, वैशन, लिन्नियस एव लकास्टर आदि अनेको पाश्चात्य विशेषज्ञो का मत है कि मात्र शाकाहार ही मनुष्य की प्रकृति और उसकी शारीरिक सरचना के सर्वथा अनुकूल है। डा० अलेक्जंडर हेग के अनुसार भेडिया, चीता, सिंह आदि माँसाहारी पशुओ का पाचनतत्र माँसाहार को पचाकर विषाक्त द्रव्यो को शरीर से निष्कासित करने की क्षमता रखता है, जबकि मनुष्य का पाचनतत्र वैसा नही कर सकता, न वह उस प्रकार माँस भोजन को उपयुक्त रस-रक्त आदि सप्त धातुओ में भली प्रकार परिवर्तित कर सकता है। प्रो लारेन्स ने माँसाहार के समर्थको के इस तर्क का कि माँसाहारियो मे शारीरिक बल और साहस अधिक होता है, खन्डन करते हुए कहा है कि —शाकाहार के साथ शारीरिक दौर्बल्य एव कायरता का उतना ही कम सम्बन्ध है, जितना कि माँसाहार के साथ शारीरिक बल और साहस का। वस्तुतः शाकाहारी की अपेक्षा माँसाहारी में सहनशक्ति, शौर्य और साहस कही अधिक कम होता है। पशु जगत् में हाथी, दरियाई घोडा, घोडा, ऊट, गेंडा, बैल, महिष आदि शुद्ध शाकाहारी जीव विश्व के विभिन्न माँसाहारी जीवो की अपेक्षा अत्यधिक शक्तिशाली, साहसी, स्फूर्तियुक्त एवं दीर्घजीवी होते हैं।

दार्शनिक पक्ष

दार्शनिक दृष्टि से तो शाकाहार का पक्ष और भी प्रबल है, विश्व के लगभग सभी दार्शनिको एव महापुरुषो ने शाकाहार का प्रबल समर्थन किया है। यही नही उसे जीवन मे अपनाया भी है। ऋग्वेद में कहा है—"हे मित्र ! जो पशु का माँस खाते हैं, उनका सिर फोड डालो। हे अग्नि ! माँस भक्षण करनेवालो को अपने मुँह मे रख लो।" अथर्ववेद, मनु स्मृति और महाभारत मे भी इसी प्रकार की धारणा व्यक्त की गई है। जैनागमों मे कहा है—"किसी भी प्राणी का घात करना स्वयं अपना घात करना है। भोजन जिह्वा के स्वाद के लिये नही खाया जाता—शरीर की रक्षा के लिये खाया जाता है। माँस-भक्षण, मद्यपान, पशु-पक्षियो का शिकार, चोरी, द्यूत क्रीडा (जुआ खेलना) और व्यभिचार भारी पाप हैं जो मनुष्य की दुर्गति करते हैं।" भगवान बुद्ध ने लंकावतार सूत्र मे कहा है—'माँसाहारी दूसरों के प्राणों को बलपूर्वक लेने के कारण डाकू समान हैं। जो व्यक्ति लोभवश दूसरो के प्राण हरते हैं तथा माँस के उत्पादन मे धनादिक से योग देते हैं वे पापी है, दुष्ट हैं, घोर नरक मे जाकर महा-दुख उठाते हैं। मैं मानता हूँ कि जो व्यक्ति दूसरे प्राणियो का माँस खाता है वह वास्तव मे अपने पुत्र का माँस खाता है।"

ईसा मसीह ने कहा है—"देखो मैंने पृथ्वी पर सब प्रकार की जडी-बूटियाँ तथा उनके बीज दिये हैं। साथ ही, तरह-तरह के फलों से लदे पेड़-पौधे भी दिये हैं तथा उनके बीज भी। इन सब शाकाहारी पदार्थों को खाओ। वे तुम्हारे लिये माँस से अधिक लाभप्रद हैं। तुम मेरे निकट सदैव एक पवित्र आत्मा बने रहोगे, यदि तुम किसी का भी माँस न खाओ।" पैगम्बर मोहम्मद ने भी कुरान शरीफ में कहा है—"किसी भी प्रकार का माँस ईश्वर को नही पहुँचता, न किसी का रक्त ही। परन्तु जितनी कुछ दया पालोगे वही अल्लाताला को कबूल होगी।" हजरत अली ने और भी सशक्त रूप से कहा है कि—"हे इन्सान। पशु पक्षियो की कब्र तू अपने पेट में मत बना।" गुरु नानक देव ने कहा है—

"जे रक्त लगे कापडे, जामे होवे पलित्त।
जो रस पीवे मानुषा, तिन क्यो निर्मल चित्त॥"

सूफी सन्त अबुल अली ने एक प्रसंग मे लिखा है—"कसाई को छुरी चलाते देख बकरी ने कहा—हरी घास खाने पर मुझे यह सजा मिल रही है, तब मेरा माँस खानेवाले कसाई का क्या हाल होगा।" कबीरदास कहते हैं—

> माँस अहारी मानवा, परतछ राक्षस अग।
> तिनकी संगत मत करो, परत भजन मे भग।।
> जोरि कर जिबह करें, कहत करें हलाल।
> जब दफ्तर देखेगा दई, तब होगा कौन हवाल।।

प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात, चाणक्य, जरथुस्त, पाइथोगोरस, अफलातून (प्लेटो), तिरुक्कुरल, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि ने शाकाहार का प्रबल समर्थन किया है। सम्राट अकबर ने तो बडे ही कडे शब्दों मे कहा है—मेरे लिये कितने सुख की बात होती यदि मेरा शरीर इतना बडा होता कि माँसाहारी लोग केवल मेरे शरीर को ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते, ताकि वे फिर दूसरो को मारकर न खाते।" विश्व के सभी प्रमुख साहित्यकारो, वैज्ञानिको, विचारको ने भी इस पक्ष मे अपने सशक्त मत व्यक्त किये हैं। टालस्टाय ने कहा है—"माँस खाने से पाशविक प्रवृत्तियाँ बढती हैं, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और मदिरा पीने की इच्छा होती है। इन सब बातो के प्रमाण सच्चे-शुद्ध और सदाचारी नवयुवक हैं। विशेषकर स्त्रियाँ और जवान लडकियाँ हैं जो इस बात को साफ-साफ कहती है कि माँस खाने के बाद काम की उत्तेजना और अन्य पाशविक प्रवृतियाँ आप-ही-आप प्रबल हो जाती हैं। माँस खाकर सदाचारी बनना असभव है।" चार्ल्स डारविन ने लिखा है—"प्राचीन काल मे मनुष्य भारी संख्या में शाकाहारी ही थे। (Descent of Man, P. 156) और मैं विस्मित हूँ कि ऐसे असाधारण मजदूर मेरे देखने में कभी नही आए, जैसे कि चिली की खानो में काम करते हैं। वे बडे दृढ, बलवान हैं और वे सब शाकाहारी हैं। इनके अतिरिक्त अलबर्ट आईस्टीन, हमबोल्ट, ई. एल प्रेट, मि होरेस ग्रीले, प्रो. जोहेनरे, ए ई. बेरिस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जार्ज बर्नार्ड शा, काका कालेलकर आदि अनेक विद्वानो ने भी शाकाहार का प्रबल समर्थन किया है।

बीसवीं सदी मे अहिंसक वैचारिक क्रान्ति के उन्नायक महानतम दार्शनिक-राजनीतिज्ञ एव सन्त महात्मा गाँधी तो न केवल इसके प्रबल समर्थक ही थे, वरन् इसके प्रचारक भी थे। शाकाहार उनके गाधीवादी जीवन-दर्शन का प्रमुख अग है। उन्होने लिखा है—"डॉक्टर किंग्सफोर्ड और हेग ने माँस की खुराक से शरीर पर होनेवाले बुरे असर को बहुत ही स्पष्ट रूप से बतलाया है। इन दोनो ने यह बात साबित कर दी है कि दाल खाने से जो एसिड पैदा होता है, वही एसिड माँस खाने से बनता या पैदा होता है। माँस खाने से दातो को हानि पहुँचती है, संधिवात हो जाता है। यहीं तक बस नहीं, इसके खाने से मनुष्यो मे क्रोध उत्पन्न होता है। हमारी आरोग्यता की व्याख्या के अनुसार क्रोधी मनुष्य निरोग नही कहा जा सकता। केवल माँस-भोजियो के भोजन पर विचार करने की जरूरत नही, उनकी दशा ऐसी अधम है कि उसका ख्यालकर हम माँस खाना कभी पसन्द नही कर सकते। माँसाहारी कभी निरोग नही कहे जा सकते।"

सामाजिक पक्ष

सामाजिक दृष्टि से यदि हम मानवीय आहार का मूल्याकन करें तो भी शाकाहार का पक्ष अत्यधिक प्रबल है। असामाजिक तथा आपराधिक तत्वो के सम्बन्ध में किये गए विभिन्न सामाजिक अनुसधानो से जो तथ्य सामने आए हैं, उनसे स्पष्ट है कि युद्ध, कलह, रक्तपात, हिंसा एव अन्य भीषण अपराध माँसाहारियो मे ही अधिक पाए जाते है। माँसाहार और मद्यपान का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। सामान्यत: माँसाहारी मद्यपान की ओर प्रेरित होते हैं। इन दोनो के सयोग से यौन इच्छाएँ उग्र होने के कारण ये लोग यौन अपराधो मे

संलग्न होते हैं। इससे यौन विकार उत्पन्न होते हैं तथा समाज में अव्यवस्था एवं कलह को प्रोत्साहन मिलता है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि माँसाहार क्रोध एव यौन इच्छाओं को प्रोत्साहित करता है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ मानव को असामाजिक कार्यों के लिये प्रेरित करती हैं। माँसाहार के लिये निरीह पशुओं का वध किया जाने के कारण माँसाहारियों में प्रेम, दया और अहिंसा की भावना लुप्त होती जाती है, इसके कारण क्रूरता, अदया एव हिंसा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। यही नही, इसके कारण अनेको पशु-पक्षियों की जातियाँ सर्वथा समाप्त होती जा रही हैं। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से भी शाकाहार अत्यधिक उपयुक्त आहार है, इससे आदर्श समाज की स्थापना मे सहायता मिलती है।

आर्थिक पक्ष

आर्थिक दृष्टि से शाकाहार माँसाहार की तुलना मे सस्ता, सुलभ, सहज एव प्रचुर होना है। यह रचनात्मक उत्पादन का परिणाम होने से प्राकृतिक है। प्रकृति प्रत्येक समय समयानुकूल अन्न, फल तथा सब्जियाँ आदि उत्पादन प्रदान करती है। आज मनुष्य जाति का एक बहुत बडा भाग कृषि उत्पादन मे लगा है। इनके परिश्रम तथा प्रकृति के आशीर्वाद से प्राकृतिक उत्पादनों मे जितनी विविधताएँ उपलब्ध हैं, वह माँसाहार के लिये कल्पना की ही बात है। यही कारण है कि सम्भवत. विश्व में शायद ही कोई मानव ऐसा हो जो मात्र माँसाहार पर ही जीवित रहता हो और प्राकृतिक भोजन अन्न, फल, वनस्पतियो, सब्जियो आदि को ग्रहण करता हो जबकि विश्व मे करोडों ऐसे लोग हैं जो पूर्णत. शाकाहार पर ही जीवित हैं और किसी भी दृष्टि से माँसाहारियों के समक्ष हीन नही हैं वरन कई दृष्टियों से उनसे उन्नत हैं।

शाकाहार न केवल मूल्य की दृष्टि से सस्ता तथा उपलब्धता की दृष्टि से सहज व सुलभ ही है वरन् इसके कारण करोडो व्यक्तियों को जो कृषि एवं उनसे सम्बद्ध रोजगारों मे लगे हैं तथा करोडों जीवो को जो दुग्ध उत्पादन या कृषि उत्पादन मे लगे हैं, को जीविका प्रदान करता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

मानवीय आहार के सम्बन्ध मे अनेको वैज्ञानिक अनुसधान हुए है। इन अनुसंधानो से यह तथ्य स्पष्टत. रूप से उजागर हुए हैं कि शाकाहारी व्यक्ति अधिक दीर्घजीवी, सुदृढ एव स्वस्थ होते हैं जबकि माँसाहार अनेक दोषों का कारक है। अजरवेजान (सोवियत रूस) के 168 वर्षीय शिराली मिसालिनोव ने माँसाहार और मदिरा दोनो को ग्रहण न करने को अपने दीर्घ और चुस्त जीवन का रहस्य बताया है।

वैज्ञानिक अनुसधानो के अनुसार स्वस्थ एव पुष्ट शरीर निर्माण के लिये निम्नलिखित तत्वों की पूर्ति आहार मे आवश्यक मानी गयी है—

1. **प्रोटीन—**

यह शारीरिक विकास, उत्साह, शक्ति और स्फूर्ति पैदा कर शरीर की क्षतिपूर्ति करती है।

2. **फैट (चिकनाई)—**

यह शरीर में शक्ति और गरमी पैदा करती है।

3. **खनिज लवण—**

ये हड्डियों को मजबूत बनाते हैं तथा भोजन शक्ति को अच्छा रखते हैं।

4. **कार्बोहाइड्रेट्स—**

ये शरीर में शक्ति और गरमी पैदा करते हैं।

5. **जल (नमी)—**

यह शरीर की सफाई कर गन्दे पदार्थों यथा-पसीना, मल-मूत्र आदि, को शरीर के बाहर निकालने

तथा भोजन के पाचन एव खून के दौरे में मदद देता है तथा शरीर के तापक्रम को समान रखता है ।

6 **कैलशियम—**

यह हड्डियो और दातो को मजबूत बनाने, शरीर का रंग निखारने, बालों को घने तथा मजबूत बनाने का कार्य करता है ।

7. **लोहा—**

यह खून के प्रत्येक तन्तु तक आक्सीजन पहुँचाने तथा खून की लाली बढाने एव बनाए रखने का काम करता है ।

8. **विटामिन—**

ये शरीर को स्वस्थ तथा रोगमुक्त रखते हैं ।

9. **कैलोरी—**

यह शरीर मे शक्ति व गरमी नापने का पैमाना है अर्थात शरीर मे उत्पन्न गरमी और शक्ति मापने की माप है ।

विभिन्न खाद्य पदार्थों मे पाए जानेवाले उपरोक्त तत्त्वों की मात्रा के आधार पर यह तथ्य सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अनाज व वनस्पतियो मे पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्व उपलब्ध होते हैं, (देखिये तालिका क्रमाक 4) न केवल यही वरन् बहुत सी वनस्पतियों मे इनकी मात्रा माँसाहारी वस्तुओ की अपेक्षा काफी अधिक है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है'—

तालिका क्रमाक 1

वस्तु		पोषक अशों की मात्रा
1. बादाम		91 प्रतिशत
2. चना, मटर	...	87 ,,
3. चावल	...	87 ,,
4· गेंहूँ	...	86 ,,
5 जौ	...	84 ,,
6. घी	...	87 ,,
7. दूध	...	60 ,,
8. माँस	...	28 ,,
9. मछली	...	13 ,,

विभिन्न देशो के सन्दर्भ मे वहाँ के निवासियो के लिये दैनिक रूप से आवश्यक विभिन्न पौष्टिक तत्वो के सन्दर्भ मे किये गए अनुसधान के आधार पर जो तथ्य प्रकाश मे आए हैं, और इस आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के लिये जो सन्तुलित आहार सुझाये गये हैं उनसे भी यह बात स्पष्टत' प्रमाणित हुई है कि शाकाहार मे ये सभी पौष्टिक तत्व पर्याप्त एव प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है । इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडीकल रिसर्च द्वारा सन् 1968 मे भारतवासियो के लिये आवश्यक सन्तुलित भोजन की जो तालिकाएँ (देखिये तालिका क्रमाक 3) प्रकाशित की गई हैं उनसे भी यह स्पष्टत प्रमाणित है कि शाकाहार ही सन्तुलित भोजन उपलब्ध कराने को पर्याप्त रूप से सक्षम आहार है ।

चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टिकोण

वैज्ञानिको एवं चिकित्सा शास्त्रियो ने आहार के सम्बन्ध मे किये गये विभिन्न अनुसधानो मे सतुलित आहार तथा विभिन्न आहारो मे उपलब्ध पोषक तत्वो के सबध मे पर्याप्त अनुसधान किये हैं । उनसे जहाँ आहारो के गुणात्मक पक्ष पर प्रकाश पडा है, वहाँ गत शताब्दी मे चिकित्सा शास्त्रियो ने विभिन्न आहारो द्वारा मानवीय शरीर पर पडनेवाले कुप्रभावो पर भी पर्याप्त मात्रा मे शोध-कार्य किये हैं, इन अनुसधानो से जो नये तथ्य प्रकाश मे आये हैं वे माँसाहारियों के लिये चौंका देनेवाले एवं गम्भीर चेतावनी स्वरूप हैं । अनेको चिकित्सा शास्त्रियों के मतानुसार माँसाहार गठिया, कैन्सर, पक्षाघात, राजयक्ष्मा, मृगी, रक्ताम्ल, कुष्ट आदि कितने ही भयानक रोगों को प्रोत्साहित करता है । विगत मे हुए अनुसधानो से माँसाहारियो

का यह तर्क कि माँसाहार माँस तथा शक्ति की वृद्धि होती है, भी खण्डित हुआ। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार माँसाहार माँस तथा चर्बी बढाकर मोटापे मे वृद्धि अवश्य करता है, परन्तु शक्ति या स्फूर्ति मे नही। माँसाहार से स्फूर्ति या ओज प्रकट नही होता, यही कारण है कि घायल, बीमार, अशक्त, गर्भिणी अथवा प्रसूता को माँसाहार निषिद्ध रहता है और उसे दूध, फलो का रस तथा हल्का शाकाहारी भोजन दिया जाता है।

चिकित्सा शास्त्रीय अनुसधानो मे प्रत्येक आहार की सूक्ष्मतम बारीकियो की जाँच कर जो तथ्य प्रकाश मे आए है उनसे यह स्पष्ट है कि विभिन्न माँसाहारी वस्तुएँ मानव शरीर के लिये अत्यधिक घातक हैं। मानवीय आहार की चर्चा करते समय विभिन्न माँसाहारी वस्तुओं के इस पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक है।

अण्डे

आजकल कुछ लोग अण्डो को निर्जीव बताकर उसे शाकाहार के अन्तर्गत बताकर शाकाहारियो को उनके उपभोग का तर्क देने लगे हैं, या यो कहें कि कुछ शाकाहारी अण्डो के उपयोग को उपरोक्त तर्क से सिद्ध कर दूसरो को भी अण्डे खाने की सलाह देने लगे हैं और इस प्रकार इधर कुछ वर्षों में अण्डो का प्रयोग बढा है, परन्तु वास्तविक रूप से यह तर्क निरर्थक है। माँस और हड्डी न होने के आधार पर अण्डे के तरल को शाकाहार कहना मूर्खता ही है। यह कहनेवाले यह जानकर भी कि–प्रत्येक जीव की उत्पत्ति तरल पदार्थ से ही होती है, इस प्रकार का तर्क देते हैं, यह दुर्भाग्यपूर्ण है। विगत अनुसधानो ने यह सिद्ध किया है कि अण्डे की जरदी अण्डे का बडा खतरनाक भाग है। इसमें कोलेस्ट्रोल नामक भयानक विष एक चिकना एलकोहल होता है, जो जिगर मे पहुँचकर जमा होता है और हृदय से रक्त ले जानेवाली नाडियो में रुकावट पैदा करता है, इसके कारण दिल की बीमारी हाई ब्लड प्रेशर, गुर्दे की बीमारी, पित्त की थैली बीमारी मे पथरी और जोडो मे दर्द हो जाता है।

कृषि विभाग, फ्लोरिडा (अमेरिका) ने अपने हैल्थ बुलैटिन (अक्टूबर 1967) मे प्रकाशित शोध प्रतिवेदन (रिसर्च रिपोर्ट) मे कहा है कि —"18 माह के परीक्षण के बाद 30 प्रतिशत अण्डो मे डी. डी. टी. नामक विष पाया गया।" डा. जे. एम. विलकिंस ने लिखा है—"अण्डे की सफेदजरदी मुख्यतया अलबुमिन ही है, जो कि प्रोटीन की एक किस्म ही है। शरीर अलबुमिन को नष्ट तत्त्व के रूप मे बाहर निकालता है। अण्डे का पीला भाग कोलेस्टरौल नामक पदार्थ अपने अन्दर रखता है जो कि एक प्रकार की चिपचिपी शराब है जो यकृत और खून की रगो मे जमा हो जाता है और खून की धमनियो (रगो) मे जमा हो जाता है तथा खून की धमनियो (रगो) में जख्म और कडापन पैदा कर देता है।" डा. इ. व मैककोलम ने जब बन्दरों को अण्डों पर ही रखा तो उनमे सडानेवाले कीटाणु अधिक होने लगे और वे सुस्त हो गए, उनके पेशाब की मात्रा कम और रग गहरा हो गया। जब उन्हें दूध व अगूर की शर्करा दी गई तो मानसिक व शारीरिक दोनो परिवर्तन उनमें पुनः लौट आए और वे ठीक हो गए। उन्होने अपने अनुसधान के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अण्डों मे चूने की कमी होती हैं और उनमे शर्करा भी नही होती है। अत. अण्डों मे आँत के अन्दर सडाने की रुझान होती है बनिस्वत कि हाजमा दुरुस्त करने की। वे विषाक्त तत्त्वो को शरीर में पैदा कर देते हैं और सुस्ती लाते हैं।

इगलैण्ड के डा रावर्ट ग्राम का लिखना है कि—मुर्गी के बच्चे में बहुत-सी बीमारियाँ होती हैं। अण्डे उन बीमारियो को विशेषतया टी बी., पेचिश आदि के कीटाणुओं को अपने साथ लाते हैं और इनको खानेवालों मे पैदा कर देते हैं।" डा. इ. वी. मैक्कलिम ने

लिखा है—"अण्डों में कैलशियम की कमी और कार्बोहाइड्रेट्स का बिल्कुल अभाव होता है, इस कारण से बडी आँतो मे जाकर सडान मारते हैं।" डा. गोविन्दराज का कहना है कि "अण्डो मे नाइट्रोजन, फास्फोरिक एसिड और चर्बी की अधिक मात्रा होती है, इस कारण ये शरीर में तेजावी माद्दा पैदा करते हैं और मनुष्य को रोगी बनाते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त चिकित्सको द्वारा किये गए अनुसधानो के आधार पर यह बात स्पष्टत. प्रमाणित हो गई है कि अण्डे मनुष्य के लिये उपयुक्त आहार नही हैं।

माँस एवं मछलियाँ

माँस के प्रभावों की चर्चा करते हुए हार्वर्ड स्कूल ऑफ अमेरिका के डा. ए. वाचमैन और डा. डी. एस. वर्मस्टीन[1] ने लिखा है—"माँसाहारी लोगो का पेशाब प्रायः तेजाबयुक्त होता है। इस कारण शरीर के रक्त का तेजाब और क्षार का अनुपात ठीक रखने के लिये हड्डियो मे से क्षार के नमक खून में मिलते हैं, और इसके विपरीत शाकाहारियो का पेशाब क्षारवाला होता है। इसलिये उनकी हड्डियो का क्षार खून मे नही जाता और हड्डियाँ मजबूत रहती हैं। उनकी राय मे जिन व्यक्तियों की हड्डियाँ कमजोर हो उनको विशेष तौर पर अधिक फल, सब्जियो के प्रोटीन और दूध का सेवन करना चाहिये, माँस एक दम छोड देना चाहिये।"

लन्दन के डाक्टर एलेक्जेण्डर हेग के वैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार मछली और माँस मे यूरिक एसिड विष होता है। यह विष जब खून मे मिलता हैं तब दिल की बीमारी, टी. बी. जिगर की खराबी, श्वाँस रोग, खून की कमी, गठिया, हिस्टीरिया, सुस्ती, अजीर्ण और तरह-तरह के दर्द पैदा कर देता है।" डा. हेग ने अपने अनुसधान के आधार पर इस सन्दर्भ मे निम्न तालिका प्रस्तुत की है—

तालिका क्रमाक 2

मछली व माँस में यूरिक एसिड विष

खाद्य पदार्थ का नाम	प्रति पौंड यूरिक एसिड विष की मात्रा
मछली ...	5 ग्रेन
भेड़, बकरी ...	6 ,,
बछडा	8 ,,
सूअर ...	8 ,,
चूजा	9 ,,
गाय ...	9 ,,
गाय की भुनी बोटी	14 ,,
गाय का जिगर .. .	19 ,,
माँस का शोरबा..	50 ,,

यह यूरिक एसिड विष जब रक्त में मिलता है तब हार्ट डिजीज, टी. बी., सास रोग, जिगर की बीमारी हिस्टीरिया, खून की कमी, गठिया, अजीर्ण, अधिक नीद आना, तरह-तरह के दर्द, इनफ्लुएँजा जैसे अनेक प्रकार के बुखार आदि सैकडों रोग पैदा होते हैं।

मुर्गे का माँस—

पशु चिकित्सा सेवाओ के सघीय निर्देशक डा. एस. बुर्रासिहम ने अनुसधान के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि मुर्गे खाने से पुरुषों का पौरुष खतरे में पड़ सकता है। मुर्गों मे वजन बढानेवाले हार्मोन्स होने के कारण इसके खाने से पुरुषों मे स्त्रीयोचित गुणो का

---

1. लैंसेट 1968 वोल्यूम, पृष्ठ 958
(साइन्स न्यूज : दिल्ली विज्ञान सघ से उद्धृत)

विकास हो सकता है। जो पुरुष मुग की दुकानो में काम करते है और मुर्गे की गर्दन खाते हैं उनके स्तनो मे वृद्धि के लक्षण पाए गए हैं।

विभिन्न रोगों सम्बन्धी अनुसधान—

विभिन्न रोगो के सम्बन्ध मे किये गए अनुसधानो मे भी अधिकतर रोगो का कारण माँसाहार पाया गया है। डा. आर. जे. विलियम्स एव राबर्टग्रास के अनुसार अण्डे की सफेदी मे एवीमान नामक भयानक तत्व एक्जीमा उत्पन्न करता है। जिन जानवरो को अण्डे की सफेदी खिलाई गई उन्हें लकवा मार गया और चमड़ी सूझ गई। डा. रोबर्ट ग्रांस व प्रो. इरविंग डेविडसन के अनुसार—"एक अण्डे मे लगभग 4 ग्रेन कोलेस्टरौल की मात्रा पाई जाती है। इसकी अधिक मात्रा दिल की बीमारी, हाईब्लड प्रेशर, गुर्दों के रोग, पित्त की थैली मे पथरी आदि रोगो को पैदा करते हैं। न्यूअर कॉलेज आफ न्यूट्रिशन के डा. इ. बी. मेल्कालम के अनुसार अण्डों मे कोर्बोहाइड्रेट्स बिल्कुल नही होते और कैलशियम भी बहुत कम होता है, अतः इससे पेट मे सडन पैदा होती है। डा. रॉबर्ट ग्रास ने कहा है कि मुर्गियों मे बहुत सी बीमारियाँ होती हैं, अण्डे उन बीमारियों को विशेषतया टी. बी. एव पेचिश आदि को अपने साथ ले जाते हैं और इनको खानेवालों मे पैदा करते है।

निष्कर्ष

इस प्रकार जहाँ प्राकृतिक दार्शनिक, सामाजिक एव आर्थिक दृष्टिकोण से शाकाहार ही उचित एव आवश्यक मानवीय आहार है वहाँ वैज्ञानिक एव चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकौण से भी शाकाहार ही सर्वाधिक उपयुक्त आहार है। शाकाहार जहाँ पूर्णाहार होने के साथ-साथ पोषक, सुलभ, स्फूर्ति एव शक्तिदायक है वहाँ माँसाहार मे मोटापा बढ़ाने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष गुण नही हैं। उल्टे माँसाहार के कारण, पशु-पक्षियो के शरीर मे पाये जानेवाले अनेक रोगाणु मानव शरीर में प्रवेश कर अनेकों विकार उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि चिकित्सा शास्त्रीयों के नवीनतम अनुसधानो के आधार पर पश्चिमी देशो मे जो विशेषकर माँसाहारी क्षेत्र हैं, वहाँ शाकाहार का प्रबल प्रचार हो रहा है व माँसाहार के प्रति जन-सामान्य को आगाह किया जा रहा है। ऐसी स्थिति मे भारत जैसे देश मे जहाँ की बड़ी सख्या शाकाहारी है, पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण माँसाहार का बढता प्रयोगचिन्तनीय है, ऐसी दशा मे आवश्यक है कि लोगो को उनके आहार के सम्बन्ध मे अधिकतम ज्ञान दिया जाये ताकि वह उचित-अनुचित का निर्णय कर सकें, इसी उद्देश्य से इस लेख मे सक्षिप्त में पाठको को उनके उचित आहार के बारे मे तर्कसंगत जानकारी देने का प्रयास किया गया है।

तालिका क्रमांक 3

संतुलित भोजन

(इण्डियन काउन्सिल आफ मेडीकल रिसर्च द्वारा 1968 में प्रस्तावित)

(अ) वयस्क पुरुष का सन्तुलित भोजन

खाद्य पदार्थों का नाम	बैठकर क.म करनेवाले के लिए (ग्राम मे)	साधारण काम करनेवाले के लिये (ग्राम में)	अधिक परिश्रम करने वाले के लिये (ग्राम मे)
अनाज	400	475	650
दालें	70	80	80
हुटे पत्ते वाले साग	100	125	125
अन्य साग	75	75	100
जडीली तरकारिया	75	100	100
फल	30	30	30
दूध	200	200	200
चिकनाई व तेल	35	40	50
चीनी व गुड	30	40	55
मू गफली	—	—	50*

* अगर मू गफली न खाना चाहे तो उसके स्थान पर 30 ग्राम चिकनाई व तेल बढा सकते हैं।

(ब) वयस्क स्त्री का सन्तुलित भोजन

खाद्य पदार्थ का नाम	बैठकर काम करनेवाली से लिये (ग्राम में)	साधारण काम करनेवाली के लिये (ग्राम मे)	अधिक परिश्रम करने वाली के लिये (ग्राम मे)	अतिरिक्त भोजन गर्भावस्था, (ग्राम मे)	धात्रावस्था (ग्राम में)
अनाज	300	350	475	50	100
दालें	60	70	70	—	10
हरे पत्ते वाले साग	125	125	125	25	25
अन्य सब्जीया	75	75	100	—	—
जडीली तरकारिया	50	75	100	—	—
फल	30	30	30	—	—
दूध	200	200	200	125	125
चिकनाई व तेल	30	35	40	—	15
चीनी व गुड	30	30	40	10	20
मूंगफली	—	—	40+	—	—

+ अगर 40 ग्राम मू गफली न खाना चाहें तो उसके स्थान पर 25 ग्राम चिकनाई या तेल ले सकते हैं।

(स) किशोरावस्था वाले लड़के व लड़कियों का सन्तुलित भोजन

खाद्य पदार्थ का नाम	लडके		लडकी
	13 से 15 वर्ष (ग्राम मे)	17 से 18 वर्ष (ग्राम मे)	13 से 18 वर्ष (ग्राम मे)
अनाज	430	450	350
दालें	70	70	70
हरे पत्ते वाले साग	100	100	150
अन्य साग	75	75	75
जडीली तरकारियां	75	100	75
फल	30	30	30
दूध	250	250	250
चिकनाई व तेल	35	45	35
चीनी व गुड	30	40	30
मूंगफली	—	50	—

+ अगर मूंगफली न खाना चाहें तो उसके स्थान पर 30 ग्राम चिकनाई व तेल ले सकते हैं।

(व) बच्चों के लिये सन्तुलित भोजन

	स्कूल जाने के पूर्व आयु के बच्चे		स्कूल जाने वाले बच्चे	
	1 से 3 वर्ष (ग्राम मे)	4 से 6 वर्ष (ग्राम में)	7 से 9 वर्ष (ग्राम मे)	10 से 12 वर्ष (ग्राम मे)
अनाज	150	200	250	320
दालें	50	60	70	70
हरे पत्ते वाले साग	50	75	75	100
अन्य साग और जडीले साग	30	50	50	75
फल	50	50	50	50
दूध	300	250	250	250
चिकनाई व तेल	20	25	30	35
गुड व चीनी	30	40	50	50

तालिका क्रमांक—4

शाकाहार एवं मांसाहार के पौष्टिक तत्वों की तुलनात्मक तालिका

(अ) शाकाहारी खाद्य

	प्रोटीन	वसा (स्नेह)	खनिज लवण	कार्बो-हाइड्रेट्स	कैलशियम	लोहा (मि. ग्रा.)	पानी	कैलोरी
गेहूं का आटा	12·1	1 7	2·8	69 4	0·04	11·5	12·2	352
मकई	11·1	3 6	1·5	66 2	0·01	2·1	14·9	343
चावल	8·5	0·6	0·9	77 4	0 01	2 8	12·6	349
मूंग	24 0	1·3	3·6	56 6	0 14	8 5	10·4	334
उडद	24 0	1·4	3·4	60 3	0·20	9 8	10·9	350
अरहर	22·3	1 7	3·6	57 2	0·14	8·8	15 2	333
मसूर	25·1	0 7	2 1	59 7	0 13	2 0	12·4	346
भुना मटर	22 9	1·4	2 3	62 5	0 03	5·0	9·9	358
भुना चना	22 5	5 2	2·2	58·9	0 07	8 9	11·2	372
लोबिया बडा	24·6	0 6	3 2	55 7	0 07	3 8	12 0	327
सोयाबीन	43·2	19·5	4 6	20·9	0·24	11·5	8 1	432
मेथी	26 2	5 8	3 0	44 1	0·16	14·1	13·7	333
बादाम	28·8	58 9	2 8	10 5	0·23	3 5	5·2	655
काजू	21·2	46 9	2 4	22·3	0 05	5·0	5 9	596
भुनी मूंगफली	31·5	39·8	2 3	19 3	0 05	0 3	4 0	661
पिस्ता	19 8	53 5	2·8	16 2	0·14	13·7	5·6	626
अखरोट	15 5	64 5	1 8	11 0	0·10	4 8	4·5	687
मक्खन	——	80 8	——	——	——	——	——	730
घी	——	100 0	——	——	——	——	——	900
पनीर	24·1	25 1	4 2	6 3	0 79	2 1	40·3	348
खोया	14·6	31·2	3·1	20·5	0 65	5·8	30·6	420
सप्रेटा दूध पावडर	38·0	0 1	6 8	51 0	1·37	1·4	4·1	347

(ब) मांसाहारी खाद्य

	प्रोटीन	वसा (स्नेह)	खनिज लवण	कार्बो-हाईड्रेट्स	कैलशियम	लोहा (मि ग्रा.)	पानी	कैलोरी
मुर्गी का अण्डा	13 3	13 3	1 0	——	0·06	2 1	73·7	173
वतख का अण्डा	13·5	13·7	1 0	0 7	0·07	3 0	71·0	180
कलेजी (भेड)	19 3	7.5	1 5	1·3	0 01	6·3	70·4	150
बकरी का गोश्त	18 5	13.3	1·3	——	0 15	2 5	71·5	194
सूअर का गोश्त	18·7	4·4	1·0	——	0·03	2·3	77·4	114
गाय का गोश्त	22·6	2 6	0·1	——	0·01	0 8	73·4	114
मछली	22 6	0 6	0·8	——	0 01	0·9	78·4	91

□ □

ग्वालियर और जैन धर्म

(विविध सन्दर्भ)

अष्टम खण्ड

गोपाचल का एक विस्मृत महाकवि-रइधू

डा० राजाराम जैन

भारतीय-वाङ्मय के उन्नयन में जिन वरेण्य साहित्यकारो ने अथक परिश्रम एव अनवरत साधना करके अपना उल्लेख्य योगदान किया है, उनमें महाकवि रइधू अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उनका अवतरण एक ऐसे समय में हुआ था जब राजनीतिक विषमताओ एव युद्ध-विभीषिकाओ से जन-जीवन जर्जर हो रहा था, तलवारो और भालो की निरन्तर बौछारो से शान्ति भी शान्ति की खोज कर रही थी, तब रइधू ने जन-मानस की वेदना का अनुभव किया और एक लोकनायक कवि के रूप मे अपनी अमृतस्रोतस्विनी को प्रवाहित किया। उनकी रचनाओ का विषय-वैविध्य, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एव हिन्दी भाषाओ पर असाधारण पाण्डित्य, इतिहास एव सस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान, समाज एव राष्ट्र को साहित्य, सगीत, कला एव राष्ट्र धर्म के प्रति जागरूक करने की क्षमता अन्यत्र दुर्लभ है।

महाकवि का निवास-स्थल

रइधू के जन्मस्थान एव जन्मतिथि विषयक स्पष्ट उल्लेख अभी तक प्रकाश मे नही आ सके। किन्तु इस तथ्य के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि कवि की साहित्य साधना का प्रमुख स्थल गोपाचल (ग्वालियर) दुर्ग था। उसने गोपाचल की महिमा का गान बडे ही श्रद्धासमन्वित भाव से विस्तारपूर्वक किया है। उसके साहित्य मे सामाजिक एव सास्कृतिक प्रसगो में कई ऐसे वर्णन एव शब्दावलियाँ प्राप्त हैं, जिनसे यही सिद्ध होता है कि उक्त कवि गोपाचल का निवासी था।[1]

काल-निर्णय

महाकवि का जन्म कब एव किस वर्ष हुआ, यह जानकारी भी अभी तक अप्राप्त है, किन्तु कवि ने अपनी एक रचना 'सुक्कोसलचरिउ' की अन्त्य-प्रशस्ति में उसका रचना-समाप्ति काल वि० स० 1496 दिया है[2] तथा उसमें अपनी पूर्ववर्त्ती कई रचनाओ के उल्लेख किये हैं एव उन्ही उल्लिखित रचनाओं की प्रशस्तियो मे भी अपनी पूर्व-पूर्व-रचित रचनाओं के उल्लेख किये हैं, जिनकी सख्या 18 है। इससे विदित होता है कि कवि वि० स० 1496 के पूर्व ही एक विशाल साहित्य का प्रणयन कर चुका था, क्योंकि वि० स० 1496 के बाद ही उसकी मात्र पाँच रचनाएँ ही प्राप्त हैं। पूर्वोक्त 18 ग्रथों के परिमाण को देखते हुए तथा उनके प्रथम गुरु गुणकीर्त्ति भट्टारक (वि० स० 1455 के

1. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (डा० राजाराम जैन) पृ० 44-45।
2 सुक्कोसलचरिउ 4/23/1-3

आसपास) के समय को देखने से यह विदित होता है कि कवि का जन्मकाल वि० सं० 1440 के आसपास होना चाहिए। इसी प्रकार कवि ने अपनी रचनाओं मे गोपाचल नरेश कीर्तिसिंह तोमर एव भट्टारक शुभचन्द्र (माथुरगच्छ पुष्करगणीय) के उल्लेख विस्तार के साथ किए हैं, जिनका कि समय वि० स० 1536 के आसपास है। इन उल्लेखो तथा अन्य तथ्यो से यह स्पष्ट विदित होता है कि कवि उक्त समय तक साहित्य साधना करता रहा और इस प्रकार उसका कुल जीवनकाल अनुमानतः वि० स० 1440 से 1536 के मध्य तक प्रतीत होता है।[3]

वंश-परम्परा

रइधू-साहित्य की प्रशस्तियों में मधुकरी वृत्ति से उनकी पारिवारिक-परम्परा का परिचय मिल जाता है। उसके अनुसार कवि के पितामह का नाम सघाधिप देवराज तथा पिता का नाम हरिसिंह था और माता का नाम था विजयश्री। रइधू तीन भाई थे—बाहोल, माहणसिंह एव रइधू। रइधू की पत्नी का नाम सावित्री था तथा पुत्र का नाम उदयराज।[4] कवि ने उदयराज के जन्म के दिन ही अपनी 'हरिवशचरित' नामक रचना समाप्त की थी।

साहित्य साधना

महाकवि रइधू की साहित्य साधना गम्भीर विशाल एव अद्भुत रही है। उन्होंने अपने जीवनकाल में तेईस से भी अधिक ग्रन्थो की रचना की, जिनकी भाषा प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी है। कई ग्रन्थों में अपने आश्रयदाताओं के प्रति आशीर्वचन सूचक सस्कृत श्लोकों की भी उन्होने रचना की है। इन्हें देखकर प्रतीत होता है कि वे सस्कृत के भी अधिकारी विद्वान् थे। भारतीय वाङ्मय के इतिहास में इतने विशाल साहित्य का प्रणेता एव प्रायः सभी प्रमुख प्राच्य-भाषाओ का जानकार अन्य दूसरा कवि ज्ञात नही होता। रइधू विरचित साहित्य की वर्गीकृत सूची निम्न प्रकार है :—

(क) चरित साहित्य

(1) हरिवशचरिउ, (14 सन्धियाँ एव 302 कडवक तथा 14 सस्कृत श्लोक); (2) बलहद्दचरिउ (11 सं०, 240 कडवक एव 11 स० श्लोक) (3) मेहेसरचरिउ (13 सं०, 304 कडवक एवं 12 स० श्लोक), (4) जसहरचरिउ (4 सं०, 104 कडवक, 4 स० श्लोक), (5) सम्मइचरिउ (10 सं०, 246 कडवक एव 10 स० श्लोक); (6) तिसट्ठिमहा-पुराणपुरिसआयारगुणालंकारु (50 सन्धियाँ, 1357 कडवक), (7) सिरिसिरिवालचरिउ (10 स०; 202 कडवक एव 10 स० श्लोक); (8) सतिणाहचरिउ (सचित्र, अपूर्ण, मात्र आठ सन्धियाँ ही प्राप्त हैं); (9) पासणाहचरिउ (7 सं 137 कडवक 7 स. श्लोक) (10) जिमंधरचरिउ (13 स०, 301 कडवक तथा 13 स० श्लोक); (11) सुक्कोसलचरिउ (4 स०, 74 कडवक एवं 4 सं० श्लोक); (12) धण्णकुमारचरिउ (4 स०, 74 कडवक एवं 4 स० श्लोक);

(ख) आचार एव सिद्धान्त साहित्य

(13) सावयचरिउ (6 स०, 125 कडवक), (14) पुण्णासवकहा (13 स०, 250 कडवक), (15) सम्मत्तगुणणिहाणकव्व (4 स०, 104 कडवक), (16) अप्पसंवोहकव्व (3 स० 58, कडवक), (17) सिद्धन्तत्थसार (प्राकृत भाषा निवद्ध—13 अक एव 850 गाथाएँ); (19) वित्तसार (प्राकृत भाषा निवद्ध, 6 अक, एव 850 गाथाए);

---

3. विशेष के लिए देखिए रइधू सा० का आ० परि० पृ० 116-120
4. वही, पृ० 35-40

(ग) अध्यात्म एवं अन्य साहित्य

(20) सोलहकारण जयमाला (27 पद्य); (21) दहलक्खणजयमाला (11 पद्य); (22) बारा-भावना (हिन्दी, 37 पद्य)।

अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। उक्त ग्रन्थों में से क्रमांक 8 एवं 9 के ग्रन्थ सचित्र हैं और मध्यकालीन चित्रकला के अद्‌भुत उदाहरण हैं।[5] उपर्युक्त समस्त साहित्य अद्यावधि अप्रकाशित है।

रइधू-साहित्य की विशेषताएँ प्रशस्तियाँ

रइधू-साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी विस्तृत प्रशस्तियाँ हैं। कवि ने अपने प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ के आदि एवं अन्त में विस्तृत प्रशस्तियाँ अंकित की हैं, जिनमें समकालीन राजा, नगरसेठ, पूर्ववर्ती एव समकालीन साहित्य एवं साहित्यकार तथा अन्य राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इन प्रशस्तियों में गोपाचल के मध्यकालीन इतिहास एवं संस्कृति की प्रचुर प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है।

राजाओं में कवि ने समकालीन तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह, कीर्तिसिंह एवं प्रतापरुद्र चौहान के उल्लेख करते हुए उनका विस्तृत परिचय एवं कार्यकलापों का सुन्दर वर्णन किया है। कवि के अनुसार उक्त तीनों राजा शूरवीर एवं पराक्रमी होने के साथ-साथ सर्व धर्म समन्वयी एवं साहित्य तथा कला-रसिक थे।[6] गोपाचल दुर्ग में डूँगरसिंह एवं कीर्तिसिंह ने राज्य की ओर से श्रेष्ठ मूर्तिकला के विशेषज्ञों को निमन्त्रित कर लगातार

जसहरचरिउ (मौसमावाद प्रति); सन्दर्भ—राजा यशोधर अपने मनोरंजन ग्रह में

---

5. सचित्र ग्रन्थों के परिचय की जानकारी हेतु हमारे द्वारा लिखित विस्तृत निबन्धों के लिए देखिए—जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा) 25/2/62-69 (सचित्र जसहरचरिउ के लिए) अनुसन्धान-पत्रिका (जन०-मार्च) 1973) प्रवेशांक पृ० 50-57, (सचित्र पासणाहचरित्र के लिए) तथा रइधू सा० का आ० परि० पृष्ठ 551-552 (सचित्र सतिणाह चरिउ के लिए)।
6. रइधू सा० का आ० परि० पृ० 95-116

33 वर्षों तक जैनमूर्तियो का निर्माण कराया था। जनरल कनिंघम ने उक्त मूर्तिकला से प्रभावित होकर लिखा है —[7]

The (Jaina) Rock Sculptures of Gwalior are unique in Northern India as well for their number as for their gigantic size.

प्रस्तुत प्रसग मे सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री हेमचन्द्रराय का निम्नकथन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं .—

He (Dungar Singh) was a great patron of the Jaina faith and held the Jainas in high esteem. During his eventful reign, the work of carving Jaina images on the rocks of the Fort of Gwalior was taken in hand, it was brought to completion during the reigm of his successor Raja Karni Singh (or Kirti Singh). All around the base of the Fort, the magnificent Statues of the Jaina pont ffs antiquity gaze from their tall niches like mighty Guardians of the great Fort and its surrounding landscape. Babur was much annoyed by these rock-sculptures as to issue orders for their destruction in 1557 A. D

सम्राट बाबर के मूर्ति तोड़नेवाले उक्त आदेश का जनरल कनिंघम ने अग्रेजी अनुवाद इस प्रकार किया है —[8]

"They have hewn the solid rock of this Adiva and sculptured out of it idols of longer and smaller size. On the south part of it is a large size which may be about 40 feet in height These figures are perfectly naked without even a rag to cover the parts of generation Adiva is for from being a mean place, on the contarary, it is extremely pleasant The greatee fault consists in the idol figures all about it I directed these idols to be destroyed"

रइधू के अनुसार प्रतापरुद्र चौहान चन्द्रवाडपट्टन का राजा था, जिसने अपने पराक्रम मे मुस्लिम आक्रान्ताओ के छक्के छुड़ा दिये थे और अपना राज्य विस्तार किया था। उसके राज्य में सभी धर्मों के लोग सौमनस्य एव सौहार्दपूर्वक निवास करते थे। राज्य की समृद्धि अटूट थी। प्रतापरुद्र के एक अमात्य कुन्थुदास ने चन्द्रवाडपट्टन मे हीरे, मोती, माणिक्य आदि की कई सुन्दर जैनमूर्तियाँ बनवाकर बडे ही समारोह के साथ उनकी प्रतिष्ठा कराई थी।[9]

रइधू-साहित्य की प्रशस्तियों के अनुसार गोपाचल एवं चन्द्रवाडपट्टन मे साहित्यकारो का सम्मान राज्य के सर्वश्रेष्ठ सम्मानो मे श्रेष्ठतम माना जाता था। रइधू ने जब गोपाचल मे 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' नामक अपना काव्यग्रन्थ समाप्त किया था, तब कवि को उक्त ग्रन्थ के साथ ही ऐरावत के सदृश सुन्दर हाथी पर विराजमान कराकर नगर भर में घुमाया गया था।[10]

इसी प्रकार चन्द्रवाडपट्टन मे जब कवि ने 'पुण्णसवकहा' नामक ग्रन्थ की समाप्ति की, तब

7. Murry's Northern India. Pages 381–2
8 Murry's Northern India. Pages 381–
9. पुण्णासव कहा 15/6/-11.
10 सम्मत्त गुण॰ 1/5/6-10.

अगले ही दिन उसे हाथी पर बैठाकर नगर परिक्रमा कराकर उसका राजकीय सम्मान किया गया था ।[11]

उक्त घटनाओं से यह विदित होता है कि गोपाचल एवं चन्द्रवाडपट्टन की राज्य परम्पराएँ आदर्श थीं और सचमुच ही रइधू द्वारा उल्लिखित उक्त तीनों राजा सम्राट अशोक एवं राजर्षि कुमारपाल की कोटि में आते हैं।

भट्टारक

रइधू-साहित्य की प्रशस्तियों में कई भट्टारकों के उल्लेख मिलते हैं। इन भट्टारकों ने गोपाचल में सदैव ही साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न कर स्वस्थ-समाज के निर्माण में अमूल्य योगदान किया है। ब्रज एवं बुन्देली का जो भी साहित्य निर्मित हुआ, उसके लिये मूल प्रेरणा इन भट्टारकों से मिली। धार्मिक साधना के साथ-साथ इनमें संगठन की प्रवृत्ति भी अद्भुत थी। राजाओं एवं नगरसेठों को प्रभावित कर उनसे आर्थिक सहायता लेने में भी ये पटु थे। अतः साधन सम्पन्न होने के कारण ये नवीन-नवीन प्रतिभाओं की खोजकर उन्हें एकत्रित करते थे तथा वृत्ति आदि देकर उन्हें साहित्य के क्षेत्र में प्रशिक्षित करते थे। यही कारण है कि गोपाचल में वि० सं० 1440 से 1540 तक लगभग 100 वर्षों में जितना साहित्यिक कार्य हुआ है, उतना शायद ही अन्यत्र हुआ हो। इन सौ वर्षों में आक्रान्ताओं द्वारा पिछले वर्षों में साहित्य की जो होलियाँ जलाई गई थीं, तथा मूर्त्तियों का विध्वस किया गया था, उसकी पूर्ति का अथक प्रयास किया गया।

रइधू-प्रशस्तियों में उल्लिखित भट्टारकों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(1) रइधू-पूर्व-भट्टारक एव (2) रइधू-समकालीन भट्टारक। पूर्ववर्ती भट्टारकों में देवसेनगणि, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन एवं सहस्त्रकीर्ति तथा समकालीन भट्टारकों में गुणकीर्ति यशःकीर्त्ति पाल्ह ब्रम्ह, खेमचन्द्र एवं कुमारसेन के नामोल्लेख मिलते हैं। ये सभी भट्टारक काष्ठासंघ माथुरगच्छ एवं पुष्करगण शाखा से सम्बन्ध रखते हैं।

जसहरचरिउ; सन्दर्भ—राजा यशोधर अपने प्रमुख मंत्रियों से गम्भीर विचार विमर्श कर रहे हैं।
[जसहरचरिउ, मौजमाबाद, जयपुर प्रति]

11. पुण्णासवकहा 13/12/3.

इन सभी भट्टारकों ने साहित्य एवं कला के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किये ।[12]

भट्टारक शुभकीर्ति ने अपने गुरु भट्टारक कमल कीर्ति के आदेश से सुवर्णगिरि (आधुनिक सोनागिरि, झाँसी) पर एक भट्टारकीय पट्ट की स्थापना कर स्वय ही उसका कार्य सचालन किया था तथा उसे प्राच्यविद्या का प्रमुख केन्द्र बनाया था । वहा के विशाल शास्त्र भण्डारो मे आज भी महत्वपूर्ण सामग्री अपने प्रकाशन की राह देख रही है तथा कई ऐतिहासिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए उत्कण्ठित है ।

भट्टारक कमलकीर्ति के एक अन्यतम शिष्य मण्डलाचार्य श्री रत्नकीर्ति ने वि० स० 1516 में बडवानी (बावनगजा-पश्चिम निमाड) स्थित 84 फीट ऊँची आदिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति के आसपास एक वसति का जीर्णोद्धार कराया था ।[13] ये उल्लेख वस्तुत: बडे ही महत्वपूर्ण हैं और मध्यप्रदेश के पुरातत्व की समृद्धि के लिए अमूल्य निधि हैं ।

गोपाचल दुर्ग मे स्थित 57 फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति पर भी एक लेख अकित है । स्व० श्री राजेन्द्रलाल हाड़ा ने कठोर परिश्रम कर उसका अध्ययन किया था, किन्तु महाकवि रइधू कृत सम्मतगुण-णिहाणकव्व की आद्यप्रशस्ति का अध्ययन एव मूर्ति लेख से उसकी तुलना करने से श्री हाडा का अध्ययन पर्याप्त भ्रमपूर्ण सिद्ध होता है । उनके पठनानुसार मूर्ति लेख निम्न प्रकार है—

श्री आदिनाथायनम । सवत् 1497 वर्षे वैशाष 7 शुक्रे पुनर्वसुनक्षत्रे श्री 'गोपाचल दुर्गे' महाराजाधिराज श्री डुंग ···· संवर्तमानो श्री काचीसघे माथुरान्वयो पुस्करगण भट्टारक श्री गणकीर्ति देव तत्पदे यत्यःकीर्तिदेवा प्रतिष्ठाचार्य श्री पडित रघू तेप आमाए अग्रोतवशे मोद्गल गोत्रासा ।। घुरात्मा तस्य पुत्र. साधु भोपा तस्या भार्या नाल्ही ।। पुत्र प्रथम साधु क्षेमसी द्वितीय साधु महाराजा तृतीय असराज चतुर्थ धनपाल पञ्चम साधु पाल्का । साधु क्षेमसी भार्या नोरादेवी पुत्र ज्येष्ठ पुत्र मधापि पति कौल·· ।। म—भार्या च ज्येष्ठस्त्री सरसुती पुत्र मल्लिदास द्वितीय भार्या साध्वीसरा पुत्र चन्द्रपाल क्षेमसीपुत्र द्वितीया साधु श्री भोजराजा भार्या देवस्यपुत्र पूर्णपाल । एतेषा मध्येश्री ।। त्यादि जिनसघाधिपति 'काला' सदा प्रणमति ।

उक्त लेख मे रेखाकित पद विचारणीय हैं । यह तो सर्वविदित ही है कि गोपाचल (ग्वालियर) मे वि० स० 1497 मे तोमरवशी राजा डूँगरसिंह का राज्य था । उनके समय में गोपाचल काष्ठासंघ माथुरान्वय एवं पुष्करगणीय भट्टारकों का गढ था । उनमे भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य यश.कीर्ति तथा उनके शिष्य महाकवि रइधू ने डूंगरसिंह के आग्रह से उनके दुर्ग मे रहकर ही साहित्य साधना की थी । महाकवि के बालसखा एव डूंगरसिंह के अमात्य कमलसिंह ने दुर्ग में 57 फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति का निर्माण कराया था, जिसकी प्रतिष्ठा डूंगरसिंह की सहायता से कमलसिंह ने रइधू द्वारा कराई थी ।

उक्त वक्तव्य के रेखाकित पदो की, मूर्तिलेख के रेखाकित पदों से तुलना करने पर सगति ठीक ही बैठ जाती है । उक्त सगति का मूलाधार रइधू कृत 'सम्मत्तगुणणिहाणकव्व' ही है, जिसे रइधू ने कमलसिंह के आश्रय मे रहकर उसके स्वाध्याय हेतु तैयार किया था तथा उसने उसकी प्रशस्ति में कमलसिंह का वंशवृक्ष,

12. विशेष के लिए देखिए रइधू, साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० 69-83.
13. दे० बडवानी भित्तिलेख.

डूंगरसिंह का विस्तृत वर्णन एवं गोपाचल की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्र खींचा है। मूर्तिलेख में अंकित सामग्री निम्न प्रशस्ति में द्रष्टव्य है :—

गोपाचलि डुंगरराय रज्जि ।
सिव ऊसइणा विहिय कज्जि ॥
तहिं णिव सम्माणें तोसियगु ।
बुहयणहँ विहिउ ज णिच्च सगु ॥
करुणावल्ली वण-धवल-कंदु ।
सिरि अइरवाल-कुल-कुमुय चंदु ॥
सिरि भोपाणामे हुवउ साहु ।
सपत्तु जेण धम्मे जिलाहु ॥
तहु णाल्हाही णामेण भज्ज ।
अइसावहाण सा पुण्णकज्ज ॥
तहुणदण चारि गुणोह वास ।
ससिणिह जसभर पूरिय दिसास ॥
खेमसीहु पसिद्धउ महि गरिट्ठु ।
महराजु महामइ तहु कणिट्ठु ॥
असराज दुहिय जण आसऊर ।
पाल्हा कुल-कमल-वियास सुरु ॥
एयहु गरुवउ जो खेमसीहु ।
वणियउ एच्छ भवभमण वीहु ॥
तहु णिउरादे मामिणि पउत्त ।
गुरु-देव-सच्छ-पय-कमल-भत्त ॥
तहिं उवरि उवण्ण विणिणपुत्त ।
विण्णाण-कला-गुण-सेणि जुत्त ॥
पढ़मउ सघाहिवउ कमलसीहु ।
जो पयलु महीयलि सिवसमीहु ॥
णामेण सरासइ तहु कलत्त ।
वीई जिं ससिपिय पाय भत्त ॥
चउविह दाणें पीणिय सुपत्त ।
अहणिसु विरइय जिणणाहजत्त ॥
तहुणदणु णामें मल्लिदासु ।
सो सपत्तउ सुहगइ णिवासु ॥
सघाहिव कमलहु लहुउ भाउ ।
णामेण पसिद्धउ भोयराउ ॥
तहु मामिणि देवइ णाम उत्त ।
विहु पुत्तहिं सा सोहइ सउत्त ॥
णामेण भणिउ गुरु चंदसेणु ।
पुणु पुण्णपालु लहुवउ अरेणु ॥

घत्ता

इय परियण जुत्तउ एच्छणिरु ।
कमलसीहु सघाहिव चिरणंदउ ॥
एच्छु पसणु मणु णिहय ।
दुहिय जण आइ ······ ॥

सम्मत० 4/35

इस प्रकार महाकवि रइधू के 'सम्मतगुण-णिहाणकव्व' की प्रशस्ति को सम्मुख रखकर उक्त मूर्त्ति-लेख के अशुद्ध पढ़े गये पाठों को सरलता से शुद्ध किया जा सकता है।

गोपाचल के श्रेष्ठिजन

रइधू ने अपनी प्रशस्तियों में प्रसंगवश कई नगर श्रेष्ठियों की विस्तृत चर्चा की है। इनमें से कुछ श्रेष्ठि-जन रइधू की कवित्वशक्ति से अत्यन्त प्रभावित होकर उन्हें अपना गुरु मानकर चलते थे तथा वे निरन्तर ही अपने स्वाध्याय हेतु उनसे काव्यग्रन्थ लिखने का आग्रह-भरा निवेदन किया करते थे। यहाँ दो-एक उदाहरण प्रस्तुत कर यह दर्शाने का प्रयास किया जायगा कि मध्यकालीन नगर श्रेष्ठिजन ऐश्वर्य और भोगों के बीच रहते हुए भी कितने साहित्य-रसिक एवं साहित्यकारों को मुकुटमणि के समान समझते थे। कवि रइधू के एक भक्त थे—कमलसिंह संघवी, जो तोमर राजा डूंगरसिंह

के अमात्य थे तथा ऐश्वर्य में किसी भी राजा से कम न थे। वे कवि से कहते हैं "हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर-सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना-चाँदी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई, आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं। सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक-सामग्री की मुझे कमी नहीं, किन्तु इतना सब होने पर भी एक वस्तु का अभाव मुझे निरन्तर खटकता रहता है, और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नहीं है। उसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है। हे काव्यरूपी रत्नों के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्हीं हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो। मेरे मन की इच्छा को पूर्ण करनेवाले हो। इस नगर में बहुत से विद्वज्जन रहते हैं, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नहीं दिखता। अतः हे कविश्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की गाँठ खोलकर आपसे सच-सच कह रहा हूँ कि आप मेरे निमित्त एक काव्य की रचना कर मुझ पर अपनी महती

रइधूकृत पासणाह चरिउ प्रतिलिपि काल—वि० सं० १४९३

सन्दर्भ—राजा अरविन्द अपने मन्त्री वायुभूति से उसके भाई कमठ के चरित्र के विषय में पूछ रहा है तथा कमठ को तत्काल ही देश निर्वासन की सलाह कर रहा है।

कृपा कीजिए।[14] कवि रइधू ने कमलसिंह की यह मार्मिक-प्रार्थना स्वीकार कर उसके निमित्त 'सम्मतगुण-णिहाणकव्व' नामक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना करदी।

महाकवि का एक दूसरा भक्त था हरिसिंह साहू। उसकी तीव्र इच्छा थी कि उसका नाम चन्द्र विमान में लिखा जाय। अतः वह कवि से निवेदन करता है—"हे मित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी विनती सुन लीजिए एव मेरे द्वारा इच्छित 'बलभद्र चरित' नामक रचना लिखकर मेरा नाम चन्द्र-विमान में अंकित करा दीजिए।"[15] हरिसिंह की यह प्रार्थना सुनकर कवि ने कई कारणो से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए तथा 'बलभद्र चरित' की विशालता का अनुभव करते हुए उत्तर दिया :—

> घणएण भरइ को उवहि-तोउ ।
> को फणि-सिरमणि पयडइ विणोउ ।।
>
> पचाणण-मुहि को खिवइ हत्थु ।
> विणु सुत्ते महि को रयइ वत्थु ।।
>
> विणु-बुद्धिए तहूँ कव्वहूँ पसारु ।
> विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु ।।

बलभद्र० 1/4/1.4

अर्थात्—"हे भाई, बलभद्र-चरित का लिखना सरल कार्य नही। उसके लिखने के लिए महान् साधना, क्षमता एव शक्ति की आवश्यकता है। आप ही बताइये कि भला घडे में समस्त समुद्र-जल को कोई भर सकता है? साँप के सिर से मणि को कोई ले सकता है? प्रज्ज्वलित पंचाग्नि में कोई अपना हाथ डाल सकता है? बिना धागे से रत्नो की माला कोई गूँथ सकता है? बिना बुद्धि के इस विशाल काव्य की रचना करने मे मैं कैसे पार पा सकूँगा?"

उक्त प्रकार से उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवतः टाल देना चाहा, किन्तु साहू बड़ा चतुर था। अतः ऐसे अवसर पर उसने वणिक्बुद्धि से कार्य किया। उसने कवि को अपनी पूर्व-मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा: "कविवर, आप तो निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर हैं, शास्त्रार्थ आदि मे निपुण हैं, आपके श्री मुख में तो सरस्वती का वास है। आप काव्य-प्रणयन में पूर्ण समर्थ हैं, अतः इच्छित-ग्रन्थ की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिए।"[16] अन्ततः कवि ने उक्त ग्रन्थ की रचना करदी।

रइधू-साहित्य में वर्णित गोपाचल

रइधू-साहित्य में गोपाचल का बडा ही समृद्ध वर्णन मिलता है। कवि ने उसकी उपमा स्वर्गपुरी, इन्द्रपुरी, एव कुबेरपुरी से दी है, किन्तु प्रतीत होता है कि उसे इस तुलना से भी सन्तोष नही है, क्योंकि एक सन्त कहाकवि की दृष्टि में ज्ञान एव गुरू ही सर्वोपरि होते हैं, भौतिक समृद्धि तो उनके समक्ष नगण्य है। अतः वह गोपाचल को 'नगरों का गुरू' अथवा 'पण्डित' घोषित करता है। वह कहता है:—

> महिवीढि पहाणउँ ण गिरिराणउँ ।
> सुरहँ वि मणि विभउ जणिउँ ।।
>
> कउसीसहँ मंडिउ णं इहु ।
> पडिउ गोवायलु णामे भणिउँ ।।

---

14. सम्मतगुण० 1/15/1-6.
15. बलहद्दचरिउ 1/4/6-12.
16. बलहद्द० 1/5/5-6.

पवित्र मन से प्रभाती-गीत गाती हुई जब देवालयो की ओर जाती थी, तब नगर का सारा वातावरण सात्विक एव धर्म-महिमापूर्ण हो जाता था। कुलवधुएँ सत्पात्रो को भोजन कराए बिना भोजन नही करती थी, तथा दीन-दुखी एवं अनाथों के प्रति वे निरन्तर दयालु रहती थी।[17]

एक ओर जहाँ रइधू-वर्णित महिलाएँ इतनी उदार थीं, वही दूसरी ओर धर्म-विरुद्ध कार्यों का घोर विरोध करनेवाली, सत्साहसी एव वीरागनाएँ भी वहाँ थी। कवि ने अपने 'सिरिसिरि-वालकहा' नामक ग्रन्थ मे उज्जयिनी की राजकुमारी मयणासुन्दरी का उल्लेख करते हुए बताया है कि राजा प्रभुपाल ने किस प्रकार मयणासुन्दरी की कला-विद्याओं की कुशलता से प्रसन्न होकर उसे स्वय ही अपने योग्य वर के चुनाव कर लेने का आदेश दिया।[18] किन्तु मयणासुन्दरी इसे भारतीय-परम्परा के विपरीत होने के कारण आपत्तिजनक मानकर उसका घोर विरोध करती है। कवि ने इस प्रसग की चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ की है। प्रतीत होता है कि मयणासुन्दरी के माध्यम से कवि ने वहाँ के नारी वर्ग के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलियाँ अर्पित की हैं।

उक्त प्रसग के अनुसार पिता के विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव सुनकर मयणासुन्दरी विचार करती है :—

कुलमग्गु ण याणइ अलियभासि।
नियगेह आणइ अवजसह-रसिरा ॥

सिरिवाल० 2/4/8

अर्थात् यह (मेरा पिता) कुल-परम्पराओ को जानता नही, वह असत्यभाषी है और अब अपने घर मे अपयशो को ला रहा है।

जिह मइमत्तु गइदु णिरकुसु ।
ज भावइ त बोलइ जिह सिसु ॥
जायंधु वि जह मग्गु ण जाणइ।
चउदिसु धाण्माणु दुहु माणइ ॥
तिहि राणउ लज्जा मेल्लिवि ।
ज रुच्चइ त चवइ उवेल्लिवि ॥

वही० 2/5/8-11

अर्थात् "जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी निरकुश हो जाता है, उसी प्रकार हमारा पिता भी निरकुश हो गया है। अज्ञानी बच्चो के समान ही जो मन मे आता है, सो बोलता है। जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति मार्ग नही जानता और चारो दिशाओ मे दौड़ता हुआ दु.ख-भाजक बनता है, ठीक उसी प्रकार यह भी मान-मर्यादा छोड़कर जो मन में आता है, वही करता है और बोलता है।" इसके बाद वह अपने पिता को निर्भीकता के साथ उत्तर देती हुई कहती है :—

भो ताय-ताय-पइँ णिरु अजुत्तु ।
जपियउ ण मुणियउ जिणहु सुत्तु ॥
वर-कुलि उवण्ण जा कण्ण होइ ।
सालज्ज ण मेल्लइ एच्छ लोय ॥
वादावबाउ नउ जुत्तु ताउ ।
तहँ पुणु तुअ अक्खवमि णिसुणि राउ।
विहु-लोय-विरुद्धउ एहु कम्मु ।
ज सुव सइवरु णिण्हइ सुखम्मु ॥
पइँ मण इच्छइ किज्जइ विवाहु ।
तो लोय सुहिल्लउ इय पवाहु ॥

वही० 2/6/5

अर्थात् "हे पिताजी, आपने जिनागम-सूत्रों के विरुद्ध ही मुझे अपने आप पति के चुनाव कर लेने का

17. सम्मत्तगुण० 1/4.
18. सिरिवाल० 2/4/5.

आदेश दिया है। किन्तु जो कन्याएँ कुलीन होती हैं, वे कभी भी ऐसा निर्लज्जता का कार्य नही कर सकती। हे पिताजी, इस विषय मे मैं वाद-विवाद नही करना चाहती। इसलिए, मेरी प्रार्थना ध्यानपूर्वक सुनें। आपका यह कार्य लोक-विरुद्ध होगा कि आपकी कन्या स्वयंवर करके अपने पति का निर्वाचन करे। अत' मुझसे कहे बिना ही आपकी इच्छा जहाँ हो, वही पर मेरा विवाह कर दें······

भरत वाक्य

रइधू-साहित्य की यह विशेषता है कि उसके प्राय: सभी ग्रन्थों में विस्तृत भरत-वाक्य भी उपलब्ध होते हैं। उनके मूल में कवि के अन्तस् का उज्ज्वल रूप ही प्रतिभाषित होता है। कवि-हृदय लोकमगल की कामना से ओतप्रोत है। उसकी अभिलाषा है कि राजा कल्याण-मित्र बने, प्रजा उसे अपना पिता समझे, राजा भी उसे अपनी सन्तति के समान स्नेह करे। समस्त आधियाँ एवं व्याधियाँ नष्ट हो। ऋतुएँ समयानुसार सुफल दें। सर्वत्र सुख-सन्तोष एव शान्ति का साम्राज्य हो। कवि कहता है :—

णिरुद्दउ णिवसउ सयलुदेसु।
पयपालउ णदउ पुणु णरेसु॥
जिणसासणु णदउ दोसमुक्कु।
मुणिगण णदउ तहिँ विसय-चुक्कु॥
णंदहु सावययण गलियपाव।
जेणिसुणहिँ जीवाजीव भाव॥
णंदउ महि णिरसिय असुहकम्मु।
जो जीवदयावरु परमधम्मु॥ ··

घत्ता

मच्छरमयहीणउँ सत्थपवीणउँ।
पढियणु णदउ सुचिरु॥
परमुण गहणायरु वयणियमायरु।
जिणपयपयरुहु णविय सिरु॥

पास० 7/11

अर्थात् "सम्पूर्ण देश उपद्रवो से रहित रहे, नरेश प्रजा का पालन करता हुआ आनन्दित रहे। जिन-शासन फले-फूले। निर्दोष मुनिगण विषय-वासना से दूर रहकर आनन्दित रहे। जो श्रावकगण जीव-अजीव आदि पदार्थों का श्रवण करते हैं, वे पापरहित होकर आनन्द से रहें।"

दूसरो के गुण ग्रहण करनेवाले, व्रत एवं नियमो का आचरण करनेवाले, मात्सर्य-मद से रहित एवं शास्त्र मे प्रवीण पण्डितगण चिरकाल तक आनन्द करें एव सभी जन जिनेन्द्र के चरण-कमलों में नत-मस्तक रहें।"

रइधू-साहित्य में प्रयुक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के शब्द

महाकवि रइधू यद्यपि मूलत: अपभ्रश कवि हैं किन्तु उनके साहित्य में ऐसी शब्दावलियाँ भी प्रयुक्त हैं जो आधुनिक भारतीय भाषाओ की शब्दावलियो से समकक्षता रखती हैं। उदाहरणस्वरूप यहाँ कुछ शब्दो को प्रस्तुत किया जाता है :—

टोपी (जसहर० 1/5/7), ढोर (अप्प० 1/4/2), चोजु (आश्चर्य, सुक्को० 1/6/3), साला-साली (अप्प० 3/4/2), रसोइ (सुक्को० 4/5) गड्डी=गाड़ी, (धण्ण० 2/7), गाली (अप्प० 1/8), जंगल (अप्प० 2/3/1), पोटली (धण्ण० 2/6/4), बुक्कड=बकरा—धण्ण० 2/7/5), थट्ट=भीड़ सम्मइ० 1/17/4—खट्ट =खाट—धण्ण० 2/14/8—सुत्त=सूतना=सोना, धण्ण० 3/15/3), पटवारी (धण्ण० 4/20/5), वक्कल=बकला=छिलका—सुक्को० 2/5/12), ढिल्ल=ढीला—अप्प० 1/12/6), पुराना (अप्प० 1/19/3), झूठे=झगड़े (अप्प० 1/20/5), अगोछा =धोती, (सम्मत्त० 5/10/13) मुग्गदालि=मूँग

की दाल (हरिवंश० 4/7/8), पौडा=गन्ना, (पास० 6/1/6) लइयउ=लेगया (अप्प० 3-8-10) मामा मामा (हरिवस० 4/8/6), कप्पड=कपडा (अप्प० 1/12/5), पैज=प्रतिज्ञा, (पुण्ण० 3/4/7), कुकुर पुण्णा० (12/25/11) खाजा (पुण्णा० 1/10/5) अथउ=सूर्यास्त पूर्व का भोजन, (पुण्णा० 12/3/4) चुल्लू (पुण्णा० 1/14/7), साँकल (पुण्णा० 1/3/4), मोल (पुण्णा 5/1/10), देहली (पुण्णा० 8/2/8), गला (पुण्णा० 13/4/12), तलेवर=कोतवाल, (पुण्णा० 9/7/10) आदि ऐसे शब्द हैं, जो आज भी बुन्देली, बघेली, ब्रज, भोजपुरी, अवधी एवं पजाबी मे प्रयुक्त होते हैं।

रइधू साहित्य का महत्व

इस प्रकार महाकवि रइधू ने विविध भाषाओ एव साहित्यिक-शैलियों में एक विशाल साहित्य रूपी भास्कर दीप को प्रज्ज्वलित कर माँ भारती के श्रीचरणो को आलोकित किया है। उसने विविध आक्रमणों से जर्जर मालवभूमि के गिरते गौरव को अपनी समर्थ-लेखनी से उन्नतकर उसके पद को पुन: प्रतिष्ठित किया है तथा अन्धकार में विलीन होते हुए उसके कई ऐतिहासिक तथ्यो को अपनी प्रशस्तियों के माध्यम से प्रकाशित किया है। निःस्सन्देह ही रइधू-साहित्य मालव प्रदेश का ही नही समग्र भारतीय-वाङ्मय का भी एक स्वर्णिम अध्याय है। उसने शिक्षा जगत् का महान् उपकार किया है। अत: गोपाचल के इस वरेण्य कवि के अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशदान देने से ही म० प्र० उसके ऋणो से उऋण हो सकेगा और इसी प्रकार रइधू के प्रति रचनात्मक समर्थ श्रद्धाजलियाँ भी समर्पित की जा सकेंगी।

□ □

ग्वालियर एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में स्थित

जैन सांस्कृतिक केन्द्र

डा० वी० वी० लाल

भारत की प्राचीनतम सस्कृतियो में से एक जैन सस्कृति, जिसे श्रमण संस्कृति भी कहा जाता है, की व्यापकता उसकी एक प्रमुख विशेषता रही है। यों तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैन सस्कृति के प्रतीक स्वरूप अनेको तीर्थ, मन्दिर, मूर्तिया आदि अनेक प्रकार के स्मारक उपलब्ध होते हैं, परन्तु उत्तर भारत और मध्य भारत के बीच का क्षेत्र इस दृष्टि से और भी अधिक सम्पन्न क्षेत्र है। ग्वालियर के निकटवर्ती क्षेत्र जैन पुरातत्व के वैभव से भरे पड़े हैं, विभिन्न अचलों मे युगयुगीन जैन सस्कृति के अनेकों प्रतीकात्मक स्मारक उपलब्ध हैं। इसका एक प्रमुख कारण सम्भवत यह भी है कि विभिन्न जैन तीर्थ करों व साधुओं ने देश भर मे पैदल विहार कर अपने धर्म का प्रचार किया और लोगों को अहिंसात्मक जीवन पद्धति अपनाने का उपदेश दिया। जो क्षेत्र तीर्थ करों के विहार में प्रमुख रहे उनमे बिहार, उत्तरप्रदेश और उत्तरी मध्यप्रदेश के क्षेत्र प्रमुख हैं।

ग्वालियर उत्तरी मध्यप्रदेश के प्राचीनतम क्षेत्रो मे से एक है। ग्वालियर के निकट पवाया नाम के ग्राम को वेदो मे पद्मावती नामक ऐतिहासिक नगरी मानने में अनेकों इतिहासकार एकमत हैं। यहाँ प्राप्त प्राचीन पुरातत्वीय सामग्री से यह तथ्य बहुत कुछ पुष्ट होता है। मुरैना जिले मे सिहोनिया, दतिया जिले मे स्वर्ण-गिरी, शिवपुरी जिले के नरवर, गुना जिले मे चँदेरी, तुमेन और झरकौन जैगर (बजरग गढ) तथा ग्वालियर के अमरौल व दुर्ग आदि स्थल भी प्राचीन ऐतिहासिक महत्व व पुरातत्विक सम्पदा की दृष्टि से सम्पन्न क्षेत्र हैं। इन सभी क्षेत्रों मे जो कुछ भी प्राचीनतम पुरातत्विक अवशेष एव अन्य सामग्री उपलब्ध हुई है उसका बड़ा भाग जैन संस्कृति से सम्बन्धित है। इस प्रकार ग्वालियर और उसका निकटवर्ती सम्पूर्ण क्षेत्र जैन पुरातत्व की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न क्षेत्र है तथापि जैन संस्कृति के कुछ प्रमुखतम केन्द्रो के रूप मे कुछ क्षेत्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्व है। यहाँ ऐसे ही कुछ प्रमुख स्थलों की चर्चा की गई है।

सिद्धक्षेत्र स्वर्णगिरी —

दतिया स्टेशन से तीन मील की दूरी पर स्थित स्वर्णगिरी (सौनागिरी) धार्मिक दृष्टि से सिद्धक्षेत्र माना जाता है। जिस ग्राम मे यह क्षेत्र स्थित है वह सनावल कहलाता है, जो "श्रमणाचल" का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है, जिसका तात्पर्य श्रमण संस्कृति के प्रमुख अंचल से है। जिससे प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र श्रमण दिगम्बर जैन साधुओ की प्राचीनतम तपोभूमि रही है।

वर्तमान मे यहाँ एक पहाड़ी बनी है जिस पर कुल 77 मन्दिर बने हुए हैं। नीचे के निकटवर्ती भू-भाग मे भी सोलह भव्य मन्दिर बने हैं। इन सारे मन्दिरो मे पहाडी के शीर्षस्थ स्थान पर बने तीर्थंकर चन्द्रप्रभू के मन्दिर का विशेष महत्व है। पहाडी की सर्वोच्च शिला पर उत्कीर्ण तीर्थंकर चन्द्रप्रभू की प्रतिमा के चारो ओर भव्य मन्दिर बना है, जिसमें बाद मे समय समय पर अन्य अनेको तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी विराजमान की गई हैं।

तीर्थंकर चन्द्रप्रभू की प्रतिमा यहाँ की प्राचीनतम एव इस मन्दिर की मूल नायक प्रतिमा है। जैन शास्त्रो के उल्लेख के अनुसार इस स्थल पर तीर्थंकर चन्द्रप्रभू स्वामी का समवशरण विहार करते समय ठहरा था, और उन्होने काफी समय तक यहाँ उपदेश दिये थे। इस कारण इस स्थान का अत्याधिक धार्मिक महत्व है। इस घटना के प्रतीक स्वरूप ही यहाँ तीर्थंकर चन्द्रप्रभू की यह प्रतिमा उत्कीर्ण की गई। यह मनोज्ञ प्रतिमा खड्गासन मुद्रा मे है जिसकी ऊँचाई साढे सात फीट है। प्रतिमा के नीचे के भाग मे उत्कीर्ण हिन्दी लेख में जो कि किसी प्राचीन लेख के आधार पर लिखा गया है, इस प्रतिमा और मन्दिर को सम्वत् 335 वि. मे निर्मित दर्शाया है। इस लेख के अनुसार श्री श्रवणसेन कनकसेन ने इस मन्दिर का निर्माण स. 335 वि. मे करवाया तथा स. 1883 में पुनः मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी द्वारा इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया गया। इस जीर्णोद्धार के समय मूल शिलालेख चरणो के नीचे होने से दब गया पर सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी ने इसका अनुवाद कराकर लगा दिया जिसे अविश्वसनीय मानने का कोई कारण नही है।

जैन ग्रन्थो के उल्लेखों के अनुसार यह पर्वत जैन साधुओ की प्रमुख साधना स्थली रहा है, व लगभग साढे पाँच करोड साधुओ ने इसे अपनी सिद्धभूमि होने का गौरव प्रदान किया है। साधुओ के सघ के विहार के सम्बन्ध में उल्लेखनीय प्राचीनतम घटना सन् 258 ई. के लगभग की बताई जाती है जब कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे महाकाल पड़ने पर जैन साधू संघ का एक अश चलकर यहाँ आकर ठहरा। उन्होंने वहाँ जो अपना शिलालेख लगवाया वह अभी तक उपलब्ध है। सम्राट अशोक के शासन काल मे एक उपशासक कुमारपाल की यहाँ नियुक्ति किये जाने का भी उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार अपने प्रारंभिक काल में जब सम्राट अशोक का झुकाव जैन धर्म की ओर था, उन दिनो सम्राट अशोक ने भी इस स्थान की वन्दना की थी।

पहाड़ से मोक्ष को प्राप्त साढे पाँच करोड मुनियो मे सर्वाधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक उल्लेख मुनि नग-अनग कुमार का उपलब्ध होता है। इनके स्मारक के रूप में तीर्थंकर चन्द्रप्रभू के मन्दिर के निकट ही इनके चरण प्रतिष्ठापित हैं। पहाडी पर बने अन्य मन्दिर भी अत्याधिक भव्य हैं तथा उनमे विराजमान प्रतिमाओ मे से अनेको काफी प्राचीन हैं। व्यवस्थापन समिति द्वारा एक मन्दिर के बरामदो में पुरातत्व सग्रहालय के रूप में एक वीथिका बना दी गई है। इसमें भी सन् 300 ई. तक की अनेको प्राचीन जैन प्रतिमायें खण्डित रूप मे उपलब्ध हैं। इनके साथ ही समवशरण आदि के कुछ अवशेष भी इस सग्रहालय मे हैं। पहाडी पर प्राकृतिक रूप से बने एक कुण्ड का आकार नारियल जैसा होने मे

वह नारियल कुण्ड, तथा एक विशाल शिला ठोकने पर आवाज करने के कारण बजनी शिला के नाम से जानी जाती हैं। नीचे के मन्दिरों में भट्टारक हरेन्द्रभूषण जी का मन्दिर प्राचीन भी काफी है।

विगत कुछ समय पूर्व बने बाहुबली स्वामी का मन्दिर, मानसाम्भ तथा कुछ अन्य मन्दिर भी भव्य हैं। तीर्थंकर चन्द्रप्रभू के समवशरण की विश्राम स्थली तथा पाँच करोड़ साधुओं की सिद्ध स्थली होने के कारण जैन संस्कृति का यह प्राचीन केन्द्र ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ धार्मिक दृष्टि से भी अत्याधिक महत्वपूर्ण सिद्ध क्षेत्र (तीर्थ) माना जाता है।

सिंहोनिया—

मुरैना जिले में स्थित सिंहोनिया नामक नगरी इस क्षेत्र की प्राचीनतम ऐतिहासिक नगरियों में प्रमुख है।
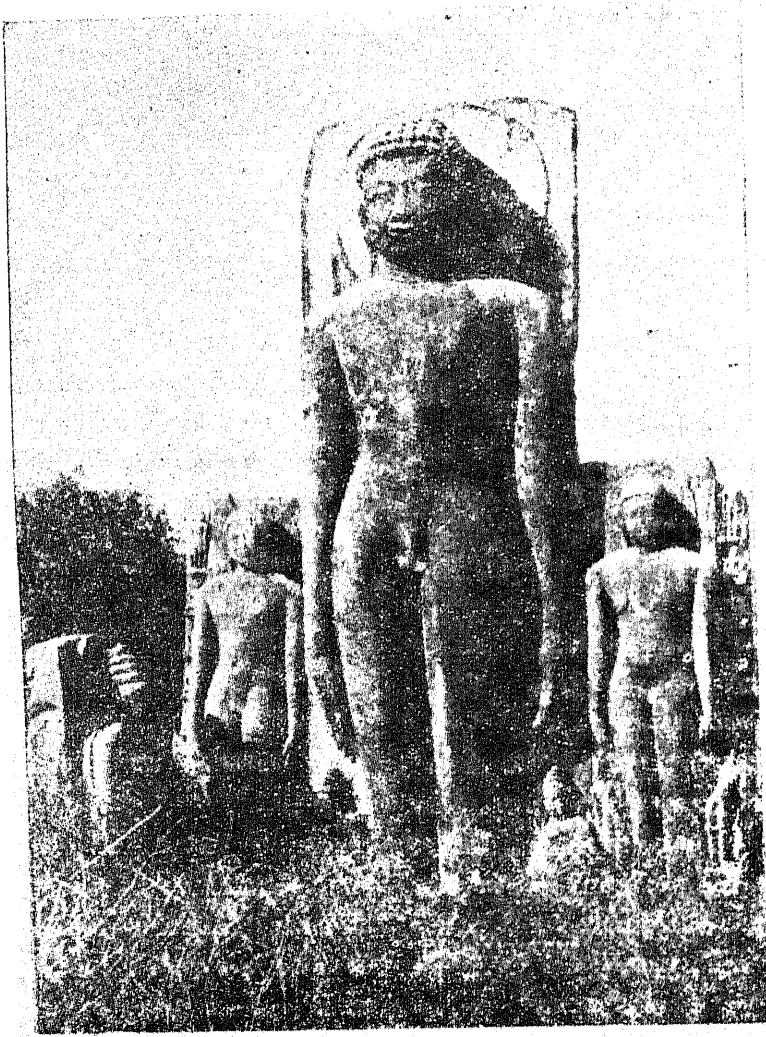
चैत्रनाथ की प्रतिमाऐं सिंहोनिया (जिला मुरैना) (श्री हरिहर निवास जी द्विवेदी के सौजन्य से)

प्राचीन ग्रन्थों मे नाग सम्राटो की राजधानी क्रान्तिपुरी इसी नगरी का ऐतिहासिक नाम है। यहाँ स्थित माता के मन्दिर के चारो ओर तथा निकटवर्ती अन्य मन्दिरो में पहली से पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य पुरातत्विक अवशेष भरे पडे हैं, इनमे अनेको जैन धर्म से सम्बन्धित हैं, अभी तक इन पर पर्याप्त शोध के अभाव में इनके बारे मे बहुत से तथ्य अज्ञात हैं। यही ग्वालियर के तोमर राजा वीरमदेव के समय मे बना विशाल एव भव्य चैत्रनाथ मूर्ति समूह अभी भी सुरक्षित है। इसमे चैत्रनाथ की जैन मूर्ति पर वि. सं. 1467 (सन् 1410 ई.) का एक शिलालेख अकित है।[1]

दूबकुण्ड (श्योपुर)—

मुरैना जिले मे ही श्योपुर तहसील में स्थित दूबकुण्ड नामक स्थान भी जैन सस्कृति का प्राचीन केन्द्र रहा है। यहाँ भी कई प्राचीन जैन मूर्तियो के अवशेष प्राप्त होते हैं। यहाँ प्राप्त वि. स. 1145 (सन 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र के कच्छपघात राजाओ का प्रश्रय भी जैन सूरियो को प्राप्त हुआ था। शान्तिषेण सूरि और उनके शिष्य विजयकीर्ति द्वारा एक प्रशस्ति लिखी गई थी।[2] यहाँ के जैन मन्दिर के शिलालेख वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई) से ज्ञात होता है कि यहाँ काष्ठा सघ के महाचार्यवर्य श्री देवसेन के पादुका चिन्ह की पूजा होती थी।[3]

पवाया (पद्मावती)—

ग्वालियर जिले मे डबरा के निकट स्थित पवाया नामक ग्राम ऐतिहासिक दृष्टि से इस सारे क्षेत्र में स्थित प्राचीनतम नगरो में से एक है। अनेकों इतिहासकारो के अनुसार भारतीय वेदों में वर्णित पद्मावती नामक ऐतिहासिक नगरी यही पवाया है। यहाँ अत्याधिक प्राचीन पुरातत्विक सम्पदा उपलब्ध है। उपलब्ध अवशेषों में से कुछेक इस क्षेत्र मे जैन सस्कृति के प्रचुरतापूर्ण प्रसार की साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उपलब्ध प्राचीन अवशेषों पर अभी पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। यहाँ प्राप्त मूर्तियो मे एक मूर्ति विचित्र प्रकार की उपलब्ध हुई है जिसमे एक व्यक्ति अपने सिर के ऊपर एक ध्यानस्थ नग्न आकृति की प्रतिमा को विराजमान किये हुए है। यह प्रतिमा जैन प्रतिमा प्रतीत होती है, जो अब तक उपलब्ध प्रतिमाओ की तुलना में विचित्रताएँ लिये हुए एवं अनूठी है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतिमाएँ आदि भी उपलब्ध हैं।

अमरौल तथा सोहजना—

ग्वालियर जिले में ही ग्वालियर के दक्षिण पूर्व में स्थित अन्य ग्राम अमरौल में भी अनेको उल्लेखनीय प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है। इनमें पूर्व मध्यकाल की पार्श्वनाथ और आदिनाथ की प्रतिमा का सूक्ष्मता के साथ प्रतिरूपण हुआ है जिसमें तीर्थंकर के चारो ओर यक्षो की वामन आकृतियाँ पद्म पीठो पर सुखासन-मुद्रा मे बैठी हुई दर्शायी गयी हैं। पद्मपीठ कमलपत्रावली द्वारा भव्य रूप से अलकृत हैं।[4]

ग्वालियर—

ग्वालियर नगर स्वय भी जैन सस्कृति के प्राचीनतम केन्द्रो में से एक है। यहाँ जैन संस्कृति से सम्बन्धित

---

1. आर्को सर्वे. रि. भाग 2, पृ. 396।
2. ग्वालियर राज्य अभिलेख, क्र 54।
3. ग्वालियर राज्य अभिलेख, क्र. 58।
4. जैनकला एव स्थापत्य, खण्ड 1, भारतीय ज्ञानपीठ, भाग 4, वास्तु स्मारक एव मूर्तिकला (600 से 1000 ई.। अध्याय 16, मध्य भारत कृष्णदेव। पृ. 177–78।
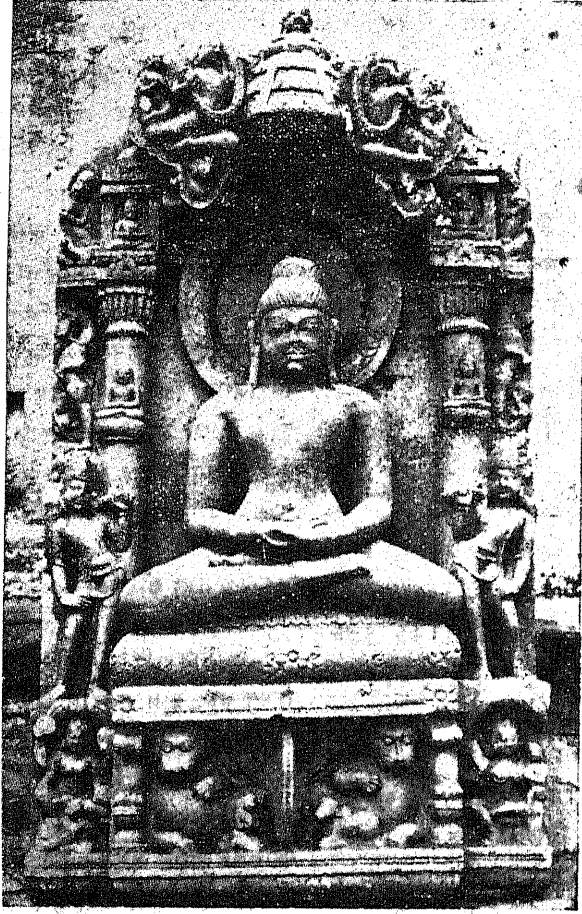
(सुहजना से प्राप्त प्राचीन जैन प्रतिमा) (श्री हरिहर निवासजी द्विवेदी के सौजन्य से)

प्रमाण आठवीं शती तक के प्राचीन उपलब्ध होते हैं। ग्यारहवीं शती में ग्वालियर दुर्ग (गोपाचल गढ़) के ऊपर एक जैन मन्दिर उपलब्ध होने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। दुर्ग के अतिरिक्त ग्वालियर नगर के निकटवर्ती क्षेत्रों में भी अनेकों प्राचीन प्रतिमाएँ व अवशेष उपलब्ध होते हैं। इनमें तिघरा बाँध के पास स्थित सौजना (सुहजना) ग्राम में प्राप्त प्राचीन जैन प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं।

कच्छपघात राजाओं के काल में यहाँ जैन संस्कृति का प्रसार अवश्य ही कुछ कम हुआ था परन्तु चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में तोमर राजाओं के काल में ग्वालियर में जैन संस्कृति का व्यापक एवं अभूतपूर्व प्रचार हुआ। तोमर काल में ग्वालियर में जैन धर्माव-लम्बी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। इस काल में अनेकों जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ, जो आज उप-लब्ध नहीं हैं। ग्वालियर दुर्ग के चारों ओर निर्मित

गुहा मन्दिर और विशाल तीर्थंकर प्रतिमा समूह भारतीय पुरातत्व की अद्वितीय उपलब्धि हैं। बाबर के शासन काल मे खण्डित ये जैन प्रतिमाएँ आज भी आकर्षक एवं मनोज्ञ स्वरूप लिये हैं तथा इनका अत्यधिक ऐतिहासिक एवं पुरातत्विक महत्व है। उरवाई द्वार पर स्थित आदिनाथ की प्रतिमा इस सम्पूर्ण मध्य भारतीय क्षेत्र मे स्थित विशालतम प्रतिमा है तथा एक पत्थर की बावडी पर स्थित गुहा मन्दिर एव विशाल मूर्तियो का समूह देश मे अद्वितीय है। इतनी विशाल प्रतिमाएँ इतनी बड़ी सख्या में एक स्थान पर एक साथ कही नही मिलती।

ग्वालियर मे बने जैन मन्दिरो में भी अनेको प्राचीन एव भव्य मन्दिर हैं, जिनमे प्राचीन प्रतिमाएँ एवं साहित्य उपलब्ध है। इस प्रकार ग्वालियर नगर स्वयं भी जैन सस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र रहा है तथा उसके सांस्कृतिक विकास में जैनो की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

नरवर—

शिवपुरी जिले मे शिवपुरी से 40 किलोमीटर उत्तर-पूर्व स्थित नरवर नगर नल और दमयन्ती के काल में नल द्वारा बसाया गया नगर माना जाता है। प्राचीन उल्लेखो में इसे नलपुर कहा गया गया है। यहाँ अनेक जैन मन्दिरो और मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों और मूर्तियो के उपयोग मे आए श्वेत पाषाण पर यहाँ इतना अच्छा पालिश किया गया कि वह सगमरमर-सा दिखता है। नरवर के यज्वपाल, गोपाल देव और आसल्ल देव नामक राजाओ ने कला के विकास में व्यापक योग दिया।[5] तेरहवीं और चौदहवी शताब्दी मे नरवर और इसके आसपास जैन धर्म का बहुत प्रसार हुआ। वि. स. 1314 से 1324 के मूर्तिलेखों युक्त सैकडो जैन मूर्तियाँ नरवर मे प्राप्त हुई हैं। जज्वेल राजाओं के अधिकांश शिलालेखों के प्रशस्तिकार जैन मुनि हैं। यहाँ के बडे जैन मन्दिर मे वि. स. 1475 (सन् 1418 ई.) का एक ताम्रपत्र भी उपलब्ध है जिसमे महाराजाधिराज वीरमेन्द्र तथा उनके मत्री साधु कुशराज का उल्लेख है। नरवर के जैन मन्दिरो में जैन साहित्यकारों की अनेको प्राचीन रचनाएँ व धर्मग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जो इस क्षेत्र मे जैन सस्कृति के विकास के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

चन्देरी (गुना)—

गुना जिले में चन्देरी और तुमैन जैन कला के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। चन्देरी मे अनेको प्राचीन एव विशाल जैन मन्दिर स्थित हैं। चन्देरी और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में इस काल की पाषाण मूर्तियाँ बहुत बड़ी सख्या में प्राप्त हुई हैं। उनमे तीर्थंकरो और देवियो के अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें बहुत-सी अभिलिखित हैं। लगभग 1400 ई. में चन्देरी पट्ट की स्थापना हुई। श्री भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति और उनके उत्तराधिकारियो ने उस क्षेत्र मे जैन धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। विदिशा जिले का सिरोज, चन्देरी के भट्टारकों के कार्यक्षेत्र मे आता था।[6] इन मन्दिरो मे बहुत-सा प्राचीन साहित्य एव अभिलेख भी उपलब्ध है।

उपलब्ध प्रचुर सामग्री के संरक्षण एव शोध की आवश्यकता—

इस प्रकार ग्वालियर और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों मे जैन सस्कृति का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा है, और

5. जैन कला एव स्थापत्य, खण्ड 1, भाग 6, भारतीय ज्ञानपीठ; वास्तु स्मारक एव मूर्तिकला (1300 से 1800 ई.) अध्याय 27—मध्य भारत, पृष्ट 356।
6. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 2, भाग 6, वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला (1300 से 1800 ई.) अध्याय 27, मध्य भारत पृष्ठ 356 भारतीय ज्ञानपीठ।

इसकी पुष्टि हेतु प्रचुर मात्रा में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री भी उपलब्ध है, परन्तु यह बड़े ही खेद का प्रसग है कि जैन सस्कृति के पोषको ने जहाँ सैकडो वर्षों तक अपनी इस प्राचीन सास्कृतिक सम्पदा का सरक्षण एव सम्वर्द्धन किया वहाँ वे अब इस पर अधिक ध्यान नहीं दे रहे हैं। आज प्राचीन सम्पदा के सरक्षण एव उसके सग्रहीकरण की नितान्त आवश्यकता है जिसकी पूर्ति शीघ्र ही की जाना चाहिये। साथ ही इस दिशा मे पर्याप्त शोध की भी आवश्यकता है ताकि इस संस्कृति एव क्षेत्र के प्राचीन एव गौरवमयी पक्ष को उजागर किया जा सके। ग्वालियर और इसके निकटवर्ती क्षेत्र मे जैन संस्कृति, पुरातत्व एव प्राचीन साहित्य से सम्बन्धित इतना विशाल भण्डार उपलब्ध है कि उसके सग्रह से एक राष्ट्रीय स्तर का विशाल सग्रहालय निर्मित किया जा सकता है; साथ ही उसके सम्बन्ध मे शोध-कार्य को प्रोत्साहित करने के लिये एक नियमित शोध सस्थान चलाया जा सकता है। महावीर निर्वाण महोत्सव के 2500वें वर्ष मे इस दिशा मे रुचि रखने वाले कुछ लोग आगे आएँ तो इस क्षेत्र की प्राचीन सस्कृति को उजागर करने की दिशा मे महत्वपूर्ण सहयोग तथा भारतीय सस्कृति के विशाल ज्ञान भण्डार को महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकते हैं।

□ □

गोपाद्रौ देवपत्तने

※ हरिहरनिवास द्विवेदी

वि० स० 1469 (सन् 1412 ई०) में कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्दकृत "तत्वदीपिका" टीका की एक प्रतिलिपि वीरमेन्द्रदेव के राज्यकाल में ग्वालियर मे की गई थी। इसके प्रतिलिपि काल और प्रतिलिपि स्थल के विषय मे उसमे निम्नलिखित पंक्तिया प्राप्त होती हैं—

> विक्रमादित्य राज्येऽस्मिश्चतुर्दशपरेशते ।
> नवषष्ठ्या युते किनु गोपाद्रौ देवपत्तने ॥

वीरमेन्द्रदेव ग्वालियर के तोमर राजा (सन् 1402-1423 ई०) थे और टीका के प्रतिलिपिकार ने उनके गढ़ गोपाद्रि को "देवपत्तन" कहा है। कुछ जैन तीर्थमालाओं मे भी ग्वालियर का उल्लेख प्रसिद्ध जैन तीर्थ के रूप में किया गया है।[1]

इन उल्लेखो से ऐसा ज्ञात होता है कि कभी ग्वालियर की गणना प्रसिद्ध जैन तीर्थों में की जाती थी और जैन धर्मावलम्बियो के लिए वह "देवपत्तन" था। ग्वालियर की वह महिमा अब नही रही है। वह महिमा किस प्रकार उपलब्ध हुई थी और वह फिर किस प्रकार नष्ट हो गई इसके इतिहास की खोज अभी तक सम्यक् रूप से नही की गई है, यद्यपि इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये बहुत अधिक सामग्री अभी भी उपलब्ध है। इस विषय से सम्बद्ध इतने अधिक शिलालेख, मूर्तिखण्ड तथा साहित्यिक उल्लेख प्राप्त होते हैं कि उनकी ओर अब तक समर्थ विद्वानों का ध्यान आकर्षित होना चाहिये था। उस सामग्री के आधार पर न केवल उत्तरी मध्यप्रदेश मे जैन धर्म के विकास का इतिहास सुपुष्ट रूप से लिखा जा सकता है, वरन् उस प्रदेश के मध्ययुग का राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास भी प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है।

तोमरो के इतिहास की सामग्री की खोज करते समय मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि अब तक हम जिस सामग्री को इतिहास-निर्माण का प्रमुख आधार मान कर चले हैं, वह बहुत प्रामाणिक नही है। इस क्रम में यह धारणा भी पुष्ट हुई है कि समकालीन जैन साहित्य

---

1. बावन गज प्रतिमा गढ गुवालेरि सदा सोभती ॥ 33 ॥

—तीर्थमाला, पृ० 111।

गढ गवालेर बावन गज प्रतिमा
बन्दु ऋषभ रंगरोली जी ॥ 14-` ॥

सौभाग्य विजय तीर्थमाला, पृ० 98।

मे ऐसी ऐतिह्य सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर मध्ययुग के इतिहास की खोई हुई कडियो को जोडा जा सकता है और कुछ बहुत बड़ी भूलो को सुधारा जा सकता है। यहाँ एक उदाहरण ही पर्याप्त है। लगभग चार शताब्दियो से भारतीय इतिहास मे यह बात निर्विवाद मानी जाती है कि पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का राजा था, और यह राज्य उसे उसके पूर्वज विग्रहराज चतुर्थ से दाय मे मिला था, अर्थात्, विग्रहराज चतुर्थ ने कभी सन् 1151 ई० में तोमरों से दिल्ली जीत ली थी। यद्यपि ईसवी चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दी के कुछ जैन मुनि भी इस भ्रम से अभिभूत थे, तथापि, समकालीन जैन रचनाए यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि चौहानो ने तोमरों से दिल्ली कभी नही जीती थी और पृथ्वीराज चौहान का दिल्ली से कभी कोई सम्बन्ध नही रहा था। उसका राज्य शाकम्भरी प्रदेश तक सीमित था और उसकी राजधानी सदा अजमेर ही रही। यदि ये जैन ग्रन्थ उस समय उपलब्ध हो जाते जब भारत का इतिहास लिखे जाने का प्रारम्भिक प्रयास किया जा रहा था, तब हमारी अनेक पीढिया दिल्ली का अशुद्ध इतिहास पढने से बच जातीं। अब वह अशुद्धि हमारे मस्तिष्क पटल पर इतनी गहरी खचित हो गई है कि उसे मिटाने में भी बहुत समय लग सकता है।

ग्वालियर प्रदेश के मध्ययुगीन इतिहास ग्रन्थों में इतनी भयंकर भूलें तो नहीं थीं, फिर भी कुछ थीं अवश्य। समकालीन जैन ग्रन्थ, जैन मूर्तिलेख आदि से न केवल उन भूलों को सुधारा जा सकता है, वरन् जो तथ्य अब तक अज्ञात ही हैं उन पर विशद् प्रकाश डाला जा सकता है। तात्पर्य यह है कि ग्वालियर क्षेत्र में जैन धर्म के विकास के इतिहास का अध्ययन न केवल जैन धर्म के अनुयायियो के लिए उपयोगी एव स्फूर्तिदायक है, वरन् भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास को भी ठोस धरातल प्रदान करता है। मैंने ग्वालियर या दिल्ली क्षेत्र मे जैन धर्म के विकास का अध्ययन सम्यक् रूप से नहीं किया है, वरन्, इन क्षेत्रो के राजनीतिक और सास्कृतिक इतिहास से परिचय प्राप्त करने के लिए ही जैन-स्रोतों का अध्ययन किया है। उसी आनुषगिक अध्ययन के क्रम मे जैन धर्म के विकास की कुछ रूपरेखा भी सामने आई है। दिल्ली में जैन धर्म के विकास की गाथा यहां असम्बद्ध है, यहां केवल ग्वालियर क्षेत्र मे जैन धर्म के विकास की उपलब्ध सामग्री पर किंचित प्रकाश डालना अभीष्ट है।

जैन धर्म के विकास का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु ग्वालियर क्षेत्र मे उसके विकास का इतिहास बहुत प्राचीन नही है, अथवा यह कहना उचित होगा कि ईसवी सातवी-आठवी शताब्दी के पूर्व के इस क्षेत्र के जैन धर्म के विकास के इतिहास की सामग्री की अभी खोज नही की जा सकी है।

सब से प्राचीन अनुश्रुति पद्मावती की प्राप्त होती है। ईसवी प्रथम शताब्दी के आसपास मथुरा, कान्तिपुरी, पद्मावती और विदिशा में नाग राजाओ का राज्य था। उनमे से कुछ को निर्विवाद रूप से सम्राट् कहा जा सकता है। इन चारों नगरों मे कान्तिपुरी और पद्मावती ग्वालियर क्षेत्र में हैं। पद्मावती वर्तमान समय में पवाया नामक छोटे-से ग्राम के रूप में विद्यमान है और कान्तिपुरी के स्थान पर कुतवार नामक ग्राम है। जिस समय ये दोनो स्थान महानगरो के रूप में बसे हुए थे उस समय गोपाद्रि गोपों अर्थात् गोपालों की भूमि था और उसका विशेष महत्व नही था।

दुर्भाग्य से पद्मावती (पवाया) तथा कान्तिपुरी (कुतवार) का अभी तक विस्तृत पुरातात्विक अन्वेषण नही हुआ है। इन स्थानों पर उत्खनन करने पर ऐसी प्राचीन सामग्री प्राप्त होगी जिससे यहा जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ेगा। आज जैसी स्थिति है उसमे केवल अनुश्रुति से काम चलाना पड़ेगा।

जैनियों की चौरासी उपजातियों में एक "पद्मावती पुरवाल" भी है। इसी उपजाति मे पन्द्रहवीं शताब्दी में रइधू नामक जैन कवि हुआ था। वह अपने आपको "पोमावइ-कुल-कमल-दिवायरु" लिखता है। पद्मावती पुरवाल अपना उद्गम ब्राह्मणों से बतलाते हैं और अपने आपको पूज्यपाद देवनन्दी की सन्तान कहते हैं। जैन जातियो के आधुनिक विवेचकों को पद्मावती पुरवाल उपजाति के ब्राह्मण-प्रसूत होने में घोर आपत्ति है। परन्तु, इतिहास पद्मावती पुरवालो मे प्रचलित अनुश्रुति का समर्थन करता है। जिसे वे "पूज्यपाद देवनन्दी" कहते हैं वह पद्मावती का नाग सम्राट् देवनन्दी है। वह जन्म से ब्राह्मण था। उसकी मुद्राए अत्यधिक सख्या मे पद्मावती में प्राप्त होती हैं जिन पर "चक्र" का लांछन मिलता है और "श्री देवनागस्य" या "महाराज देवेन्द्र" श्रुतिवाक्य प्राप्त होते हैं। देवनाग का अनुमानित समय पहली ईसवी शताब्दी है।[2] पद्मावती पुरवालों मे प्रचलित अनुश्रुति तथा पद्मावती के देवनाग का इतिहास एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञात यह होता है कि देवनन्दी अथवा उसके किसी पुत्र ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और उसकी सतति अपने आपको पद्मावती पुरवाल जैन कहने लगी। जैन मुनि और जैन व्यापारी कभी एक स्थल पर बधकर नहीं रहते। ये पद्मावती पुरवाल समस्त भारत मे फैल गए, तथापि वे न तो पूज्यपाद देवनन्दी को भूले और न अपनी धात्री पद्मावती को ही भूल सके।

पद्मावती मे अभी तक कोई प्राचीन जैन मूर्ति नही खोजी जा सकती है। उसका कारण यही है कि उस स्थल पर अभी कोई विस्तृत उत्खनन हुआ ही नही है। वहा पर जो माणिभद्र यक्ष की प्रतिमा मिली है वह जैनो द्वारा भी पूजित हो सकती है, परन्तु निश्चयात्मक रूप से उसे जैन प्रतिमा नही कहा जा सकता। उस युग के सभी व्यापारी यक्ष पूजा करते थे। कुबेर को भी वे यक्ष ही मानते थे। यही कारण है कि प्राचीन राजमार्गों पर बसे नगरो मे यक्षो की मूर्तिया बहुत मिलती हैं। वे उस समय के सार्थवाहो के आराध्य देवता थे। उन सार्थवाहों मे अधिकांश जैन होते थे।

इसके आगे लगभग पांच-छह शताब्दियो तक चम्बल और सिन्धु के बीच के प्रदेश के सन्दर्भ मे जैन धर्म के विकास या अस्तित्व का कोई प्रमाण हमें नही मिल सका है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इसी बीच गोपाचलगढ पर कुछ हलचल होने लगी थी। वहा किसी रूप मे कुछ बस्ती बस गई थी। सन् 520 ई० मे अर्थात्, मिहिरकुल हूण के राज्य के पन्द्रहवें वर्ष मे मातृचेट ने गोपागिरि पर सूर्य का मन्दिर बनवाया था, यह तथ्य शिलालेख की साक्ष्य से सिद्ध है।[3] मातृचेट के शिलालेख मे गोपाद्रि का वर्णन सक्षिप्त रूप मे दिया गया है—"गोप नाम का भूधर जिस पर विभिन्न धातुए प्राप्त होती हैं।" इन धातुओ को प्राप्त करने के लिए मानव श्रम आवश्यक रहा होगा, और आसपास मानव निवास हो गया होगा। कुछ साधु-सन्त भी वहां रहने लगे होगे, परन्तु वे सिद्ध योगी थे।

गोपाचलगढ और उसके आस-पास जैन धर्म के विकास के क्रम मे यशोवर्मन के राजकुमार आम का नाम उल्लेखनीय है। प्रबन्धकोश के अनुसार, गोपालगिरि दुर्ग-नगर कान्यकुब्ज देश मे था और उसे कन्नौज के प्रतापी राजा यशोवर्मन के पुत्र आम ने अपनी राजधानी

---

2. द्विवेदी, मध्यभारत का इतिहास, भाग 1, पृ॰ 471।

3. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र० 616।

बनाया था। इस आम ने बप्पभट्टि सूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया और गोपगिरि पर एक सौ एक हाथ लम्बा मन्दिर बनवाया जिसमे वर्धमान महावीर की विशाल प्रतिमा स्थापित की गई। बप्पभट्टिचरित तथा प्रभावक चरित से भी इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है। "आम" यदि यशोवर्मन का राजकुमार है तब उसका समय 750 ई० माना जाएगा। गोपाचलगढ पर जैन मन्दिर निर्माण का यह प्रथम उल्लेख है। आम द्वारा निर्मित जैन मन्दिर बहुत समय तक अस्तित्व मे रहा। सभवतः उसे तेरहवीं शताब्दी मे कभी तोड दिया गया था। यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इस मन्दिर में उत्कीर्ण मूर्तिया अत्यन्त पुष्ट मूर्तिशिल्प का उदाहरण थी। अभी हाल ही मे सिन्धिया पब्लिक स्कूल के इतिहास के प्राध्यापक श्री आर्थर ह्यूज को गढ़ पर गगोलाताल के कचरे मे एक मूर्तिखण्ड प्राप्त हुआ है। भारतीय मूर्तिकला के अवशेष की यह अप्रतिम उपलब्धि है और आठवी शताब्दी के पश्चात् की नही है। उस समय ग्वालियर के आसपास अन्य जैन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था। लेखक के सग्रह में जो जैन चौखम्भा है वह उसे मुरार नदी के पास एक बगले में प्राप्त हुआ था। वह भी आठवी शताब्दी की कृति ज्ञात होता है। तेली के मन्दिर के प्रांगण में अनेक जैन मूर्तिया रख दी गई हैं। उनमे से अनेक आठवी और नौवीं शताब्दी की ज्ञात होती हैं। गूजरीमहल सग्रहालय में भी आठवीं और नौवीं शताब्दियों की अनेक जैन मूर्तिया हैं, परन्तु उनके उपलब्ध होने के स्थलो का पता नही चलता। उनमें से अनेक ग्वालियर गढ अथवा ग्वालियर नगर से प्राप्त हुई होंगी। बप्पभट्टि सूरि उपदेश से आम ने जो विशाल जैन मन्दिर बनवाया था, उसके अवशेष मेजर जनरल कनिघम ने भी देखे थे। वह सासबहू मन्दिर तथा हथिया पौर के बीच मे स्थित था। उस पर एक वि० स० 1165 (सन् 1108 ई०) का शिलालेख भी मिला था, जिसमे केवल वर्ष ही पढा जाता था। श्री कनिघम ने अनुमान यह किया था कि यह मन्दिर सन् 1108 ई० में निर्मित हुआ था।[4] यह कथन ठीक ज्ञात नही होता। यह वही जैन मन्दिर था जो सन् 750 ई० के आसपास आम ने बनवाया था। वि० सं० 1165 का शिलालेख जीर्णोद्धार से सम्बन्धित होगा। वि० सं० 1165 में कोई नवीन जैन मन्दिर गोपाचलगढ पर निर्मित नही हुआ था, न हो सकता था।

कन्नौज के प्रतीहार राजा परम वैष्णव थे। रामदेव तथा भोजदेव ने गोपाचलगढ को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। चतुर्भुज मन्दिर के शिलालेख तथा अन्य शिलालेखो[5] से यह ज्ञात होता है कि रामदेव प्रतीहार ने गोपाचलगढ पर स्वामि कार्तिकेय का मन्दिर बनवाया था और आनन्दपुर (गुजरात) के बाइल्लभट्ट को "मर्यादाधुर्य" (सीमाओं का रक्षक) नियुक्त किया था। वि० सं० 932 (सन् 875 ई०) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस बाइल्लभट्ट का पुत्र अल्ल गढ का कोट्टपाल था और उसने अपने पिता की स्मृति में बाइल्लभट्ट स्वामिन् विष्णु का मन्दिर बनवाया था। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि प्रतीहारो के समय मे जैन धर्म के अनुयायियों पर कोई प्रतिबध लगाया गया था। भारत का राजतन्त्र समस्त प्रजाधर्मों के पोषण की नीति अपनाता था।

जिस समय कन्नौज के प्रतीहारो का प्रताप सूर्य पूर्ण प्रभामय होकर अस्ताचलगामी हो रहा था, उसी समय चम्बल की उपत्यिका में एक नवीन असिजीवी वर्ग सगठित हो रहा था। स्थानीय कच्छपान्वय वर्ग को

---

4. आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग 2, पृ० 363।
5. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० 8 तथा 415

पराजित कर उसने कच्छपघात विरुद धारण किया। इसी वंश में परम प्रतापी वज्रदामन् कच्छपघात हुआ जिसने नगाड़े बजाते हुए कन्नौज के राजा को पराजित कर उससे गोपाद्रिगढ़ जीत लिया। इस वज्रदामन कच्छपघात के राज्यकाल की एक जैन प्रतिमा सुहानिया में प्राप्त हुई है जिस पर वि. स. 1034 (सन् 977 ई) का मूर्तिलेख है और महाराजाधिराज वज्रदामन के राज्यकाल का उल्लेख है।[6] ज्ञात यह होता है कि इस नवोदित कच्छपघात शक्ति के पीछे जैन मुनियों का मस्तिष्क कार्य कर रहा था। श्योपुर जिले के दुबकुण्ड नामक स्थान पर वि. स. 1145 (सन् 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि विक्रमसिंह के पिता अर्जुन कच्छपघात ने राजपाल प्रतीहार को मार डाला था।[7] यह अर्जुन विद्याधर चन्देल का मित्र था। विक्रमसिंह के शिलालेख के रचयिता हैं शान्तिषेण के शिष्य विजयकीर्ति। वज्रदामन के समय के जैन मूर्तिलेख तथा विक्रम सिंह के दुबकुण्ड के शिलालेख के बीच 110 वर्ष का अन्तर है। ज्ञात यह होता है कि इस बीच उत्तरी ग्वालियर क्षेत्र मे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय पर्याप्त प्रभावशाली हो गया था। सासबहू के मन्दिर (बडे) अर्थात् पद्मनाभ विष्णु के मन्दिर के विस्तृत शिलालेख का रचयिता यद्यपि गोविन्द का पुत्र मणिकण्ठ है, तथापि वह दिगम्बर यशोदेव द्वारा लिखित है।[8] यह स्पष्ट है कि ग्वालियर के कच्छपघातों की राजसभा में दिगम्बर जैन मुनियों का पर्याप्त सम्मान था। वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई) के दुबकुण्ड के जैन मन्दिर के शिलालेख[9] से यह भी ज्ञात होता है कि इस मन्दिर में महाचार्यवर्य देवसेन की पादुका का पूजन होता था। महाचार्य देवसेन ने इस क्षेत्र में धर्म की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढाई थी।

सबसे विचित्र शिलालेख मधुसूदन कच्छपघात के शिव मन्दिर का है। वि. सं. 1161 (सन् 1104 ई.) के शिव मन्दिर के इस शिलालेख के रचयिता निर्ग्रन्थनाथ यशोदेव हैं।[10] उस समय भी ग्वालियर मे हिन्दू और जैनों में पूर्ण सौहार्द्र था।

परन्तु परम वैष्णव और शैव कच्छपघातो के राज्यकाल मे कभी-कभी उनके राज्याधिकारी जैनियो को सकट उत्पन्न कर देते थे। कच्छपघात मूलदेव (भुवनैकमल्ल) के राज्यकाल में कुछ राज्याधिकारियों ने गोपाचलगढ़ पर स्थित वर्धमान महावीर के मन्दिर की पूजा-अर्चा के लिए जैनियो का अबाध प्रवेश बन्द कर दिया। मलधारी गच्छ के श्री अभयदेव सूरि ग्वालियर पधारे और उन्होंने भुवनैकमल्ल को उपदेश दिया। राजा ने पुनः समस्त जैनियो को वर्धमान के मन्दिर मे पूजा-अर्चा की अनुमति दे दी।

कच्छपघातों के पश्चात् ग्वालियरगढ़ पुनः प्रतीहारों के अधिकार में आया। हमें कोई ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नही है जिससे यह ज्ञात हो सके कि ग्वालियर के इन प्रतीहारों के समय में जैन धर्म की इस क्षेत्र मे क्या स्थिति थी। परन्तु यह सुनिश्चित है कि उन्होंने जैन धर्म को उत्सन्न करने का कोई कार्य नहीं किया।

---

6. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र. 20।
7. वही, क्र. 54।
8. द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र. 55 तथा 56।
9. वही, क्र. 58।
10. वही क्र. 61।

अन्त.सलिला के समान जैन मुनि अपना प्रचार करते रहे। परन्तु इस क्षेत्र का गुलाम सुल्तानो द्वारा विजित किया जाना सभी भारतमूलीय धर्म साधनाओ के लिए घातक सिद्ध हुआ था। इल्तुतमिश ने आम के प्रसिद्ध महावीर मन्दिर को भी ध्वस्त कर डाला और उसे मस्जिद बना दिया।

इसी बीच जैन धर्म नरवर में विकास कर रहा था। जैन धर्म की नरवर मे वास्तविक उन्नति जज्ज-पेल्ल वश के समय मे हुई है। चाहडदेव से गणपतिदेव (सन् 1247-1298 ई.) तक यह राजवश नरवर पर राज्य करता रहा; उन राजाओ के राज्यकाल में नरवर में जैन धर्न का बहुत अधिक विकास हुआ। वि. स. 1314 (सन् 1257 ई) से वि. स. 1324 (सन् 1267 ई.) के बीच निर्मित सैकड़ो जैन मूर्तियाँ नरवर मे प्राप्त हुई हैं[11] नरवर के इन राजाओ के शिलालेखों के अधिकाश पाठ जैन साधुओ द्वारा विरचित हैं।

इसी बीच कभी स्वर्णगिरि क्षेत्र मे भी जैनपट्ट स्थापित हो गया था। रइधू ने सम्मइचरित मे स्वर्ण-गिरि के काष्ठासंघ के भट्टारकों की वश परम्परा दी है। उसमें दुबकुण्डवाले देवसेन को प्रथम भट्टारक बतलाया है। सन् 1411 ई. के पूर्व इस पट्ट पर देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन तथा सहस्रकीर्ति पट्टासीन हो चुके थे। अगले भट्टारक गुणकीर्ति (सन् 1411-1429 ई.) ने अपना पट्ट ग्वालियर में स्थानान्तरित कर लिया था और यहीं से स्वर्णगिरि तथा नरवर के जैन सघो का नियत्रण होने लगा था।

चम्बल के किनारे स्थित ऐसाह के छोटे-से तोमर जागीरदार वीरसिंहदेव ने सन् 1394 ई. में गोपाचलगढ़ पर अधिकार कर लिया था और दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन को पराजित कर अपनी स्वतत्र सत्ता स्थापित कर ली थी।[12] इस घटना के पूर्व ग्वालियर क्षेत्र मे जैन धर्म के विकास के कुछ बिखरे हुए प्रमाण ही उपलब्ध हुए हैं। इस क्षेत्र में सन् 1400 ई. के पूर्व का न तो कोई जैन ग्रन्थ ही उपलब्ध हुआ है और न जैन मुनियो एव श्रावको की गतिविधियो की कोई जानकारी ही प्राप्त हुई है। कुछ मूर्तियो एवं शिलालेखो से यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र मे जब-जब किसी स्थानीय शक्ति ने तुर्क सुल्तानों के वर्चस्व से सम्पूर्ण या आशिक त्राण प्राप्त किया तभी भारतमूलीय धर्मों के अनुयायियों ने अपने आराधना स्थलो का निर्माण या पुनर्निर्माण प्रारभ कर दिया। यह भी सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू तथा जैन धर्मो के अनुयायी, दोनों बिना किसी झगड़े के साथ-साथ अपने मार्ग अपनाते रहे। परन्तु मूर्तियो और मन्दिरो का निर्माण मात्र धार्मिक चिन्तन के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त नहीं है। इन मूर्तियो को प्रश्रय देनेवाले मन्दिर सास्कृतिक प्रवृत्तियो के प्रश्रय के प्रमुख स्थल होते थे। दुर्भाग्य से जो—कुछ अवशिष्ट है वह उस धर्मसाधना का बाह्य रूप ही है, उसकी आत्मा हमे उपलब्ध नही हो सकी है। उस समय के समस्त मन्दिर तथा उनमे विरचित साहित्य कालगति अथवा मानव द्वारा नष्ट कर दिए गए और वे प्रमाण अनुपलब्ध हो गए जिनसे उस युग के चिन्तन के स्वरूप को जाना जा सकता। परन्तु यह मानना भूल होगी कि उस समय के इस क्षेत्र के जैन साहित्य का अब अस्तित्व है ही नहीं। स्वर्णगिरि, नरवर, ग्वालियर, मगरौनी, झांसी आदि के जैन मन्दिरों के ज्ञान भण्डारो में हजारो ग्रन्थ अभी भी सुरक्षित हैं, जिनकी प्रति वर्ष धूपदीप देकर

11, नरवर और शिवपुरी क्षेत्र मे वि. स. 1206 (1149 ई.) से ही जैन मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। देखिये, द्विवेदी, ग्वालियर राज्य के अभिलेख क्र. 72, 73, 74, 76, 77 तथा 84।

12. द्विवेदी, तोमरों का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 28–29।

पूजा की जाती है, दुर्भाग्य से उन्हें कोई पढ़ता नही है, न उनकी सूचियाँ बनी हैं। जिस दिन यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा, इस क्षेत्र के जैन धर्म के विकास के इतिहास को सजीव रूप दिया जा सकेगा।

सन् 1394 ई. में ग्वालियर के तोमर राज्य की स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र के इतिहास पटल पर से अन्धकार का पर्दा हट जाता है। राजनीतिक एव सास्कृतिक इतिहास के साथ-साथ जैनधर्म के विकास का इतिहास भी अत्यंत सजीव रूप से प्रत्यक्ष होने लगता है। जैन मूर्तियो के शिलालेख और जैन मुनियो एव जैन पण्डितो की रचनाएँ बहुत विस्तृत और अत्रुट जानकारी प्रस्तुत करती हैं। उनके आधार पर ग्वालियर क्षेत्र का और साथ ही जैन धर्म के विकास का इतिहास बहुत विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है।

ग्वालियर के तोमर राज्य के सस्थापक वीरसिंहदेव (सन् 1375-1400 ई) शिव और शक्ति के उपासक थे। वि. स. 1439 (सन् 1382 ई.) में उन्होने वीर-सिंहावलोक नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की थी। वे ज्योतिष, धर्मशास्त्र एव वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके द्वारा दुर्गाभक्ति तरगिणी की भी रचना की गई थी। परन्तु साथ ही वे जैन धर्म के प्रति भी अनुदार नही थे। उनके समय में श्रीकृष्णगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री जयसिंह सूरि ग्वालियर आए थे। वीरसिंहदेव के सभापण्डित शार्ङ्गधर तथा जयसिंह सूरि के बीच शास्त्रार्थ भी हुआ था। उस शास्त्रार्थ का विवरण जयसिंह सूरि के शिष्य नयचन्द्र सूरि ने अपने हम्मीर महाकाव्य में दिया है। नयचन्द्र सूरि ने लिखा है, "सूरियो के इस चक्र के क्रम मे, जिनके चरित विस्मय के आवास थे, श्री जयसिह सूरि हुए, जो विद्वानों में चूडामणि थे, उनके द्वारा सारग को वादविवाद मे पराजित किया गया। यह सारग उन कवियो में श्रेष्ठ था जो षड्भाषा में कविता कर सकते थे, तथा वह प्रामाणिको (न्याय शास्त्रियो) मे अग्रणी था।"

केवल नयचन्द्र की साक्षी के आधार पर यह मानना कठिन है कि शार्ङ्गधर जयसिंह सूरि से शास्त्रार्थ मे पराजित हुए थे, परन्तु यह सुनिश्चित है कि तोमर-राजसभा सूरिजी की ज्ञान गरिमा से बहुत अधिक प्रभावित हुई और ग्वालियर मे जैन धर्म के अद्वितीय विकास का सूत्रपात हुआ।

वीरसिंहदेव के पश्चात् उनके युवराज उद्धरणदेव (सन् 1400—1402 ई) राजा बने। उनके छोटे-से राज्यकाल की कोई घटना ज्ञात नही हो सकी है। जैन धर्म के विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण उद्धरणदेव के युवराज वीरमदेव (सन् 1402—1423 ई.) का राज्यकाल है।

वीरमदेव स्वय अम्बिकादेवी और शिव के भक्त थे। साथ ही वे जैन धर्म को भी प्रश्रय देते थे। उनका प्रधान मत्री कुशराज जैन था।

वीरम तोमर के समय में ग्वालियर मे जैन धर्म का प्रभाव अपने विशिष्ट रूप में दिखाई देता है। देश के अन्य भागो मे उस समय हिन्दू और जैन आपस मे पर्याप्त भेदभाव मानने लगे थे और दो नटखट भाइयो के समान दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनु-यायी भी आपस में झगडते थे। परन्तु यह मनमुटाव केवल ऊपरी था। वह जो हो, वीरमदेव के समय मे ग्वालियर में कुछ और प्रकार का दृश्य दिखाई देता है। यहाँ का राजा शिव-शक्ति का अनन्य उपासक और मत्री अत्यन्त धर्मपरायण जैन था। परन्तु दोनों के निजी धर्म एक-दूसरे के पूरक दिखाई देते हैं। उस समय ग्वालियर के जैन पट्ट के भट्टारक थे गुणकीर्ति (सन् 1411—1429 ई)। भट्टारक गुणकीर्ति ने जैन काव्य यशोधर चरित लिखाया अजैन कवि पद्मनाथ कायस्थ से। यद्यपि उसी समय वीरमदेव की राजसभा में नयचन्द्र सूरि जैसे महाकवि भी थे, तथापि उन्होंने जैन चरित न लिखकर हम्मीर महाकाव्य तथा रम्भा मजरी लिखे, अर्थात् जैन

सूरि का कार्य करता है वैष्णव कायस्थ और राजनीति का उपदेश देते हैं जैन सूरि। वीरमदेव के मंत्री कुशराज जैन ने ग्वालियर क्षेत्र मे जैन धर्म के विकास के लिए बहुत कार्य किया था। इस कार्य में उसे राजा ने भी पूरा सहयोग दिया था। वि. स. 1367 (सन् 1410 ई.) में सुहानिया मे वीरमदेव ने अम्बिकादेवी के मन्दिर का पुर्नर्निर्माण किया और उसी वर्ष पास मे ही चैत्रनाथ की विशाल जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई।

कुशराज ने स्वयं ग्वालियर मे चन्द्रप्रभु का विशाल मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा का उत्सव बहुत समारोह के साथ किया। उसी समय उसने पद्मनाथ से यशोधर चरित काव्य लिखने का आग्रह किया था। पद्मनाथ कायस्थ को इस रचना के लिए भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था और कुशराज जैन द्वारा प्रश्रय मिला था।

कुशराज का एक ताम्रपत्र भी प्राप्त हुआ है। यह वि. स. 1375 (सन् 1418 ई.) में उत्कीर्ण किया गया था। इसके लेख से ज्ञात होता है कि कुशराज इस यंत्र की पूजा प्रतिदिन किया करता था।[13]

वीरमदेव के राज्य काल में संभवतः भट्टारक गुणकीर्ति की प्रेरणा से आचार्य अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की तत्वदीपिका टीका की गई। अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की उस समय ग्वालियर में प्रतिलिपि की गई थी। इस प्रकार वीरमदेव के समय से इस क्षेत्र में न केवल जैन मन्दिरो एव मूर्तियों का निर्माण पुनः प्रारभ हुआ, वरन् प्राचीन जैन ग्रन्थों का अवगाहन भी प्रारंभ हुआ।

वीरमदेव की राजसभा के एक रत्न नयचन्द्र सूरि का उल्लेख किया जा चुका है। श्रीकृष्णगच्छ के नयचन्द्र पर काष्ठा सघ के भट्टारक गुणकीर्ति का कितना प्रभाव था, यह ज्ञात नही है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ग्वालियर के तोमरो के राष्ट्र-कवि नयचन्द्र सूरि ने अपने राजा की राजसभा मे ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया था जिसके कारण जैनेतर नागरिको मे जैन मुनि बहुत आदरास्पद बन गये। आगे एक शताब्दी तक ग्वालियर में जैन धर्म की जो उन्नति हुई उसमे नयचन्द्र सूरि का बहुत हाथ था।

उस समय इस प्रदेश के हिन्दू तथा जैन, सभी तुर्कों के अत्याचार से पीडित थे। उस समय शासक और शासित वर्ग में विद्वेष की खाई बहुत बढ़ गई थी। शासित वर्ग ने यद्यपि बहुसख्यक था, तथापि वह अपनी जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए स्वतत्र नही था। इन परिस्थितियो में जो भी वीर किसी तुर्क सुल्तान से युद्ध करने का साहस करता था, उसे तत्कालीन बहुसख्यक समाज राष्ट्रीय वीर के रूप में सम्मान देता था। नयचन्द्र सूरि ने राष्ट्र की इस भावना का समादर किया। हिन्दू-जैन विवाद से बहुत ऊपर उठकर उसने अपने युग की आकांक्षाओं और आवश्यकताओ को समझा। ब्राह्मण और जैन सम्प्रदायों के वन्दनीय देवताओं की द्विअर्थक वंदना के मंगल-श्लोक लिखकर उसने अपने हम्मीर महाकाव्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा—[14]

"पूर्व काल में मान्धाता, सीतापति राम और कक (युधिष्ठिर) आदि पृथ्वी पर कितने राजा नहीं हो गए, पर उन सब में अपने सत्वगुण के कारण, हम्मीर देव अद्वितीय और स्तवन योग्य पुरुष हैं। इस सात्विक वृत्ति

---

13. तोमरो का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 50।
14. हम्मीर महाकाव्य क्र. 8, 9 तथा 10।

वाले पुरुष ने विधर्मी शक (अलाउद्दीन) को अपनी पुत्री तथा अपने शरण में आए विधर्मी व्यक्तियो (माहिमसाहि) तक को न देने के लिए राजलक्ष्मी, सुखविलास और अपने जीवन तक को तृणवत् समझकर उसका त्याग कर दिया।

"इसलिए राजन्यजन के मन को पवित्र करने की इच्छा से मैं उस वीर के उक्त गुणो के गौरव से प्रेरित होकर उसका थोडा-सा चरित वर्णन करता हूँ।"

नयचन्द्र सूरि ने वीरमदेव तोमर के समक्ष हम्मीरदेव का आदर्श रखा था। अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए तथा शरणागत का प्रतिपालन करने के लिए, भले ही वह किसी धर्म का अनुयायी हो, युद्ध में प्राण देना श्रेयस्कर है। महाकवि के इस उद्बोध ने उस युग के अनेक राजन्यजन के मनो को पवित्र किया था और वे अपनी जीवन-पद्धति की रक्षा के लिए युद्धरत हुए थे।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रंभामंजरी है। रम्भामंजरी मे सूत्रधार ने व्यक्त किया है कि "ग्रीष्म ऋतु की विश्वनाथ यात्रा के लिए एकत्रित भद्रजनो का प्रबन्ध-नाट्य द्वारा मनोरंजन किया जाए।" नयचन्द्र को ज्ञात था कि जिस समाज के लिए वह नाटक लिख रहा है, उसमें अधिकाश विश्वनाथ का भक्त है, अतएव उसने उसके अभिनीत किए जाने के लिए विश्वनाथ यात्रा का समय ही सुनिश्चित किया। रभामजरी के मंगल श्लोक मे विष्णु के वराह रूप की वंदना की गई है। जैन मुनि द्वारा यह मगल श्लोक साभिप्राय लिखा गया था और वह नयचन्द्र सूरि की महान राष्ट्रीय भावना का द्योतक है। पंक में फँसी विश्वा—पृथ्वी को दष्ट्राग्र पर उठाकर उद्धार करनेवाली शक्ति की तत्कालीन भारत को परम आवश्यकता थी।[15]

अपनी विद्वत्ता और राष्ट्र प्रेम के कारण नयचन्द्र सूरि ने तत्कालीन तोमर राजा, उसकी "सामाजिक संसद" तथा अन्य नागरिको को बहुत अधिक प्रभावित किया था। इस प्रभाव का उपयोग भट्टारक यश.कीर्ति, जैन श्रेष्ठि और श्रावकों ने ग्वालियर मे जैन धर्म को प्रतिष्ठित करने मे बहुत बुद्धिमतापूर्वक किया।

वीरमदेव तोमर के राज्यकाल मे ही कालपी के सुल्तान ग्वालियर के तोमर राज्य को घेर रहे थे और उसे हड़प जाना चाहते थे। कालपी के सुल्तानो का राज्य ग्वालियर के पास भाण्डेर तक फैल गया था। सन् 1435 ई में ग्वालियर के तोमर राजा डूगरेन्द्रसिंह ने कालपी के सुल्तान मुबारकशाह को भाण्डेर पर पूर्णतः पराजित कर दिया। इस युद्ध में डूंगरेन्द्रसिंह को बहुत अधिक धन भी मिला था और प्रतिष्ठा भी। इस विजय के उपलक्ष्य मे ग्वालियर मे बहुत बडे समारोह मनाए गए। महाराज डूगरेन्द्रसिंह ने अपने राजकवि विष्णुदास से पाडव चरितु (महाभारत) की रचना कराई। उधर स्थानीय जैन समाज ने भी इस उत्सव में पूर्ण योगदान दिया। साहु खेतसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ग्यारह हाथ ऊँची जैन प्रतिमा का निर्माण कराया और, विजय की इस शुभ वेला में, महाराज डूगरेन्द्रसिंह से इसके प्रतिष्ठोत्सव के लिए आज्ञा माँगी। राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा, "आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न कीजिए। मुझसे आप जो माँगेंगे सो दूँगा।"

इसी प्रतिष्ठोत्सव समारोह के अवसर पर प्रसिद्ध जैन कवि पण्डित रइधू ने अपनी प्रथम रचना सम्मत-गुण-निहान प्रस्तुत की।

सन् 1435 ई. की इस घटना ने ग्वालियर के इतिहास को बहुत अधिक प्रभावित किया। अगले 40 वर्षों में दिल्ली, हिसार, चन्दवार आदि स्थलों से अनेक

15. यह स्मरणीय है कि वराहावतार को ग्वालियर के तोमरों ने अपना राजचिह्न बनाया था।
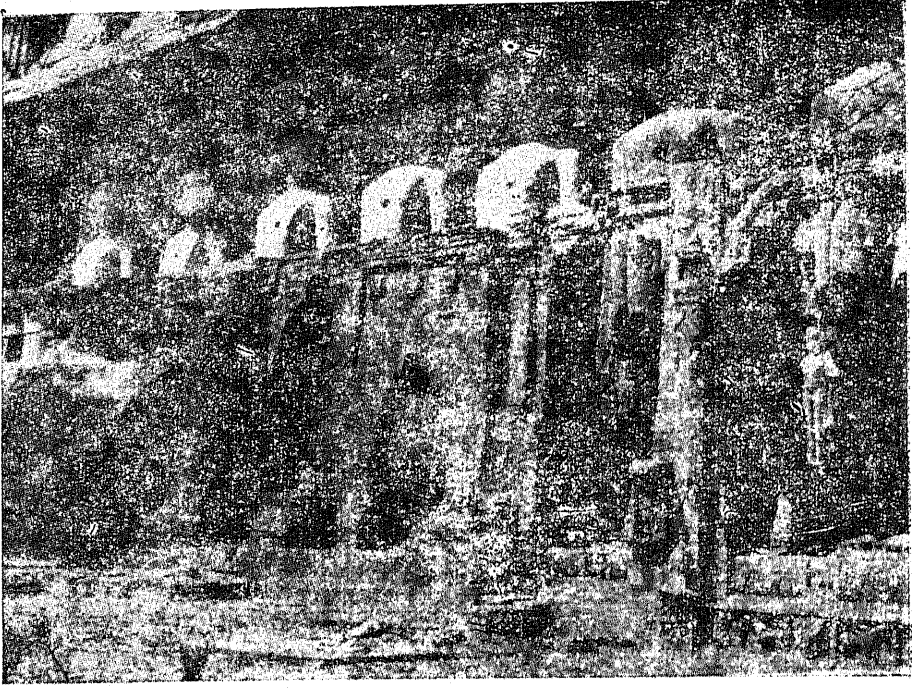
(एक पत्थर की बावड़ी, पर स्थित, गुहा मन्दिर; जैन मूर्ति समूह)

जैन व्यापारी ग्वालियर आते रहे। उनमें से अनेक यहाँ बस गए और लगभग सभी ने गोपाचल के किसी-न-किसी कोने में गुहामन्दिर बनवाए तथा जैन ग्रन्थों की रचना की प्रेरणा दी और अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराईं। इन समस्त कार्यों के पीछे भट्टारक यशःकीर्ति की प्रेरणा थी।

रइधू के ग्रन्थों से तथा इस समय के उपलब्ध लगभग 40 मूर्तिलेखों से डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के समय में ग्वालियर में हुए जैन धर्म के विकास का बहुत स्पष्ट और विस्तृत इतिहास लिखा जा सकता है। दर्जनों संघाधिपतियों, तथा सैकड़ों श्रावकों का पूर्ण विवरण सजीव रूप में ज्ञात हो जाता है। किसने क्या कराया, इसका भी पूरा विवरण प्राप्त हो जाता है। वह समस्त विवरण यहाँ देने से प्रसंग बहुत बढ़ जाएगा। यहाँ एक-दो उदाहरण देना ही पर्याप्त है।

रइधू ने "सम्मइजिन-चरिउ" में हिसार निवासी एक अग्रवाल जैन व्यापारी का बहुत विस्तृत विवरण दिया है। साहु नरपति का पुत्र बील्हा फीरोजशाह तुगलुक द्वारा सम्मानित व्यापारी था। उसी के वंश में संघाधिपति सहजपाल हुआ, जिसने गिरनार की यात्रा का संघ चलाया था और उसका समस्त व्यय भार वहन किया था। सहजपाल का पुत्र साहु सहदेव भी संघाधिपति था। उसका छोटा भाई तोसड़ था। तोसड़ का पुत्र खेल्हा था। भट्टारक यशःकीर्ति का आशीर्वाद

प्राप्त करने के लिए खेल्हा ने गोपाचल पर चन्द्रप्रभु की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। उसने ही रइधू से "सम्मईजिनचरिउ" ग्रन्थ की रचना कराई।

रइधू ने मेघेश्वर चरित तथा पार्श्वनाथ चरित में एक और व्यापारी-परिवार का उल्लेख किया है। यह परिवार दिल्ली से आकर ग्वालियर में बस गया था। साहु खेऊं दिल्ली से ग्वालियर आकर यहाँ नगर सेठ बन गए। खेऊं द्वीपान्तरों से वस्त्र और रत्न मँगाकर व्यापार करते थे। उसने गोपाचलगढ़ पर विशाल जिन मूर्ति बनवाई। इस मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है कि उसके प्रतिष्ठाचार्य रइधू ही थे। खेऊं के पुत्र कमलसिंह भी ग्वालियर में ही रहे। उनके द्वारा आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची प्रतिमा बनवाई गई। रइधू ने कमलसिंह के पुत्र हेमराज का भी उल्लेख किया है। हेमराज का व्यापार ग्वालियर और दिल्ली, दोनों स्थलों पर चलता था। हेमहाज संघाधिपति भी बना। उसने गोपाचलगढ़ पर युगादिनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया। इस मूर्ति के लेख में ग्वालियर के महाराज कीर्तिसिंह देव को "हिन्दू-सुरत्राण" कहा गया है।[16]

इसी समय एक और साहु पद्मसिंह के दर्शन होते हैं। इन्होंने अपनी "चंचला लक्ष्मी" का सदुपयोग करने के लिए 24 जिनालय बनवाए, पुष्पदन्त के आदिपुराण की प्रतिलिपि कराई तथा एक लाख ग्रन्थ प्रतिलिपि कराकर भट्टारक यशःकीर्ति को भेंट किए।

कुछ जैन साध्वियों ने भी अनेक गुहामन्दिर बनवाकर उनके मूर्तिलेखों पर अपने नाम अंकित करा दिए।

चालीस वर्षों के समय में ग्वालियर में जैन धर्म के विकास के लिए जो कुछ हुआ था, उसमें डूंगरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह की उदार धार्मिक नीति तो प्रधान थी ही, तथापि इसका प्रमुख श्रेय भट्टारक गुणभद्र के

(उरवाई द्वार स्थित खण्डित जैन प्रतिमाएँ)

16. द्विवेदी, ग्वालियर राज्यके अभिलेख, क्र. 293।

छोटे भाई और शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति को है। उन्ही की प्रेरणा से उत्तरी भारत के समृद्ध जैन व्यापारी ग्वालियर की ओर आकर्षित हुए और उन्होने गढ और नगर, दोनों को जैनतीर्थ का स्वरूप दे दिया। भट्टारक यश.कीर्ति की प्रेरणा से ही पण्डित रइघू ने अनेक जैन ग्रन्थ लिखे। तथापि भट्टारक यशःकीर्ति का बहुत महत्वपूर्ण कार्य प्राचीन जैन साहित्य का पुनरुद्धार था। आज स्वयभू और पुष्पदन्त जैसे महाकवियो की रचना उपलब्ध न होती, यदि ग्वालियर के जैन मठ में भट्टारक यशःकीर्ति उनकी प्रतिलिपियाँ कराकर न रखते। जिस प्रकार ईसवी ग्यारहवी शताब्दी में गुजरात मे हेमचन्द्राचार्य ने जैन धर्म के विकास के लिए बहुमुखी प्रयास किया था, वैसा ही प्रयास महामुनि यशःकीर्ति ने ग्वालियर में किया था।

कीर्तिसिंह (सन् 1459—1480 ई.) के उपरान्त ग्वालियर पर कल्याण मल्ल (सन् 1480—1486 ई.) का राज्य हुआ। उस समय तक भट्टारक यश कीर्ति की मृत्यु हो चुकी थी। उसी समय दक्षिण के कुन्दकुन्दान्वय सरस्वतीगच्छ का पट्ट भी ग्वालियर में स्थापित हो गया था। उस पट्ट पर भट्टारक शुभचन्द्र देव आसीन थे।

मानसिंह तोमर (सन् 1486—1516 ई.) के राज्यकाल में भी ग्वालियर में जैन धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा रही। उसका प्रधान मत्री खेमशाह जैन था। उसने भी सघाधिपति या सिंघई या विरुद लिया था। उनके समय मे काष्ठासघ के पट्ट पर भट्टारक विजयसेन आसीन थे। कुछ नवीन जैन मन्दिर भी बने थे। सिरीमल के पुत्र चतरू ने वि. स. 1469 (सन् 1512 ई.) मे नेमीश्वरगीत लिखा था। इसमें तत्कालीन जैन समाज के विषय में उसने लिखा है—

एक सोवन की लका जिसी, तौवरु राउ सबल बलवीर
भुयबल आपुनु साहस धीर, मानसिंह जग जानिए।
ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहिं दिन भोग
जैन धर्म बहुविधि चलै, श्रावग दिन जु करे षटकर्म॥

मानसिंह के राज्यकाल तक तोमरो का ग्वालियर जैन धर्मानुयायियो के लिए "देवपत्तन" बना रहा। सन् 1523 ई. में मानसिंह का राजकुमार विक्रमादित्य (सन् 1516—1523 ई.) इब्राहीम लोदी द्वारा पराजित हुआ और उसे गोपाचलगढ छोड़ देना पडा। उसके उपरान्त "गोपाद्रौ देवपत्तने" में क्या होता रहा, यह हमारा यहाँ वर्ण्य विषय नही है। हम एक बात कह सकते हैं, उसके उपरान्त जैन सम्प्रदाय के अनुयायी भी यह भूल गए कि देश के इस भाग में उनके धर्म के विकास, प्रचार और प्रसार के लिए क्या-क्या किया गया था, कैसी महान् विभूतियो ने कितने उच्च प्रतिमान स्थापित किये थे? भट्टारकगण गुणकीर्ति और यशःकीर्ति के गौरवशाली कृत्यों का आज किसे स्मरण है? रइघू मात्र जैन-कथा लेखक के रूप मे प्रख्यात है, उसने "तीर्थेशोवृषभेश्वरो गणनुतो गौरीश्वरो शंकरो" लिखकर ऋषभदेव और शकर की एकरूपता प्रतिपादित कर धार्मिक सहिष्णुता का भी मार्ग प्रशस्त किया था, यह कितनो को ज्ञात है? कुशराज जैन तथा श्री तोडर क्षेमशाह जैसे प्रधान मंत्रियों ने, साहु खेल्हा, खेऊ, कमलसिंह आदि ने जैन धर्म और ग्वालियर की समृद्धि के लिए क्या-क्या किया था ये सब तथ्य पूर्णतः भुलाये जा चुके हैं। कुछ पत्थर बोलना चाहते हैं, इनकी यशोगाथा वे शताब्दियों से अपने हृदय-पटलो पर अंकित किए पड़े हैं, परन्तु उन्हें कोई सुनना नही चाहता। वास्तव में सन् 1523 ई. में ग्वालियर का अन्तिम स्वतत्र राजा विक्रमादित्य ही पराजित नही हुआ था, उसके प्रदेश की उसके पूर्व की अनेक पीढ़ियो द्वारा किए गए सास्कृतिक जागरण के कारणभूत महापुरुषों की यशोगाथा भी भुला दी गई। विजेताओं की विजयवाहिनियों के घोर दुदुभिनाद मे उनकी वाणी तिरोहित होगई और उन सेनाओं के प्रयाण से उडी धूल में वह गौरवशाली अतीत दब गया। पराजय की यह अनिवार्य नियति है। उस देवपत्तन के इतिहास-निर्माण की ओर सक्षम और समर्थ व्यक्ति आकर्षित हो, यह मगल कामना है। ○ ○

ग्वालियर के सांस्कृतिक विकास में जैन धर्म

रवीन्द्र मालव

भारत के हृदय-स्थल पर स्थित देश के इस भाग का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यद्यपि विभिन्न इतिहासकारो ने समय-समय पर प्रकाशित अपने ऐतिहासिक लेखों एवं पुस्तकों में इस क्षेत्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में लिखा है तथापि यहाँ के इतिहास के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध न होने के कारण अनेको ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में नही आ पाये हैं। इसी कारण अनेको स्थानो पर इसके अभाव मे इतिहासकारों एव लेखकों को कल्पनाशक्ति का सहारा लेने को विवश होना पड़ा है।

यों तो सारे भारत में ही इतिहास विषय पर पर्याप्त शोध-कार्य नही हुआ है और न ही विशेष लिखा ही गया है, परन्तु ग्वालियर के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से कही जा सकती है। यही कारण है कि यहाँ के प्राचीन इतिहास का अधिकाश भाग अन्धकारमय है। सच पूछा जाये तो इसका प्रमुख कारण हमारी सस्कृति ही रही। प्रारम्भ मे इस देश में इतिहास लिखने की परम्परा नही थी। शासकगण अपना अधिकतर समय

राज्य का क्षेत्र बढाने, अपनी विचारधारा का प्रचार करने आदि मे व्यतीत करते थे। तथापि सभी के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। अनेकों राजाओ ने इन सबके अतिरिक्त कला एव साहित्य के विकास तथा स्थापत्य पर भी ध्यान दिया। अधिकतर निर्माण-कार्य मदिरो और महलो के ही रूप मे कराये गये। आगे चलकर शिलालेख खुदवाने की परम्परा भी पाई जाती है। लेकिन जहाँ तक लेखन का प्रश्न है प्राचीन समय में धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत कम ही लिखा गया। यदि थोडा-बहुत लिखा भी गया है तो वह राजाओ की प्रशसा आदि के सम्बन्ध मे है। हाँ विदेशो से आये विभिन्न दूतो द्वारा लिखा गया वर्णन अवश्य अनेको ऐतिहासिक तथ्यो को प्रकाशित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन समय में इतिहास लिखने की परम्परा नहीं थी। अन्य जो कुछ लिखा भी गया, वह सुरक्षित नही है। हाँ शिलालेख और धर्मग्रन्थ अवश्य थोडा-बहुत प्रकाश डालते हैं।

अनेको प्राचीन ऐतिहासिक नगरो पद्मावती तथा सिंहोनियां आदि से मिलकर बना यह भाग भारत के इतिहास में अपना अत्याधिक महत्व रखता है, परन्तु इसके सम्बन्ध में भी यही दशा है। यहाँ के बहुत से ऐतिहासिक तथ्य और ग्रन्थ नष्ट हो गए हैं और जो हैं भी उन पर पर्याप्त शोध न होने के कारण कुछ सीमित जानकारी के सहारे तथा अन्य स्थानों पर कल्पना शक्ति के ही सहारे आगे बढ़ना पड़ता है। फिर भी प्राचीन ग्रन्थों आदि से इस क्षेत्र के ऐतिहासिक दृष्टि से धनवान होने के उदाहरण मिलते हैं। अनेको प्राचीन ग्रन्थों मे पद्मावती, सिंहोनिया, गोपाद्री, गोपागिरी और गोपाचल आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है।

वैसे इस दुर्ग के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रमाण सूर्यकुण्ड पर स्थित हूण और मिहिरकुल के एक शिलालेख द्वारा प्राप्त होता है[1] जिसका काल लगभग 51५ ई. माना जाता है। इस काल के बारे में विशेष विवरण नही मिलता। इस कारण जैनो की स्थिति के बारे मे कुछ निश्चित मत व्यक्त नहीं किये जा सकते। पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस नगर निर्माण के काल से ही शनै:-शनै: जैन धर्मावलम्बी इस नगर मे आकर बसने लगे थे।

इस समय ग्वालियर पर तोरमन और उसके पुत्र मिहिरकुल का आधिपत्य था। इनका शासन काल बडा दुखदायी रहा। सन् 533 ई. में यशोवर्मन द्वारा पराजित किये जाने पर वह काश्मीर भाग गया पर स्थिति में कोई सुधार नही हुआ। यशोवर्मन और उसके पुत्र नागवर्मन ने सन् 550 ई तक यहा राज्य किया। इस प्रकार इन 80 वर्षों मे राज्य की दशा बड़ी ही अस्थिर रही। इसके पश्चात् हर्ष के सम्राट होने पर उसने ग्वालियर पर भी कब्जा कर उसे अपने राज्य मे मिला लिया। इसके राज्य में शान्ति रही, यद्यपि वह स्वय बौद्ध मतावलम्बी था परन्तु वह धर्मान्ध नही था। अत: इसने सभी वर्गों को समान रूप से प्रगति के अवसर प्रदान किये। इसके कारण उसके काल में यहाँ जैन पर्याप्त मात्रा मे थे और इस क्षेत्र मे तभी से क्रियाशील हो उठे थे। वे धर्म प्रचार और साधना के अतिरिक्त अब सगठन, तथा मदिरो के निर्माण पर भी ध्यान देने लगे थे।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग इन्हीं के राज्यकाल मे भारत आया था। उसने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर जैन साधुओं की चर्चा करते हुए लिखा है—"निर्ग्रन्थ साधू अपने शरीर को नग्न रखते हैं और बालों को नोच डालते हैं। उनकी प्रधानता सारे देश मे

1. आ स. ई. रिपोर्ट, भाग 2, पृष्ठ 339, तथा भाग 20, पृष्ठ 107।

थी, बल्कि भारत के बाहर भी वे फैले हुए थे।"[2] सन् 648 मे हर्ष की मृत्यु हो गई और पुनः एक बार इस क्षेत्र मे अराजकता जैसी स्थित निर्मित हो गई।

ग्वालियर के दो शैलोत्कीर्ण शिल्पांकन भी इसी काल के अंत की ही रचनाएँ प्रतीत होती हैं। इनमें से एक प्रतिमा मे तीर्थंकर को कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा दूसरी को पद्मासनस्थ ध्यानमुद्रा मे अंकित किया गया है। पद्मासन-मुद्रावाले तीर्थंकर के पार्श्व मे अंकित सेवक पूर्ण विकसित कमल पुष्पों पर खड़े हुए हैं। इन कमल पुष्पों को बौने (वामन) लोगो ने थाम रखा है, जो स्वय मोटे कमलनाल जैसे दिखाई देते हैं। ऐसा ही लम्बी तालयुक्त कमल पुष्पो पर खडे यक्षो का अंकन मथुरा संग्रहालय की (बी 6 तथा बी 7 क्रमांकित) दो सुन्दर मूर्तियो मे भी पाया जाता है। खड्गासन तीर्थंकर-प्रतिमा के मूर्तन की तुलना राजगिरि की वैभार पहाडी स्थित दो खड्गासन प्रतिमाओ के मूर्तन से की जा सकती है। ग्वालियर की इन दोनो तीर्थंकर प्रतिमाओ में गुप्त-शैली का अनुकरण किया गया है। सेवक अलंकृत टोपी जैसे मुकुट तथा गले मे एकावली धारण किये हुए हैं। तीर्थंकरो का परिकर परवर्ती गुप्तकालीन प्रतिमाओ की भाँति सुसज्जित न होकर यहाँ भी सादा रहा।[3]

आठवी शती के सम्बन्ध मे उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों से से इस बात की पुष्टि होती है कि आठवी शती में गोपाचल क्षेत्र में जैन धर्म का क्रमबद्ध विकास प्रारम्भ हो गया था। कन्नौज के प्रतापी यशोवर्मन के पुत्र आम ने गोपाचल गढ को सन् 750 ई में अपनी राजधानी बनाया था। आम ने बप्पभट्ट सूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया था।[4] जैन प्रबन्धों के अनुसार आम नामक नरेश ने जो नौ वीं शताब्दी में कन्नौज और ग्वालियर पर शासन करता था कन्नौज मे एक मन्दिर का निर्माण कराया था, जो 100 हाथ ऊँचा था और जिसमे उसने तीर्थंकर महावीर की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करायी थी। उसने ग्वालियर मे 23 हाथ ऊँची महावीर की प्रतिमा स्थापित की थी। यह भी कहा जाता है कि उसने मथुरा, अनहिल वाड़, मोढेरा आदि में भी जैन मन्दिरो का निर्माण कराया था।[5] जैन परम्पराओ में उल्लिखित नरेश आम प्रतिहार नागभट्ट द्वितीय (मृत्यु 883 ई) रहे होंगे, जो जैन धर्म के प्रति अपनी आस्था के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। इस जैन परम्परा की सत्यता इन स्थानो मे प्राप्त मध्यकालीन जैन अवशेषो द्वारा प्रमाणित होती है।

ग्वालियर के किले मे अंबिका यक्षी और गोमेद यक्ष की शैलोत्कीर्ण सपरिकर प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। ललितासन में बैठी अंबिका के पार्श्व में, उनकी सेविकाएँ हैं। इन प्रतिमाओ का निर्माणकाल लगभग आठवीं शताब्दी निर्धारित किया जाता है।[6] ये प्रतिमाएँ भारी आकार और रचना सौष्ठव के लिये विशेष उल्लेखनीय हैं, तथा कुषाण एवं गुप्तकालीन पाषिक

---

2. ट्रेवेल्स आफ हुएँनसाग, पृष्ठ 224।
3. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड 1; भाग 3 (वास्तु स्मारक एव मूर्तिकला) (300 से 600 ई), अध्याय 12 (मध्यभारत)—डा. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह।
4. प्रबन्ध कोष, पृष्ठ 27; प्रभावक चरित, पृष्ठ 99।
5. मजूमदार (आर. सी.) तथा पुसालकर (ए. डी.) सम्पादक—एज आफ इम्पीरियल कन्नोज, 1955, बम्बई, पृष्ठ 289।
6. ब्रून (क्लास) जिन इमेजेज आफ देवगढ, 1969, लीडन, चित्र 18–18 A।

एव हारीति प्रतिमाओ के समनुरूप हैं। अबिका यक्षी की मुखाकृति अण्डाकार है, नेत्र अर्द्ध निमीलित हैं, केश सज्जा धम्मिल्ल आकार का है, कसे हुए गोल स्तन हैं, ग्रीवा और कुक्षी पर त्रिवलियाँ हैं, उदर भरा हुआ तथा नितम्ब चौडे हैं। यक्ष की प्रतिमा स्थूलकाय और लम्बी-चौडी है। उसकी तोंद मटके जैसी है।[7] ग्वालियर के किले में तीन स्वतन्त्र जैन प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं जो लगभग उसी काल की हैं। इनमें से एक प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे आदिनाथ का अकन है जिसके चारों ओर पद्मासन मुद्रा मे तेईस तीर्थंकर अंकित हैं। इस प्रकार यह प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट के रूप में है। दूसरी प्रतिमा में नन्दीश्वर द्वीप सहित तीर्थंकर आदिनाथ अंकित हैं। तीसरी प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में पार्श्वनाथ की है। उनके शीर्ष पर नागफण का छत्र अंकित है तथा सुन्दर अर्द्ध मानवाकृति नागों द्वारा तीर्थंकर का जलाभिषेक करते दिखाया गया है। नागो के सिर पर लहरिया केश सज्जा है।[8] इस प्रकार आठवी-नवी शताब्दी में ग्वालियर में जैन धर्म का काफी प्रभाव था और इसी कारण जैन शिल्पांकन की दिशा मे भी इस काल में बहुत कार्य हुआ।

कन्नौज के परिहार राजा भोजदेव ने भी कुछ समय के लिये इस दुर्ग पर अपना शासन स्थापित किया जिसका प्रमाण हमें किले के नीचे सागर ताल पर स्थित सन् 875 तथा सन् 876 के चतुर्भुज मन्दिर के शिलालेखो से प्राप्त होता है। इनके शासन काल में भी श्री वज्रदान नामक जैन साधू द्वारा स. 1034 (सन् 977) में बैशाख वदी पंचमी के दिन जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा कर उसे वहाँ स्थापित कराया।[9] इससे लगता है कि भोजदेव के काल में जैन धर्मावलबियों की अच्छी दशा थी। इन्होंने 10 वी. शताब्दी तक शासन किया। दसवी शताब्दी में पुनः वरजुमन कछवाहा के नेतृत्व में राजपूतो ने इस क्षेत्र तथा दुर्ग पर अपना शासन स्थापित किया।

वर्त्तमान सास-बहू के मन्दिरों का भी निर्माण इसी काल में हुआ। इस मन्दिर के लम्बे शिलालेख का पाठ दिगम्बर यशोदेव द्वारा रचित है। इससे प्रकट होता है कि महीपाल कच्छपघात के समय मे भी ग्वालियर मे जैन सम्प्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। ऐसा माना जाता है कि 105 फुट लम्बा, 75 फुट चौड़ा और 100 फुट ऊँचा यह मन्दिर महीपाल नामक राजपूत शासक द्वारा नन्दीश्वर द्वीप अष्टानिका के व्रत के उपलक्ष मे जिनमन्दिर के रूप में बनवाया गया। यही कारण है कि उसमें देव-देवागनाओं की नृत्य तथा अन्य मुद्राओं में मूर्तियाँ खुदी हैं। इसकी प्रतिष्ठा मे पद्मनाभ क्षुल्लक आदि ने भी भाग लिया था। यह लगभग सन् 1036 मे बनकर पूर्ण हुआ। इसके द्वारों, छत और दीवारों की खुदाई दर्शनीय है। यह सास-बहू के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। वर्त्तमान में कुछ इतिहासकारों ने इसका प्राचीन नाम सहस्त्रबाहु का मन्दिर बताते हुये इसे विष्णु मन्दिर भी कहा है।

भारत सरकार द्वारा सन् 1869 में ग्वालियर दुर्ग में कुछ ऐतिहासिक महत्व के स्थलो के उत्खनन् के अवसर पर प्राप्त, एक ताम्र चैत्य तथा चार तीर्थंकरों

---

7. जैन कला एव स्थापत्य, खण्ड 1, भारतीय ज्ञानपीठ, भाग 4, वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला (600 से 1000 ई.) अध्याय 16, मध्यभारत, कृष्णदेव, पृष्ठ 177–78।
8. मेईस्तर (माइकेल डब्ल्यू); आम, अम्रोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट, जर्नल आफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 22; 354–58।
9. ग्वालियर का अतीत, पृष्ठ 14।

की ताम्र प्रतिमाएँ प्रस्तुत की गई हैं। ये चैत्य एवं तीर्थंकर प्रतिमाएँ 10-11 वी सदी के लगभग किसी समय की प्रतीत होती हैं।[10]

नन्दीश्वर—

कला की दृष्टि से इनमे ताम्रचैत्य, प्रमुखत· उल्लेखनीय है। यह नीचे वर्गाकारों तथा ऊपर पिरामिड के आकार का बना है। 1 फीट 6·75 इंच ऊँचे इस नन्दीश्वर चैत्य के वर्गाकारी आधार का क्षेत्रफल 6.25 वर्गइंच है। नीचे के भाग मे तीन वर्गाकार मजिलें हैं, तीसरे वर्ग के ऊपर पिरामिड आकार का आमालक युक्त गुम्बद बना है। प्रत्येक वर्ग के चारो कोने पर स्तम्भ बने हैं। इन वर्गाकारी मंजिलो की ऊँचाई नीचे से ऊपर की ओर, क्रमशः कम है। इन वर्गों मे चौबीस तीर्थंकरो के चित्र हैं, सबसे नीचेवाले (तल) वर्ग में प्रत्येक ओर खड्गासन मुद्रा मे तीन-तीन तीर्थंकर इस प्रकार कुल बारह तीर्थंकर मुद्राएँ बनी हैं। इसके ऊपरवाले (मध्य) वर्ग पर प्रत्येक ओर पद्मासन (सम्प्रयँक) मुद्रा में दो-दो तीर्थंकर इस प्रकार आठ तीर्थंकर मुद्राएँ बनी हैं। यह वर्ग ऊँचाई मे तल वर्ग की अपेक्षा कम ऊँचा है। इसके भी ऊपर सबसे कम ऊँचाई वाले तीसरे वर्ग मे प्रत्येक ओर एक-एक इस प्रकार कुल चार तीर्थंकर मुद्राएँ अंकित हैं। इनमे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मुद्रा सभी से अलग प्रकार की होने के कारण आसानी से पहचानी जा सकती है। इसमें शीर्ष के ऊपर पचफणी सर्प अंकित है। प्रत्येक तीर्थंकर मुद्रा के वक्ष पर प्रतीक स्वरूप श्रीवत्स अंकित है।

यह प्रतिमा जैन कास्मोलॉजी के अनुसार वर्णित द्वीपों मे से एक द्वीप नन्दीश्वर द्वीप की प्रतीक स्वरूप है। इस द्वीप मे 52 देवों एव पवित्रात्माओ द्वारा जिन (तीर्थंकर) पूजा की जाने का जैन शास्त्रो मे वर्णन प्राप्त होता है। तदनुसार यह द्वीप मन्दिरो, सभागृहो; नाट्यगृहो, सज्जित मचो, सुन्दर स्तूपो, मूर्तियों एव प्रतिमाओ, पवित्र चैत्य वृक्ष, इन्द्रध्वज तथा कमल-युक्त झील आदि से युक्त है। इन सभी मन्दिरो मे अर्हत एव जिन मे सम्बन्धित पवित्र दिनो पर आठ दिवसीय पर्व मनाए जाते हैं। जैन धर्मावलम्बी इस वर्णन के अनुसार वर्ष में तीन बार आषाढ, कार्तिक तथा फाल्गुन माहों मे अष्टमी से पूर्णिमा तक आठ दिवसीय अष्टा-निका पर्व मनाकर इस अवसर पर व्रत एवं पूजा आदि क ते हैं।

चैत्य पर अंकित शब्द क्षतिग्रस्त हो गए हैं। तल मजिल पर एक ओर "····ही · ·· ना दा··· घी" शब्द पढ़े गये हैं, इनके आधार पर कई पुरातत्व वेत्ताओ ने इसे 4-5वी शती मे निर्मित माना है, तथापि यह चैत्य 9-10वी शती के लगभग या इससे पूर्व का अवश्य है।

छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ—

अन्य चार जिन प्रतिमाओ में एक छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ की है जिसकी ऊँचाई आधार सहित साढे पाँच इच, तथा बिना आधार के साढे तीन इच है। पद्मासन (सम्प्रयक) अवस्था मे बैठी इस मुद्रा के पृष्ठ भाग में नालन्दा कास्य की शैली के चॅवर बने हैं। आधार के

10. "Jaina Images & Places of first class Importence", T. N. Ramachandran (Presidential adress during the All India Jaina Sasana Conference 194, Held on the occasion of the 2500th Anniversary of the first Preaching of lord Mahavir Swami, Calcutta) Publisher—Hony. Secy. Vira Sasana Sangha, 82 Lower Chitpur Road, Calcutta.

रूप में बने आसन के मध्य पद्मासन के नीचे सामने की ओर तीर्थंकर पद्मप्रभ का लांछन कमल व प्रतिमा के शीर्ष पर ऊष्णिस एवं घुंघराले बाल दृष्टव्य हैं।

दूसरी प्रमुख प्रतिमा आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की है। कुल साढ़े दस इंच ऊँची इस प्रतिमा में तीर्थंकर मुद्रा मात्र ही साढ़े पाँच इंच ऊँचाई की है। सम्प्रयक में भद्रासन अवस्था में बैठी मुद्रा की इस जिन प्रतिमा के पृष्ठ भाग में नालन्दा जैसी उन्नत कला दर्शनीय है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल कलात्मक स्वरूप लिये हुए है। प्रतीक स्वरूप तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का लांछन अर्द्धचन्द्र तथा वक्ष के मध्य श्रीवत्स का चिन्ह अंकित है। इनकी शैली के आधार पर सुनिश्चित रूप से इनका निर्माण काल 10-11वीं शती कहा जा सकता है।

कच्छपघात बज्रदामन ने भी जैन सम्प्रदाय को प्रश्रय दिया था। वि. सं. 1034 (सन् 977 ई.) में वज्रदामन के राज्यकाल में ग्वालियर में जैन मूर्तियों की स्थापना की गई थी।[11]

इस प्रकार यह निश्चित है कि 11वीं शताब्दी में एक जिन मन्दिर तथा कुछ जैन मूर्तियाँ गोपाचगलढ़ पर निश्चय ही स्थित थीं। कच्छपघात मूलदेव (भुवनैकमल्ल) के राज्य में राज्याधिकारियों ने इस मन्दिर में जैन भक्तों का निर्बाध प्रवेश बन्द कर दिया था। मलधारी गच्छ के श्री अभयदेव सूरि के आग्रह पर महावीर स्वामी के इस मन्दिर के द्वार समस्त जैन जनता के लिये उन्मुक्त कर दिये गए थे।[12]

सन् 1844 ई. में जनरल कनिंघम ने ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सास-बहू के मन्दिरों के निकट अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में स्थित 35 फुट लम्बे तथा 15 फुट चौड़े खंडहर कमरे के संबंध में किये गये शोध-कार्य के आधार पर उसे जैनियों के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का मन्दिर माना है, और इसका निर्माण-कार्य सन् 1108 ई. के लगभग सम्पन्न होना माना है। उसके पूर्ण सर्वेक्षण, आसपास किये गये खुदाई के कार्य और स्तम्भों के आधार पर उसका क्षेत्र पीछे 50 फुट और होना बताया है। उसके अनुसार यह मन्दिर लगभग 69 फीट लम्बे तथा 15 फीट चौड़े क्षेत्र में फैला था।

इसके निर्माण का समय (सन् 1108 ई.) इस बात की साक्षी देता है कि यह मन्दिर कछवाहों के शासन काल में ही निर्मित किया गया। इससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि इनके शासन काल में भी जैन अच्छी अवस्था में थे। विस्तृत ऐतिहासिक विवरण के अभाव में यह कहना अत्यंत कठिन है कि किस राजा ने दुर्ग पर इस मन्दिर का निर्माण करवाया अथवा निर्माण हेतु स्वीकृति प्रदान की। इससे भी यह प्रतीत होता है कि इसके भी शताब्दियों पूर्व से जैन इस क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते थे और शनैः-शनैः वे इतने प्रभावशाली हो गये कि वे शासक एवं शासन को भी प्रभावित कर मन्दिर निर्माण करा सके।

इस काल के ग्वालियर के निकटवर्ती क्षेत्रों में भी जैन मूर्तियों व शिलालेखों का निर्माण हुआ। दूबकुण्ड (श्योपुर) के वि. सं. 1145 (सन् 1088 ई.) के विक्रमसिंह के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र के कच्छपघात भी जैन सूरियों को प्रश्रय देते थे। शान्तिषेण सूरि और उनके शिष्य विजयकीर्ति द्वारा वह प्रशस्ति लिखी गयी

11. ग्वालियर राज्य अभिलेख, क्र. 20।
12. संगीतोपनिषत्सार, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, प्रस्तावना, पृष्ठ 7।

थी।[13] दूवकुण्ड के जैन मन्दिर के वि. सं. 1152 (सन् 1095 ई.) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वहाँ काष्ठासंघ के महाचार्यवर्य श्री देवसेन के पादुका चिन्ह की पूजा होती थी।[14] नरवर में भी वि. सं. 1314 (सन् 1257 ई.) से 1324 (सन् 1267 ई.) के मूर्तिलेखों से युक्त सैकड़ों मूर्तियाँ नरवर में प्राप्त हुई हैं।

जो कुछ भी ज्ञान उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ जैन धर्मावलंबियों के परिवार मात्र निवास ही नहीं करते थे वरन् यहाँ जैनियों के संघ भी संचालित थे जिनमें संघाधिपति तथा अन्वय हुआ करते थे। इतना ही नहीं वे नियमित विद्यापीठ का भी संचालन करते थे। 15वीं शताब्दी में बनी मूर्तियों से प्राप्त जानकारी से ये तथ्य पुनः परीक्षित होते हैं।

सन् 1122 ई. में परिहारों ने इस वंश के अन्तिम राजा तेजकरण को निकाल दिया और स्वतः राजा बन बैठे थे। परिहार वंश के कुल 7 राआओं ने इस दुर्ग पर राज्य किया। इस बीच में एक बार सन् 1196 ई. में कुतुबुद्दीन ने ग्वालियर पर आक्रमण कर दुर्ग पर अपना अधिकार स्थापित किया परन्तु उनके हाथों में यह दुर्ग अधिक न रह सका और 16 वर्ष बाद सन् 1212 में परिहारों ने पुनः दुर्ग को वापस ले लिया और सन् 1232 तक अपने अधिकार में रखा। सन् 1232 में अल्तमश ने तत्कालीन परिहार शासक सारंग देव पर भारी फौज सहित आक्रमण किया और 11 मास तक दुर्ग को घेरे रहा। अन्त में सारंगदेव ने स्वयं किले से निकलकर मुसलमानों से युद्ध किया। युद्ध के लिये राजा को जाते देख रानियों ने कहा—

"पहले हमें जु जौहर पारी,
तब तुम जूझो कन्थ सम्हारी"

यह कहकर 70 रानियाँ किले में आग में कूदकर बलिदान हो गईं। आज भी इस जौहर की स्मृति में जौहरताल का नाम विख्यात है। उरवाई दरवाजे पर इस घटना का उल्लेख करनेवाला शिलालेख सन् 1805 ई. तक पाया गया है। इस युद्ध में राजा भी अपने 15 साथियों के साथ काम आए तब कहीं मुसलमान इस किले पर कदम रख पाये। इसके बाद सन् 1318 ई0 तक यह दुर्ग मुसलमानों के अधिकार में रहा। उन्होंने इसे राजकीय कैदखाने के रूप में प्रयोग किया। इस प्रकार ग्वालियर का यह प्रदेश 166 वर्षों तक लूट-खसोट और अत्याचार से आतंकित रहा।

पर कभी किसी का शासन स्थायी नहीं रहा। जब तैमूर लंग ने भारत के अन्दर ऊधम मचाया तो मुस्लिम सत्ता डांवाडोल हो गई और वीरसिंह तँवर[15], जो कि सन् 1375 ई में मुस्लिमों की ओर से किलेदार नियुक्त हुआ था, ने अवसर पाकर दुश्मनों को परस्पर लड़ाकर बडी चतुराई के साथ इस किले पर अपना अधिकार कर लिया। इसने सम्भवतः सन् 1380 ई. में अपना राज्य स्थापित किया। यह बड़ा पराक्रमी और विवेकी तथा राजनीति में दक्ष शासक था।

---

13. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र. 24।
14: वही, क्र. 58।
15. जात. श्रीवीरसिंहः सकलरि पुकुलव्रातनिर्धातपातो,
वंशे श्रीतोमराणां निजविमलयशोख्यातदिक्चक्रवालः।
दानैर्माने विवेकैर्न भवति समता येन साकं नृपाणां,
केशामेषा कवीनां प्रभवति धिषणा वर्णने तद्‌गुणानां॥ —यशोधरचरित प्रशस्ति

इसके पश्चात् इसका पुत्र उद्धरणदेव अपने पिता की गद्दी पर बैठा।[16] शासन प्राप्ति के बाद यह कुल दो वर्ष ही जीवित रहा। इसके काल के संबंध में विशेष विवरण प्राप्त नही है। सन् 1402 ई. के लगभग उद्धरणदेव का पुत्र वीरमदेव गद्दी पर बैठा।[17] यह बड़ा पराक्रमी था। इसके काल में मल्लू इकबाल खाँ ने इस पर आक्रमण किया परन्तु वह वीरमदेव को हराने मे असफल रहा। इसके दरबार में कुशराज नाम का विश्वासपात्र महामात्य था। यह जैसवाल जैन कुल में उत्पन्न हुआ था, इसके पिता का नाम जैनपाल और माँ का नाम लोणा देवी था। यह राजनीति में बड़ा ही दक्ष और पराक्रमी था।[18] यह सदा जैनेन्द्र की सेवा में रत रहता था। यह अपनी भार्या रल्हो और लक्ष्मणश्री तथा पुत्र कल्याणमल्ल और उसकी भार्या जयतम्हिदे इत्यादि परिवार के कल्याण के लिये उस यत्र की पूजा करता था। इसकी एक तीसरी भार्या कौशीरा थी।

इसने भ. विजय कीर्ति के उपदेश से ग्वालियर में चन्द्रप्रभु का एक विशाल मन्दिर बनवाया था और भारी धूमधाम से उसका प्रतिष्ठोत्सव समारोह आयोजित किया। इस अवसर पर जौनार (सामूहिक भोज) भी आयोजित की गई। चन्द्रप्रभु का यह मन्दिर ही बाद में शेख मोहम्मद गौस का निवास-स्थान बना जिसे आजम हुमायूँ ने भ्रष्ट कर दिया था। इस घटना का विस्तृत उल्लेख आगे उपलब्ध है।

राजा का विश्वासपात्र महामात्य जैन होने के कारण वीरमदेव के शासन काल में जैन धर्मावलंबियों को विकास का अच्छा अवसर मिला। कुशराज ने

---

16. ईश्वर चूडारत्न विनिहत करघातवृत्तसंहातः।
चन्द्र इव दुग्धसिंधोस्तस्मादुद्धरणभूपतिर्जनितः॥ —यशोधरचरित प्रशस्ति

17. तत्पुत्रो वीरमेन्द्रः सकलवसुमतीपालचूड़ामणिर्यः।
प्रख्यातः सर्वलोके सकलबुधकलानन्दकारी विशेषात्।
तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गे प्रसिद्धि,
भु जाने प्राज्यराज्य बिगतरिपुमयं सुप्रजः सेव्यमानः॥ —यशोधरचरित प्रशस्ति

18. वंशेऽभूज्जैसवाले विमलगुणभृं लणः साधुरत्नं,
साधुश्री जैनपालो भवदुदितयास्तत्सुतो दानशीलः।
जैनेन्द्रः राधनेसु प्रमुदित हृदयः सेवकः सद्‌गुरूणा,
लोणाख्या सत्यशीलाऽजनि विमलमतिर्जैनपालस्य भार्या
जातः षट्‌तनयास्तयोः सकृतिनोः श्रीहसराजोभवत्,
तेषामाद्यतमस्ततस्तदनुजः सौराजनामाऽजनि।
रैराजोभवराजकः समजनि प्रख्यातकीर्तिमहा—
साधुश्री कुशराजकस्तदनु च श्री क्षेमराजो लघुः॥6॥
जाताः श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणेः,
श्रीमत्तोमर-वीरमस्य विदितो विश्वासपात्र महान्।
मत्री मत्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात्।
क्षेणीमीक्षणरक्षणमतिर्जैनेन्द्रपूजारतः॥7॥ —यशोधरचरित प्रशस्ति

दरबार के ही एक अन्य कायस्थ विद्वान पद्मनाभ से भ गुणकीर्ति के आदेशानुसार "यशोधर चरित्र" (दया सुन्दर विधान) नामक काव्य की रचना करवाई। इसके शासनकाल की सवत् 1460, 1468, 1469 और 1479 की लिखी हुई चार ग्रन्थलिपि प्रशस्तियाँ अभी भी उपलब्ध हैं। स 1460 मे गोपाचल में साहू वरदेव के चैत्यालय मे भ. हेमकीर्ति के शिष्य मुनि धर्मचन्द ने माघ वदी दशमी के दिन "सम्यकत्व कौमुदी" की प्रति आत्मपठनार्थ लिपिबद्ध की।[19] स. 1468 मे आषाढ वदी 2, शुक्रवार के दिन काष्ठा सघ, माथुरान्वय के आचार्य श्री भावसेन, सहस्त्रकीर्ति और भ गुणकीर्ति की आम्नाय मे साहू मरूदेव की पुत्री देवसरि ने 'पचास्तिकाय" टीका की प्रतिलिपि लिपिबद्ध कराई थी। जो इस समय कारजा के शास्त्र भण्डार मे उपलब्ध है।[20]

सवत् 1469 मे आचार्य अमृतचन्द्र कृत प्रवचन सार्थी की "तत्वदीपिका" टीका लिखी गई। सन् 1479 मे आषाढ सुदी 5 बुधवार के दिन गढोत्पुर के नेमिनाथ चैत्यालय में जौतुका स्त्री सरो ने अपने ज्ञानवर्णी कर्णों के क्षयार्थ "षटकर्मोपदेश" की एक प्रति लिखकर जैत श्री की शिष्या विमलमति को पूजा विधान महोत्सव के साथ समर्पित की थी जिसे पडित रामचन्द्र ने लिखा था। यह प्रति आमेर के भण्डार मे सुरक्षित है।

वीरमदेव के पश्चात् उसका पुत्र गणपतिदेव गद्दी पर बैठा। उसका राज्यकाल अल्प रहा, जिसका विवरण उपलब्ध नही है।

सन् 1424 मे गणपतिदेव के पुत्र डूगरसिंह तँवर गद्दी पर आसीन हुए। यह बडे ही वीर और पराक्रमी शासक थे। उसने शासन सँभालते ही अपनी सेना सगठित कर मालवे की राजधानी माडू पर आक्रमण कर वहाँ के राजा हुशगशाह को परास्त किया। सभवतः इसी विजय मे इनके हाथ कोहिनूर नामक विश्वप्रसिद्ध हीरा लगा। इस प्रकार उसने अपने राज्य की सीमा और बढाकर अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली। इसके काल में राज्य में सभी प्रकार की सुख शाति थी। इससे निकटवर्ती राज्यो के शासको की ललचाई दृष्टि सदैव इसके राज्य पर लगी रहती थी और यदा-कदा ग्वालियर पर आक्रमण होते रहते थे। राजा डूगरसिंह ने सभी का डटकर मुकाबला किया और सभी में विजयी रहे। विभिन्न लेखको ने इसकी वीरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि "वह अनेक राजाओ द्वारा पूजित

---

19. सम्वत् 1460 शाके 1325 षष्ठाब्दयोर्मध्ये विरोधी नाम सवत्सरे प्रवर्तते गोपाचल दुर्गस्थाने राजा वीरमदेव राज्य प्रवर्तमाने साहु वरदेव चैत्यालये भ श्री हेमकीर्तिदेव तत्शिष्य मुनि धर्मचन्द्रेण आत्मपठनार्थं पुस्तक लिखितं माघ वदि 10 भौमदिने।

—तेरापथी मन्दिर जयपुर, शास्त्र भण्डार

20 सवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द 1468 वर्षे आषाढ वदि 2 शुक्र दिने श्री गोपाचले राजा वीरमेदेव विजय राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्कर गण आचार्य श्री भावसेनदेवाः तत्पट्टे श्री सहस्त्रकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेवास्तेषामाम्नाये सघई महाराजवधू साधु मरदेव पुत्री देवसिरी तथा इद पत्रास्तिकायसार ग्रंथ लिखापितम्।

—कारंजा भण्डार, जयपुर

तथा सम्मानित था। और शत्रुओ का मान मर्दन करने मे दक्ष था।[21]" युद्ध-स्थल मे उसके समान कोई वीर योद्धा नही था।[22] नरवर गढ मे स्थित विजय स्तम्भ (जैत स्तम्भ) अभी भी इसकी साक्षी दे रहा है।

परन्तु इन सब विजय अभियानो में व्यस्त रहते हुए भी उसका ध्यान विद्वानो, धार्मिक समारोहो और निर्माणों की ओर भी गया। इसने जैन धर्म के सिद्धातों को अपने जीवन में अपनाया। जैन धर्म से उसका अनुराग मात्र ही नही था किन्तु उस पर उसकी परम आस्था थी। वे जैन धर्म के प्रबल पोषक थे। वह जैन विद्वानो एवं सतो को बड़े ही आदर की दृष्टि से देखता था।

इसके राज्यकाल में ही ग्वालियर गढ की चट्टानो मे जैन प्रतिमाओं के उत्खनन के कार्य का प्रारम्भ हुआ। सन् 1440 ई. के तीन शिलालेख इस बात के सूचक हैं कि इनके आश्रय मे अनेक जैन धर्मावलम्बियों ने दुर्ग के चारों ओर जैन प्रतिमाओं के खुदवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन अभिलेखो मे जैनाचार्य देवसेन, यशकीर्ति, जयकीर्ति, आदि भट्टारको का भी उल्लेख मिलता है। इस कार्य पर करोडों रुपये व्यय हुए तथा कुल 33 वर्ष का समय लगा। डूंगरसिंह अपने जीवनकाल में इसे पूरा नहीं करा सका। तब उसके प्रिय पुत्र कीर्तिसिंह ने उसे पूरा कराया।

डूगरसिंह के राज्य में ग्रन्थ निर्माण और मूर्ति प्रतिष्ठा

मूर्ति निर्माण के अतिरिक्त राजा डूगरसिंह के समय मे ग्वालियर के जैन धर्मानुयायी श्रावको ने ग्रन्थ निर्माण और मूर्ति प्रतिष्ठा का भी कार्य सम्पन्न कराया। सन् 1429 मे भ. गुणकीर्ति के शिष्य भ. यशकीर्ति ने आत्म पठनार्थ, "सुकुमाल चरित"-[23] और कवि श्रीधर की "संस्कृत भविष्य दत्त पचमी"[24] कथा की प्रतियां लिखवाई थी। इसके अतिरिक्त उन्होने हरिवश पुराण,

---

21. श्री तोमरानुकशिखामणित्व, यः प्रापभूपालशताचितांघ्रिः।
श्री राजमानो हतशत्रुमान.।, श्री डूगरेदोऽत्र, नराधिपोस्ति॥
समयसार लिपि प्र० सेनगण भण्डार, कारजा

22. .... भुयबल पराणु, समरंगणि अण्णु ण तहु समाणु।
णिरुवम अविरल गुण मणि णिकेउ, ...।
साहणसमुद्दु जयसिरिणिवासु, जस ऊयरि पउरियदहदिसासु।
जस करवाल णिहाएं अरि-कवाल, तोडि वि घल्लिउ णं कमलणालु।
दुपिच्छ मिच्छ रणरगु मल्लु, अरियणकामिणिमण दिण्णू सल्लु।
-- सम्मतत्तगुणनिधान प्रशस्ति

23. —सवत् 1468 वर्षे अश्वणि वदि 13 सोमदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगरसिंहयेव देवविजयराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये आचार्य श्री भावसेन देवास्तत्पट्टे श्री सहस्त्रकीति देवास्तत्पट्टे श्री गुणकीर्ति देवास्तत्शिष्येन श्री यश: कीतिदेवन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थं इद सुकमाल चरित लिखापितं। कीयस्थ थाजनापुत्र थलू लेखनीय। .. ... जयपुर भण्डार।

24. संवत् 1486 वर्षे आषाढ वदि 9 गुरुदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगरसिंह राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस्त्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य यशःकीर्ति देवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं भविष्यदत्त पंचमी कथा लिखापित ..... नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली

रात्रि भोजन कथा, रविवार व्रत कथा, चन्द्रनाथ चरित्र आदि 23 ग्रन्थ भी लिखे थे। ये स. 1486 तक रहे।

सम्वत् 1492 से पूर्व अग्रवाल वशज साहू खेमसिंह के पुत्र साहू कमलसिंह ने 11 हाथ ऊँची आदिनाथ की एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। इसके प्रतिष्ठोत्सव मे राजा डू गरसिंहजी ने शासन से पूरा सहयोग प्रदान किया और ताम्बूल आदि से उसका सम्मान किया।[25]

सवत् 1492 मे साहू कमलसिंह ने कवि रईधू से "सम्मत गुण निधान" नामक ग्रन्थ की रचना करवाई जो भाद्रपाद मास के पूर्णिमा के दिन समाप्त हुई। इस ग्रन्थ की रचना करने मे कवि को 3 मास का समय लगा। इसके बाद कवि रईधू ने "नेमिनाथ चरित्र", "पार्श्वनाथ चरित्र" तथा "बलभद्र चरित्र" (रामायण) नामक ग्रन्थो की रचना की। स 1496 में रचे गये "सुकौशल चरित्र" नामक ग्रन्थो मे इन ग्रन्थो की रचना का उल्लेख किया गया है। ये जाति के पदमावती पुरवाल थे। इनके पिता का नाम हरिसिंह सिंगी था।

बलहद्द चरिउ मे केवल हरिवश पुराण (नेमिजिन चरिउ) के रचे जाने का भी उल्लेख मिलता है। हरिवंश पुराण मे त्रिषष्ठिशलाका चरित (महापुराण), मेघेश्वर चरित्र, यशोधर चरित्र, वृत्तसार और जीवधर नामक 6 अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है। ये सभी स 1496 से पूर्व के रचे गये हैं। सम्मईजिन चरिउ प्रशस्ति मे मेघश्वर चरित, त्रिषष्ठि महापुराण, सिद्धचक्रविधि, बलहद्द चरिउ, सुदर्शन चरित और धन्यकुमार चरित नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख है। सभवतः ये सभी ग्रन्थ कवि रईधू ने स. 1492 और 1496 के काल में लिखे हैं। इनमे एक और ग्रन्थ "आत्म सबोध काव्य" की 29 पत्रात्मक जीर्ण प्रति भी उपलब्ध हुई है।[26] जो सवत् 1448 की लिखी हुई है। रईधू के काल मे ग्वालियर मे जैन धर्म एव संस्कृति अत्यधिक सम्पन्न अवस्था मे थी। डू गरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह के काल में गढ के नीचे नगर में बहुत से जैन मन्दिर बने थे। रईधू ने लिखा है कि—"नगर जैन मन्दिरो से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा मे निरत रहते थे।"……… "नेमिनाथ, चन्द्रप्रभु और वर्द्धमान के जैन मन्दिर थे और उनके पास बिहार भी बने थे।" स्वय रईधू ऐसे ही बिहार में रहता था। अलवर और चौरासी मथुरा के जैन मन्दिरो मे ग्वालियर के तौमरों के उल्लेख युक्त प्रतिमाएँ इन्ही जैन मन्दिरों की हैं। इससे प्रतीत होता है कि कविवर रईधू दीर्घजीवी रहे होगे। उपलब्ध ग्रन्थो से उनका रचनाकाल स 1448 से स 1525 तक का उपलब्ध होता है।

स. 1497 में "परमात्म प्रकाश" ग्रन्थ की सटीक प्रति की रचना की गई।[27] इसी वर्ष पांडु पुराण भी अपभ्रश भाषा में लिखा गया। स. 1506 में धनपाल की "भविष्यदत्त पचमी कथा" तथा स. 1510 में "समय सार" नामक ग्रन्थों की प्रतिलिपि की गई।[28]

---

25. —जो देवाहिदेव तित्थकरु, आइणाहु तित्थोय सुहकरु।
तहु पडिमा दुग्गइ—णिण्णासणि, जामिच्छत—गिरिंद—सरासणि,
जामहिरो—सोय दुह—णासणि

26. सवत 1448 वर्षे फाल्गुण वदि 1 गुरौ दिने श्रावग लक्ष्मण कम्मक्षय विनाशार्थं लिखित। "—यह आमेर भण्डार जयपुर में अभी भी सुरक्षित है।

27. यह अभी भी जयपुर के ठोलियो के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

28 यह अभी भी कारजा के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

उनके अतिरिक्त ज्ञानार्णव, चन्द्रप्रभु चरित्र तथा परिमाल कवि आगरा द्वारा श्रीपाल चरित्र आदि लिखे गये। स. 1497 और सं 1510 मे प्रतिष्ठापित मूर्तियों के लेख उपलब्ध हैं।[29]

शाह टोडरमल जी, दोल जी काशलीवाल भी उनके काल में ही मारवाड़ से ग्वालियर आये थे। उस समय तोमर व कछवाय जैन मत पालते थे। उन्होने पहाडी पर गुफा व जैन मन्दिर के निर्माण भी कराये।

वे जैनधर्म से बडा प्रभावित थे। तत्कालीन भ. गुणकीर्ति के प्रति इसके हृदय में असीम श्रद्धा थी। उनके उपदेशामृत से इसने जैन धर्म स्वीकार किया। इस काल में गुणकीर्ति उनके शिष्यो तथा प्रशिष्यो का भी जैन धर्म एव जैन सस्कृति के प्रचार एवं प्रसार मे सर्वाधिक योगदान रहा। इसके काल में अनेको मूर्तियो का निर्माण हुआ तथा प्रतिष्ठायें करवाई गई। इसके काल में प्रजा सुखी तथा समृद्ध थी। इसने कुल 30 वर्ष तक ग्वालियर पर शासन किया।

इसके पश्चात् कीर्तिसिंह या कीर्तिपाल गद्दी पर बैठा। यह डूंगरसिंह का पुत्र था।[30] यह अपने पिता के समान ही गुणज्ञ, बलवान और राजनीति मे चतुर था।[31] यह पराक्रमी होने के साथ-साथ दयालु, सहृदय और प्रजा वत्सल भी था। इसने लगभग सन् 1424 में शासन भार ग्रहण किया।

इसने अपने राज्य को और भी बढाया। इसके समय के दो लेख 1468 और 1473 ई. के मिले हैं। इसकी मृत्यु सन् 1479 में हुई थी अत इसका राज्यकाल 1479 तक माना जाता है।

यह जैन धर्म मे अत्याधिक आस्था रखता था। इसने अपने पिता द्वारा अधूरे छोड़े गये मूर्तियो के उत्खनन के कार्य को पूरा कराया। इसका काल स 1522 से 1531 तक मिलता है। इस काल मे अनेको नई मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित हुई, जिनमे अंकित लेखो मे कीर्तिसिंह का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—बाबा की बावडी के दाहिनी ओर बनी पाश्वंनाथ की मूर्ति पर लिखे अभिलेख मे महाराजा कीर्तिसिंह का विवरण दिया है। इस खडगासन मूर्ति के निकट ही नौ अन्य मूर्तियाँ भी खुदी हैं जिनमें कुछ पदमासन भी हैं। इनके मुख खडित कर दिये गये हैं।

इन मूर्तियों का निर्माण मूर्तिकला के क्षेत्र में इस प्रदेश के कारीगरो का अभिनव प्रयास था जिसके अन्तर्गत वि सं. 1530 तक के 33 वर्ष के थोड़े समय में ही दुर्ग की ये बेडोल और मूक चट्टानें विशालता, वीतरागिता, शान्ति, एवं तपस्या की भाव व्यजना से मुखरित हो उठी। गढ के चारो ओर खुदी हुई इन विशाल मूर्तियो को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूर्तियो के निर्माणकर्ता अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुकूल विशाल प्रतिमाओं का निर्माण करना अथवा कराना चाहते होंगे। अत. इसमे प्रेरित होकर उत्कीर्णकों ने निर्मापक की निर्मल भावनाओं को साकार रूप प्रदान करने के उद्देश्य से उस विशालता में सौन्दर्य का और समावेश कर कला की अपूर्व कृतियो का निर्माण किया। प्रतिमाओं के ये समूह दुर्ग के विभिन्न अचलों में बने हैं जो गुहा मन्दिरो के नाम से जाने जाते हैं। ये असख्य छोटे-बडे मन्दिर सख्या और आकार की दृष्टि से उत्तर भारत मे अद्वितीय हैं। मूर्तिकला और मन्दिर स्थापत्य दोनो मे अद्भुत सामजस्य स्थापित है। सबसे

---

29. देखो जनरल एशियाटिक सोसाइटी, भाग 31, पृ. 423 गोपाचल दुर्गे तोमरवशे राजा श्री गणपति देवारत पुत्रों महाराजाधिराज श्री डूगरसिंह राज्ये (प्रतिष्ठितं) चौरासी मथुरा की मूलनायक मूर्ति का लेख।
30. कवि रईधू—श्रीपाल चरित्र
31 समयसार लिपि, प्र० शास्त्र भन्डार, कारजा।

प्रमुख विशेषता यह है कि इनका निर्माण राजाओं ने नहीं वरन् तत्कालीन जैन व्यापारियों व अन्य श्रावकों ने करवाया। अनेक जैन महिलाओं ने भी इसके निर्माण के लिये दान दिये थे। इस कार्य में हजारों शिल्पकारों ने भाग लिया, जिनके कुशल हाथों ने लगभग डेढ़ मील लम्बे गोपाचल दुर्ग को उत्कीर्ण करने योग्य कोई कोना शेष नहीं छोड़ा। इन सारी प्रतिमाओं को 5 समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) **उरवाही समूह:**—उरवाई द्वार पर कुल 22 जैन मूर्तियाँ हैं। इनमें से 6 मूर्तियों पर सं. 1497 (सन् 1440 ई.) से सं. 1510 (सन् 1453 ई.) के अभिलेख खुदे हैं। इनमें 20 नम्बर की आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है। बाबर ने अपने "बाबरनामा" में इसकी ऊँचाई 20 गज अनुमान की थी। परन्तु वास्तव में यह 57 फुट ऊँची है। इसकी चरण चौकी पर सं. 1497 लिखा है। वर्तमान में इसके नीचे का कुछ भाग मिट्टी में दब गया है। यह चरणों के पास 9 फुट चौड़ी है। यहीं 22 नम्बर की नेमिनाथ की पदमासन मूर्ति है। जो 30 फुट ऊँची है। नेमिनाथ की इतनी विशाल मूर्ति शायद ही अन्यत्र कहीं हो।

(2) **दक्षिण पश्चिम समूह:**—यह खंभा ताल के नीचे उरवाई द्वार की बाहर की शिला पर है। इसमें 5 मूर्तियाँ हैं। 1 नम्बर के प्रतिमा समूह में एक स्त्री, पुरुष तथा बालक की मूर्तियाँ हैं। 2 नम्बर में एक 8 फुट लम्बी लेटी हुई स्त्री की प्रतिमा है जो 8 फुट लम्बी है। इस पर ओप किया हुआ है। प्रारम्भ में कुछ लोग इसे बुद्ध भगवान की मूर्ति बताते थे। परन्तु विशेष शोध करने के पश्चात् इतिहासकार इसी निष्कर्ष पर

(ग्वालियर दुर्ग पर उत्थित पदमासस मुद्रा में विशाल जैन प्रतिमा)
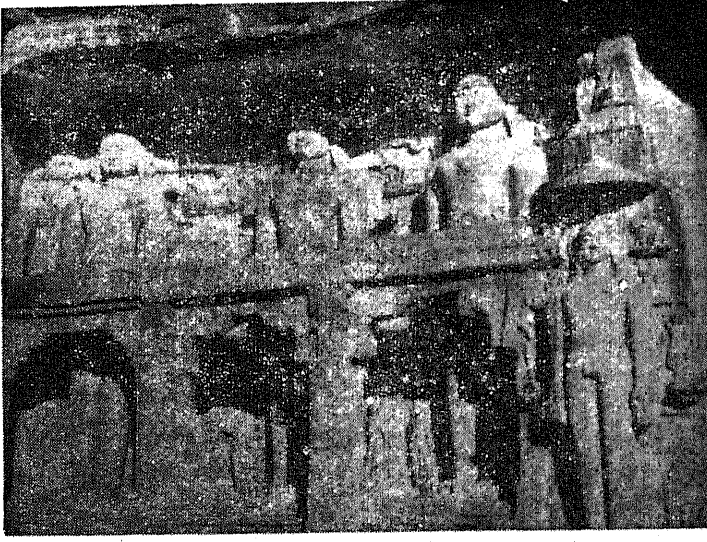
एक पत्थर की वावड़ी पर स्थित गुहा मन्दिर में उत्खनित विशाल जैन प्रतिमाओं के समूह का एक दृष्टि)

पहुँचे कि ये जैन मूर्तियाँ हैं। संभवतया यह त्रिशला माता तथा महावीर की मूर्ति है। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों का विशेष महत्व नहीं है।

(3) **उत्तर पश्चिम समूह** :—इसमें आदिनाथ की एक महत्त्वपूर्ण मूर्ति बनी है जिस पर सं. 1527 का अभिलेख अंकित है। यह विशेष कलात्मक नहीं है।

(4) **उत्तर पूर्व समूह** :—इसमें भी छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं और उन पर भी कोई लेख न होने से एतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखती हैं। कला की दृष्टि से भी उनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

(5) **दक्षिण पूर्व समूह** :—इस समूह की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अत्याधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये मूर्तियाँ फूलबाग के दरवाजे से निकलते ही लगभग आधे मील के क्षेत्र में खुदी हुई दिखाई देती हैं। अन्य मूर्तियों की अपेक्षा कुछ बाद में बनने के कारण ये अभ्यस्त हाथों द्वारा निर्मित होने के कारण इनमें अंगों के अनुपात और सौष्ठव में कहीं न्यूनता नहीं दिखाई देती। इनमें कला का रूप निखर उठा है।

इस समूह में लगभग 20 प्रतिमायें 20 से 30 फुट तक की ऊँचाई की और लगभग इतनी ही 8 से 15 फुट तक की ऊँचाई लिये हुये हैं। इसमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पद्मप्रभु, चन्द्रप्रभु, संभवनाथ, कुन्तनाथ, और महावीर आदि की मूर्तियाँ हैं। इनमें कुछ एक मूर्तियों पर 1525 से 1530 तक के अभिलेख खुदे हुये हैं।

इन समूहों में तीर्थंकरों के अतिरिक्त अंबिका, यक्ष, यक्षिणी तथा विभिन्न प्रतीक भी उत्कीर्ण किये गए हैं। इनके अतिरिक्त तेली की लाट के पास तथा गूजरी महल संग्रहालय में रखी प्रतिमायें भी अधिकतर इनकी समकालीन प्रतीत होती हैं। इससे प्रतीत होता है कि उपरोक्त समूहों के अतिरिक्त अन्य प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ था।

ग्रन्थ निर्माण-मूर्ति प्रतिष्ठायें :—

इनके शासनकाल में ही कुशा साहू जी जैसवाल वंशज ने गोपाचल पहाड़ी के बाहरी तरफ कुछ गुफाओं में मूर्तियाँ खुदवाई तथा मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठायें

करवाई जिसमे करोड़ो रुपये व्यय हुये। एक अन्य अग्रवाल वशज गोयल गोत्री खल्हा नामक जैन सज्जन ने भी गोपाचल के बाहरी ओर गुफा मन्दिर बनवाकर आचार्य महीचन्दजी महाराज द्वारा प्रतिष्ठा करवाई। इसमें भी करोडो रुपये व्यय हुये। स 1515 मे बाबड़ी की ओर गोलालारे वशज् कुमुद चन्द्र ने पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई जिसमे सिहकीर्ति नामक भट्टारक ने भी भाग लिया।

स. 1521 में ग्वालियर के जैसवाल कुल भूषण उल्हा साहू के नेष्ठ पुत्र साहू पदमसिंह ने अपनी चचल लक्ष्मी का उपयोग करने के लिये 24 जिनालयो का निर्माण करवाया तथा एक लाख ग्रन्थ लिखवाकर भेंट किये।[32] इनके राज्यकाल मे जैन साहित्य रचना का भी कार्य हुआ। कविवर रईघू ने इनके राज्य काल मे "सम्यक्त्व कौमुदी" तथा "श्रावकाचार" की रचना की।

उपरोक्त मन्दिरो मे से कुछेक समाप्त हो गये हैं और कुछ का जीर्णोद्धार होकर नये मन्दिर बन गये हैं जो अभी भी ग्वालियर मे अपने परिवर्तित रूप मे स्थित हैं। साहित्य का अधिकतर भाग नष्ट हो गया है, बहुत कम ही शेष है।

स. 1521 मे "ज्ञानार्णव" नामक ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि लिपिबद्ध की गई।[33] भ गुणभद्र ने भी ग्वालियर निवासी जैन श्रावकों की प्रेरणा से अनेको कथाओं की रचना की।

कीर्तिसिह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र कल्याणमल (मल्लसिह) ने शासन की बागडोर सभाली। इन्होने स. 1481 ई. से 1486 ई. तक ही शासन किया। इनके समय मे कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई। सभवत अपने शासनकाल के 7 वर्षों मे इन्होने कीर्तिसिह के उन कार्यों को, जो अधूरे थे, पूर्ण किया। इनका काल बहुत शान्तिपूर्वक बीता। इनके काल का स. 1552 का केवल एक ही मूर्तिलेख उपलब्ध है।[34]

सन् 1486 ई मे कल्याणमल की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र मानसिंह गद्दी पर बैठा। यह राजा, बडा प्रतापी, संगीत प्रेमी और कला प्रेमी था और जिस किसी प्रकार से अपने पूर्वजो द्वारा सरक्षित एव सवर्धित राज्य को स्वतन्त्र रखने में समर्थ हो चुका था।[35] इसे अपने शासनकाल में अनेको बार बहलोल लोदी और उसकी मृत्यु पर उसके पुत्र सिकन्दर लोदी से लोहा लेना पडा। इसने सगीत और कला को अपना सरक्षण प्रदान किया। इसके काल मे यहाँ एक सगीत विद्यालय भी था। सुप्रसिद्ध गायक तानसेन ने इसी

32. विज्जुल चंचलु लच्छीसहाउ, आलोइविहुउ जिणधम्ममाउ।
जिण गथु लिहावउ लक्खु एकु, सावय लक्खा हारीति रिक्खु।
मुणि भोजन भुजाविय सहासु, चउत्रीस जिणालउ किउ मुमासु —जैन ग्रन्थ प्रशस्ति, जैन ग्रन्थ प्रशसित सं०, पृ० 144 बाराबकी शास्त्र भंडार.।

33. यह ग्रन्थ जैन सिद्धान्त भवन आरा मे उपलब्ध है।

34 जैन लेख संग्रह—पूर्णचन्द्र नाहर भाग 2।

35. एक सोबनकी लका जिसि, तो वरू राउ सबल वरवीर। भुग्रबल आयु जु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये। ताके राज सुखी लोग, राज समान करहिं दिनभोग। जैनधर्म बहुविधि चलें, श्रावगदिन जु करें षट् कर्म।

• —नमीश्यवर गीत

विद्यालय मे सगीत शिक्षा ग्रहण की थी। इसके द्वारा बनवाया गया महल मान मन्दिर (चित्र महल) हिन्दू स्थापत्य कला का अदभुत नमूना है। बाबर ने भी इस महल की कारीगरी की प्रशसा की है। इसके अतिरिक्त इसने मृगनयनी गूजरी के लिये गूजरी महल बनवाया। ध्रुपद गीतों का आविष्कार भी सर्वप्रथम महाराजा मानसिंह द्वारा ही हुआ। इन्होने "मान कुतुहल" के नाम से एक सगीत ग्रन्थ की रचना की। परन्तु इन सबके बावजूद इसके शासनकाल में इसके द्वारा किसी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार को प्रश्रय नही दिया जाने से, इस समय तक उपलब्ध अपभ्रश की रचनाओ की परम्परा समाप्त हो गई जिसके कारण आज अन्य अनेको तथ्य अँधेरे के गर्त में डूब गये हैं।

महाराजा मानसिंह के काल का सन् 1495 ई. का एक शिलालेख अवश्य ग्वालियर गढ की एक जैन प्रतिमा की चरण चौकी पर मिला था,[36] जिससे इस प्रदेश की जैन धर्म की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पडता है। उसकी प्रथम तीन पक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रीमद्गोपाचलगढ दुर्गे महाराजाधिराज श्री मल्लसिंहदेव विजयराज्ये प्रवर्तमाने। सवत 1552 वर्षे ज्येष्ठ सुदि 9 सोमवासरे श्री मूलसघे वलत्करगणे सरस्वतीगच्छे। कुदकुदाचार्यान्विये। भ. श्री पद्मनन्दिदेव तत् पट्टालकार श्री शुभचन्द्र देव। तत्पट्टे भ. मणिचन्द्र देव। तत्पट्टे पं. मुनि ··· गणि कचर देव तदन्वये बारह श्रेणी वशे सालम भार्या व ······

उक्त शिलालेख से प्रकट होता है कि मानसिंह के काल मे भी कुछ जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई थी। उक्त प्रतिमा की स्थापना सरस्वती गच्छ के भट्टारकों ने कराई थी।

भट्टारक मणिचन्द्र देव के पश्चात् जो मुनि हुए उनका नाम उक्त शिलालेख मे नही पढा जा सका, तथापि उन्हें भट्टारक के स्थान पर मुनि कहने से प्रकट होता है कि मूलसघ की इस शाखा का मूल पट्ट ग्वालियर के बाहर कही स्थापित हो गया था।[37]

प्राचीन साहित्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि महाराजा डूगरसिंह एव कीर्तिसिंह के राज्यकाल में समादृत जैन साधुओं एव भट्टारकों के प्रति उनका व्यवहार कैसा था तथापि इस बात की सभावना कम ही है कि सगीत, भवन निर्माण, कला को सरक्षण देनेवाले तथा युद्धो मे व्यस्त महाराजा धार्मिक विवेचन के लिये समय दे सके होंगे। साहित्यिक प्रमाणो के अभाव में इनके काल के सबध मे कोई शोध-कार्य नही हो पाया है। फिर भी एक-दो उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार सन् 1501 में चैत्र सुदी 10 सोमवार के दिन काष्ठासघ नंदिगच्छ विद्यागण के भट्टारक सोमकीर्ति और भ. विजयकीर्ति के शिष्य ब्रह्मकाला द्वारा गोपाचल दुर्ग में आत्म पठनार्थ अमर कीर्ति के "षट्कर्मोपदेश" की प्रति लिखवाए जाने का उल्लेख मिलता है।[38] इसके अतिरिक्त सन् 1512 में गोपाचल मे श्रावक सिरीमल के पुत्र चतरू ने 44 पद्यों के "नेमीश्वर गीत" की रचना

---

36. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० 341, पूर्णचन्द्र नाहर, जैन अभिलेख—भाग 2, क्र० 1429।
37. ग्वालियर के तोमर—हरिहर निवास द्विवेदी, प्र० 1।
38. अथ नृपति विक्रमादित्य सवत् 1558 वर्षे चैत्र सुदी 10 सोमवासरे अश्लेषा नक्षत्रे गोपाचलगढ दुग महाराजाधिराज श्री मानसिंह राज्ये प्रवर्त्तमाने श्री काष्ठासघे नंदिगच्छे विद्यागणे भ० श्री सोमकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० श्री विजयसेन देवास्तत शिष्य ब्रह्मकाला इद षट्कर्मोपदेशशास्त्र लिखाप्ये आत्मपठनार्थं।
—प्रशस्ति स० आमेर पृ० 173

की। इसमें जैनियो के 23 वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित है।[39]

उधर सिकंदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् इब्राहीम लोदी ने शासन सँभालते ही अपने पूर्वजो की महत्त्वाकाक्षा को साकार करने के उद्देश्य से ग्वालियर दुर्ग पर पुन: आक्रमण कर दिया। इसी बीच सन् 1519 ई. मे महाराजा मानसिंह की मृत्यु हो गई और तलवारो की छाया मे उनके पुत्र विक्रमादित्य गद्दी पर बैठे। उनके नेतृत्व में राजपूत जी तोडकर लड़े पर अपने से अनुपात मे कई गुनी लोदियो की सेना पर विजय न पा सके और लोदियो के सेनापति हुमायू से सन्धि करना पड़ी। वे अब शमसाबाद के एक जागीरदार मात्र रह गए और उन्हें लोदियो की ओर से पानीपत मे बाबर के विरुद्ध युद्ध करने भेजा गया। इस बीच तॅवर वश के एक दूसरे तेजस्वी राजकुमार रामसिंह तोमर ने ग्वालियर दुर्ग पर आक्रमण कर किले के अफगान अधिकारी तातार खा को परास्त कर दुर्ग पर अपने झण्डे गाड दिये।

लगभग इसी काल में सन् 1523 ई. के आसपास कभी शेख मोहम्मद गौस नामक फक्कड साधू गाजीपुर (मूलनाम कुमारगढ़) से ग्वालियर आ बसे। वे आकर चन्द्रप्रभू के मन्दिर में ठहरे। यह चन्द्रप्रभू का मन्दिर वही विशाल जैन मन्दिर था जिसे वीरमदेव तोमर के मत्री कुशराज ने बनवाया था।[40] यह मन्दिर आजम हुमायू के आक्रमण के समय (सन् 1518-23) क्षतिग्रस्त कर दिया गया था। शेख गौस ने इसी में अपनी खानकाह बनाई और आज वहीं उसका मजार बना है।

इन पक्तियो के लेखक ने सन् 1669 मे प्रकाशित ग्वालियर जैन डायरेक्टरी में अपने एक लेख "अतीत की ओर एक दृष्टि" में इतिहासकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था, और बडी प्रसन्नता का विषय है कि सन् 1976 मे प्रकाशित श्री हरिहर निवास जी द्विवेदी की पुस्तक "ग्वालियर के तोमर" मे इस सम्बन्ध मे उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण एव तथ्य उजागर हुए हैं। इस सम्बन्ध में खड्गराय की पुस्तक "गोपाचल आख्यान" में वर्णित सूत्र पर्याप्त प्रकाश डालता है :—

जो विधिना विधि आपनु करै, सोई होई न टारी टरै ।
देखो विधना को संजोग, जनमें कहूँ कहूँ रहैं लोग ।।
पूरब गाजीपुर को ठाऊ, कुमरगढ़ा ताको रहि नाऊ ।
मोहम्मद गौस जहां ते आई, रहे ग्वालियर में सुख पाइ ।।

विधिना विधि ऐसे ठई, सोई भई जु आई ।
चन्द्रप्रभू के धोहरें, रहे गौस सुख पाई ।।[41]

इस बीच तातार खा दुर्ग में ही छिपा रहा और जैसे ही बाबर दिल्ली का सम्राट बना, तातार खा ने उसे गुप्त सदेश भेजकर उससे सहायता प्राप्त की और मोहम्मद गौस साहब की कृपा से ख्वाजा रहीम और शेख गोरन के नेतृत्व में विशाल सेना से दुर्ग पर आक्रमण कर, उसे अपने आधिपत्य में ले लिया और महाराजा रामसिंह तोमर मेवाड की ओर भाग गये। इस प्रकार सन् 1559 में दुर्ग पुन: मुगलों के हाथ में चला गया। उधर विक्रमादित्य पानीपत युद्ध में वीरगति पा गये। इसी के साथ ही तोमर वंश का सूर्य सदा के लिये अस्त हो गया। इसके साथ-साथ ही धार्मिक, साहित्यिक एव

---

39. यह ग्रन्थ अभी आमेर भण्डार में सुरक्षित है।
संवत पन्द्रह सै छे गमें, गुनहत्तरि ताऊपर भने
भादों वदि पंचमीवार, सोम नषितु रेवती सार ।।
40. ग्वालियर के तोमर—हरिहरनिवास द्विवेदी पृ० 63।
41. पूर्वोक्त, पृ० 203—4।

कलात्मक गतिविधियाँ समाप्त हो गई। विक्रमादित्य का परिवार अब हुमायू के अधीन हो गया। उसकी सद्भावना पाने के उद्देश्य से उन्होंने तँवरो द्वारा माडू के सुल्तानों पर प्राप्त विजय की निशानी रत्नों का सरताज (कोहिनूर) नामक विश्वप्रसिद्ध हीरा हुमायू को भेंट कर दिया।

मुगलों का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद जब बादशाह बाबर स्वय ग्वालियर आया तब इस दुर्ग का अवलोकन करते समय सन् 1527 में उसकी कुदृष्टि दुर्ग पर स्थित जैन मूर्तियों पर भी पडी।

बाबर ने "बाबरनामा" में अपनी ग्वालियर यात्रा (28 सितम्बर 1528 ई.) का वर्णन करते हुए लिखा है:—[42]

इस बाहरी दीवार के नीचे तथा बाहर एक बहुत बड़ी झील है। यह (कभी-कभी) इतनी सूख जाती है कि झील नही रह पाती। इसमे से आव दुन्द (जल सग्रह) मे जल जाता है। उरवा के भीतर दो अन्य झीलें हैं। किले के निवासी इनके जल को सबसे अधिक उत्तम समझते हैं।

उरवा के तीन ओर ठोस चट्टानें हैं। इनका रग बयाना की ठोस चट्टानों के समान नही है, अपितु फीका-फीका है। इन दिशाओ में लोगो ने पत्थर की मूर्तिया कटवा रखी हैं। वे छोटी-बड़ी सभी प्रकार की हैं। एक बहुत बडी मूर्ति, जो कि दक्षिण की ओर है, सम्भवतः 20 कारी ऊंची होगी। यह मूर्तिया पूर्णतः नग्न हैं और गुप्त अंग भी ढके हुए नही हैं। उरवा की इन दोनों बडी झीलो के चारों ओर 20-30 कूंए भी खुदे हैं। इनके जल से तरकारिया, फूल तथा वृक्ष लगाए जाते हैं।

उरवा बुरा स्थान नहीं है। यह बन्द स्थान है। मूर्तियां ही इस स्थान का सबसे बडा देष है। मैंने उनके नष्ट करने का आदेश दे दिया।

उरवा से निकलकर हम पुन. किले मे प्रविष्ट हुए। हमने सुल्तानी पुल की खिडकी से सैर की। यह काफिरो के समय से अभी तक बन्द रही होगी। हम लोग सायंकाल की नमाज के समय रहीमदाद के बगीचे मे पहुँचे। वहीं ठहर कर हम सो गए। हम लोगो ने इस बगीचे से प्रस्थान करके ग्वालियर के मन्दिरो की सैर की। कुछ मन्दिरो मे दो-दो और कुछ मे तीन-तीन मजिलें थी। प्रत्येक मजिल प्राचीन प्रथानुसार नीची-नीची थी। उनके पत्थर के स्तम्भ के नीचे की चौकी पर पत्थर की मूर्तिया रखी थी। कुछ मन्दिर मदरसो के समान थे। उनमें दालान तथा ऊंचे गुम्बज एवं मदरसों के कमरो के समान कमरे थे। प्रत्येक कमरे के ऊपर पत्थर के तराशे हुए सकरे गुम्बज थे। नीचे की कोठरियो में चट्टान से तराशी हुई मूर्तियां थी, ज्ञात होता है कि ये आजन हुमायूं के घेरे के समय अपूज्य और भृष्ट कर दिये गए थे; और फिर बाबर के वंशजों के अधिकारियो ने इन्हें तुडवा दिया।

एक जनश्रुति के अनुसार कहा जाता है कि एक रात्रि को वह और उसके सैनिक इतने विशाल आकार की दिगम्बर जैन मूर्तियों को देखकर चकित एव भय-भीत हो गये। उसके क्रोध की सीमा न रही। वह जैन धर्म से इतना क्रुद्ध हुआ कि अगले दिवस ही उसने अपनी सेना को दुर्ग पर स्थित सभी मूर्तियों को समूल रूप से नष्ट कर देने का आदेश प्रदान किया परन्तु यह कोई आसान कार्य नही था अत. मुगल सैनिक प्रतिमाओ को समूल रूप से नष्ट न कर सकें, उन्हें खण्डित कर गये। और इस प्रकार कुशल कारीगरो की 33

---

42. ग्वालियर के तोमर—श्री हरिहर निवास द्विवेदी, पृ० 358

वर्षों के कठिन परिश्रम से बनी मूर्तियो के सौन्दर्य को कुछ ही दिवसो मे नष्ट कर दिया गया। क्रूर बाबर ने इस कृत्य का अपनी आत्मकथा (बाबरनामा) में बडे गौरव के साथ उल्लेख किया है। इस प्रकार यदि सच पूछा जाये तो इस सारी घटना मे जैन ही उसके सर्वाधिक कोपभाजन रहे। इस थोडे काल मे उसने दुर्ग पर स्थित इन मूर्तियो को ध्वस्त करने के अतिरिक्त नगरो मे स्थित मन्दिरो को भी ध्वस्त किया, जहाँ उनको यह सभव न दिखा वहाँ मूर्तियों और वेदियों को ही नष्ट कर अपनी सन्तुष्टि कर ली।

परन्तु बाबर भी अधिक काल तक इस दुर्ग को उपभोग न कर सका और सन् 1540 मे यह दुर्ग मुगलों के हाथ से निकलकर शेरशाह सूरी के हाथो मे आ गया। उन्होंने इसे राजधानी के रूप में प्रयोग किया। और यहा से वे शेष राज्य पर शासन करते रहे। सन् 1559 ई मे अकबर ने सूरी वंश को नष्टकर ग्वालियर को अपने अधिकार मे ले लिया।

इस बीच शेख मोहम्मद गौम ग्वालियर मे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बने रहे। ग्वालियर दुर्ग पर मुगल राजाओं का अधिकार कराने और हर संकट के समय उन्हें मार्गदर्शन व सहायता प्रदान कर अनके राज्य को स्थायी बनाने मे शेख गौस ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। इस कारण विभिन्न मुगल शासकों बाबर, हुमायू और अकबर की नजर मे वे सदैव सम्मानीय व्यक्ति बने रहे। ग्वालियर दुर्ग पर नियुक्त मुगल अधिकारी भी उनसे अत्याधिक प्रभावित रहे। हिजरी सन् 970 (सोमवार 10 मई 1563 ई) को आगरा मे शेख मोहम्मद गौस की मृत्यु हो गई। उनका शव ग्वालियर लाया गया। चन्द्रप्रभू के मन्दिर में जहाँ शेख की खानकाह थी उन्हें दफना दिया गया; और वहीं उतका मकबरा वना दिया गया।[43]

उसके बाद लगभग 200 वर्षों तक ग्वालियर पर मुगलो का ही अधिकार रहा। इस कार्यकाल में दुर्ग का प्रयोग केवल बदी गृह के रूप में ही किया गया मुगल शासको द्वारा अनेको ऐसे शहजादे, जागीरदार, बडे सरदार तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति जिन्हें जनता के समक्ष मृत्यु दण्ड देना अहितकर प्रतीत होता था, इस दुर्ग में लाये जाने लगे। यहाँ उन्हें या तो मन्द जहर दे दिया जाता था या ऐसी यातनायें दी जाती थीं जिनसे वह पागल होकर स्वय प्राणान्त कर लेते थे। इस तरह विभिन्न क्षेत्रो से लाये गये राज विद्रोही हाथी पोल से चढ़ाकर किले मे लाये जाते थे और फिर वे संसार के दर्शन करने के लिये कभी नहीं लौटते थे।

अकबर की मृत्यु के बाद जब जहागीर दिल्ली के तख्त पर बैठा तब यह दुर्ग उसके अधिकार में आ गया। उसने लिखा है कि तख्त पर बैठने के अवसर पर उसने मुगल साम्राज्य के समस्त कैदियो को बन्दीगृह से मुक्त करने की आज्ञा दी। उस समय ग्वालियर दुर्ग से 7 हजार कैदी छोडे गये। उनमें कई लोगो की आयु 40 वर्ष के लगभग थी। परन्तु बाद मे बादशाह जहागीर ने भी इस दुर्ग को बन्दीगृह के रूप मे ही प्रयोग किया।

जहागीर के ही शासनकाल मे एक बार भट्टारक ब्रजभूषण के शिष्य पदमावती पुरवाल वंशज, टापू निवासी श्री ब्रह्मगुलाल जी मुनि होने के बाद भ्रमण करते हुये ग्वालियर भी पधारे।[44] मुनि के साथ-साथ वे कवि भी थे। सन् 1618 ई. में इन्होंने यहा पर "त्रेपन क्रिया"

---

43. ग्वालियर के तोमर, हरिहर निवास द्विवेदी पृ. 209।
44. अगरचन्द नाहटा—मध्य प्रदेश के कवि "ब्रह्मगुलाल" मध्यभारत सदेश, 31 दिसम्बर 1955

नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें श्रावको की त्रेपन क्रियाओ का सरल व सुन्दर भाषा में वर्णन किया गया है। इसके अन्त में वे लिखते हैं कि—

ए त्रेपन विधि करहु क्रिया भव पाप समूहन चूरे हो।
सोरह से पैंसठि समच्छर कातिक तीज अन्धियारी हो।
भट्टारक जगभूषण चेला ब्रह्मगुलाल विचारी हो॥
ब्रह्मगुलाल विचारि बनाई गढ गोपाचल थाने।
छत्रपति चहु चक विराजे साहे सलेम मुग लाने॥1॥

जहांगीर के बाद औरंगजेब उसका उत्तराधिकारी बना। उसने भी इस दुर्ग को बन्दीगृह के रूप में प्रयोग किया। अपने भाई मुराद को उसने इसी दुर्ग मे बन्दी बनाया था। दारा के पुत्र सुलेमान शिको· को भी इसी दुर्ग में कैद रखा गया। अपने पुत्र सुलतान मुहम्मद को भी औरंगजेब ने यही कैद रखा। मुराद को फासी भी इसी दुर्ग में दी गई। इन सब कारणो से ग्वालियर का किला मृत्यु का द्वार कहा जाने लगा।

इस प्रकार दो शताब्दियों के इस काल में ग्वालियर दुर्ग बन्दी घर के रूप में ही प्रयुक्त होता रहा। नगर क्षेत्र तथा उसके विकास के ऊपर कोई ध्यान नही दिया गया और बादशाह के द्वारा नियुक्त नुमायन्दे ही राज्य की देखभाल करते रहे। इस काल मे जैनियों की दशा के बारे में कुछ भी लेख आदि नही मिलते हैं। सभवत: इस काल में शासन की विरोधी नीति के कारण जैनियो की क्या, भारतीय मूलो के सभी धर्मो की दशा अच्छी नहीं थी। इस काल मे अनेको हिन्दू, शासकों के कृपा पात्र बनने के उद्देश्य से या तो स्वय-मुसलमान हो गये या जबरदस्ती मुसलमान धर्म मे दीक्षित कर दिये गये। शासकों द्वारा धार्मिक स्वतत्रता का खुलकर हनन किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय सरक्षण समाप्त होना और धर्म पालन पर प्रतिबध ही इसके मूल कारण रहे।

तथापि इतने सबके बावजूद भी जैन धर्मावलबियों की गतिविधियाँ पूर्णत: समाप्त न की जा सकी। यदा-कदा अवसर प्राप्त होने पर जैन धर्मावलम्बी अपनी धार्मिक गतिविधियो को सचालित करते रहे। दौलतगंज में बना हुआ पार्श्वनाथ मन्दिर लगभग इसी काल में निर्मित हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य किसी मन्दिर आदि के निर्माण के संबध में कोई विवरण प्राप्त नही है।

इधर 18वी शताब्दि के उत्तरार्द्ध के प्रारंभ से ही मराठे लोग अत्यधिक शक्तिशाली हो उठे और दिल्ली तक हमले करने लगे। बाजीराव पेशवा ने राणोजी सिन्धिया को मालवा राज्य की कमान सौंप दी। उन्होंने उत्तर भारत में राज्य विस्तार करने का अभियान प्रारम कर दिया। और ग्वालियर को इसका केन्द्र बनाया। राणोजी की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र जयप्पा और माधोजी ने उनका कार्यभार सँभाला। इसी बीच सन् 1761 मे पानीपत मे युद्ध विभीषिका प्रज्वलित हो उठी और भारत भर में विभिन्न पक्षो के वीरों की तलवारें खिच गईं। माधव जी इसमें घायल हो गये। इस बीच भरतपुर के जाटो ने लोकेन्द्र सिंह के चाचा के नेतृत्व में दुर्ग पर अधिकार कर लिया। उधर उत्तर भारत का और भी तमाम भाग मराठों के हाथ से निकल चुका था। पर शीघ्र ही पानीपत से लौटकर मराठा वीरों ने महादजी के नेतृत्व में पुन· उत्तर भारत में विजय अभियान प्रारभ कर दिया और ग्वालियर दुर्ग को अपने अधिकार में ले लिया। इन्होंने इसे फौजी केन्द्र के रूप में प्रयोग करने के उद्देश्य से ग्वालियर दुर्ग के दक्षिण में 1 लाख सैनिकों की बड़ी फौजी छावनी का कैम्प लगाया और इसे लश्कर नाम दिया।

युद्ध के इस वातावरण के मध्य भी धर्मिक गति-विधियाँ यदाकदा सचालित होती रहीं। सम् 1768 के लगभग सेठ मथुरादास लक्ष्मीचन्द्र जी अग्रवाल द्वारा लश्कर क्षेत्र में अत्यन्त भव्य एव कलात्मक श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर पुरानी सहेली का निर्माण कराया गया। इस काल में ही एक अन्य भव्य एव कलात्मक मन्दिर श्री दिगम्बर जैन मन्दिर चम्पाबाग का निर्माण कार्य

सम्पन्न हुआ। ये दोनों मन्दिर वर्तमान मे ग्वालियर मे उपलब्ध जैन मन्दिरो मे कलात्मक दृष्टि से अद्वितीय हैं।

इन दिनो ग्वालियर मे महादजी का अधिकार था। उन्होंने उज्जैन को अपनी राजधानी के रूप में प्रयोग किया। यह बडे प्रतापी शासक थे। इनका सारा जीवन युद्धो मे बीता। जिसमे इन्होंने उत्तर मे एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और यह कलकत्ते के समान एक महत्वपूर्ण स्थान बन गया। दिल्ली के शासक भी इसके आश्रय को उत्सुक रहते थे। वारेन हेस्टिंग्ज इस बढ़ती शक्ति को सहन न कर सका और 3 अगस्त सन् 1760 को आधी रात के समय किले की पश्चिमी दीवार से चढ-कर उसने अपनी फौजो को दुर्ग मे प्रविष्ट करा दिया। दुर्ग का यह भाग अभी भी फिरगी पहाडी के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार दुर्ग अँग्रेजो के हाथ में चला गया। 13 अक्टूबर सन् 1781 को पुन. एक सधि मे यह दुर्ग राणा लोकेन्द्र सिंह को मिला।

लगभग इसी काल मे ग्वालियर नगर मे "जती जी के मन्दिर" के नाम से जाने वाले मन्दिर का निर्माण हुआ। इससे प्रतीत होता है कि अशान्ति के इस वातावरण में भी मन्दिरो आदि का निर्माण कार्य होता रहता था।

सन् 1783 मे सिन्धिया शासको ने अँग्रेजो की मदद प्राप्त कर एक पहरेदार की सहायता से इस दुर्ग मे पुनः प्रवेश किया। राणा को मालूम पडते ही उसने गुलामी से बचने के लिये आत्महत्या कर ली। इस बीच महादजी ने लश्कर नामक फौजी छावनी के पास एक बाडा कचहरी भी स्थापित की। जिसमे वे युद्धो से अवकाश निकालकर प्रशासन एव न्याय का कार्य देखते थे।

वे दक्षिण के राज्य को भी इसी राज्य में मिलाकर एक बडा हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसी बीच 12 फरवरी सन् 1794 ई. को पूना से 2 कोस दूर स्थित बानोडी नामक ग्राम मे इनका देहान्त हो गया।

इनके कोई पुत्र न था अतः इनकी मृत्यु के पश्चात् तुकोजीराव के 14 वर्षीय पुत्र आनदराव इनके उत्तराधिकारी बनाये गये और उनका नाम दौलतराव रखा गया। कार्यभार सँभालने के एक वर्ष बाद ही इन्हे निजाम से युद्ध करना पडा जिसमें ये विजयी हुये और इन्हें करोडो रुपयो का लाभ हुआ। इसके बाद ये अन्य राजाओ के सहयोग से कार्य चलाते रहे। किन्तु इन्ही दिनो उत्तर भारत में फिर से अशान्ति फैल गई। अतः महाराजा दौलतराव पूना से उत्तर भारत की ओर आये। रास्ते मे इन्होने इन्दौर के होल्कर राजा को परास्त कर उनके राज्य को खूब लूटा। परन्तु अन्त मे आपको अंग्रेजो से युद्ध करना पडा। इस लड़ाई मे दक्षिण भारत में स्थित अहमदनगर, और असीदगढ के बडे-बडे किले इनके हाथ से निकल गये। इधर उत्तर भारत मे भी लार्ड लेक ने धावा बोल दिया। जिसमे दिल्ली, अलीगढ़, मथुरा और आगरा के इलाके इनके हाथ से जाते रहे। सन् 1802 में ग्वालियर दुर्ग भी इनके हाथ से चला गया। इनके अधिकाश सैनिक युद्ध मे काम आ चुके थे। और कोई रास्ता न देखकर इन्हे सन् 1805 में मजबूरी में अँग्रेजो से सन्धि करनी पडी जिसमें इन्हें ग्वालियर और आसपास का क्षेत्र वापिस कर दिया गया। सन् 1812 में इन्होने अपने पिताजी द्वारा स्थापित फौजी कैम्पवाले मैदान लश्कर पर पुनः छावनी डाली। सन् 1812 में यहा नगर बसाकर इसी को ग्वालियर राज्य की राजधानी बनाया तथा इसका नाम लश्कर ही रखा।

कहा जाता है कि इसी फौजी छावनी मे एक जैन ओवरसियर भी कार्य करते थे। जब मुरार मे छावनी स्थापित की गई तो वे वहाँ रहने लगे। इनकी माँ बडी धार्मिक प्रवृत्ति की थी तथा नित्यप्रति दर्शन करने के पश्चात् ही अन्न ग्रहण करती थी। मुरार में मन्दिर न होने के कारण उन्हें बड़ी परेशानी होती थी और दर्शन

करने के लिये उन्हें बडागाव जाना पडता था। अत उन्होंने अपने पुत्र से मुरार मे एक मन्दिर स्थापित करने को कहा। पुत्र ने अपनी मां की सुविधा की दृष्टि से मुरार मे एक कमरे के अन्दर मूर्ति प्रतिष्ठा कराकर मन्दिर की स्थापना की। जो आज अपने बडे रूप में बना हुआ है। लश्कर मे कसेरा ओली में स्थित राजा जी का चैत्यालय भी इसी काल का बना हुआ है।

इस प्रकार इस काल में महाराजा दौलतराव अँग्रेजो के सहयोग से राज्य कार्य चलाते रहे। सन् 1827 में इनका स्वर्गवास हो गया। इनके पश्चात उनकी प्रिय पत्नी ने एक 11 वर्षीय नाबालिग लडके को गोद लिया और उसका नाम जनकोजीराव रखा। उनके युवा होने तक महारानी ने ही राज्य सचालन का कार्य किया। युवा होने पर उन्होन स्वय शासन का भार सभाल लिया इनके काल में कोई विशेष घटना घटित नहीं हुई। दिनांक 7 फरवरी 1843 ई. को अल्पायु में ही इनका स्वर्गवास हो गया।

नया बाजार लश्कर में स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर और ग्वालियर नगर में स्थित गोकुलचन्द का मन्दिर इन्हीं के काल में निर्मित हुये थे।

महाराजा जनकोजीराव के कैलाशवासी होने पर महारानी ताराबाई ने उनका पुत्र न होने के कारण एक 8 वर्षीय बालक को गोद लिया। उनका नाम जीवाजीराव सिंधिया रखा गया। महाराजा की नाबालिगी में कौन प्रवन्ध करे इस विषय को लेकर सरदारो में खूब झगडे हुये। अँग्रेजों ने मौके का फायदा उठाकर सन् 1845 मे एक 6 सदस्यीय कौंसिल आफ रिजेन्सी कायम कर दी। 9 वर्ष तक राज्य का सारा प्रबध इसी कौंसिल ने किया। इस कौंसिल के शासनकाल मे सन् 1848 में लश्कर में दानाओली मे जैसवाल पचायत द्वारा मन्दिर का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ।

सन् 1854 में महाराजा के बालिग होने पर वे स्वयं अँग्रेजों के मार्गदर्शन में कार्य करने लगे। 3 वर्ष पश्चात् ही सन् 1857 में भारत के राष्ट्रभक्त वीरों द्वारा स्वतन्त्रता सग्राम छेड दिया गया। महाराजा अँग्रेजों के परमभक्त थे। अत. इस अवसर को अँग्रेजो को प्रसन्न करने के लिये उपयुक्त समय मानकर उन्होंने अपनी भक्ति भावना का पूर्ण परिचय देने का संकल्प किया। परिणाम यह हुआ कि 28 मई को स्वतन्त्रता प्रेमी सैनिको ने विद्रोह कर दिया। उधर महाराजा अँग्रेजों की सुरक्षा का प्रबध करने मे जी जान लगाकर जुट गये। परन्तु समूह एक शक्ति होती है। 14 जून 1857 की रात्रि को कन्टिन्जेन्ट फौज ने भी राष्ट्रप्रेमियों के समर्थन मे विद्रोह कर दिया। अनेको अँग्रेज अफसर मौत के घाट उतार दिये गये। महाराजा ने अपनी भक्ति का परिचय देते हुये शेष सभी जीवित अँग्रेज पुरुषों को महिलाओं व बच्चों सहित आगरा पहुँचा दिया। दिनाक 28 मई सन् 1858 ई को नाना पेशवा, तात्या टोपे और महारानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व मे स्वातंत्र्य वीरों की सेना राष्ट्रद्रोहियो को रू दती हुई ग्वालियर की छाती पर चढ़ आई और 1 जून से भयकर रूप मे युद्ध शुरू कर दिया। ग्वालियर के सारे राष्ट्रप्रेमी स्वातन्त्र वीरों ने उनका साथ दिया जिससे भयभीत होकर जियाजीराव युद्धस्थल से भाग खड़े हुये और अंग्रेजों की शरण में आगरा आ पहुँचे।

इधर स्वातत्र वीरों ने सभी शासकीय केन्द्रो पर कब्जा कर लिया और ग्वालियर पर अपने झंडे गाड दिये। गोरखी में स्थित शासकीय खजाने को लूट लिया गया। इस समय अमरचन्द्र बांठिया नामक एक जैन धर्मावलबी महाराजा के खजाची थे। लूट के समय वे वही मौजूद थे। उन्होने स्वातंत्र्य वीरों का कोई प्रतिकार नही किया। उन्होंने खुलकर लूट की और सारा खजाना लूट लिया। वीर पुत्रो का सरक्षण पा ग्वालियर की भूमि निहाल हो उठी।

परन्तु दूसरी ओर सर ह्यू रोज ने वीरों से अनुपात में कई गुनी सेना लाकर उन्हें चारों ओर से घेर लिया।

दिनाक 18 जून को भयकर युद्ध हुआ । जिसमे अनेको वीरो सहित वीरांगना लक्ष्मीबाई भी शहीद हुई । अवसर पाकर अँग्रेज पुनः सत्तारूढ हो गये । शान्ति स्थापित होने पर महाराजा जयाजीराव सिन्धिया भी ग्वालियर वापिस लौट आये । ग्वालियर आने के पश्चात् उन्होंने स्वातत्र्य प्रेमी निवासियो को दण्ड देने का अभियान चालू किया । जिसका सर्वप्रथम शिकार ग्वालियर राज्य के कोषाध्यक्ष ओसवाल जैनवंशी श्री अमरचन्द्र बाठिया बनाये गये और उन्हे महारानी लक्ष्मीबाई आदि से मिलकर शासकीय खजाने की लूट करवाने के आरोप मे मृत्यु दण्ड देने का आदेश दिया । भविष्य मे अन्य नगरवासी कभी इस प्रकार का कृत्य न कर सकें अत उन्हें भयभीत करने के उद्देश्य से अमरचन्द्र बाठिया को सराफा बाजार मे स्थित एक विशाल नीम के वृक्ष पर लटकाकर फांसी दी गई । शहीद का मृत शरीर 3 दिवस तक नीम पर ही टँगा रखा गया । जिससे अन्य नगरवासी भविष्य मे कभी इस प्रकार का कार्य करने का साहस न करें । यह वृक्ष अभी भी खूनी नीम के नाम से प्रसिद्ध है ।

बाद मे महाराजा जयाजीराव सिन्धिया के इन भक्तिपूर्ण कृत्यो से प्रसन्न होकर दिनाक 30 नवम्बर को आगरा मे एक समारोह आयोजित कर गवर्नर जनरल लार्ड कैनिग ने पुराने ग्वालियर राज्य मे तीन लाख रुपये का राज्य और शामिल कर उन्हें पुन औपचारिक रूप से राज्यभार सौंपते हुए अँग्रेजो की भक्ति के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की और साथ ही महाराजा के और बकाया लाखो रुपये की रकम भी छोड़ दी । उन्हें अनेकों उत्कृष्ट पदवियो से विभूषित कर ब्रिटिश सेना का आनरेरी जनरल नियुक्त किया । परन्तु दुर्ग पर अभी भी अँगेजों का ही आधिपत्य रहा । महाराजा द्वारा अनेको बार याचना करने पर सन् 1886 मे पुनः यह दुर्ग सिन्धिया राजवश को प्रदान कर दिया गया । महाराजा अपने सारे राज्यकाल में अँग्रेजो को प्रसन्न करने व स्वामिभक्ति का परिचय देने मे ही लगे रहे और अँग्रेज यदा-कदा उन्हें खुश रखने के लिये सम्मानित करते रहे ।

इनके काल में अशान्तिपूर्ण वातावरण होते हुये भी अनेको मन्दिर आदि के निर्माण कार्य सपन्न हुये । सन् 1864 के लगभग रामकुई पर नसिया जी के मन्दिर की स्थापना हुई । लगभग 1 वर्ष बाद ही छत्री बाजार स्थित मन्दिर का निर्माण हुआ । ग्वालियर मे खल्लाराम मुहल्ला मे स्थित मन्दिर भी इसी काल का बना हुआ है । सन् 1878 मे मामा के बाजार में भी एक जैन मन्दिर का निर्माण कार्य सपन्न कराया गया ।

सन् 1885 के लगभग महाराजा को जलोधर रोग हो गया जिसकी पीडा से परेशान होकर वे दिल बहलाने के उद्देश्य से यात्रा पर भी गये परन्तु दिनाक 20 जून 1886 के दिन बडे कष्टपूर्वक उनका प्राणात हो गया ।

इनकी मृत्यु के समय इनके पुत्र माधवराव केवल दस वर्ष के ही थे । परन्तु परम्परा के अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चत् उनका ही राज्याभिषेक कर दिया गया । अवयस्कता के काल मे अंग्रेजो द्वारा नियुक्त एक कौंसिल द्वारा सरदारो और अधिकारियो के सहयोग से राज्य कार्य का सचालन किया गया ।

सन् 1888 में मामा के बाजार मे एक दिगम्बर तथा सन् 1893 मे सराफा बाजार मे एक श्वेताम्बर जैन मन्दिरो का निर्माण करवाया गया । इनमें सराफा बाजार श्वेताम्बर मन्दिर अत्यन्त भव्य एव कलात्मक है ।

दिनाक 15 दिसम्बर 1894 के दिन इस क्षेत्र के गवर्नर जनरल ने एक समारोह में 30 हजार वर्ग मील मे फैले 32 लाख की आबादी और डेढ करोड की आयवाले तत्कालीन ग्वालियर के शासन का कार्यभार माधवराव सिंधिया को सौंप दिया ।

अँग्रेजों का सरक्षण होने के कारण ये सारे शासनकाल मे युद्ध आदि के भय से निश्चिन्त रहे । अत. प्रजा

के लाभ के कार्यों में अपना काफी समय दिया। इनके काल में क्षेत्र के सर्वांगीण विकास की ओर काफी ध्यान दिया गया। आपने सभी धर्मों को प्रगति का समुचित अवसर दिया। वे स्वय सभी धर्मों के विशेष उत्सवों मे भाग लेते थे।

इनके शासनकाल मे अनेको जैन मन्दिरों का निर्माण कार्य सपन्न हुआ। सन् 1903 मे मामा के बाजार में एक और जैन मन्दिर का निर्माण कराया गया, जो बड़ा मन्दिर मामा के बाजार के नाम से जाना जाता है।

माधवराव सिंधिया के काल में राज्य में अनेकों विकास कार्यक्रम संचालित हुए। इस बीच सम्पूर्ण देश मे काग्रेस और महात्मा गाधी के नेतृत्व मे स्वाधीनता आन्दोलन की लहर ने देशी राज्यो मे भी जन जागृति को प्रोत्साहित किया। ग्वालियर भी इससे अछूता न रहा। गांधीजी के विचारों में अहिंसा की प्रधानता ने जैनो को सर्वाधिक आकर्षित किया। ग्वालियर में 1917 ई. में श्री श्यामलाल पाण्डवीय ने ग्वालियर राज्य में "गल्प-पत्रिका" के नाम से सर्वप्रथम समाचार-पत्र प्रकाशित कर पत्रकारिता के माध्यम से राजनीति में प्रवेश किया। अपने उग्र विचारों के कारण वे कई बार दण्डित हुए व जेलयात्रा भी की। 30 अप्रैल 1938 को विदिशा के प्रसिद्ध अभिभाषक श्री तख्तमल जैन के सद्प्रयत्नो से ग्वालियर मे सार्वजनिक सभा की स्थापना हुई जो बाद मे ग्वालियर स्टेट काग्रेस में परिवर्तित हो गई। इसी क्रम मे समाजवादी विचारधारा के श्री भीकमचन्द जैन ने भी राजनीतिक एव जन-जागरण आन्दोलनो मे एव गतिविधियो में सक्रिय एव उल्लेखनीय भाग लिया। इनके अतिरिक्त अन्य कई जैन धर्मावलबियों ने भी ग्वालियर के राजनीतिक एवं सास्कृतिक विकास मे गतिशील योगदान दिया।

इस प्रकार ग्वालियर के सांस्कृतिक विकास मे जैनों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह् की है। ग्वालियर के इतिहास, साहित्य एव पुरातत्व का एक बड़ा भाग जैनों से प्रभावित रहा है। आज इस सम्बन्ध मे जो भी साहित्यादि प्रमाण उपलब्ध हैं, उनकी रक्षा मे भी जैनों ने अत्याधिक महत्वपूर्ण योग दिया है, उनके इस गुण के कारण सुरक्षित साधनो ने ही आज ग्वालियर के इतिहास के उपलब्ध ज्ञान को उजागर किया है, तथापि आज भी इसके बहुत से पक्ष लुप्त हैं, जिन्हें उजागर करने को पर्याप्त शोध की आवश्यकता है।

विविधा
नवम् खण्ड

समीक्षा एवं समालोचना

श्री २५००वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव वर्ष में प्रकाशित जैन साहित्य

तीर्थंकर महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों की शृंखला मे साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में किया गया कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय एव महत्त्वपूर्ण है। इस क्रम मे विभिन्न सस्थाओ तथा प्रकाशको द्वारा अनेकों प्राचीन एवं दुर्लभ कृतियों का प्रकाशन, उन पर टीकाएँ तथा आलोचनात्मक एव शोधपूर्ण सामग्री के साथ-साथ विविध अध्ययनपूर्ण, सामयिक एव ज्ञानवर्द्धक ग्रन्थों, संग्रहों एवं पुस्तकों का प्रकाशन किया गया है। ऐसी दशा में यह आवश्यक ही है कि इन प्रकाशनों पर विभिन्न दृष्टिकोण सामने आएँ, जिससे उत्कृष्ट श्रेणी के उच्चस्तरीय साहित्य के प्रकाशन को बल मिले; साथ ही अधिकाधिक प्रबुद्ध पाठकों को इसके सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य से यहाँ कुछ चुनी हुई पुस्तकों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

अंग सुत्ताणि (तीन खण्ड)

सम्पादक—मुनि श्री नथमल, वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान), मूल्य—प्रथम खण्ड—पिच्यासी रुपया—द्वितीय खण्ड—नब्बे रुपये, तृतीय खण्ड—अस्सी रुपया।

आचार्य श्री तुलसीजी के निर्देशन में मुनिश्री नथमल द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ आगम साहित्य के प्रकाशन मे महत्वपूर्ण कड़ी कहा जा सकता है। ग्रन्थ के सम्पादन मे मुनिश्री दुलहराजजी ने सहयोगी तथा सुदर्शनजी, मधुकरजी व हीरालालजी ने पाठ सशोधन के महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह किया है।

श्री 2500वा भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर जैन विश्व भारती द्वारा प्रथम ग्रन्थ-माला के रूप मे प्रकाशित इस ग्रन्थ मे ग्यारह अग ग्रन्थो के मूल संशोधित पाठोंको तीन खण्डो में प्रकाशित किया गया है।

प्रथम खण्ड में प्रथम चार अंगों आयारो (आचार), सूयगडो (सूत्रकृत), ठाड (स्थान) एव समवायो (समवाय) का सग्रह है। इनमे से आचारांग एव सूत्रकृतांग में प्रयुक्त आदर्शों मे चूर्णि एव वृत्ति के सन्दर्भ में पाठो को उनके तुलनात्मक एव गम्भीर समीक्षा के पश्चात्, "ठाड" में कुछ हस्त प्रतियों के आधार पर तथा "समवायांग" मे तीन प्राचीन आदर्श प्रतियो एव वृत्ति के आधार पर तैयार किया गया है।

द्वितीय खण्ड मे पांचवा अंग "भगवई" (भगवती सूत्र) प्रकाशित किया गया है, जिसे ताड़पत्र एवं कर्गलीय सात हस्तप्रतियो तथा आगमोदय-समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है।

तृतीय खण्ड में छह अगनायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्म कथा), उवासगदसाओ (उपासक दशा), अंतगड़दसाओ (अन्तकृतदशा), पण्हावागरणाइ (प्रश्न व्याकरण), और विवागसुयं (विपाक) का सग्रह है। इसमे भी कतिपय उपलब्ध ताडपत्रीय एव कर्गलीय हस्तप्रतियो के आधार पर पाठ सशोधनो के साथ अवशिष्ट अग-ग्रन्थो को प्रस्तुत किया गया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ आगम साहित्य के प्रकाशन की दिशा मे एक महत्वपूर्ण देन है। ग्रन्थ का सम्पादन उच्च कोटि का है, प्रबन्ध सम्पादक और प्रकाशन सस्था के आगम और साहित्य प्रकाशन के निदेशक श्रीचन्द्र रामपुरिया ने ग्रन्थ को सुन्दर बनाने मे काफी परिश्रम किया है। ग्रन्थ का मुद्रण एवं बाइण्डिग भी उत्तम कोटि का है। श्री जयचन्द्रलालजी सूरजमलजी गोरी परिवार (सरदारशहर) तथा श्री रामलाल हसराज गोलछा, (विराटनगर, भोपाल) ने ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु साधन उपलब्ध कराये है।

विषय और भाषा के पूर्व ऐतिहासिक क्रम को ध्यान मे रखते हुए अस्पष्ट तथा सदिग्ध पाठों को चूर्णियों एव वृत्तियों के आलोक मे निर्धारित कर उनके पाठ सशोधन सावधानी पूर्वक प्रस्तुत किये गए हैं। आगम-मूर्ति मुनिश्री नथमलजी एव आगम साहित्य के लिये समर्पित व्यक्तित्व श्रीचन्द्र रामपुरिया एवं उस दल के साधु-साध्वियों के अथक परिश्रम से जैन विद्या को इस ग्रन्थ में नवीन उपलब्धियाँ हुई हैं। इसके लिये साहित्य जगत आभारी रहेगा।

□

श्रमण महावीर

लेखक—मुनिश्री नथमल। सम्पादक—मुनिश्री दुलहराज प्रबन्ध सम्पादक—श्रीचन्द्र रामपुरिया। प्रकाशक—जैन विश्वभारती लाडनू (राजस्थान)। मूल्य—सोलह रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रमण महावीर के सम्बन्ध में उपलब्ध प्राचीनतम प्रमाणों के आधार पर भगवान महावीर के

जीवनदर्शन सम्बन्धी शोध-ग्रन्थ है। लेखक मुनि नथमल-जी ने अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थो एव उनके टीका ग्रन्थो मे उपलब्ध, चर्चित एव अचर्चित प्राय. सभी सन्दर्भो मे इस ग्रन्थ का सयोजन करने का प्रयास किया है। उन्मुक्त विचारक अमर मुनि के शब्दों मे "यह भगवान महावीर का प्रथम मानवीय चित्रण है।" अन्धकार मे छिपे अनेक स्त्रोतो का यह विवेचन आह्लादक ही नही है, वरन् अनेक नए तथ्यो को उद्घाटित भी करता है।

भाषा शैली की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ इतना सुन्दर बन पडा है कि, ऐसा प्रतीत होता है, मानो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय एव राष्ट्रीय रूपरेखा महावीरकालीन हो। ऐसे प्रसगो मे असग्रह का वातायन, अभय का आलोकन आदिवासियों के बीच प्रगति के सकेत, नारी का बन्ध विमोचन, सेवा, जातिवाद, जनभाषा, जनता के लिये, सहअस्तित्व, समन्वय की दिशा का उद्घाटन, सर्वजन-हिताय–सर्वजन सुखाय आदि प्रकरण पठनीय एव विचार-णीय हैं। तीर्थंकर की माता के सत्रह स्वप्नों (पृ० स० 2-3) का विचार अति नवीन है।

चरित्र, इतिहास, सस्कृत, भूगोल, दर्शन, आचार सिद्धान्त एव आध्यात्म का अद्भुत सयोजन एव औपन्यासिक शैली मे प्रस्तुत यह चरित्र ग्रन्थ सभी क्षेत्रो मे समादर प्राप्त करेगा, ऐसी आशा है।

□

कलम

रचियता—कल्याण कुमार जैन 'शशि'। प्रकाशक—बाबू आनन्द कुमार जैन सस्थान, रामपुर। मूल्य—तीन रुपया।

"कलम" आशुकवि श्री कल्याण कुमार जैन "शशि" का कार्य संग्रह है। कलमकार ने अपनी सशक्त कलम से सर्वथा मौलिक रचना को जन्म दे, जीवन के विभिन्न पहलुओ को छुआ है। उनकी रचनाए कहीं-कहीं हृदय को स्पर्श कर लेती हैं और मानवता की रस वर्षा करती हैं। निश्चय ही श्री शशिजी का यह काव्य सग्रह श्रेष्ठ एव अनूठी कृति है।

□

"खराद"—

रचियता—कल्याण कुमार जैन "शशि"। प्रकाशक—बाबू आनन्द कुमार जैन सस्थान, रामपुर। मूल्य तीन रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक मे कवि ने अपनी सशक्त काव्यशक्ति का परिचय देकर मुक्तको के माध्यम से मानवजीवन के विभिन्न पक्षो को कसौटी पर कसा है। "शशि" जी का प्रस्तुत सग्रह पाठकों को दृढ़नापूर्वक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करने मे निश्चित ही पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

□

पडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ

प्रबन्ध सम्पादक श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका। सम्पादक—सर्वश्री पं. मिलापचन्द्र शास्त्री, डा. कमलचन्द्र सोगाणी डा. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल। प्रकाशक—साहित्य शोध, विभाग, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी प्रबन्ध कारिणी समिति, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर। मूल्य—चालीस रुपया।

श्री महावीरजी, जैन दर्शन के मनीषी प्रकांड विद्वान पडित चैनसुखदासजी की साधना-स्थली रही है। उनकी स्मृति मे क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग द्वारा स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित कर उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की है। जैन विद्या का यह सुन्दर सन्दर्भ ग्रन्थ विषय-सामग्री की

दृष्टि से चार खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड मे पडितजी के प्रति भावभीनी श्रद्धाजलियाँ तथा तथा उनके जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर बत्तीस विभिन्न विषयो पर लेख तथा सस्मरण सग्रहित किए गये है जो पडितजीके बहुमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डालते हैं। द्वितीय खण्ड मे धर्म और दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर चौदह लेख, तृतीय खण्ड मे साहित्य एव सस्कृति मे सम्बन्धित उन्नीस लेखों तथा चतुर्थ खण्ड में इतिहास एवं पुरातत्व से सम्बन्धित विषयों पर तेरह लेखों का सग्रह है। द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ खण्डो में प्रकाशित लेखों में अधिकतर सामग्री शोधपूर्ण है, जिनके द्वारा जैन वाङ्गमय के कई अज्ञात एव लुप्त पक्षो को उजागर किया-गया है। कई शोधपत्र अत्यन्त उच्च-कोटि के हैं। सम्पादन व मुद्रण पर पर्याप्त परिश्रम किया गया है, जिसने ग्रन्थ को और भी सुन्दर बना दिया है।

□

चौबीस तीर्थंकर

लेखक—डा. गोकुलचन्द्र जैन। आशीर्वचन—आचार्य श्री तुलसी। प्रकाशक—पराग प्रकाशन, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली 32, मूल्य—छह रुपया।

पाकेट बुक आकार मे प्रकाशित प्रस्तुत पुस्तक में जनसामान्य के अध्ययन की दृष्टि से सरल भाषा तथा आकर्षक शैली में चौबीसों जैन तीर्थंकरों का सजीव चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में "आओ तीर्थंकर-बनें" शीर्षक से लेखक ने तीर्थंकर बनने की योग्यता का सशक्त विश्लेषण किया है, तत्पश्चात क्रमशः चौबीसो तीर्थंकरों का वर्णन है। विवादास्पद तत्वो के सन्दर्भ में लेखक ने अनेकान्तिक चिन्तन के आधार पर अनाग्रही दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है। यद्यपि-कुछेक तीर्थंकरों के बारे में अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया है, तथापि वह मननीय हैं। चौबीसों तीर्थंकरो के जीवनचरित्र तथा सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन के निर्माण में इन महापुरुषों की भूमिका पर प्रकाश डालनेवाली हिन्दी की यह प्रथम पुस्तक है।

□

जैन दर्शन की रूपरेखा

लेखक—एस. गोपालन। भाषान्तर—गुणाकर मुले,। प्रकाशक—वाईली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली। मूल्य—सोलह रुपया।

पुस्तक श्री एस. गोपालन की मूल अँग्रेजी पुस्तक Outlines of Jainism का हिन्दी अनुवाद है। यद्यपि पुस्तक में सक्षिप्त मे ही, जैन परम्परा के उद्गम से अद्युनातम् विकास का सर्वतोमुखी परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, तथापि पुस्तक में जैन सिद्धान्तों के सभी आवश्यक तत्वों का समावेश है। जैन ज्ञानमीमासा, मनोविज्ञान, तत्व मीमासा तथा नीतिशास्त्र के बारे में लेखक ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक विषय विवेचन किया है। पुस्तक का भाषान्तर भी उत्तम है। जैन दर्शन के विद्यार्थियों के लिये सरल भाषा तथा संक्षिप्ताकार में उपलब्ध यह अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है।

□

जैन सिद्धान्त भास्कर

(जुलाई 1975 भाग—28–1 किरण (The Jain Antiquary), जैन पुरातत्व सम्बन्धी षण्मासिक पत्र। प्रकाशक—श्री देव कुमार जैन ओरिएन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट एव जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार)। मूल्य-एक प्रति—दस रुपया, वार्षिक—बीस रुपया।

प्रस्तुत षण्मासिक पत्रिका जैन पुरातत्व सम्बन्धी अद्वितीय शोध पत्रिका है। जुलाई अक में "प्राकृत जैन स्रोतों का भक्ति एवं दर्शनमूलक विश्लेषण; गौतम गणधर

कृत ईसा से छः सदी पूर्व का दि. जैन ग्रन्थ, अपभ्रंश का अद्यावधि प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ "तिसट्ठमहापुराण-पुरिसआयारगुणालकार"; महान आचार्य बप्पभट्टसूरि का गौडेश्वर धर्मपाल, बौद्धाचार्य वर्द्धन कुंजर और कवि वाकपतिराज पर प्रभाव, जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, शीर्षको से सर्वश्री डा. केदारनाथ ब्रह्मचारी, एस. सी. दिवाकर, डा राजाराम जैन, अगरचन्द्र नाहटा' एव प्रो. उदयचन्द्र जैन के शोधपत्र प्रकाशित किये गए हैं। सभी शोधपत्र मौलिक तथा पुरातत्वीय अध्ययन एव शोध की दृष्टि से उच्चस्तरीय हैं। पुस्तिका जैन पुरातत्व मे शोधकार्य के दुष्कर कार्य की पूर्ति की दिशा मे विशेष महत्व की है।

□

जनरल आफ पूरनचन्द्र नाहर इन्स्टीट्यूट आफ जैनोलाजी (नवम्बर 75 एवं अप्रैल 76 अक)

सम्पादक—के. सी. ललवानी। प्रकाशक—पूरनचन्द्र नाहर इन्स्टीट्यूट आफ जैनोलाजी, कुमारसिंह हाल, 46 इण्डियन मिरर स्ट्रीट, कलकत्ता 13। मूल्य—प्रति अक दो रुपया, वार्षिक—पाँच रुपया।

स्व. पूरनचन्द्रजी नाहर की स्मृति मे स्थापित इन्स्टीट्यूट आफ जैनोलाजी द्वारा जैन विद्या पर शोध-कार्य को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से प्रकाशित यह पत्रिका शोध-पत्रिकाओ की श्रृंखला मे एक महत्वपूर्ण कड़ी है। पत्रिका का नवम्बर 75 अक पूरनचन्द्र नाहर शताब्दी अंक है जिसमे नाहरजी की सेवाओ के प्रति श्रद्धाजलियो एवं सस्मरणो के अतिरिक्त मुनिश्री सुशील कुमार व सर्वश्री ए. एन. उपाध्ये तथा भागचन्द्रजी के मौलिक एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये गए हैं।

अप्रैल 76 अंक में सर्वश्री के. सी. ललवानी, पूरनचन्द्र नाहर, डी पी. घोष, पी. वी. पडित, मुनिश्री रूपचन्द्र, अगरचन्द्र नाहटा, भवरलाल नाहटा तथा ज्योति प्रसादजी जैन के सात मौलिक, एव शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये गए हैं।

□

पडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

लेखक—डा हुकमचन्द्र भारिल्ल, प्रकाशक—प टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4 बापूनगर, जयपुर 4 मूल्य—सात रुपया।

इन्दौर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच डी. के लिए स्वीकृत यह शोध-प्रबन्ध आचार्यकल्प पडित प्रवर टोडरमल के जीवन, व्यक्तित्व और उनके सामाजिक, धार्मिक व साहित्यिक कार्यों का प्रामाणिक विवेचन कर उनका मूल्याकन प्रस्तुत करता है। पुस्तक की विषय-सामग्री-सात अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम अध्याय मे पूर्व धार्मिक व सामाजिक विचारधाराएँ और परिस्थितियाँ, द्वितीय अध्याय मे आचार्य प्रवर का जीवनवृत, तृतीय अध्याय मे आचार्य प्रवर की रचनाएँ और उनका वर्गीकरण तथा रचनाओ का परिचयात्मक अनुशीलन, चतुर्थ अध्याय मे वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार तथा विविध विचार, पचम अध्याय मे गद्य शैली, षष्टम मे भाषा तथा सप्तम मे उपसंहार· उपलब्धियाँ और मूल्याकन शीर्षको से पडितजी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का शोधपूर्ण विवेचन किया गया है। पडितजी के सम्बन्ध मे नवीन सन्दर्भो मे प्रामाणिक विवरण उपलब्ध करानेवाला यह शोध प्रबन्ध भाषा एव शैली की उत्कृष्टता के कारण अति सुन्दर बन पड़ा है।

□

तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ

लेखक - डा. हुकमचन्द्र भारिल्ल। प्रकाशक—प.

टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर। मूल्य—पु. स.—पाँच रुपया; पाकेट बुक—दो रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक डा. हुकुमचन्द्र भारिल्ल ने तीर्थंकर महावीर के जीवन और सिद्धान्तो का सक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। दो खण्डो में विभक्त इस कृति के प्रथम खण्ड में बालक वर्द्धमान से भगवान महावीर के केवलज्ञानी होने तक के जीवन की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। द्वितीय खण्ड में उनके द्वारा प्रवर्तित सर्वोदय तीर्थ का वर्णन है जिसमें उनके द्वारा प्रतिपादित मुक्ति मार्ग का सक्षिप्त विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत सप्त तत्व देवशास्त्र–गुरु, भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति का मार्मिक चित्रण है, तो सम्यक ज्ञान के अन्तर्गत अनेकान्त, स्याद्वाद और प्रमाण नय का तार्किक विवेचन है। सम्यक चरित्र की भी प्रामाणिक विवेचना की गई है। अन्त में उपसंहार शीर्षक से भगवान महावीर के सिद्धान्तों का आधुनिक सन्दर्भों में विवेचन किया गया है।

☐

दसवें आलिय

लेखक—मुनिश्री नथमल, वाचना—आचार्य श्री तुलसी। प्रकाशक-जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान)। मूल्य-पिच्यासी रुपया।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता के द्वारा प्रकाशित पूर्वोक्त सस्करण की समाप्ति के बाद जैन विश्वभारती ने दूसरे सस्करण के रूप में इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन किया है। ग्रन्थ मे, मूलपाठ के साथ सस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी का प्रकाशन कर इसे प्रथम संस्करण की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक एव सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयास किया गया है।

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। इसके दस अध्ययन हैं। विकाल मे रचा जाने के कारण इसका नाम दसवैकालिक रखा गया। ग्रन्थ के कर्ता श्रुतकेवली शय्यभव, रचनाकाल वीर सवत 72 के आसपास, तथा रचना स्थली "चम्पा" है। ग्रन्थ के सम्पादक-विवेचक मुनि नथमलजी ने ग्रन्थ के सम्पादन एवं विवेचन मे कडा परिश्रम कर इसे और उपयोगी एवं माननीय बना दिया है। आगम ग्रन्थों के प्रकाशन की श्रृखला मे यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण कडी है।

☐

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन

सम्पादक एव अनुवादक—मुनि नथनमल, सहयोगी—मुनि मीठालाल, मुनि दुलहराज, वाचना प्रमुख—आचार्य श्री तुलसी। प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)। मूल्य-पन्द्रह रुपया।

ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण में जैन आचार-गोचर और दार्शनिक विचारधारा के प्रतिनिधि दो महत्वपूर्ण आगम ग्रन्थों "दशवैकालिक" और "उत्तराध्ययन" का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। जैन परम्परा में उनका अध्ययन, वाचन और मनन बहुलता से होता है। दशवैकालिक मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि धर्म तत्वों और आचार-विचार का विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन है तथा उत्तराध्ययन मे वैराग्यपूर्ण कथा प्रसगों के द्वारा धार्मिक जीवन का अति प्रभावशाली चित्राकन तथा तात्विक विचारों का हृदय-ग्राही सग्रह किया है। पुस्तक का अनुवाद भाषा व शैली की दृष्टि से मूलता लिये हुए है।

आगम ग्रन्थों के प्रकाशन की श्रृखला मे मूल सूत्रों दशवैकालिक और उत्तराध्ययन के प्रस्तुत हिन्दी सस्करण

उन व्यक्तियो के लिये जो हिन्दी के माध्यम से आगामी का अनुशीलन करना चाहते हैं, एक नयी उपलब्धि होने से उनके लिये नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी ।

□

भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ में

सम्पादक—डा. नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, सह सम्पादक डा शान्ता भानावत । प्रकाशक—श्री अखिल भारत-वर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, समता भवन रामपुरिया सड़क, बीकानेर । प्रमुख वितरक—मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–7 । मूल्य–चालीस रुपया ।

पुस्तक मे विभिन्न विषयों पर राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त अधिकारिक विद्वानो के पचास लेखो, शोधपत्रो एव निबन्धों का सग्रह है । पुस्तक की सामग्री नौ खण्डो मे विभाजित की गई है । प्रथम खण्ड मे जीवन, व्यक्तित्व और विचार, द्वितीय खण्ड में सामाजिक सन्दर्भ, तृतीय खण्ड मे आर्थिक सन्दर्भ, चतुर्थ खण्ड में राजनीनिक सन्दर्भ, पचम खण्ड में दार्शनिक सन्दर्भ, षष्टम खण्ड मे वैज्ञानिक सन्दर्भ, सप्तम खण्ड में मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ, अष्टम खण्ड में सांस्कृतिक सन्दर्भ, एव नवम् खण्ड मे परिचर्चा शीर्षको के अन्तर्गत उच्चकोटि के लेखो एव निबन्धो द्वारा अनेको नवीन विषयो को छुआ गया है, जिससे नवीन सन्दर्भों में तीर्थंकर महावीर के सिद्धातों पर चिन्तन को बल मिला है । पुस्तक शोधार्थियो एव पाठकों के लिए नितान्त उपयोगी है ।

□

भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक—डा ज्योतिप्रसाद जैन । प्रकाशक—श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तरप्रदेश । प्राप्ति स्थान—श्री अजीत प्रसाद जैन, उपसचिव, श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ—226,004 । मूल्य—पचास रुपया ।

श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित "भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ" में विविध विषयों पर देश के सुप्रसिद्ध विद्वानो के लेखो को सुनियोजित ढग से सकलित कर विषय-सामग्री को सात खण्डो मे विभाजित किया गया है । जिनमे क्रमशः महावीर वचनामृत, महावीर स्तवन, महावीरः युग जीवन और देन, जैन धर्म, दर्शन और सस्कृति, शाकाहार, उत्तर-प्रदेश और जैनधर्म, तथा श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तरप्रदेश शीर्षको के अन्तर्गत विविध सामग्री संकलित की गई है । ग्रन्थ मे अस्सी के लगभग निबन्धो, लेखो तथा शोध-पत्रो का सग्रह है । अनेको लेख शोधपूर्ण एव उच्चस्तरीय होने से ग्रन्थ विविध विषयो पर एक उत्तम सकलन प्रस्तुत करता है ।

□

भरत बाहुबलि महाकाव्यम

प्रस्तुति—मुनिश्री नथमल । आशीर्वचन—आचार्य श्री तुलसी । अनुवादक—मुनि दुलहराज । प्रकाशक—जैन विश्वभारती-लाडनू (राजस्थान) । मूल्य—तीस रुपया ।

श्री पुण्य कुशलमणि द्वारा वि. स. 1641 से 1659 के मध्य विरचित सस्कृत महाकाव्य की दो उपलब्ध हस्तप्रतियो के आधार पर मुनिश्री नथमल द्वारा उसका पाठ सशोधन तथा त्रुटित श्लोक खण्डों की

पूर्ति सम्पन्न होकर मुनिश्री दुलहराजजी ने इसका सर्व-प्रथम सम्पादन तथा अनुवाद कर यह अद्यावधि अप्रकाशित महाकाव्य, मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशन किया गया है।

प्रस्तुत महाकाव्य में अठारह सर्ग एवं 535 श्लोक हैं। प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में सम्पादक ने प्रतिपाद्य विषय, श्लोक परिमाण, सलक्षण छन्दनाम, तथा सर्ग संक्षेप देकर अध्येताओं की सुविधा के लिये सर्गानुकूल भाव-भूमिका प्रस्तुत की है। प्रस्तुत महाकाव्य में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के दो पुत्रों भरत-बाहुबलि के जीवन के एक पक्ष-युद्ध से सम्बन्धित प्रसंग का काव्यात्मक वर्णन है। भरत बाहुबलि का जीवन बड़ा ही लोकप्रिय एव आह्लादकारी रहा है और इस पर अनेकों कवियो द्वारा स्वतन्त्र रचनाएँ की गई हैं परन्तु पुण्य कुशलमणि जी का यह महाकाव्य इन पुस्तकों की श्रृंखला मे अत्यधिक उच्च कोटि का माना जाता है। पुस्तक का अनुवाद भाषा एवं शैली की उत्कृष्टता के कारण मौलिक-सा प्रतीत होता है। ग्रन्थ के पूर्व, ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना में ग्रन्थ का साहित्यिक मूल्याकन किया गया है। आवरण पृष्ठ पर श्रवणबेलगोला की बाहुबलिजी की प्रतिमा के रेखाचित्र ने ग्रन्थ के बाह्य सौन्दर्य को दीप्तिमान कर दिया है।

□

महावीर श्री चित्रशतक

सम्पादक एव लेखक—कमलकुमार जी शास्त्री "कुमुद," कवि श्री फूलचन्द्रजी पुष्पेन्दु। प्रकाशक—भीकमसेन रतनलाल जैन, 1286 वकीलपुरा, देहली 110,006। मूल्य दस रुपया।

पुस्तक तीर्थंकर महावीर के सम्बन्ध में अपने प्रकार का अनूठा प्रकाशन है। पुस्तक के प्रारम्भ में भगवान महावीर के प्रति अनेकों राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कवियों द्वारा अर्पित काव्यमयी श्रद्धाजलि सम्बन्धी कविताओं का सग्रह है। तत्पश्चात् भगवान महावीर के जीवन-दर्शन व संदेश सम्बन्धी दो निबन्ध तथा काव्यमयी जीवन चक्र (हीयमान से वर्द्धमान) प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे भगवान महावीर चित्रशतक के अन्तर्गत सौ चित्रो तथा उनके काव्यमयी वर्णन के माध्यम से भगवान महावीर की पूर्व भवों से लेकर परिनिर्वाण तक की गाथा का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक भगवान महावीर के बारे में सर्वोपयोगी शैली में जन-सामान्य को जानकारी देने की दिशा में उत्तम प्रयास है।

□

वचन दूतम्

रचयिता—पं. मूलचन्द्र शास्त्री। प्रकाशक—साहित्य शोध विभाग, श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर। मूल्य—पांच रुपया।

प्रस्तुत काव्य सस्कृत के मन्दाक्रान्ता छन्द मे लिखित मेघदूत एवं पार्श्वाभ्युदय—शैली में रचित दूतकाव्य है। इसमे मेघदूत के पद्यों के चतुर्थ पाद की समस्यापूर्ति के साथ राजुल की अन्तर्वेदना का मार्मिक चित्रण है। शताब्दियों के उपरान्त एतादृश परम्पराशील रचना देखकर ऐसा विश्वास होने लगा कि संस्कृत मे सर्जनात्मक साहित्य की गति मन्द भले ही पड़ गई हो किन्तु अभी सर्वथा समाप्त नहीं हुई है। पुस्तक संस्कृत साहित्य की इस शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

□

वज्रङ्गावली-हनुमान

सम्पादक—कमल कुमार जैन शास्त्री 'कुमुद," फूलचन्द्र जैन 'पुष्पेन्दु' । प्रकाशक—मोकमसेन रतनलाल जैन, 1286, वकीलपुरा, देहली 6 । मूल्य–दो रुपया ।

जैन रामायण "पदम पुराण" मे हनुमानजी के सन्दर्भ में वर्णित स्थलो के आधार पर रचित यह खण्ड काव्य कविवर श्री ब्रह्मराय रचित "हनुमान चरित" का सशोधित स्वरूप है। जैन रामायण के सन्दर्भ में वज्राङ्गवली हनुमान का सुन्दर चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करनेवाली यह अपने प्रकार की अनूठी पुस्तक है।

□

समण सुत्तं (श्रमण सूत्रम्)

अनुवाद—पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, मुनिश्री नथमलजी, सस्कृत छाया परिशोधन–पं. बेचरदासजी दोशी। प्रकाशक—सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी,। मूल्य–पेपर बैक—दस रुपया, सजिल्द—बारह रुपया।

सर्वोदयी सन्त आचार्य विनोवा भावे की मूल प्रेरणा से भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित यह ग्रन्थ समन्वय के प्रतीक के रूप में सर्व प्रमुख उपलब्धि मानी जाती है। इससे पूर्व की तीन वाचनाएँ श्रमण सम्प्रदाय के एक वर्ग को मान्य नही थीं और लगभग पन्द्रह सौ वर्षों से दिगम्बरो और श्वेताम्बरों में अलगाव की दुःखद स्थिति चली आ रही थी। प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली मे सर्वमान्यता के लिये आयोजित सगति में सम्मिलित सभी आम्नायो के साधुओ, विद्वानो, श्रावको और सेवको की सर्वमान्य उपलब्धि है। इसे सर्वप्रथम क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी ने दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थो से कुछ सारभूत गाथाओ का संकलन कर सम्पादित किया। तत्पश्चात् सन्त कानजी स्वामी, दलसुख भाई मालवणिया आदि ने उसका सशोधन कर उसे "जिण धम्म" नाम दिया। उसका भी डा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी, मुनिश्री सुशील कुमार जी प्रभृति सन्तो एव मुनियों के सानिध्य में वाचनकर उसे अन्त मे "समण सुत्ताणि" नाम दिया।

ग्रन्थ की विषय-सामग्री को ज्योतिर्मय, मोक्षमार्ग तत्वदर्शन, एव स्याद्वाद नामक चार खण्डो और चवालीस प्रकरणों में विभक्त किया गया है। इसका मूलानुगामी–हिन्दी अनुवाद प कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, वाराणसी तथा मुनि श्री नथमलजी महाराज एव संस्कृत छाया परिशोधन प. बेचरदासजी दोषी, अहमदाबाद द्वारा सम्पन्न हुआ है। सर्व सेवा सघ वाराणसी के सचालक श्री कृष्णराज मेहता ने इस कार्य के सुयोजन एव प्रकाशन में प्रशसनीय एव चिरस्मरणीय कार्य किया है। सर्वमान्य होने के कारण यह पुस्तक जैन दर्शन मे रुचि रखनेवाले प्रबुद्ध पाठको हेतु अभूतपूर्व एव अद्वितीय उपलब्धि है।

□

ENGLISH

BHAGWAN MAHAVIRA AND HIS RELEVANCE IN MODERN TIMES

Editor – Dr. Narendra Bhanawat & Dr Prem Sagar Jain; Associate Editor—Dr V. P. Bhatt; Published by – Akhil Bharatvarshiya Sadhumargi Jain Sangha, Samta Bhawan, Rampuria Road, Bikaner (Rajasthan); Price–Twenty five Rupees.

The book is an embodiment of the great labour of the distinguished eminent scholares of almost all parts of India, deals with various subqects like Religion, Philosophy, Science, language and literature, etc. based on the teachings of Bhagwan Mahavira. The book corporates twenty nine articles on different topics depicting Tirthankar Mahavira's thoughts and teachings, few of which have been taken from the proceedings of various Seminars

□

JAIN TARKA BHASA

By — Dayananda Bhargava; Published by–Motilal Banarsidas, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi 7; Price – Twenty Rupees.

The present book is a popular tratise of well known Jain Logician Sri Yasovijaya Gani who flourished in the 17th century, and who, on account of his vast erudition in logic and mataphysics obtained the titles of Upadhyaya, Nyaya Visharad and Nyayacharya.

The work is divided in three Chapters, viz (i) Valid Knowledge – Pramana, (ii) knowledge from particular standpoints Nayas, and (iii) Imposition, – Niksepa. It also discusses Vyaptigraha, induction or process of ascertaining a universal connection between the middle term and the major term.

This work presents the viewpoints of the Non – Jaina opponents also, viz. Baneldhas, Naiyavikas, Sankhyas and it repudicates them in a very plain, simple and lucid way. It contains a literal english translation, notes and critical introduction An index of sanskrit words with their english meaning is also added.

□

LORD MAHAVIRA AND HIS TIMES

By – Dr. Kailash Chandra Jain; Published by – Motilal Banarsidas, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi 7; Price – Sixty Rupees.

The book deals with the history and culture of India during the age of Mahavira in the Sixth Century B. C. It discus-

ses the antiquity of Jainism by ascertaining the traditions of Jaina Scriptures with the recent archeological discussions and also describes the teachings of Lord Mahavira based on historical fact

The subject matter of the book is divided into ten chapters Chs I & II deals with the origin of Jainism, its antiquity and long continuous history depicting the circumstances that gave birth to lord Mahavira. Chs. III & IV are devoted to the life of the great Lord and his teachings. Chs V to VIII describe the religious sects, political conditions and institutions, social organrisations and economic planning in Mahavira's time. Ch. IX brings out the special features of art and architecture and gives in detail the description of currency produced during the period Ch. X describes the progress achieved in the literacy, technical and scientific fields The study is also documented with bibliography, general index & maps.

□

LORD MAHAVIRA IN THE EYES OF FOREIGNERS

Edited by — Akshaya Kumar Jain, Published by—Meena Bharti., 1508 Wazir Nagar, New Delhi 110,003, Price – Fourty Rupees

This book, as its title denotes, includes scholary contributions by eminent scholars from various parts of the world, who have beautifully sketched the ideal life of Lord Mahavira and brilliantly given expression to his noble teachings. This book, edited by Sri Akshaya Kumar Jain, eminent journalist & writer of the nation, starts with the massage of H. H. Muni Sushil Kumar, President to World Fellowship of Religions, New Delhi and forwarded by Dr Karan Singh, Minister of Health and Family Planning, Union of India. The book contains contribution of nine articles in all, from eminent scholars of the world, Mr Hermann Jacobi, Bonn, Mr Heinrich Zimmer, Germany; Mr. Max Weber, Mr. Paul Tuxen, Mr J N. Farquhar, Germany, Mr. A. C. Bouquet, Cambridge University, Mr Rev. E. Osbern Martin; Mr Edmund Buckley, U S. A; and Mrs N. R Guseva, U S. S. R.

Each article is thoroughly an original and documented piece of work with graphic narrations in a penetrating style. Altogether the book throws a new light on some of the important aspects of Jainism and could be regarded as a valuable addition to existing literature on Indian Religions

Employing the most authentic sources, the scholars have explored new fields in tracing the emergence of Jainism as a faith and have dealt in greater details with its multifarious aspects such as history and culture, language and literature,

religion and philosophy, art and architecture, customs and conventions, mythology and legend, reform and development.

☐

OUTLINES OF JAINISM

By – S. Gopalan, Centre of Advanced study in Philosophy, University of Madras; Published by – Wiley Eastern Limited, New Delhi; Price – Fourteen Rupees,

This book is an introductory work on Jain Philosophy with comprehensive coverage of the whole Jain tradition from its ancient beginings to the present day developments. The book is written in such a manner that it covers all the essentials in short and concise manner. The author, has made a sympathetic study of Jaina tenents; and his discussions about Jaina epistemology, psychology and metaphysics are thought provoking and testify to his scholarly approach to the subject.

The subject matter of the book is divided into five parts, viz – I Introduction, II Epistemology, III. Psychology, IV. Metaphysics and V. Ethics.

☐

TIRTHANKAR MAHAVIRA, LIFE AND PHILOSOPHY

By – VidwatRatna, S. C. Diwaker, Sastri; Published by – Jain Mitra Mandal, Dharam pura, Delhi, Price – Ten Rupees.

The book presents in brief, the life of Tirthankar Mahavira and Jain Teachings. This book contents 18 Chapters. Most of them are new and written for this book particularly and few of them are esseys and lectures of the author which were published as "Glimpses of Jainism" A new chapter "Gems of Jinavani". has been written so that the seekers after truth can enjoy the wisdom, depth, beauty and sublimity of Jain teachers and seers at a glance.

* * *

भगवान महावीर का पच्चीस सौं वा निर्वाण महोत्सव और ग्वालियर संभाग

एक रपट

भगवान महावीर के निर्वाण की पच्चीसवी शताब्दि पूर्ति के अवसर पर विश्वभर मे "भगवान महावीर महापरिनिर्वाण महोत्सव वर्ष" का आयोजन किया गया। इस अवसर पर भगवान महावीर के उपदेशो के प्रचार तथा प्रसार तथा लोक-कल्याण के उद्देश्य से अनेको मन्दिरो, कीर्ति-स्तम्भो, स्मारको एव लोक-कल्याणकारी सस्थानो के निर्माण, ग्रन्थ एव अन्य साहित्य प्रकाशन, बैद्धिक कार्यक्रम (प्रवचन, व्याख्यानमाला, परिचर्चा, गोष्ठी एव सभा आयोजन आदि), धार्मिक समारोह आदि के आयोजन के अनेकों कार्य सम्पन्न हुए अथवा प्रारम्भ किये गए। ग्वालियर सभाग के नागरिको ने भी इस पुनीत वर्ष मे यथाशक्ति विविध समारोहों का आयोजन किया तथा अनेको स्थाई निमार्ण कार्य एवं योजनाएँ प्रारम्भ की, जिनके द्वारा न केवल भगवान महावीर के उपदेशों का प्रचार-प्रसार सभव हुआ, वरन उनके मानव धर्म की भावना के अनुरूप अनेको मानव हितैषी लोक-कल्याणकारी योजनाएँ भी प्रारम्भ की गई जो ग्वालियर संभाग के नागरिको के लिये एक अभूतपूर्व उपलब्धि है।

आयोजन समितियों का गठन—सभाग के सभी जिलो मे तीन स्तरो पर इस वर्ष मे विभिन्न कार्यक्रमो के आयोजनार्थ विभिन्न समितियो का गठन किया गया। प्रथमत प्रत्येक जिले में जैन समाज के विभिन्न आम्नायो की जिला समितियाँ गठित हुई। इन समितियो की तहसील, विकास खण्ड एवं ग्राम स्तर पर भी शाखाएँ गठित की गई। द्वितीयत . सम्पूर्ण जैन समाज की सम्मिलित जिला समितियाँ गठित की गई तथा तृतीयत : शासकीय स्तर पर प्रत्येक जिला मुख्यालय पर जिलाध्यक्ष की अध्यक्षता मे जन समितियाँ गठित की गई। इन सभी समितियों ने अपने-अपने स्तर पर विभिन्न कार्य हाथ में लिये जिनके प्रयासो से ग्वालियर सभाग में उल्लेखनीय कार्यक्रम समारोह एव निर्माण आयोजित हुए।

धर्माचार्यों का आगमन एव मार्गदर्शन—समारोह वर्ष की योजनाओ को अनेकों आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त हुई। मुनि श्री चन्दनमलजी व उनका सघ इस सम्पूर्ण वर्ष मे ग्वालियर समाग मे विभिन्न स्थलों पर रहा व, वे, निर्वाण वर्ष के महत्व को प्रतिपादित करते हुए इस वर्ष में स्थायी महत्व के कार्यों के सचालन को निरन्तर प्रेरणा देते रहे। उन्होने निरन्तर चार चातुर्मास (1973–76) भी ग्वालियर में ही किये, तथा ग्वालियर मे निर्वाण वर्ष के कार्यक्रमों को मार्गदर्शन प्रदान किया। उनके अतिरिक्त निर्वाण वर्ष में दिगम्बर आम्नाय के भी चार प्रमुख आचार्य श्री 108 मुनिश्री सम्भव सागरजी महाराज, श्री 108 मुनिश्री वीर सागरजी महाराज, श्री 108 मुनिश्री पुष्पदत सागरजी महाराज तथा श्री 105 एलक सन्मत्त सागरजी महाराज अपने सघो सहित ग्वालियर पधारे और कुछ दिवसो ग्वालियर में रहकर धर्मप्रभावना की तथा निर्वाण वर्ष के कार्यक्रमो को प्रेरणा एव मार्गदर्शन प्रदान किया।

लोककल्याणकारी एवं निर्माण कार्य

मंदिर निर्माण :—इस वर्ष में ग्वालियर समाग में बारह नए मन्दिरों का निर्माण हुआ जिसपर लगभग 6.35 लाख रुपयों की लागत का अनुमान है। इनमें लश्कर मे श्री कन्हैयालालजी अग्रवाल द्वारा प्रदत्त दान से श्री पार्श्वनाथ ट्रस्ट ग्वालियर द्वारा लगभग 85 हजार रुपये की लागत से दानाओली में निर्मित "अहिंसा भवन एवं जिन मन्दिर", भिण्ड जिले के मौं ग्राम के जैन समाज द्वारा लगभग डेढ़ लाख रुपयों की लागत से एव शिवपुरी मे प्रमुखत. श्री नेमीचन्दजी गोंदवालों द्वारा प्रदत्त दान से लगभग दो लाख रुपयों की लागत से निर्मित जैन मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लश्कर मे श्री सत्यनारायण पहाडिया पर "जिन मन्दिर" दानाओली में "जैन भवन" तथा डबरा मण्डी में बर्दैया पचयाती मन्दिर" के नाम से तीन अन्य नवीन मन्दिरो का निर्माण हुआ। भिण्ड में मेहगाँव, फूफ तथा गोरमी ग्रामो मे; शिवपुरी जिले जिले के सिरसौद, गुना जिले के पिपरई; तथा मुरेना जिले के सबलगढ नामक स्थानो पर भगवान महावीर के मन्दिरो का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। इसी क्रम मे समाग में स्थित अनेको प्राचीन जैन मन्दिरो का विकास एव जीर्णोद्धार भी कराया, गया जिन पर लगभग डेढ लाख रुपये व्यय किये गए। इनमें माधवगंज मन्दिर लश्कर में पनिहार की प्राचीन एवं विशाल जिन प्रतिमाओ की पुनर्स्थापना व वेदी निर्माण, बडा मन्दिर, गस्त का ताजिया लश्कर में स्वर्णादि का कलात्मक कार्य नया बाजार मन्दिर लश्कर मे शिखर निर्माण, चंपाबाग मन्दिर लश्कर में नवीन वेदी निर्माण, वासपूज्य पंचायती मन्दिर ग्व लियर नगर में शिखर निर्माण तथा मगरौनी (शिवपुरी), आरौन (गुना) एव अम्बाह (मुरेना) में मन्दिर निर्माण कार्य प्रमुख हैं।

तीर्थंकर महावीर कीर्ति-स्तम्भ—देशभर में तीर्थंकर महावीर के उपदेशो के प्रचारार्थ स्थापित तीर्थंकर महावीर कीर्ति-स्तम्भों की श्रृंखला में ग्वालियर समाग में पन्द्रह स्थानों पर कीर्ति-स्तम्भों की स्थापना का निश्चय किया गया। ग्वालियर जिले में महावीर उद्यान, हायकोर्ट रोड, लश्कर, ग्वालियर में, भिण्ड जिले में भिण्ड नगर, मौ एव मेंहगाँव में; शिवपुरी जिले में शिवपुरी नगर व मगरौनी में, मुरैना जिले में मुरैना एव श्योपुर में; दतिया जिले में सिद्धक्षेत्र सौनागिरजी व दतिया नगर में; गुना जिले में गुना नगर, अशोकनगर व आरौन मे स्थापित होनेवाले कीर्ति-स्तम्भों में से अधिकतर का निर्माण कार्य लगभग पूर्ण भी हो चुका है व शेष का शीघ्र ही पूर्ण होने की आशा है। इनके निर्माण पर लगभग 5.25 लाख रुपयों के व्यय का अनुमान है।

महावीर भवन—भगवान महावीर के उपदेशो के प्रचारार्थ बहुउद्देशीय योजनाओं के क्रियान्वयन के उद्देश्य से केन्द्रीय समिति के निर्देश पर देश के प्रमुख केन्द्रो पर

धर्मचक्र-यात्रा
की
झलकियां

←धर्मचक्र के ग्वालियर आगमन पर आयोजित शोभा यात्रा का एक चित्र।

←इन्द्र के धर्मचक्र पर आरूढ़ श्री पारस कुमार गंगवाल को तिलक करते हुए जिलाध्यक्ष श्री रामकृष्ण गुप्त।

←धर्मचक्र के ग्वालियर आगमन पर उसके स्वागत के अवसर पर भाषण करते हुए ग्वालियर के जिलाध्यक्ष श्री रामकृष्ण गुप्त। चक्र वाहन पर विराजित श्री मानिकचन्द गंगवाल तथा खड़े हुए बांये से दांये—धर्मचक्र प्रवाचक डा. प्रकाशचन्द्र जैन, मानिक चन्द्र जैन एडवो., मिश्रीलाल पाटनी।

←सोनगढ़ (गुजरात) से भारत यात्रा के दौरान ग्वालियर पधारे धर्मचक्र की शोभा यात्रा का एक चित्र।

झलकियाँ

←**केशलुंचन समारोह**
(बांये से दाये)—श्री 105 क्षुल्लक धर्मसागर जी, श्री 108 मुनि संभव सागर जी, श्री 108 मुनि सुवर्ण सागर जी, व मुनि श्री चन्दनमल जी (प्रवचन करते हुए)।

←महावीर भवन निर्माण स्थल पर योजना का अवलोकन करते हुए प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदासजी बिरला, उनकी बांयी ओर प्रसिद्ध उद्योग विशेषज्ञ श्री दुर्गाप्रसादजी मंडेलिया तथा बांयी ओर महावीर न्यास के उपाध्यक्ष श्री रामअवतार शर्मा।

←(बायीं ओर)—श्री 108 मुनि संभव सागर जी धार्मिक प्रवचन करते हुए। (दाहिनी ओर)—प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदास जी बिरला को महावीर भवन की योजना समझाते हुए महावीर न्यास के महामंत्री श्री मानिकचन्द्र गंगवाल।

←(नीचे)—महावीर निर्वाण महोत्सव समारोह पर एक सभा को सम्बोधित करते हुए मध्यप्रदेश के मुख्य न्यायाधिपति न्यायमूर्ति श्री शिवदयाल जी।

"महावीर भवन" के निर्माण का कार्यक्रम निश्चित किया गया था। इस सन्दर्भ मे ग्वालियर में विशाल महावीर भवन के निर्माण का निश्चय किया गया। इस हेतु म० प्र० शासन से 60 हजार वर्गफीट भूमि की माग की गई, जिस पर शासन द्वारा कम्पू प्रागण मे 30 हजार वर्गफटी भूमि प्रदान कर दी गई है व शेष निकटवर्ती भूमि की प्राप्ति के प्रयास जारी हैं। इस विशाल भवन में एक आधुनिक आडिटोरियम, सभा, एव गोष्ठी कक्ष, शोध सस्थान पुरातत्वीय सग्रहालय, आध्यात्मिक ग्रन्थागार, पुस्तकालय एव वाचनालय, साधु, सन्त एव विद्वानो के विश्राम कक्ष, बालोद्यान एव पुष्पवाटिका होगे। इस पूरी योजना पर लगभग 20 लाख रुपयों का व्यय अनुमानित है। इसी क्रम मे दतिया जिला मुख्यालय पर भी एक लाख रुपयो की लागत से महावीर भवन के निर्माण की योजना है।

छात्रावास निर्माण एवं विकास—छात्रावासो के निर्माण एव विकास की दृष्टि से भी इस वर्ष मे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए जिनपर लगभग डेढ़ लाख रुपयो की लागत का अनुमान है। लश्कर स्थित "वीर जैन छात्रावास" मे "डा० ओकारप्रसाद दीवान स्मारक पुस्तकालय एव वाचनालय भवन", "श्री श्यामलाल पाण्डवीय स्टेडियम" तथा दस नये कमरो व विश्राति गृह का निर्माण किया गया। शिवपुरी मे श्री नेमीचन्द्रजी गोदवालो द्वारा तथा मौ ग्राम जिला भिण्ड मे स्थानीय जैन समाज द्वारा जैन छात्रावासो का निर्माण प्रारम्भ किया गया। इसी क्रम में भिण्ड नगर मे भी एक जैन छात्राव.स के निर्माण की योजना हाथ में ली गई है।

चिकित्सालय एवं प्रसूतिगृह—महापरिनिर्वाण वर्ष के अन्तर्गत विभिन्न स्थानो पर चिकित्सालयो एव प्रसूतिगृहो का निर्माण किया गया। इन पर लगभग ढाई लाख रु की लागत का अनुमान है। इस क्रम में ग्वालियर के उपनगर मुरार में शासन से नि शुल्क प्राप्त भूमि पर श्री सेठ दीपचन्दजी जैन मुरार द्वारा अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति के दान तथा जन सहयोग से "श्रीमती कस्तूरी देवी जैन प्रसूति गृह" का निर्माण प्रारम्भ किया गया। वयोवृद्ध समाजसेवी श्री श्यामलाल जी पाण्डवीय ने इसका शिलान्यास किया। इसके भवन निर्माण का कार्य लगभग पूर्ण हो चुका है व शीघ्र इसका प्रारम्भ होने की आशा है। इस पूरी योजना पर लगभग दो लाख रुपया व्यय होना अनुमानित है। इसके अतिरिक्त लश्कर मे नयाबाजार स्थित जैन मन्दिर तथा शिवपुरी जिले के सिरसौद एवं रन्नोद ग्रामो मे जैन औषधालय भवनों का निर्माण प्रारम्भ किया गया।

पुस्तकालय एव वाचनालय—लोक सेवा, शैक्षणिक प्रसार एवं चरित्र निर्माण के उद्देश्य से समाज में अनेको स्थानों पर पुस्तकालय एव वाचनालय प्रारम्भ किये गए। लश्कर मे श्री नया मन्दिर दानाओली श्री चपाबाग बीसपथी पचायती मन्दिर, जैन भवन दानाओली, तथा श्री वीर जैन छात्रावास में, भिण्ड जिले में भिण्ड नगर तथा मौ, मेहगाव एव अमायन ग्रामो मे; शिवपुरी जिले मे शिवपुरी नगर तथा सिरसौद एवं सुनारी ग्रामो में; गुना जिले मे साढ़ौरा, आरौन एव बामनखास ग्रामो में पुस्तकालयो एव वाचनालयो का प्रारम्भ तथा कही-कही इस हेतु भवन निर्माण का भी प्रारम्भ किया गया। इन पर लगभग पौने तीन लाख रुपयो का व्यय अनुमानित है।

महाविद्यालय विद्यालय एव पाठशालाऐं—समाज में शिक्षा प्रसार और चरित्र निर्माण के उद्देश्य से अनेको विद्यालयों एवं पाठशालाओं का निर्माण एव प्रारम्भ किया गया, जिन पर लगभग 5.4 लाख रुपयो के व्यय का अनुमान है। भिण्ड नगर मे "श्रीमती कुसुमबाई जैन कन्या महाविद्यालय" प्रारम्भ किया गया तथा इस हेतु भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। यहीं पूर्व से संचालित "जैन महाविद्यालय" मे दो बड़े कमरो का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त भिण्ड जिले मे मौ, अटेर, अमायन, परधना, गोहद, फूफ

एवं गोरमी ग्रामो में पाठशालाएँ प्रारम्भ की गईं। शिवपुरी जिले में शिवपुरी नगर तथा सिरसौद, मगरौनी, पोहरी, एव खनियाधाना में पाठशालाएँ प्रारम्भ की गईं। गुना जिले मे मुंगावली, ईसागढ, राघोगढ, अशोकनगर नामक कस्बों मे विद्यालय प्रारम्भ किये गए। मुरैना जिले मे मुरैना नगर में विद्यालय भवन निर्माण तथा अम्बाह, पोरसा, श्योपुर नामक कस्बों में पाठशालाएँ एवं विद्यालय प्रारम्भ किये गए। ग्वालियर जिले में, लश्कर में पार्श्वनाथ जैन मन्दिर, दानाओली, डबरा तथा मगरौनी मे पाठशालाएँ प्रारम्भ की गईं। इनके अतिरिक्त श्री 13 पथी दिगम्बर जैन मन्दिर माधवगज लश्कर मे तथा मुंगावली (गुना) में शिवणकला प्रशिक्षण विद्यालय प्रारम्भ किये गए।

धर्मशाला एव विश्रांति ग्रह—सभाग में अनेको नवीन धर्मशालाओ एव विश्राति गृहों का निर्माण तथा विकास किया गया जिन पर लगभग 22.5 लाख रुपयो का व्यय अनुमानित है। इनमें ग्वालियर में दिगम्बर जैन धर्मशाला, चिक सन्तर मुरार में सवा लाख की लागत से विशाल हाल निर्माण, शिवपुरी में श्री नेमीचन्द्र जी गोंदवालों द्वारा प्रदत्त दान एवं सहयोग से एक लाख रुपयो की लागत से नवीन धर्मशाला निर्माण, सिद्ध क्षेत्र श्री सौनागिरिजी में सवा बारह लाख रुपयो की लागत से एक नवीन धर्मशाला निर्माण तथा पुरानी धर्मशालाओं में नवनिर्माण एव विकास, मुरैना, गुना एव अशोकनगर मे एक-एक लाख रुपये लागत की नवीन धर्मशालाओ के निर्माण की योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। इनके अतिरिक्त ग्वालियर उपनगर में वासपूज्य पचायती मन्दिर धर्मशाला, भिण्ड जिले में फूफ, अमायन; शिवपुरी जिले में मगरौनी में; मुरैना जिले में श्योपुर नगर एव अम्बाह में; गुना जिले में थोवनजी व मुगावली में, ग्वालियर जिले में अमरौल में तथा दतिया जिले में दतिया नगर मे नवीन धर्मशाला निर्माण एव पूर्व स्थित धर्मशालाओ का विकास किया गया।

विभिन्न जैन सांस्कृतिक केन्द्रों के लिए सड़क निर्माण—निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर प्रदेश शासन द्वारा सम्बन्धित विभागो को पुरातत्विक महत्व के जैन सस्कृति के केन्द्रों एवं दर्शनीय स्थल तक के लिए पक्की सड़को के निर्माण के प्रयास किये गए जिनमे थोवनजी (गुना) एव एक पत्थर की बावडी (ग्वालियर दुर्ग) प्रमुख हैं। इस हेतु योजनाएँ निर्मित एव स्वीकृत भी की जा चुकी हैं परन्तु दुर्भाग्यवश अभी इनका क्रियान्वयन नही हो सका है।

अन्य विविध लोक कल्याणकारी कार्य—भगवान महावीर के महापरिनिर्वाण के अवसर पर विविध प्रकार के अनेकों जनसेवी एव लोक-कल्याणकारी कार्य भी सम्पादित किये गए। इन पर लगभग दो लाख रुपये व्यय किये गए। इनमे भिण्ड नगर, मौ फूफ (भिंड), शिवपुरी में कुआ निर्माण, अम्बाह (मुरैना), वामनधार, ईसागढ, अशोकनगर–(गुना) मे प्याऊ निर्माण तथा अम्बाह (मुरैना), भिण्ड नगर, मौ एव मेहगाव (भिण्ड) में बालोद्यान एव क्रीड़ागन निर्माण की योजनाएँ प्रारम्भ की गईं।

धार्मिक उत्सव एवं समारोह

धार्मिक समारोह—भगवान महावीर के पच्चीस सौ वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अवसर पर अनेकों धार्मिक समारोह आयोजित किये गए। ग्वालियर सभाग मे इस वर्ष में भिण्ड, शिवपुरी तथा पोरसा (मुरैना) में विशाल पच कल्याणक समारोह आयोजित हुए, जिनपर लगभग 6 5 लाख रुपये व्यय किये गए। इनके अतिरिक्त विभिन्न मन्दिरों आदि में तेरह द्वीप मण्डल विधान, सिद्ध चक्र मण्डल विधान, पचकल्याणक विधान, दस लक्षण विधान के पूजा समारोह, वरगोड़ा यात्रा, रथयात्राएँ, निर्वाण लाडू महोत्सव, सामूहिक क्षमा वाणी समारोहों आदि के अनेकों आयोजन किए गए, जिनमें अनेकों धर्माचार्यों एव विद्वानों के प्रवचन आयो-

जित हुए। भगवान महावीर के पाँचो कल्याण सम्बन्धी दिवसो पर एक-एक सप्ताह के कार्यक्रम आयोजित किये गए।

प्रदर्शनी—निर्वाण वर्ष मे स्थान-स्थान पर भगवान महावीर के जीवन-दर्शन-देन के सम्बन्ध मे जन-सामान्य को जानकारी देने के उद्देश्य से ग्वालियर मे दो प्रकार की प्रदर्शनियों के प्रदर्शन को सगठित किया गया नयामन्दिर, दानाओली की प्रबन्ध समिति के तत्वाधान मे एक प्राचीन साहित्य एव कला प्रदर्शनी सगठित की गई। इसमें प्राचीन जैन साहित्य, चित्र एव हस्तशिल्प, विभिन्न जैन तीर्थों के चित्र, प्रमुख जैन ग्रन्थ एव शास्त्रादि, सकलित किये गए हैं। इनमे स्वर्ण अक्षरी गुटके, चावल के एक दाने पर 35 अक्षरी णमोकार मत्र, स्फटिक-मरारि-पुखराज-पन्ना-कसौटी पाषाण आदि की जिन प्रतिमाए विशेष रूप से दर्शनीय हैं। जैन नवयुवक सघ, नया बाजार पचायती मन्दिर द्वारा "भगवान महावीर पच-कल्याणक प्रदर्शनी" सगठित की गई। इसमें चित्रमय झाकियो के द्वारा वर्द्धमान महावीर के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को सरल एव सुबोध शैली मे प्रदर्शित किया गया है। यह प्रदर्शनी देश के अनेको भागो मे लगाई गई जिसे लगभग ढाई लाख व्यक्तियो ने देखा।

धर्मचक्र स्वागत समारोह—राष्ट्रीय एव प्रान्तीय स्तर पर स्थापित समितियों द्वारा देशभर में धर्मचक्र का परिभ्रमण किया गया। ग्वालियर मे भी दो धर्मचक्र पधारे। प्रथमत. मध्यप्रदेश की राज्य समिति द्वारा इन्दौर से प्रारम्भ धर्मचक्र ग्वालियर पधारा। इस धर्मचक्र ने, सारगपुर, ब्यावरा, बीनागज, कुभराज, राघोगढ, रूठयाई, गुना, आरोन, साठोरा, अशोकनगर, ओडर, बहादरपुर मुगावली, चन्देरी, खनियाधाना, ईसागढ, कोलारस, शिवपुरी, अर्थाखेडा, बजरगगढ, छोटी बामोर, मुहारी कलाँ, चमरूड, नरवर, मगरौनी, पीरोठ, खतोरा, लुकवासा, शिवपुरी, डबरा, लश्कर, ग्वालियर, मुरार, गोहद, मौ, मेहगाव, गोरमी, भिण्ड, फूफ, अटेर, पोरसा, अम्बाह, बरेह, मुरैना, बामोर, जौरा, सबलगढ, श्योपुर-कलाँ, दतिया, सोनागिरि, करैरा, भितरवार व कैलारस स्थानो पर भ्रमण किया। सभी स्थानो पर इसके स्वागत मे ससारोह आयोजित किये गए व विभिन्न बोलियो तथा गुप्तदान के रूप मे 2,59,553 रुपये दानस्वरूप प्राप्त हुए।

तदुपरान्त सोनगढ से प्रारम्भ धर्मचक्र भी ग्वालियर पधारा। यह धर्मचक्र भी ग्वालियर सभाग मे अनेको स्थलो पर गया जहां इसके स्वागत मे विशाल समारोहो तथा इसकी शोभा यात्राओ का आयोजन हुआ। इस अवसर पर आयोजित विभिन्न सभाओ मे अनेको विद्वानो के प्रवचन हुए। धर्मचक्र के रक्षक, वाहक, ध्वजरक्षक आदि की बोली मे भी ग्वालियर सभाग के विभिन्न स्थानो से उल्लेखनीय दानराशि प्राप्त हुई।

प्रवचन, व्याख्यान, गोष्ठी, सभा एव सांस्कृतिक कार्यक्रम—समारोह वर्ष मे सभाग मे विभिन्न स्थानो पर अनेको प्रवचनो, सभाओ आदि के आयोजन किये गए। ग्वालियर मे पधारे (पूर्व वर्णित) विभिन्न धर्माचार्यों ने अपनी दैनिक सभाओ मे धार्मिक प्रवचन किये जिससे धर्म प्रभावना एव जनजागरण का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। मुनिश्री चन्दनमलजी सम्पूर्ण वर्ष यहीं रहे, उनके प्रवचनो से प्रभावित होकर अनेकों हरिजनो एव दलितों ने मासाहार एव मद्यपान त्याग के व्रत लिये एव इन दोषो का सामूहिक त्याग किया।

वर्ष के प्रारम्भ मे आयोजित निर्वाण महोत्सव सप्ताह मे वीर शिक्षा समिति व जैन नवयुवक सघ के सहयोग से वीर जैन छात्रावास मे एक सप्ताह तक जैन मेला आयोजित किया गया। इस अवसर पर परिचर्चा, गोष्ठी, युवक सम्मेलन एव वाद विवाद प्रतियोगिता आयोजित हुई। महावीर जयन्ती पर भी एक सप्ताह के कार्यक्रम आयोजत किये गए। इनमें सभा बाल-प्रतियोगिताए, खेलकूद एव सास्कृतिक कार्यक्रम प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त वर्ष भर अनेको अवसरो पर प्रवचन,

व्याख्यान, गोष्ठी, सभा, वादविवाद-खेलकूद, एवं सास्कृतिक प्रतियोगिताएँ, नाटक, नृत्य नाटिका, धार्मिक सगीत सभाएँ आदि आयोजित की गईं। वर्ष समापन के अवसर पर बीमपथी चम्पाबाग धर्मशाला, नई सड़क में जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा पाँच दिवसीय व्याख्यान माला आयोजित की गई। साथ ही स्थानीय समिति द्वारा धार्मिक एव सास्कृतिक कार्यक्रम एव सामूहिक रथयात्रा आयोजित की गई।

वर्षभर मे स्थानों-स्थानो पर अनेकों व्याख्यानों, परिचर्चाओं एव गोष्ठियों एव सभाओ के आयोजन किये गए जिनमें सर्वश्री मोहनलाल सुखाडिया, राज्यपाल तामिलनाडु, अगरचन्द नाहटा बीकानेर, डा० हुकुमचन्द भारिल्ल जयपुर, प० दयाचन्द शास्त्री सागर, मुख्यमंत्री श्री प्रकाश चन्द सेठी, लोकनिर्माण मत्री गुलाबचन्द तामोट भोपाल, गोरेलाल शुक्ल सदस्य म. प्र. राजस्व मडल ऋषि कुमार पाण्डे सभागीय आयुक्त ग्वालियर, श्यामलाल पाण्डवीय भू. पू. उद्योग मत्री ग्वालियर, श्रीमती ज्ञानवती सक्सेना जबलपुर, श्रीमती चन्द्रकला सहाय भू. पू. उप शिक्षामत्री ग्वालियर, ब्रिगेडियर पद्मश्री भुवन चन्द्र पान्डे, श्रीमती रूपवती किरण जबलपुर, एम. एन. देशपान्डे डायरेक्टर जनरल आर्कियालाजीकल सर्वे आफ इण्डिया दिल्ली, डा. वी. वी. लाल इन्सटीट्यूट आफ · डवान्स स्टडीज, शिमला, पं कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचाय वाराणसी, प० परसराम शास्त्री, इन्दौर, सरदारसिंह चोरड़िया ग्वालियर ब्र शकुन्तला देवी ललितपुर, भारतभूषण त्यागी ग्वालियर, डा. के. डी. वाजपेयी सागर, यशपाल जैन दिल्ली, हीरालाल श्रीमाल ग्वालियर, प डा. लालबहादुर शास्त्री दिल्ली, गोविन्दनारायण टण्डन कुलपति जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर, मिश्रीलाल गगवाल इन्दौर, डॉ महेन्द्र, सागर प्रचडिया अलीगढ़, देवकुमार सिंह कासलीवाल इन्दौर, बाबूलाल जैन जमादार बड़ौत (मेरठ), पं. श्यामसुन्दर लाल शास्त्री फिरोजाबाद प० मक्खनलाल शास्त्री मुरेना, प. ज्ञान चन्द वाणीभूषण विदिशा, प. राजमल शास्त्री भोपाल, प्रो. आर. सी मेहता ग्वालियर, मुख्य न्यायाधिपति शिवदयाल श्रीवास्तव, न्यायमूर्ति सी. एम. लोढा, न्यायमूर्ति यू. एन. वाच्छावन, न्यायमूर्ति एस आर. व्यास, पी. के. श्रीवास्तव ग्वालियर प अभयचन्द्र शास्त्री विदिशा, मिश्रीलाल चोधरी गुना, श्रीमती मायादेवी चोरडिया ग्वालियर, प. धर्मचन्द्र शास्त्री सागर, पं. कपूरचन्द्र बरैया ग्वालियर, सत्यन्धर कुमार सेठी उज्जैन, चन्दनमल वैद वित्त मत्री राजस्थान, प. हरिहर निवास द्विवेदी एडवो. ग्वालियर, रमेशचन्द्र खाडेकर पूर्व सांसद ग्वालियर, चन्द्र मोहन नागोरी पत्रकार ग्वालियर, रवीन्द्र मालव ग्वालियर, श्रीमती सुशीला खाण्डेकर ग्वालियर, आतमदास, पूर्व सासद ग्वालियर डा. धर्मवीर ग्वालियर, राजेन्द्र सिंह, लोक निर्माण राज्य मत्री, ग्वालियर, निर्मल कुमार जैन एडवो., डा. वीरेन्द्र गगवाल, ग्वालियर, आदि अनेक विद्वानो शिक्षाविदों एव समाजसेवियों के व्याख्यान आयोजित हुए।

भगवान महावीर के पच्चीस सौ वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर वर्ष भर ग्वालियर संभाग के कोने-कोने मे महावीर स्वामी के सन्देशों एवं उपदेशो के प्रचारार्थ अनेको कार्यक्रम आयोजित हुए, साथ-ही-साथ इस उद्देश्य से स्थाई रूप से कार्य करने हेतु विभिन्न संस्थाओं एव न्यासों का निर्माण तथा अनेको जनसेवी एव लोककल्याणकारी कार्यों का आयोजन एवं सम्पादन किया गया। ग्वालियर सभाग मे इस सन्दर्भ मे निर्मित ऐसी विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन पर लगभग चालीस लाख रुपयों का व्यय अनुमानित है। इस प्रकार भगवान महावीर का महापरिनिर्वाण महोत्सव ग्वालियर सभाग के जन-सामान्य को वर्षों स्मृत रहेगा व इस अवसर पर निर्मित विभिन्न स्मारक एवं लोक-कल्याण संस्थान आनेवाले युगों तक जन-सामान्य के प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे।

* * *

"महावीर भवन" शिलान्यास समारोह

ऊपर (वांये)—मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र जी सेठी को वैज लगाते हुए महावीर न्यास के मंत्री श्री मिश्रीलाल पाटनी। (ऊपर दांये)—महावीर भवन के शिलान्यास के अवसर पर भूमि पूजन करते हुए मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी।

मध्य में—महावीर न्यास के अध्यक्ष श्री सरदारसिंह चोरडिया, उपमंत्री श्री चन्द्रप्रभाष शेखर (वांये) तथा शिक्षामंत्री श्री अर्जुनसिंह (दाहिने) का स्वागत करते हुए।

नीचे (वांये)—मुख्यमंत्री श्री सेठी समारोह के अध्यक्ष वयोवृद्ध समाजसेवी श्री श्यामलाल पाण्डवीय भू. पू. उद्योग मंत्री का अभिनन्दन करते हुए। (दाहिने) महावीर भवन के शिलान्यास के अवसर पर आयोजित समारोह में सभा को उदबोधित करते हुए मुख्य अतिथि श्री प्रकाशचन्द्र सेठी।
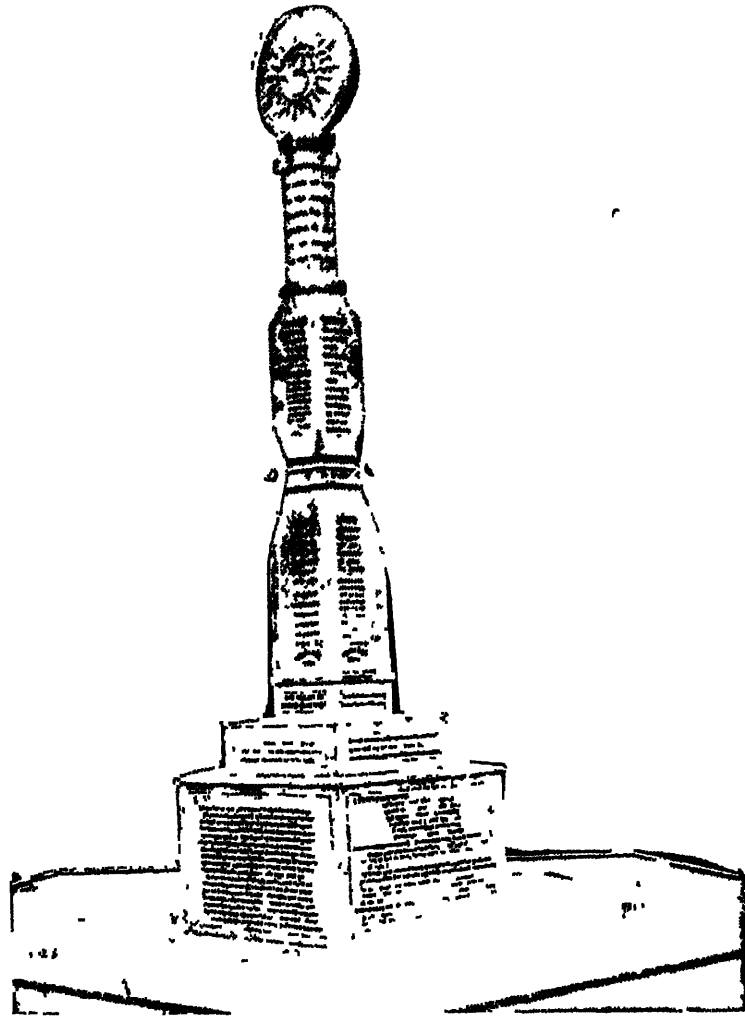
म. प्र. उच्च न्यायालय भवन के निकट स्थित "महावीर उद्यान"
में निर्मित "तीर्थंकर महावीर कीर्ति स्तम्भ"

भगवान महावीर महापरिनिर्वाण महोत्सव वर्ष की स्थाई उपलब्धि

"श्री २५००वाँ भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास"

एक रपट

तीर्थंकर महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव वर्ष के अन्तर्गत जहाँ राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय स्तर पर अनेको कार्यक्रमों एव समारोहों का आयोजन किया गया वहाँ विभिन्न स्तरो पर स्थायी प्रकृति के भी अनेको कार्य सम्पन्न हुए अथवा प्रारम्भ किये गए। ग्वालियर मे भी जिला स्तर पर कार्यरत शासकीय समिति तथा सामाजिक समितियो की परस्पर सहमति मे भगवान महावीर के उपदेशो के प्रचार, प्रसार तथा तत्सम्बन्धी स्थायी स्मारको के निर्माण, विकास, सरक्षण तथा सचालन आदि के उद्देश्य से स्थायी रूप से कार्य करने के लिये "श्री 2500 वाँ भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास, ग्वालियर" का गठन किया गया तथा यह निश्चित किया गया कि यह न्यास निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न कार्य करेगा।

उद्देश्य—

न्यास के निम्नलिखित उद्देश्य होंगे :

(क) भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव को स्थाई रूप देने के लिये ग्वालियर नगर के प्रमुख स्थान पर शासन द्वारा प्राप्त भूमि पर महावीर भवन का निर्माण करना एवं उसके साथ पुस्तकालय का भी प्रावधान करना एव उसमे महावीर की वाणी एव उनके उपदेशो को अकित करना तथा महावीर भवन का उनके सिद्धातो के अनुरूप उसका प्रयोग करना, सार्वजनिक उपयोग मे लाना।

(ख) भगवान महावीर के सिद्धांतो का प्रचार व प्रसार करना तथा उनकी स्मृति मे स्मारक,

पुस्तकालय, वाचनालय, स्वाध्याय भवन, सग्रहालय, सभा भवन, बाल क्रीडा केन्द्र आदि निर्मित करना ।

(ग) भगवान महावीर की स्मृति को स्थायी रूप देने हेतु पाषाण स्तम्भ, शिलालेख, अभिलेख, कीर्ति स्तम्भ, आदि का निर्माण करना, जिन पर भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित घटनाओ का अकन करना आदि ।

(घ) पुरातत्व, कला एवं स्थापत्य का सचित्र प्रामाणिक सर्वेक्षण करना तथा शास्त्रो से संकलित उपदेशों, सूक्तियों का सग्रह विभिन्न भाषाओ में करना ।

(च) भारतीय दर्शन, जैन दर्शन एव प्राचीन भारतीय संस्कृति, समाज, कला व स्थापत्य आदि विषयो पर शोध-कार्य करनेवाले छात्रो को पदक, छात्रवृत्ति अथवा शोधवृत्ति प्रदान करना तथा इस प्रकार के अध्ययन को प्रोत्साहित करना ।

(छ) भारतीय संस्कृति मे भगवान महावीर एव दर्शन का क्या योगदान है इस बाबत अंग्रेजी व भारतीय भाषाओ में अनुवादों, पुस्तिकाएं प्रकाशित कर जनसाधारण में वितरण करना ।

(ज) विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण सस्थाओ तथा नगर में समय-समय पर विचारगोष्ठियो, भाषण मालाओ, सेमीनारों आदि का आयोजन करना जिनमें भगवान महावीर के विशेष सिद्धान्त, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत आदि के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना और जीवाजी विश्वविद्यालय मे जैनोलॉजी पर रिसर्च अध्ययन हेतु पृथक् चेयर की स्थापना करना ।

(त) भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो तथा उपदेशों के प्रचार-प्रसार हेतु पत्र-पत्रिकाये, परचे, स्मारिकायें आदि का प्रकाशन ।

(थ) समय-समय पर स्वय या विभिन्न शैक्षणिक समाजसेवी सस्थाओ के सहयोग से भगवान महावीर एव उनके दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर वाद-विवाद, निबन्ध लेख, कहानी, चित्रकला पर प्रतियोगितायें आयोजित करना । विजयी प्रतियोगियों को पुरस्कृत करना आदि ।

(द) भगवान महावीर के धार्मिक सिद्धान्तों एव उपदेशो के प्रचार-प्रसार को रचनात्मक एव क्रियात्मक रूप देने हेतु उपरोक्त कार्यों से मिलते-जुलते अन्य कार्य करना ।

(प) सभी धर्मों मे सहिष्णुता एव सामजस्य का वातावरण निर्माण करना एव उसके लिये सर्वधर्म-सम्मेलन आदि का आयोजन करना

(फ) भगवान महावीर के सिद्धान्तों के अनुरूप जनसाधारण की आध्यात्मिक, सास्कृतिक, नैतिक उन्नति के लिये तथा उसकी ज्ञान वृद्धि के कार्य करना, उनको प्रोत्साहित करना तथा उक्त उद्देश्यो की पूर्ती हेतु सस्थायें स्थापित करना तथा इन उद्देश्यों के हेतु चल रही अन्य संस्थाओ, समितियो तथा सघो की सहायता करना ।

न्यास मण्डल हेतु दो प्रकार के सदस्य वर्ग रखे गए हैं। प्रथमतः सस्थाएँ एवं संस्थान, जो न्यूनतम ढाई हजार रुपया न्यास को प्रदान करें, तथा द्वितीयतः व्यक्तिगत सदस्य जो न्यूनतम एक हजार रुपया न्यास को प्रदान करें। न्यास को प्रारम्भिक सदस्य के रूप मे प्रथम वर्ग के तेईस (23) तथा द्वितीय वर्ग के बासठ (62) सदस्यो की स्वीकृति प्राप्त हुई। न्यास मण्डल

की प्रथम बैठक में न्यास का विधान स्वीकृत कर प्रथम कार्यकारिणी निर्वाचित की गई जिसमे श्री सरदारसिंह चोरड़िया अध्यक्ष सर्वश्री तेजमल हर्षावत, रामअवतार शर्मा तथा केशरीमल गगवाल उपाध्यक्ष, श्री मानिकचन्द्र गगवाल एडवोकेट महामत्री, सर्वश्री मानिकचन्द्र जैन, टीकमचन्द्र बापना तथा महेन्द्र कुमार जैन मत्री, तथा श्री गगाधर मरावगी कोषाध्यक्ष तथा बाईस अन्य महानुभाव कार्यकारिणी के सदस्य मनोनीत किये गए।

महावीर भवन

न्यास ने अपनी प्रारम्भिक गतिविधि के रूप मे जहाँ निर्वाण वर्ष मे ग्वालियर मे आयोजित प्रमुख कार्यक्रमो मे सक्रिय सहयोग दिया, वहाँ ग्वालियर मे स्थायी रूप से रचनात्मक गतिविधियों के सचालन हेतु "महावीर भवन" के रूप मे एक ऐसे स्थायी एव आधुनिक केन्द्र के निर्माण का निश्चय किया जिसमे एक विशाल सभाग्रह (आडीटोरियम) के अतिरिक्त शोध सस्थान, पुरातत्वीय सग्रहालय, कला वीथिका, अध्यात्मिक पुस्तकालय एव वाचनालय, साधु-सन्तो तथा विद्वजनो के स्वाध्याय एव विश्राम कक्ष की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हो। इसके निर्माण हेतु प्रसिद्ध वास्तुविद श्री लालधर एव ऐसोशियेट्स आर्कीटेक्टर एण्ड इन्जीनियर्स, नई दिल्ली से इसका डिजायन तथा एस्टीमेट तैयार कराया गया, जिसके अनुसार इस पर लगभग 20 लाख रुपया व्यय होने का अनुमान है। न्यास ने मध्यप्रदेश शासन से इस हेतु कम्पू मैदान मे 300 × 200 फीट का भूखण्ड प्रदान करने की माग की जिस पर शासन ने प्रारम्भिक रूप में 200 × 150 फीट का भूखण्ड लीज पर न्यास को प्रदान करने की स्वीकृति दे दी, शेष के लिये न्यास अभी भी प्रयासरत है।

कम्पू मैदान स्थित इस भूखण्ड पर बुधवार, दिनांक 17 जुलाई 1974 को प्रात दस बजे, मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमत्री माननीय प्रकाशचन्द्रजी सेठी द्वारा इस भवन की आधार शिला रखी गयी। इस अवसर पर वयोवृद्ध समाजसेवी श्री श्यामलालजी पाण्डवीय (भू०पू० उद्योग मत्री०,म०भा०शासन) की अध्यक्षता मे पदमा विद्यालय के सरस्वती भवन में उदघाटन समारोह मे पूज्य मुनि श्री चन्दनमल ने भी इस योजना को अपना आशीर्वाद दिया तथा न्यास अध्यक्ष श्री सरदारसिंहजी चोरडिया ने इस योजना का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया। इस अवसर पर शिलान्यास मे प्रयुक्त कन्नी एव तसली के विक्रय की बोली के रूप मे न्यास को चालीस हजार रुपयो के दान के भी वचन प्राप्त हुए। इसके साथ ही इस योजना के हेतु मध्यप्रदेश शासन से पचास हजार रुपये तथा नगरपालिक निगम, ग्वालियर से एक लाख रुपयो का अनुदान भी स्वीकृत किया गया।

न्यास मण्डल के विशेष अनुरोध पर देश के प्रसिद्ध उद्योगपति माननीय घनश्यामदास जी बिरला ने निर्माण स्थल पर दि 18 मार्च 1975 को उनके सम्मान मे आयोजित एक समारोह में भवन की योजना का अवलोकन किया तथा उस पर अपने सुझाव दिये। इस अवसर पर माननीय बिरलाजी ने 'महावीर भवन" के निर्माण हेतु उदारतापूर्वक ढाई लाख रुपयो की धनराशि दानस्वरूप प्रदान करने की घोषणा की। इस प्रकार न्यास को आर्थिक साधन जुटाने की दिशा में पर्याप्त एव प्रोत्साहक आश्वासन एव सहयोग उपलब्ध हुआ जिससे इसके निर्माण कार्य को शीघ्र पूरा करने के प्रयास किये गए।

स्थान के प्रसग को लेकर दुर्भाग्यवश नगर के कुछ राजनीतिक तत्वो ने अपने विरोध के माध्यम से उसे राजनीतिक रूप देने का प्रयास किया, फलस्वरूप निर्माण कार्य स्थगित कर दिया गया। इससे योजना के प्रोत्साहको को तीव्र वेदना हुई। न्यास मण्डल के अध्यक्ष श्री सरदारसिंह चोरडिया ने घोषणा की कि यदि नगर का एक भी व्यक्ति या वर्ग इसका विरोध करेगा तो न्यास, इस योजना को जो कि ग्वालियर के जन-सामान्य के हित मे एक अभूतपूर्व उपलब्धि के रूप मे

क्रियान्वित किया जाना है, स्थगित कर देगा। परिणामस्वरूप यह योजना विगत मे एक बडे अन्तराल तक स्थगित रही, परन्तु यह प्रसन्नता की बात है कि अब इस प्रकार के संकेत मिले हैं कि ग्वालियर के सभी वर्गों के नागरिक इसके निर्माण में तीव्र रुचि रखते हैं, व इसी स्थान पर इसके निर्माण के लिये पूर्ण सहयोग देने को तत्पर हैं। ऐसी आशा की जाती है कि परिवर्तित परिवेश मे शासकीय बाधाएँ भी शीघ्र ही समाप्त हो जावेंगी।

महावीर कीर्ति स्तम्भ—तीर्थंकर महावीर के 2500वें निर्माण महोत्सव वर्ष के अवसर पर देशभर में स्थापित कीर्ति स्तम्भों के निर्माण की शृंखला में न्यास ने ग्वालियर मे एक भव्य "महावीर कीर्ति स्तम्भ" की स्थापना का निश्चय किया। इस हेतु न्यास के निवेदन पर नगरपालिक निगम ग्वालियर के द्वारा मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय भवन के निकट स्थित उद्यान में "महावीर कीर्ति स्तम्भ" व "महावीर उद्यान" के निर्माण की स्वीकृति प्रदान करना स्वीकार कर लिया। तदनुरूप दिनांक 1375 सितम्बर 75 को नगरपालिक निगम, ग्वालियर के तत्कालीन प्रशासक श्री रामकृष्ण गुप्ता द्वारा उक्त कीर्ति स्तम्भ की आधारशिला रखी गयी। श्वेत संगमरमर से निर्मित तेईस फीट ऊंचा यह विशाल कीर्ति स्तम्भ अब पूर्णतः निर्मित हो चुका है, जिसके चारों ओर भगवान महावीर के प्रमुख उपदेश अंकित किये गए हैं। स्तम्भ के चारों ओर का उद्यान विकसित किया जा रहा है, जिसके शीघ्र पूर्ण होने की आशा है। ऐसी अपेक्षा है कि आगामी महावीर निर्वाण दिवस तक इस स्तम्भ का उद्‌घाटन भी सम्पन्न हो सकेगा।

भावी कार्यक्रम—न्यास के भावी कार्यक्रम के रूप में प्रमुख, 'महावीर भवन" का निर्माण है, जिसके आगामी वीर निर्वाण दिवस तक प्रारम्भ हो जाने की आशा है। इसके साथ ही उसमे संग्रहालय, पुस्तकालय एवं शोध संस्थान की स्थापना का कार्य भी हाथ में लिया जावेगा। महावीर भवन की सम्पूर्ण योजना के विकास के साथ ही आध्यात्मिक, शैक्षणिक तथा बौद्धिक विकास की दिशा मे ग्वालियर को इस महत्वपूर्ण संस्थान की बहुमुखी सेवाएँ उपलब्ध होंगी जो ग्वालियर के विकास को नई दिशा देगी।

इस सारे पुनीत कार्य मे अभी तक पर्याप्त जनसहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिये न्यास सौभाग्यशाली है। और ऐसी अपेक्षा है कि भविष्य मे भी उसे ऐसा ही सक्रिय जनसहयोग प्राप्त होना रहेगा और वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे सफल होकर ग्वालियर की बड़ी महत्वपूर्ण सेवा कर सकेगा।

* * *

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित

श्री २५००वां, भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव, व्याख्यान माला

एक रिपोर्ताज

श्री 2500वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर देशभर मे आयोजित विभिन्न कार्यक्रमो के क्रम मे जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला ग्वालियर के बुद्धिजीवी जगत के लिये अभूतपूर्व कार्यक्रम के रूप मे वर्षों तक अविस्मरणीय रहेगी, जिसमे निरन्तर पाँच दिवस तक विभिन्न विषयो पर देश के मूर्धन्य विद्वानो ने अपने उच्चस्तरीय एव शोधपूर्ण व्याख्यानों मे इस क्षेत्र के बुद्धिजीवियो के मध्य ज्ञानगगा प्रवाहित की।

जीवाजी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री गोविन्द-नारायण टण्डन ने दिनाक 6 नवम्बर 1975 को आयोजित उद्घाटन समारोह मे व्याख्यानमाला का उद्घाटन करते हुए अपेक्षा की कि यह व्याख्यानमाला देश की प्राचीनतम सस्कृतियो मे से एक जैन संस्कृति तथा देश की साहित्य सम्पदा के विशालतम भाग जैन वाङ्मय के अनेक लुप्त प्रसगो को उजागर करेगी और इस दिशा मे कार्य करने के लिये शोधार्थियों को आकर्षित करने के साथ-साथ जन-सामान्य को भी लाभप्रद ज्ञान उपलब्ध करायेगी। प्रथम दिवस के मुख्य वक्ता के रूप मे भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, नई दिल्ली के महानिदेशक श्री मधुसूदन नरहरि देशपाण्डे ने "जैन पुरातत्व एवं कला" विषय पर वृहद एवं सारगर्भित व्याख्यान दिया तथा पुरातत्व एव कला के सन्दर्भ मे जैनो के महत्वपूर्ण योगदान पर भी अपने विचार प्रकट किये। डॉ देशपाण्डे ने अपने व्याख्यान के क्रम में सन्दर्भित पुरातात्वीय स्थलो एव अवशेषो के स्लाइड्स का भी प्रदर्शन किया। सभापति डॉ. बृजवासीलाल, वरिष्ठ आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व अध्ययनशाला, जीवाजी विश्व-विद्यालय ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे ग्वालियर और इसके निकटवर्ती क्षेत्रो में जैन पुरातत्व एव कला के विशाल भण्डार का शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करते हुए इस दिशा मे वृहद शोध-कार्य तथा इस सम्पदा के सरक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित की।

द्वितीय सभा (दिनाक 7 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता के रूप मे स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य, जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान प कैलाशचन्द्र जी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य ने "भगवान महावीर : जीवन और दर्शन" विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए भगवान महावीर के पूर्व भवों की घटनाओं के तारतम्य में जैन दर्शन के विकास की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत कर तार्किक दृष्टि से उसका विवेचन किया तथा उसके महत्व पर प्रकाश डाला। सभापति बिरला उद्योगों के महा प्रबन्धक श्री सरदारसिंहजी चोरडिया ने तीर्थ कर महावीर और उनके दर्शन के मानवीय पक्ष का विवेचन प्रस्तुत किया।

तृतीय सभा (दिनाक 8 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, प्राचार्य एव अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ने अपने शोधपूर्ण एव सारगर्भित व्याख्यान मे "जैन मूर्तिशास्त्र" के दार्शनिक एव कलात्मक पक्ष की वृहद रूपरेखा प्रस्तुत कर इस सन्दर्भ में मध्यप्रदेश मे जैन मूर्तिकला के योगदान पर भी विचार प्रकट किये। सभा के अध्यक्ष प्रसिद्ध साहित्यकार श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने तोमर शासनकाल मे ग्वालियर में हुए मूर्ति स्खनन तथा जैन साहित्यकारों, कलाकारो के स्लाइड्स भी प्रदर्शित किये। साथ ही सन्दर्भित चित्रों के योगदान के सन्दर्भ मे शोधपूर्ण व्याख्यान दिया।

चतुर्थ सभा (दिनाक 9 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त साहित्यकार एव पत्रकार श्री यशपाल जैन, मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली ने 'वर्तमान युग मे भगवान महावीर के उपदेशों की सार्थकता" विषय पर अपने सारगर्भित व्याख्यान मे जैन दर्शन के वैज्ञानिक, व्यावहारिक, तथा समाज-शास्त्रीय पक्ष का सूक्ष्म विवेचन किया। सभापति न्यायमूर्ति श्री यू. एन. वाच्छावत ने भगवान महावीर के अहिंसा दर्शन और विश्व शान्ति के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता विषय पर विवेचनात्मक विचार प्रकट किये।

पचम एवं अन्तिम सभा (दिनांक 10 नवम्बर 1975) के अतिथि वक्ता जैन साहित्य एव इतिहास के मूर्द्धन्य एव अधिकारिक विद्वान श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर ने "जैन साहित्य" विषय पर अपने शोधपूर्ण एव सारगर्भित व्याख्यान मे भारतीय साहित्य मे जैन साहित्य के स्थान और उसके विकास एव योग-दान का सूक्ष्म विवेचन किया। सभा मे विशेष रूप से उपस्थित मुनि श्री चन्दनमलजी ने अपरिग्रह दर्शन की विवेचना की तथा सभापति श्री चन्दनमल वैद, वित्त मत्री, राजस्थान शासन ने तीर्थ कर महावीर और उनकी सामाजिक क्रान्ति विषय पर अपने विचार प्रकट किये।

व्याख्यानमाला के सयोजक जीवाजी विश्वविद्यालय महासभा एव विद्या परिषद् के सदस्य श्री रवीन्द्र मालव ने अत्यधिक कुशलतापूर्वक सभाओं का संचालन किया, तथा अतिथियों का परिचय प्रस्तुत किया। उप कुल-सचिव श्री घनश्याम गौतम ने विश्वविद्यालय की ओर से अतिथियो का स्वागत तथा आभार प्रदर्शन किया। पाँच दिवस तक आयोजित इन सभाओं में नित्य प्रति लगभग एक हजार की संख्या मे श्रोतागण उपस्थित हुए।

* * *

जीवाजी विश्वविद्यालयीन, महावीर महा परिनिर्वाण व्याख्यान माला

ऊपर (वांये से दांये)—व्याख्यान माला के प्रथम दिवस आयोजित उद्घाटन समारोह में (1) अतिथियों का स्वागत करते हुए व्याख्यान माला के संयोजक श्री रवीन्द्र मालव (2) उद्घाटन भाषण करते हुए कुलपति श्री गोबिन्द नारायण टण्डन (3) अतिथि वक्ता श्री एम. एम. देशपाण्डे द्वारा व्याख्यान, (4) सभापति श्री डा. वी. वी. लाल द्वारा अध्यक्षीय सम्बोधन, तथा (5) मंच का एक दृश्य।
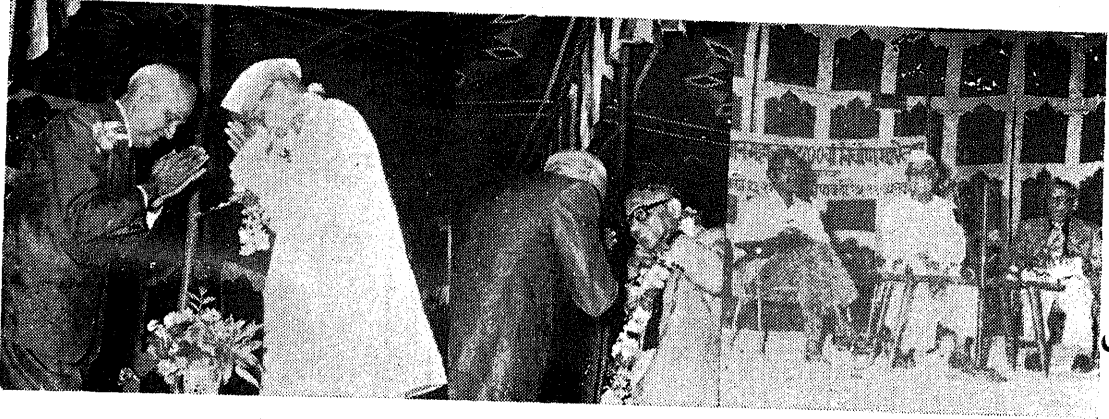
मध्य (वाँये से दांये)—द्वितीय सभा में (1) मुख्य वक्ता श्री पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य तथा (2) सभापति श्री सरदारसिंह चोरड़िया का स्वागत करते हुए कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन (3) मंच का एक दृश्य।

नीचे (वांये से दांये)—(1) तृतीय सभा के मुख्य वक्ता डा. के. डी. वाजपेयी, सागर व सभापति श्री हरिहर निवास द्विवेदी का स्वागत करते हुए कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन (2) मुख्य वक्ता डा. कृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा व्याख्यान।
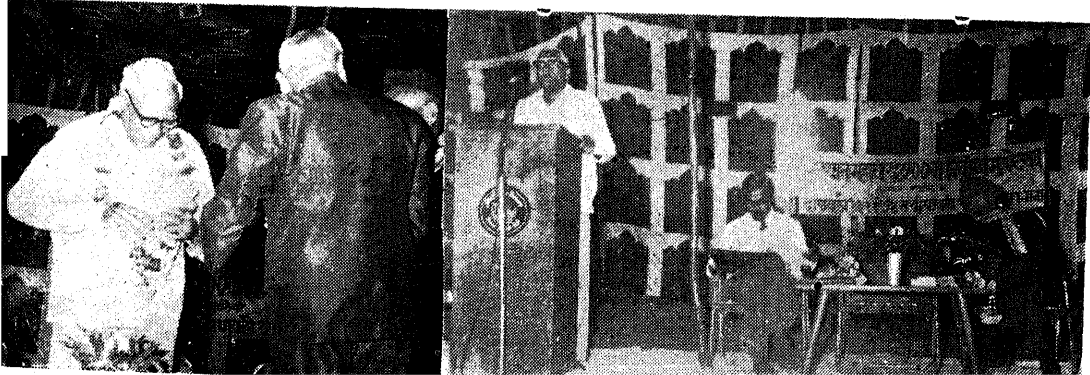
ऊपर (बांये से दांये)—चतुर्थ सभा में—कुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन द्वारा—(1) मुख्य वक्ता श्री यशपाल जैन दिल्ली, (2) सभापति जस्टिस यू. एन. वाच्छावत का स्वागत, (3) मुख्य वक्ता श्री यशपाल जैन द्वारा व्याख्यान।

मध्य (बांये से दांये)—(1) समापन समारोह के अवसर पर उप कुलसचिव श्री घनश्याम गौतम द्वारा मुख्य अतिथि श्री चन्दनमल वैद का स्वागत, (2) मुख्य वक्ता श्री अगरचन्द्र नाहटा, बीकानेर द्वारा व्याख्यान, (3) मुख्य अतिथि श्री चन्दनमल वैद द्वारा समापन भाषण।

नीचे (बांये से दांये)—मुनि श्री चन्दनमल जी द्वारा आशीर्वाद, (2) श्री सरदारसिंह चोरडिया द्वारा स्वागत भाषण, (3) उप कुलसचिव श्री घनश्याम गौतम द्वारा आभार, तथा (4) उपस्थित दर्शक समूह की एक झलक।
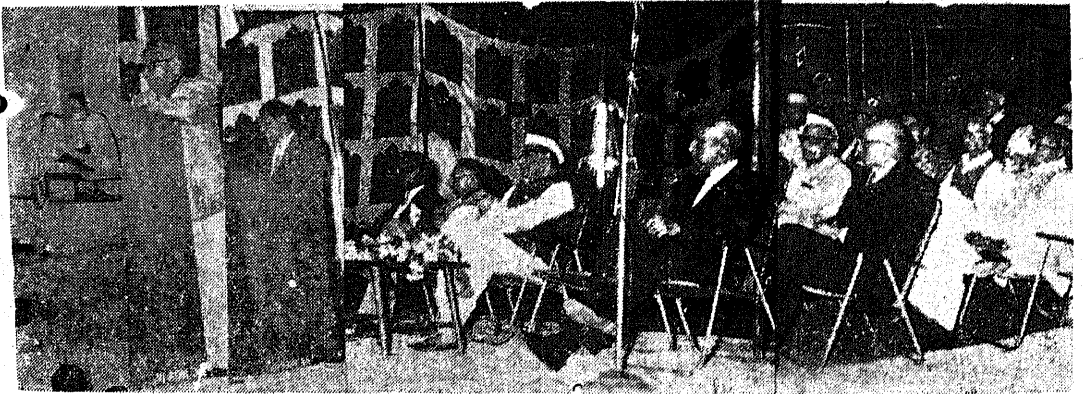
लेखक परिचय

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी

प्रतिष्ठित जैनाचार्य, आध्यात्मिक सन्त। प्रखरवक्ता एवं चिन्तक, भावनात्मक कवि। जैन धर्म एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान। अनेकों भाषाओं के ज्ञाता। श्रमण संस्कृति के प्रचारक एवं तदर्थ समर्पित। अनेकों काव्य रचनाएँ प्रकाशित। अनेकों पुस्तकों के रचयिता।

आचार्य श्री तुलसी जी

आध्यात्मिक सन्त एवं वक्ता। प्रतिष्ठित, जैनाचार्य, अनुशास्ता, प्रखर चिन्तक। अणुव्रत धर्म के प्रचारक एवं इसके माध्यम से राष्ट्र एव मानव मात्र के कल्याणार्थ, नैतिक चरित्र निर्माण के महान यज्ञ में संलग्न एवं तदर्थ समर्पित। अनेकों भाषाओं के ज्ञाता। जैन धर्म एवं दर्शन का विषद अध्ययन। अनेकों धर्म ग्रन्थों एवं पुस्तकों के रचयिता, सम्पादक, अनुवादक एवं प्रेरक। सन्तों की प्रतिष्ठित परम्परा। संघ के सहयोगी सन्तों के प्रेरक। संघ के द्वारा जैन आगम ग्रन्थों के सम्पादन, अनुवाद, एवं प्रकाशन का एतिहासिक कार्य।
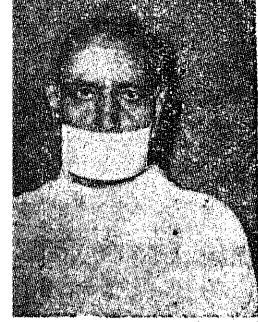
उपाध्याय मुनि विद्यानन्द जी

संत प्रवर, प्रखर अध्येता, चिन्तक, लेखक एवं वक्ता। श्रमण संस्कृति के समन्वयकारी उन्नायक, विश्वधर्म के प्रणेता। दक्षिण भारत के शेडवाल (वेलग्राम) में एक सम्पन्न परिवार में जन्म : दिनांक 22 अप्रैल 1922 ई०। श्री 108 मुनि शांत सागर विद्यालय शेडवाल में अध्ययन, तदुपरान्त वहीं आचार्य-प्रधानाचार्य। 1942 की जनक्रान्ति में कारावास यात्रा। तपोमूर्ति श्री 108 आचार्य महाकीर्ति महाराज से ब्रह्मचर्य दीक्षा, साधनारत रहकर पार्श्वकीर्ति नाम से क्षुल्लक अवस्था में दीक्षित, 25 जुलाई 63 को श्रद्धेय श्री 108 आचार्य देशभूषणजी महाराज की प्रेरणा से परम दिगम्बर मुनिधर्म में दीक्षित होकर मुनि विद्यानन्दजी महाराज के नाम से विभूषित। बद्रीनाथ व जोशीमठ जैसे दुर्गमतम स्थानों सहित देश के सुदूर क्षेत्रों में दिगम्बरत्व स्वरुप में पदयात्रा कर श्रमण संस्कृति का प्रसार किया। संस्कृत हिन्दी, कन्नड, मराठी, अँग्रेजी, तामिल, गुजराती भाषाओं एवं संगीत में निपुण। अनेकों ग्रन्थों एवं पुस्तकों के रचयिता।

मुनि श्री नथमल जी

जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान, प्रखर विचारक, लेखक। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के वरिष्ठ सहयोगी। हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता। अनेकों दुर्लभ आगम ग्रन्थों का सम्पादन तथा संशोधन एवं पूर्ति कर उन्हें प्रकाशित किया। अनेकों शोधग्रन्थ, मौलिक ग्रन्थ, तथा टीकाएँ प्रकाशित। सम्पर्क—आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)।

मुनि श्री चन्दनमल जी

प्रखर लेखक-कवि, अपभ्रंश एवं प्राकृत के मूर्द्धन्य विद्वान, प्रभावशाली वक्ता। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के वरिष्ठ सहयोगी। हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत, अँग्रेजी भाषाओं के ज्ञाता। ग्वालियर के एक मध्यमवर्गीय प्रतिष्ठित परिवार में जन्म, किशोरावस्था में ही साधुत्व की दीक्षा ग्रहण की। अनेकों काव्य संकलन, प्राकृत ग्रन्थ, मौलिक रचनाएँ, शोध-प्रबन्ध प्रकाशित।

अगरचन्द नाहटा

हिन्दी व राजस्थानी के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान व लेखक; जैन धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला के विशेषज्ञ। जैनाचार्य श्री कृपाचन्द्रजी सूरी की शिष्यमंडली की प्रेरणा से जैन वाङ्मय के अध्ययन को प्रेरित। राजस्थान के महान कवि श्री समाजसुन्दर पर सर्वप्रथम शोधकार्य से शोध प्रवृतियों को प्रेरित। अपने बड़े भाई की स्मृति में "अभय जैन ग्रंथालय" की स्थापना कर इसमें हजारों ज्ञात-अज्ञात कवियों व लेखकों की पैंतालीस हजार मुद्रित व साठ हजार प्राचीन हस्तलिखित एवं दुर्लभ पुस्तकों का विषद संग्रह किया। अपने पिताश्री की स्मृति में "श्री शंकरदान कला भवन" की स्थापना कर इसमें प्राचीन एवं कलात्मक सामग्री का संग्रह किया। हजारों ज्ञात-अज्ञात कवियों व लेखकों के साहित्य का विषद अध्ययन व उन पर शोधकार्य कर लुप्त साहित्य को प्रकाशवान किया। प्राचीन साहित्य, इतिहास, कला, दर्शन व धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों पर चार हजार से भी अधिक शोधपत्र, लेख व निबन्ध प्रकाशित। लिखित व सम्पादित 45 ग्रन्थ प्रकाशित एवं लगभग 20 यंत्रस्थ। अनेकों पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन। अनेकों शोध छात्रों को मार्गदर्शन व सहयोग। सम्पर्क—नाहटों की गुवाड़, बीकानेर (राजस्थान)।
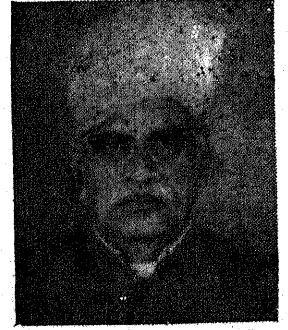
डा. अमरनाथ पाण्डेय

एम. ए., डी. फिल. । अध्यक्ष—संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी। संस्कृत व हिन्दी, साहित्य के प्रखर विद्वान, प्रखर चिन्तक, सशक्त लेखक। संस्कृत साहित्य के अनेकों विषयों पर शोधकार्य। सैकड़ो शोधपत्र एव निबन्ध तथा पुस्तकें प्रकाशित। "मार्ग दर्शन में अनेकों शोध छात्र डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित, तथा अनेको तदर्थ कार्यरत। सम्पर्क—60, अध्यापक निवास, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
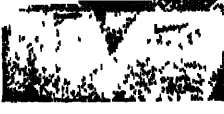
उषा किरण जैन

एम. ए, बी एड., रि. स्का, । लेखिका, सामाजिक कार्यकर्ता, विदुषी। जन्म 20 दिसम्बर 1949। अनेकों समाजसेवी संस्थाओ से सम्बद्ध। समाजसेवी एव रचनात्मक कार्यों मे तीव्र अभिरुचि। विभिन्न सामाजिक विषयो पर समय-समय पर अनेकों लेख एव निबन्ध तथा शोधपत्र प्रकाशित। सम्पर्क—प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र, कुशलगढ, बासबाडा (राज.)।

श्रीचन्द्र जैन

एम. ए., एल-एल. बी.। हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार। जन्म—22 जनवरी 1910। चीफ सेक्रेटरी तथा जिलाधीश पदों पर कार्य, तदन्तर शिक्षाजगत में प्रवेश। रीवा, खरगौन, ग्वालियर, एवं जबलपुर मे विभिन्न महाविद्यालयो मे प्राध्यापक एव विभागाध्यक्ष पदो पर कार्य किया, अवकाश प्राप्ति के बाद से सन्दीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उज्जैन में प्राचार्य एव अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, के रूप में कार्यरत। लगभग तीस पुस्तकें प्रकाशित। अनेको रचनाएं पुरस्कृत। लोक साहित्य में विशेष अभिरुचि। सम्पर्क—मोहन निवास, कोठी रोड, विश्वविद्यालय मार्ग, उज्जैन (म. प्र.)।

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

जैन धर्म व दर्शन के मूर्द्धन्य एव अधिकारिक विद्वान, प्रबुद्ध चिन्तक एवं विचारक तथा ओजस्वी वक्ता। जन्म–कार्तिक शुक्ल द्वादशी, सवत् 1960, नहटौर जिला बिजनौर। श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में अध्ययन और सन् 1927 से उसी में अध्यापन। महाविद्यालय के अनेक वर्षों तक प्राचार्य रहे; वर्तमान मे सेवानिवृत। प्रकाशित कृतियाँ–जैनधर्म, जैन साहित्य का इतिहास (3 भाग), भ. ऋषभदेव, नमस्कार मत्र, न्याय कुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) की प्रस्तावना, जैन न्याय, दक्षिण भारत में जैन-धर्म। अनूदित तथा सम्पादित–उपासकाध्ययन, कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह, तत्वार्थ सूत्र, सत्प्ररूपणा सूत्र, स्वामी कीर्तिकेयानुप्रे, नयचक्र। सम्पादक–जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञानपीठ; जैन सन्देश। भूतपूर्व अध्यक्ष, भा दि. जैन विद्वत्परिषद्। मत्री–साहित्य विभाग, भा. दि जैन सघ। सदस्य- -परामर्श समिति, भारतीय ज्ञानपीठ। सम्पर्क—स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी (उ. प्र)।

डा. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री। प्रतिष्ठित साहित्यकार एवं इतिहासकार; इतिहास रत्न एव विद्यावारिधि की उपाधि द्वारा अलंकृत। गत 30 वर्षों से साहित्यिक जगत की सेवा में रत। अनेकों शोधपत्र, निबन्ध, लेख व लगभग 20 पुस्तकें प्रकाशित। प्रमुख कृतियाँ–'राजस्थान के जैन संत, व्यक्तित्व एव कृतित्व" (पुरस्कृत, महाकवि दौलतराम कासलीवाल—व्यक्तित्व एवं कृतित्व" (पुरस्कृत), राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ सूची (5 भाग) का सम्पादन। निर्देशक–साहित्य शोध विभाग, श्री अतिशय क्षेत्र महावीरजी। जैन दर्शन तथा इतिहास के विभिन्न विषयों पर सतत् शोधकार्य में रत। सम्पर्क–साहित्य शोध विभाग, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर।

डा. कैलाशचन्द्र जैन

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट. । प्रतिष्ठित इतिहासकार एव पुरातत्व वेत्ता । जन्म--21 अप्रैल 1930 मरोठ (राजस्थान)। महाराजा महाविद्यालय, जयपुर, शासकीय महाविद्यालय, अजमेर; व राजऋषि कालेज, अलवर, मे प्राध्यापक रहे । 1964 से, अध्यक्ष — प्राचीन भारतीय इतिहास एवं सस्कृति विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन । सदस्य-इन्टरनेशनल कान्फ्रेन्स आफ ओरियन्टलिस्ट्स, 1963, आलइण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स, इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस, इन्स्टीट्यूट आफ हिस्टोरिकल स्टडीज, एपीग्राफीकल सोसायटी आफ इण्डिया, न्यूमिस्मैटिक सोसायटी आफ इण्डिया। प्रकाशन— Jainism in Rajasthan, Ancient cities and towns of Rajasthan, Malwa through the Ages, Lord Mahavira & his times, प्राचीन भारत मे सामाजिक एव आर्थिक सस्थाएँ। लगभग 70 शोधपत्र प्रकाशित। गत बीस वर्ष से शोधकार्य में रत । 1966 मे उल्लेखनीय शोधकार्य हेतु राजस्थान शासन द्वारा पुरस्कृत । सम्पर्क--मोहन निवास, देवास रोड, उज्जैन 456 001 ।

डा. कृष्णदत्त वाजपेयी

पी-एच. डी. । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं पुरातत्त्व वेत्ता। मथुरा, लखनऊ में क्यूरेटर सागर विश्वविद्यालय में टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष—प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति विभाग । अध्यक्ष, न्यूमैस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया। उपाध्यक्ष, एपीग्राफीकल सोसायटी आफ इण्डिया । भारतीय अभिलेख सस्था। नैलसन राइट इण्डिया मैडिल (भारतीय मुद्रा परिषद से सम्मानित), ऐशियेटिक सोसायटी, कलकत्ता से आर. पी. चन्दा मैडिल। बिड़ला म्यूजियम के अध्यक्ष। लगभग 26 पुस्तकें प्रकाशित । 450 शोध प्रबन्धों के मार्गदर्शक। 28 शोध छात्रो को मार्गदर्शन में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त। त्रिपुरी, एरन व देवगढ में उत्खनन एव पुरातत्वीय शोधकार्य। सम्पर्क--अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

कल्याण कुमार जैन "शशि"

प्रसिद्ध आशुकवि राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता। जन्म—8 मार्च 1918। सन् 1930 में असहयोग आन्दोलन में जेलयात्रा। अनेकों बार सम्मानित। "पार्श्वनाथ पूजन" पर पुरस्कृत (1972)। देश के प्रमुख पत्रों तथा पत्रिकाओं में सैकड़ों काव्य रचनाएँ प्रकाशित। सम्पर्क—जैन फार्मेसी, बाजार नसरुल्ला खां, रामपुर (उ. प्र.)।
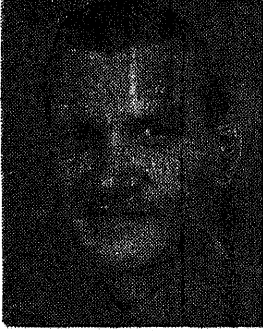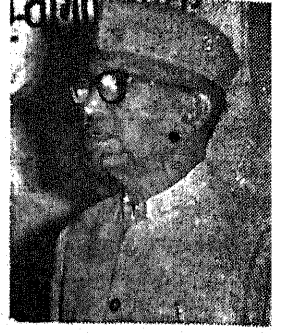
गुलाबचन्द्र जैन

बी. ए., एल-एल. बी.। भारतीय संगीत, जैन धर्म-दर्शन व संस्कृति के अधिकारिक विद्वान, प्रखर वक्ता, प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता। कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (म. प्र.)। जन्म—22 जुलाई 1924। प्रसिद्ध जैन विद्वान स्व. मेघराज मुनोत के सुपुत्र। जैन धर्मशास्त्र, तथा कानून विषयों में विषद अध्ययन। संविधानिक विधि के विशेषज्ञ। जैन धर्म दर्शन व संस्कृति से सम्बन्धित विविध विषयों पर अनेकों सम्मेलनों में व्याख्यान। अ. भा. श्वेताम्बर जैन एसोशियेसन के द्वारा जून 1976 में उप राष्ट्रपति द्वारा प्रदत्त स्वर्ण पदक से सम्मानित। पूर्व अध्यक्ष—शिक्षा समिति, जनपद सभा खैरागढ़; पूर्व मानसेवी सचिव—वीरेन्द्र को-आपरेटिव बैंक, पूर्व कोषाध्यक्ष एवं पूर्व सदस्य कार्यकारणी—इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय। सम्पर्क—कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (म. प्र.)

गोविन्द नारायण टण्डन

एम. ए. (अर्थशास्त्र)। अर्थशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान। जन्म—20 मई 1916। कुलपति—जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर। विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर में अर्थशास्त्र विभाग में व्याख्याता (1939-43) एवं प्राध्यापक (1943-48) रहे। प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, ग्वालियर (1948-58)। प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय, गुना (1958-61)। प्राचार्य, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर (1961-64)। कुलसचिव, इन्दौर विश्वविद्यालय, (1964-73)। विभिन्न विश्वविद्यालयों में अनेकों समितियों के सदस्य रहे। सम्पर्क—गांधी रोड, ग्वालियर।
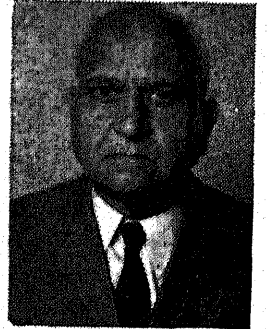
जी. आर. जैन

एम. एस-सी. । भौतिकशास्त्री, जैन विज्ञान के अधिकारिक विद्वान, प्रखर चिन्तक, प्रतिष्ठित लेखक एव समाजसेवी । जन्म-2 दिसम्बर 1902, श्रीनगर (गढवाल), उ. प्र. । डा. मेघनाथ शाह, एफ. आर एस. और डा. नीला रत्नधर जैसे प्रखर वैज्ञानिको के मार्गदर्शन में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय मे शिक्षा। व्याख्याता-भौतिकशास्त्र (1926-28), मेरठ कालेज, मेरठ । विक्टोरिया कालेज, तथा माधव इन्जीनियरिंग कालेज, ग्वालियर मे भौतिकशास्त्र विभाग के अध्यक्ष तथा प्राध्यापक रहे । जैन धर्म-दर्शन पर विशद अध्ययन । बाल्यावस्था से जैन जीवन-दर्शन में दीक्षित । सातवीं कक्षा मे पाच सौ रुपये मासिक से अधिक ग्रहण करने का परिग्रह परिमाण व्रत लिया तथा उसका जीवन पर्यन्त पालन किया । पाच सौ रुपये से अधिक प्राप्त समस्त आय जीवनभर दान की । पूर्व अध्यक्ष, जैन एसोशियेसन, वीर शिक्षा समिति, ग्वालियर । कर्तव्यप्रधान जीवन के दृढ़ संकल्पी । विज्ञान और दर्शनशास्त्र पर लगभग बारह पुस्तकें प्रकाशित । महत्वपूर्ण प्रकाशन—कास्मोलाजी (ओल्ड एण्ड न्यू), प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। सम्पर्क—विजय भवन 223/5 थापरनगर, मेरठ 1।

चन्दनमल वैद

प्रसिद्ध लोकनेता एवं समाजसेवी । स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया । अनेको समाजसेवी सस्थाओ तथा कांग्रेस संगठन मे विभिन्न पदों पर रहे । राजस्थान शासन मे विभिन्न विभागों का कुशलतापूर्वक दायित्व निर्वहन । मत्री—वित्त, स्वास्थ्य एव परिवार नियोजन विभाग । ओजस्वी वक्ता तथा प्रभावशाली लेखक । सम्पर्क—वित्त मत्री, राजस्थान शासन, जयपुर ।

ज्योति प्रसाद जैन

विद्यावारिधि–एम. ए, एल-एल. बी., पी-एच. डी, इतिहास रत्न। जैन इतिहास, संस्कृति और साहित्य के प्रौढ़ मनीषी एवं अधिकारिक विद्वान। जन्म—सन् 1912, मेरठ। अनेकों शैक्षणिक एवं समाजसेवी संस्थाओं मे सम्बद्ध। अनेको बार सम्मानित। इतिहासरत्न एव विद्यावारिधि की उपाधियों से विभूषित। सैकड़ों शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित। प्रमुख पुस्तकें—Jaina's Sources of Ancient India Jainism, The oldest Religion, Religion & culture of the Jains, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, रुहेलखण्ड कुमायूं और जैनधर्म, प्रकाशित जैन साहित्य, हस्तिनापुर, तीर्थंकरों का सर्वोदय मार्ग, आदि। सम्पादक—Voice of Ahimsa। जैन सन्देश (शोधांक), जैन सिद्धान्त भास्कर, आदि शोध पत्रिकाएँ। इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत एण्ड जैनोलोजी, वैशाली की काउन्सिल के सदस्य। प्रधान संचालक—अखिल विश्व जैन मिशन। सम्पर्क—ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ, 226-001।

टी. के. टुकोल

एम ए, एल-एल बी.। न्यायमूर्ति—उच्च न्यायालय, बैंगलौर, कर्नाटक। पूर्व कुलपति-बैंगलौर विश्वविद्यालय। प्रसिद्ध विधिवेत्ता, जैन धर्म एव दर्शन के प्रखर विद्वान। जन्म–8 मई 1908, गुड्डूर (बीजापुर)। बम्बई विश्वविद्यालय मे द्वितीय स्थान प्राप्तकर अँग्रेजी साहित्य मे स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की (1931)। सहायक प्राध्यापक, (अँग्रेजी साहित्य)—फर्गूसन कालेज (पूना)। जिला न्यायालय बीजापुर में वकालत प्रारम्भ की (1934)। न्यायाधीश मनोनीत हो न्यायिक सेवा में (1938)। देशी राज्यों के विलय के सम्बन्ध में विधिक परामर्शदाता के रूप मे विशेष अधिकारी मनोनीत (1948-50)। अतिरिक्त जिला. एवं सत्र न्यायाधीश—कोल्हापुर (1950)। जिला एव सत्र न्यायाधीश (1955)। भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के अन्तर्गत विशेष न्यायाधीश एवं इलैक्शन ट्रिब्यूनल के सदस्य के पदों पर कार्य। अति. विधि सचिव (1957), विधि सचिव (1961) मैसूर। मैसूर उच्चन्यायालय मे न्यायमूर्ति मनोनीत। कुलपति—बंगलौर विश्वविद्यालय (19 9-72)। लखपति भाई दलपत भाई इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलाजी में "Sallekhna is not Suicide, विषय पर तीन व्याख्यान। प्रकाशित पुस्तकें—"Compendium of Jainism" (Sardar Patel University), Saying of Bhagwan Mahavira". सम्पर्क—कुबेर निवास, 115 एलीफेन्ट रोक रोड, जयनगर, बैंगलौर, 560,0 11।

डा. दरबारी लाल कोठिया

एम. ए., पी-एच. डी । दर्शन शास्त्र के प्रख्यात विद्वान, जैन दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित, प्रख्यात आध्यात्मिक वक्ता । जैन धर्म व दर्शन पर शोधकार्य व तदर्थ मार्गदर्शन । लगभग दो सौ शोधपत्र व निबन्ध प्रकाशित । अनेकों पुस्तकें प्रकाशित । सम्पर्क—चमेली कुटीर, 1|128 डुमराव कालौनी, अस्सी, वाराणसी-5 ।

डा. पदमचन्द्र जैन

एम. बी. बी. एस. । प्रबुद्ध लेखक, सेवाभावी चिकित्सक एवं सामाजिक कार्यकर्ता । मेडीकल कालेज, अजमेर से प्रथम श्रेणी में एम. बी. बी. एस. परीक्षा उत्तीर्ण की । चिकित्सा विज्ञान, प्रमुखत: शाकाहार चिकित्सा-शास्त्रीय पक्ष तथा भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विषय पर अनेकों लेख प्रकाशित । सम्पर्क—मेडीकल आफीसर, पी. एच. सी., कुशलगढ़, जिला बांसवाड़ा, (राजस्थान)

परमानन्द जैन शास्त्री

जैन दर्शन एवं साहित्य के प्रखर विद्वान । जन्म—श्रावण वदी चतुर्थी, सं. 1965 वि. । निदेशक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा और दिल्ली (1936-72)।लगभग 325 महत्वपूर्ण शोधपरक लेख प्रकाशित, जिनसे अनेक लुप्त साहित्यिक एवं ऐतिहासिक तथ्य प्रकाशित, तथा तत्सम्बन्धी अन्वेषित सामग्री संकलित । सम्पादक—अनेकान्त (मासिक शोध पत्रिका) । लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थ—मोक्षमार्ग प्रकाशक, सुख की एक झलक (प्रथम भाग), अनुभव प्रकाश, चिद्विलास, जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, जैन महिला शिक्षा संग्रह, प्राचीन जैन इतिहास (द्वितीय भाग), महावीर परम्परा और पश्चातवर्ती राजाओं का परिचय, हिन्दी जैन कवियों का इतिहास, आदि । अनुवाद—समाधितंत्र इष्टोपदेश, एकीभावस्त्रोत आदि । सम्पर्क—एफ 95, जवाहर पार्क, वेस्ट लक्ष्मीनगर दिल्ली 51 ।

डा. श्रीमती पुष्पलता जैन

एम. ए. (हिन्दी, भाषा विज्ञान), पी.-एच. डी. । प्रबुद्ध साहित्यकार लेखिका एवं समालोचक । जन्म —20 सितम्बर 1942, सागर । अनेकों समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध । हिन्दी में भाषा विज्ञान पर शोधकार्य पर डाक्टरेट की डिग्री से सम्मानित । लगभग तीस शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित । प्रकाशित पुस्तकें मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में रहस्य भावना । सम्पर्क—न्यू एक्सटेन्शन एरिया, सदर, नागपुर ।

परिपूर्णानन्द वर्मा

राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त लेखक एव विचारक, प्रतिष्ठित समाजसेवी, ओजस्वी वक्ता। अनेकों साहित्यिक एव समाजसेवी सस्थाओं से सम्बद्ध। अध्यक्ष, आल इण्डिया क्राइम प्रिवेन्शन सोसायटी। पचास के लगभग पुस्तके तथा पाच सौ के लगभग लेख व निबन्ध प्रकाशित। अनेकों पुरस्कृत। प्रमुख रचनाएँ–अपराध–अपराधी और अभियुक्त, तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ, ऐसा-वैसा, नारी रत्न, पतन की परिभाषा, प्राणदण्ड, बालरत्न, भारत की विभूतियाँ, मृत्युदण्ड की प्रथा और इतिहास, मेरा प्रणाम, रूप और रुपैया, प्रतीकशास्त्र, मरघट का मुर्दा, आत्महत्या और वासना के अपराध। सम्पर्क—4 लक्ष्मीरतन बगला, कालपी रोड, कानपुर 12।

डा. बृजबासी लाल

एम. ए., पी–एच. डी.। प्रख्यात इतिहासकार एवं पुरातत्व वेत्ता। पूर्व निदेशक–आर्कियोलाजीकल सर्वे आफ इण्डिया, भारत शासन। पूर्व अध्यक्ष—प्राचीन भारतीय इतिहास एव संस्कृति विभाग, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर। वर्तमान में, निदेशक—पुरातत्व विभाग, इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडीज, शिमला। रामायणकालीन स्थलों के उत्खनन के महत्वपूर्ण कार्यों में संलग्न। ऐतिहासिक महत्व के अनेकों स्थलों के उत्खनन का निर्देशन कर भारतीय इतिहास एव संस्कृति के अनेकों लुप्त पक्ष उजागर किये। अनेकों शोधपत्र एवं निबन्ध प्रकाशित। सम्पर्क—निदेशक, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, इन्स्टीट्यूट आफ एडवान्स स्टडीज, राष्ट्रपति निवास, समर हिल, शिमला, (हिमाचल प्रदेश) 171005।

डा. भागचन्द्र जैन

एम. ए. (सस्कृत; पालि; प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व), साहित्याचार्य, साहित्य रत्न, पी–एच. डी (सीलोन)। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ, जैन साहित्य के प्रखर विद्वान। जन्म—1 जनवरी 1939 बम्होरी, छतरपुर (म. प्र.) अनेक शैक्षणिक व समाजसेवी संस्थाओ से सम्बद्ध व उनमें विभिन्न पदो पर सेवारत। अध्यक्ष—पालि—प्राकृत विभाग एव प्राध्यापक—पालि—प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर। प्रकाशित पुस्तकें— Jains in Buddhist Literature, बौद्ध सस्कृति का इतिहास, चतु शतकम् (सपा. अनु) पातिलोक्ख (सपा. अनु.), पालिकोस सग्रहो (सपादन), जैन धर्म और सस्कृति, भ. महावीर और उनका चिन्तन, जैन सस्कृति का इतिहास, भारतीय संस्कृतीला बौद्ध धर्माचे योगदान (मराठी), लगभग अस्सी शोध निबन्ध प्रकाशित। सम्पादन—रत्नत्रय (मासिक) कोल्हापुर। सम्पर्क—न्यू एक्सटेन्शन एरिया, सदर, नागपुर।

डा. महावीर सरन जैन

एम.ए., डी. फिल , डी. लिट. । प्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक । अनेकों समाजसेवी व शैक्षणिक सस्थाओ से सम्बद्ध, अनेक अखिल भारतीय सस्थाओं के आजीवन सदस्य । स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय मे वरिष्ठतम प्रवाचक एव प्रशासकीय विभागाध्यक्ष । चेयरमैन, स्नातकोत्तर हिन्दी सम्मिलित अध्यापन, डायरैक्टर — हिन्दी ब्रिज कोर्स प्रोजेक्ट । 4 उच्चस्तरीय ग्रन्थ एव 60 से अधिक शोध निबन्ध प्रकाशित । निर्देशन में अनेक छात्रो को पी–एच. डी. व डी. लिट. की उपाधियाँ प्राप्त । "परिनिष्ठित् हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन" शीर्षक पुस्तक उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत । सम्पर्क—अध्यक्ष — हिन्दी व भाषा विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म. प्र.) ।

मधुसूदन नरहरि देशपाण्डे

प्रख्यात कलामर्मज्ञ, पुरातत्व वेत्ता एव समीक्षक । महानिदेशक— भारतीय पुरातत्वीय सर्वेक्षण विभाग, भारत शासन । भारतीय पुरातत्व एव सस्कृति के अनेक पक्षो पर शोधकार्य । पूर्व में ताम्रलिपि से लेकर दक्षिण भारत के अनेक स्थलो का पुरातत्वीय सर्वेक्षण । उत्तर भारत के अम्बखेडी, बडगाव इत्यादि स्थलों का उत्खनन कर ताम्रपाषाण युगीन (सिंधु सभ्यता के अन्तिम कालीन अवशेषों का पुनर्जागरण । दक्खन के पीतल खीरा नामक स्थल का उत्खनन कर यक्ष परम्परा से सम्बन्धित नवीन आयामो की खोज की । अजन्ता गुफा के कला पक्ष पर शोध एव समीक्षा । अनेको शोधपत्र व निबन्ध प्रकाशित । सम्पर्क— निदेशक, भारतीय पुरातत्वीय सर्वेक्षण विभाग, जनपथ नई दिल्ली ।

यू. एन. बाच्छावत

एम. ए., एल-एल. बी. । कुशल वक्ता एव लेखक, प्रख्यात विधि वेत्ता, न्यायमूर्ति, म. प्र. उच्च न्यायालय । म. प्र. उच्चन्यायालय की इन्दौर खण्डपीठ के वरिष्ठ एव ख्यातिप्राप्त अभिभाषक रहे । भारतीय सविधान एव निर्वाचन विधि के विशेषज्ञ । सन् 1974 में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में न्यायाधीश पद पर नियुक्त । विधि के अतिरिक्त सामाजिक विज्ञानो मे विशेष रुचि । सम्पर्क—गांधी मार्ग, ग्वालियर ।

यशपाल जैन

बी. ए., एल-एल. बी.। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखक, पत्रकार, गांधीवादी विचारक। जन्म—सितम्बर 1912, अलीगढ़ (उ. प्र.)। प्रयाग विश्वविद्यालय से एल-एल. बी.। 1937 में वकालत का व्यवसाय छोड़कर पत्रकारिता जगत में प्रविष्ट। प्रसिद्ध साहित्यकार। सैकड़ों कहानियां व लेख प्रकाशित। लगभग एक सौ पुस्तकों के रचियता। सम्पादक "जीवन साहित्य"। पूर्व सम्पादक—"जीवन सुधा" "मधुकर" एवं "वीर"। मंत्री—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। अध्यक्ष—अ. भा. अणुव्रत समिति। हिन्दी भवन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं चित्रकला संगम, आदि संस्थाओं के संस्थापक सदस्य एवं पदाधिकारी। सदस्य का. का—अ. भा. 2500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव समिति। पंच महाव्रतधारी। लगभग 35 देशों की यात्रा की। सम्पर्क—7/8 दरियागंज, दिल्ली 6।
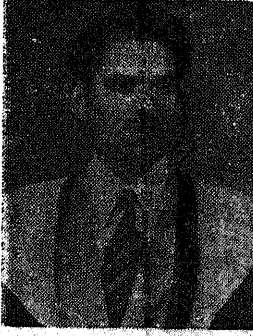
डा. राजाराम जैन

एम. ए. (हिन्दी), पी-एच. डी., शास्त्राचार्य। हिन्दी-संस्कृत व प्राकृत भाषाओं के अधिकारिक विद्वान, मूर्द्धन्य साहित्कार। सम्पादक—ज्ञानोदय (1954--55)। प्राध्यापक, हिन्दी विभाग—राजकीय महाविद्यालय, शहडोल (1955--56) एवं राजकीय प्राकृत शोध संस्थान (1956-61); संस्कृत—प्राकृत विभाग, हा. दा. जैन कालेज, आरा, मगध विश्वविद्यालय (1961 से)। अनेकों शोधनिबन्ध, लेख व पुस्तकें प्रकाशित। प्रकाशित प्रमुख पुस्तकें रईधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (पुरस्कृत), 'वड्ढमाण चरिउ', रइधू ग्रन्थावली (16 खण्डों में प्रकाश्य, 2 खण्ड प्रकाशित), वीर जिणंद चरिउ (रईधूकृत), प्राकृत ग्रन्थ संग्रह, आरामसोहाकहा, श्रमण साहित्य में वर्णित विहार की कुछ जैन तीर्थभूमियां, संस्कृत प्राकृत विषयक 5 शोध छात्रों को पी-एच. डी. हेतु निर्देशन। सम्पादक, "जैन सिद्धान्त भास्कर। "Jain Antiquary"। कर्नाटक विश्वविद्यालय में आयोजित आल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स के 28वें अधिवेशन (1976) में "प्राकृत एवं जैनिज्म विभाग" के अध्यक्ष। मगध विश्वविद्यालय द्वारा देवकुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट आरा के सन्मान्य निदेशक मनोनीत। अ. भा. शा. पुरस्कार (बड़ौत), वीर निर्वाण भारती पुरस्कार (दिल्ली) तथा वीर निर्वाण भारती स्वर्णपदक पुरस्कार प्राप्त। सम्पर्क—महाजन टोली नं 2, आरा (बिहार)।

रवीन्द्र मालव

डी एम. ई., एम. ए.(समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान), एल–एल. बी., विशारद। सशक्त लेखक एव पत्रकार, ओजस्वी वक्ता, प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता। जन्म–28 मई 1948। किशोरावस्था से ही बहुमुखी प्रतिभा के धनी। अनेको प्रतिष्ठित समाचार-पत्रो एव सवाद समितियो के प्रतिनिधि व सम्पादक रहे। फ्री लाँसर। पूर्व मा व्याख्याता—समाजशास्त्र विभाग—डॉ. भगवतसहाय स्मारक महाविद्यालय, ग्वालियर एव शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर-6। अभिभाषक—म प्र उच्च न्यायालय ग्वालियर। सदस्य महासभा, विद्या परिषद एव सामाजिक विज्ञान सकाय (1972 से) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर। जीवाजी विश्वविद्यालय की अनेको समितियो के सदस्य। अनेको स्मारिकाओ तथा जैन डाइरेक्टरी ग्वालियर, का सम्पादन। अनेको शैक्षणिक तथा समाजसेवी सस्थाओ से सम्बद्ध। अध्यक्ष, भारती विविध कला सस्थान, उपाध्यक्ष—फनकार (उर्दू साहित्य मच), महामत्री, रवीन्द्र शिक्षा समिति, सह मत्री—वीर शिक्षा समिति एव माधव पुस्तकालय, ग्वालियर। प्रवन्ध न्यासी–श्यामलाल पाण्डवीय सुकृत सेवा न्यास, ग्वालियर। न्यासी एव सदस्य का. का श्री 2500 वा भगवान महावीर स्मारक न्यास, ग्वालियर। विश्व युवक केन्द्र तथा गाधी शान्ति प्रतिष्ठान के सयुक्त तत्वावधान में "राष्ट्रीय युवा नीति" के निर्धारण हेतु आयोजित अ भा. युवक सम्मेलन, दिल्ली (1977) में प्रतिनिधि। लगभग ग्यारह शोधपत्र एवं निवन्ध तथा डेढ सौ सामयिक लेख प्रकाशित। सम्पर्क—प्रेम शान्ति भवन, फालके बाजार, ग्वालियर 474,001।

आर. एन. मिश्र

एम ए., पी-एच. डी.। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एव पुरातत्ववेत्ता। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति मे एम. ए. (1957)। सागर विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति तथा पुरातत्व विषय में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की (1968)। भारतीय उच्च अध्ययन सस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला मे डाहल और दक्षिण कौसल (म. प्र.) की मूर्तियों पर उच्च अध्ययन (मार्च 1973 से जून 1975)। 1959 से 1976 तक सागर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन। अध्यक्ष तथा प्रवाचक,प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति एवं पुरातत्व अध्ययन मण्डल एव उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष अध्ययन शाला—प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व विभाग जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर। प्रकाशित पुस्तकें—"भरहुत" (म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी), "Ancient-Artist and Art Activity" (भा. उ. अ. स.—शिमला)। प्रकाश्य पुस्तकें—भारतीय मूर्तिकला (मैकमिलन, भारत), Sculptures of Dahal & South Kosal (I. I. A. S., Simla), "Yaksha Cult and Icography (Motilal Banarsidas), लगभग चालीस शोधपत्र प्रकाशित. सम्पर्क—"ममता", वलवन्तनगर, गांधी मार्ग, ग्वालियर 5।

डा. [illegible] दुबे

एम. ए. (हिन्दी, इतिहास), पी-एच. डी., साहित्य रत्न। जन्म—1932। साहित्यरत्न परीक्षा में श्रीधर स्वर्ण पदक मोहनलाल चौबे पदक द्वारा सम्मानित। अ. भा. कला-साहित्य-संस्कृति परिषद, मथुरा द्वारा 'साहित्य मार्तण्ड' की मानद उपाधि से विभूषित। सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग—सागर विश्वविद्यालय, सागर। अनेकों शोधपत्र (130), निबन्ध (1000) सग्रह एव सम्पादित पुस्तकें (27), पुस्तिकाएँ (3) व ग्रन्थ (5) प्रकाशित। निर्देशन में दो छात्र पी-एच. डी. उपाधि से विभूषित, सात छात्र पी-एच. डी. हेतु शोधकार्यरत। प्रमुख कृतियाँ—"नवीन तथा राष्ट्रीय काव्य"। "नवीन" विषयक शोध ग्रन्थ पर म. प्र शासन द्वारा अ. भा. राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदत्त। सागर विश्वविद्यालय मे, "प्रणामी सम्प्रदाय. साहित्य तथा सिद्धान्त" विषय पर डी. लिट्. हेतु पंजीकृत। सम्पर्क—स-44 गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर 470,003।

डा. लक्ष्मीचन्द्र जैन

एम.एस-सी., डी. एच. बी., गणित के अधिकारिक विद्वान, कुशल लेखक एव प्रखर वक्ता। जैन स्कूल ऑफ मैथमैटिक्स, एस्ट्रोनामी, कास्मोलाजी एव अन्य Exact Sciences मे विशेषज्ञ। प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-गणित विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय खण्डवा (म. प्र.)। एक सौ के लगभग शोधपत्र एव निबन्ध प्रकाशित। सम्पर्क—प्राध्यापक एव विभागाध्यक्ष, गणित विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खण्डवा (म. प्र.)।

सुमति बाई शहा

राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विदुषी, प्रतिष्ठित समाजसेवी एव शिक्षाविद्। सम्पूर्ण जीवन जनसेवा तथा महिला शिक्षण एवं नारी जागरण को समर्पित। अध्यक्ष—श्राविका संस्थानगर (महिला विद्यापीठ), शोलापुर (महाराष्ट्र)। भारत शासन द्वारा "पद्मश्री" के अलंकरण से विभूषित। सम्पर्क—श्राविका संस्थानगर, बुधवार सोलापुर-2 (महाराष्ट्र)

सरदारसिंह चोरड़िया

प्रख्यात उद्योग विशेषज्ञ, प्रख्यात समाजसेवी एव कुशल वक्ता। महाप्रबन्धक, बिरला उद्योग समूह ग्वालियर। कर्मठ समाज सेवी, क्षेत्रीय तथा प्रदेश की अनेको समाजसेवी तथा औद्योगिक सस्थाओं से सम्बद्ध। ग्वालियर की अधिकाश प्रमुख समाजसेवी सस्थाओ व न्यासमण्डलो के प्रेरक, सरक्षक, उन्नायक एव पदाधिकारी। सर्वधर्म मानव मन्दिरो के प्रेरक व संस्थापक। समन्वयवादी विचारधारा से ओतप्रोत, सर्वधर्म समभाव के हामी। अध्यक्ष, श्री 2500 वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारक न्यास तथा श्री 2 00 वा भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव समिति, ग्वालियर सभाग। सदस्य महासभा—जीवाजी विश्व-विद्यालय, ग्वालियर। सम्पर्क—बिरलानगर, ग्वालियर 474,004।

पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर

शास्त्री, बी. ए, एल-एल बी, न्यायतीर्थ, विद्वत्रत्न। जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, प्रखर लेखक एव वक्ता। जन्म—8 अक्टूम्बर 1905, सिवनी (म प्र.)। 19 1 मे असहयोग आन्दोलन मे महात्मा गाधी के आव्हान पर अँग्रेजो द्वारा सचालित अँग्रेजी विद्यालय त्यागकर मुरैना के जैन गुरुकुल मे सस्कृत एव धर्म का अध्ययन प्रारम्भ किया। स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी मे न्यायतीर्थ की उपाधि प्राप्त की। बैरिस्टर चम्पतरायजी की प्रेरणा से हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी मे पुन. अध्ययन प्रारम्भ कर—बी ए एव एल एल बी की परीक्षा उत्तीर्ण की। आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारणकर सम्पूर्ण जीवन समाज एव सस्कृति की सेवा को समर्पित। अ भा दि जैन महासभा द्वारा "विद्वत्रत्न" की उपाधि से विभूषित, चरित्र चक्रवर्ती आचार्य शिरोमणि 108 योगीश्वर श्री शान्तिसागरजी महाराज द्वारा "धर्म दिवाकर" की पदवी प्रदत्त। भारत के मूडबद्री मठ के सर्वप्राचीन दिगम्बर जैन प्राकृत ग्रथराज 'महाधवल' (महाबध) को प्राप्त कर उसका सम्पादन किया। सम्पादक—कषाय पाहुड महाबन्ध, पूर्व सम्पादक—जैन गजट। टोकियो (जापान) मे आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन मे जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया। अंग्रेजी व हिन्दी मे अनेकों मौलिक ग्रन्थो के रचयिता। प्रमुख रचनाऐं—जैनशासन, चरित्र चक्रवर्ती, महाश्रमण महावीर, श्रमण—बेलगोला, सैद्धान्तिक चर्चा, चम्पापुरी सम्मेद शिखर, आध्यात्मिक ज्योति, तीर्थंकर Nudity of Jain Saints, Religion & Peace, Tirthankar Mahavira Life & Philosophy सम्पर्क—दिवाकर सदन, सिवनी (म. प्र.)

डा. सागरमल जैन

एम. ए., पी-एच. डी । जैन दर्शन के प्रखर विद्वान, प्रबुद्ध लेखक । जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा दर्शनशास्त्र मे 'जैन आचार दर्शन" विषय पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पर डाक्टरेट की उपाधि से सम्मानित । अध्ययन के मुख्य विषय—जैन एव बौद्ध दर्शन । प्राध्यापक एवं अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र विभाग, हमीदिया कला एव वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल । अनेकान्त की जीवन दृष्टि एव विविध लेख प्रकाशित । अनेकों शोधपत्र प्रकाशित । सम्पर्क—प्राध्यापक एवं अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र विभाग, हमीदिया कालेज, भोपाल ।

श्यामलाल पाण्डवीय

वयोवृद्ध स्वतन्त्रता सेनानी, लोकनेता, यशस्वी लेखक एवं पत्रकार, प्रख्यात समाजसेवी । जन्म—14 दिसम्बर 1896 मुरार (ग्वालियर) । 1917 में ग्वालियर राज्य मे सर्वप्रथम, "गल्प पत्रिका" नाम से मासिक पत्र का प्रकाशन किया । 23 वर्ष की अल्पायु में ही असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण (1920 में ब्रिटिश भारत में) दण्डित । 1921 में पाक्षिक "समय" का प्रकाशन, जो बाद मे साप्ताहिक हो गया । 1938 में अंग्रेजी साप्ताहिक State Herald का प्रकाशन किया । 1 दिसम्बर 1939 को उग्र भावनाओं के कारण बिना वारण्ट गिरफ्तारी, जेल यात्रा । सार्वजनिक सभा (ग्वालियर स्टेट कांग्रेस) के अध्यक्ष निर्वाचित (1940) । 1941 मे जेल मुक्त । सदस्य, राज्य धारासभा (1944), सम्पादक—गल्पपत्रिका, सा. समय, State Herald (w), नारद (पा.), मुनि, प्रणवीर, सा. प्रजापुकार, दै. हमारी आवाज । मध्यभारत निर्माण पर प्रथम मंत्रीमण्डल में संसदीय सचिव (1948) । द्वितीय मन्त्रिमण्डल मे मन्त्री (1949) मनोनीत; तब से मध्यभारत विलयन (1956) तक विभिन्न महत्वपूर्ण विभागों में मंत्री व मन्त्रीमण्डल के वरिष्ठ सदस्य रहे । अध्यक्ष, अ. भा. दिगम्बर जैन परिषद (1972) । अनेकों राष्ट्रीय, प्रान्तीय एव स्थानीय संस्थाओं में विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर रहे । विभिन्न विषयो पर सैकडों लेख व लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित । सम्पर्क—प्रेम शान्ती भवन, फालके बाजार, ग्वालियर 474,001 ।

शान्तीलाल जैन "मधुकर"

बी. काम. । सशक्त कवि, लेखक एवं प्रतिष्ठित समाजसेवी । अनेकों समाजसेवी संस्थाओं से सम्बद्ध, समाजसेवी कार्यों में अग्रणी वस्त्र व्यवसायी । भावात्मक कविताओं के प्रणेता । देश की अनेकों प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में लगभग डेड़ सौ काव्य रचनाएँ प्रकाशित । सम्पर्क—8 बी., आर. जी. कर रोड़, श्याम बाजार, कलकत्ता 4 ।

डा. शिवकुमार नामदेव

एम. ए., पी-एच. डी. । जन्म—30 जून 1944, शहपुरा, मण्डला (म. प्र.) । जबलपुर विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विषय में प्रथम श्रेणी में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण । जबलपुर विश्वविद्यालय से "कलचुरी मूर्तिकला का समालोचनात्मक अध्ययन" विषय पर प्रस्तुत शोध ग्रन्थ पर डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित । व्याख्याता—प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, शासकीय महाविद्यालय डिन्डोरी (मण्डला) । श्रमण (बनारस), सन्मति सन्देश (दिल्ली), जैन प्रचारक (दिल्ली) सन्मति वाणी (इन्दौर), अनेकान्त (दिल्ली), मध्य प्रदेश सन्देश (भोपाल) आदि अनेकों पत्र पत्रिकाओं में जैन एवं जैनेतर विषयों पर सौ से भी अधिक शोधपत्र एवम् निबन्ध प्रकाशित । सम्पर्क—व्याख्याता—प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, शासकीय महाविद्यालय, डिन्डोरी (मण्डला) म. प्र. ।

हरिहर निवास द्विवेदी

प्रसिद्ध इतिहासकार, विधि विशेषज्ञ, साहित्यकार, पत्रकार। अभिभाषक—उच्चतम न्यायालय। इतिहास, पुरातत्व, हिन्दी साहित्य तथा विधि सम्बन्धी विषयों पर सौ अधिक शोध ग्रन्थ, मौलिक ग्रन्थ तथा टीकाएँ प्रकाशित। सैकड़ों शोधपत्र प्रकाशित। प्रसिद्ध पुस्तकें—"मध्यभारत का इतिहास" (4 भाग), "दिल्ली के तोमर", "ग्वालियर के तोमर", "भारत की मूर्तिकला" "कीर्ति स्तम्भ", "त्रिपुरी", "तानसेन", "ग्वालियर राज्य के अभिलेख", "ग्वालियर राज्य की मूर्तिकला", "मध्यदेशी भाषा", एक लाख से अधिक मुद्रित पृष्ठों का हिन्दी एवं अंग्रेजी का विधि साहित्य। सम्पादन—"विक्रम स्मृति ग्रन्थ", भारती (मासिक) सर्वोच्च न्यायालयीन निर्णय, मंगल प्रभात (साप्ताहिक), दैनिक नवप्रभात, जबलपुर ला जर्नल, म. प्र. राजस्व निर्णय, म. प्र. वीकली नोट्स। सम्पर्क—द्वारा ला जर्नल पब्लिकेशन्स, जयेन्द्रगज, ग्वालियर 474001

डा. हुकुमचन्द्र भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ साहित्यरत्न, एम. ए., पी-एच. डी.। जैन धर्म-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, प्रबुद्ध लेखक, विचारक एवं ओजस्वी वक्ता। जन्म—बरोदास्वामी, झाँसी (उ. प्र.) आध्यात्मिक चिन्तक। तर्कसंगत एवं अद्‌भुत शैली के लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता। कुशल लेखक एवं उच्चकोटि के आध्यात्मिक निबन्धकार। अनेकों पुस्तकों के रचियता। सैकड़ों शोधपत्र एवम् निबन्ध प्रकाशित। अनेकों पुस्तकों का गुजराती, मराठी, व असमी में अनुवाद प्रकाशित। गत पांच वर्षों में आपके द्वारा रचित साढ़े चार लाख से भी अधिक पुस्तकें विक्रीत। पं. टोडरमल जी के साहित्य पर शोधकार्य में संलग्न। "पं. टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तत्व" नामक शोधप्रबन्ध पर इन्दौर विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित। संचालक—सम्प्रति पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर। कुल सचिव-श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ। प्रमुख पुस्तकें—पं. टोडरमल—व्यक्तित्व एवं कर्तत्व", 'भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ", "तीर्थंकर भगवान महावीर" सम्पर्क—पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए 4 बापू नगर, जयपुर-4 (राजस्थान)

CIMMCO

भला -

- गरीब किसानों की दशा सुधारने के लिए सीमान्त किसानों के विकास की एजेन्सी और छोटे किसानों एवं कृषि मजदूरों की एजेन्सी जैसी संस्थाओं द्वारा अनेक उपाय
- बंधुआ मजदूरी की बर्बर प्रथा की समाप्ति
- ग्रामीण कर्जों की वसूली पर रोक

और समाज के उपेक्षित वर्गों के जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक उपाय

- ग्रामीण दस्तकारों की सहायता के लिए ग्रामीण बैंक
- व्यापक ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम
- हथकरघा बुनकरों के लिए विकास योजना
- जनजातीय लोगों की जमीन की सुरक्षा और भूमिहीनों एवं निर्धनों के लिए मकान बनाने की जगह
- अनुसूचित जातियों के लिए पदों का आरक्षण 12½ से बढ़ाकर 15 प्रतिशत किया गया
- संसद और राज्य विधान सभाओं में सीटों का आरक्षण 1970 से दस वर्ष तक और बढ़ाया गया

प्रतिवेदन

जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित "महावीर स्मृति ग्रंथ" में महावीर निर्वाण वर्ष में ग्वालियर में हुए कार्यों का उल्लेख सामयिक, सराहनीय एवं अभिनन्दनीय है। इस वर्ष में सम्पन्न कार्यों एवं कार्यक्रमों में अनेकों महानुभावों का उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्वालियर में इस कार्य में समाजसेवा में अत्याधिक तत्पर श्री मिश्रीलाल जी पाटनी ने दिनांक 1-2-70 से कार्तिक वदी 30 सं. 2053 तक समिति के मंत्री रहकर सभी कार्यों में तन मन धन से पूर्ण सहयोग प्रदान किया। समिति के अध्यक्ष श्री बुधमल गंगवाल तथा कार्याध्यक्ष श्री मानिकचन्द्र जी गंगवाल रहे। समिति ने ग्वालियर संभाग के अनेक जिला एवं तहसीलों में भ्रमण कर 235 समितियां तथा कार्यसम्पादन में सहयोगार्थ उपसमितियां गठित कीं जिनमें 1200 के लगभग महानुभावों ने संलग्नता से तन मन धन से कार्य सम्पादन किया। ग्वालियर संभागीय समिति की अनुशंसा पर केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष श्री साहू शान्तीप्रसाद जैन द्वारा ग्वालियर के कर्मठ कार्यकर्ताओं को स्वर्णपदक व मानपत्र द्वारा सम्मानित किया गया।

इस महान अवसर पर लश्कर नगर में एक करोड़ रुपये के लगभग व्यय से अनेक धार्मिक कार्य हुए, ग्वालियर संभाग के अनेक नगरों में जैन समाज की ओर से जनता के लाभार्थ जैन औषधालय, वाचनालय, जैन धर्मशालाएँ, प्याऊ, बालक्रीड़ालय, प्रसूतिगृह, पुष्पवाटिकाएँ, महावीर कीर्ति स्तम्भ, नवीन जैन मंदिर निर्माण व प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार हुआ। सुगनचन्द्र पाटनी माधवगंज की ओर से लश्कर में शिवणकला शिक्षालय भी प्रारम्भ किया। अनेक स्थानों पर नैतिक शिक्षालय, महाविद्यालय व छात्रावास स्थापित हुए। जिलाध्यक्ष की अध्यक्षता में बनी अर्द्धशासकीय समिति ने महावीर भवन हेतु भूमिप्राप्ति में सहयोग किया। महोत्सवों में शासन, जिलाध्यक्ष श्री आर. के. गुप्ता, निगम आयुक्त अधिकारियों के सहयोग, जीवाजी विश्वविद्यालय द्वारा व्याख्यानमाला के आयोजन, व स्मृतिग्रन्थ के प्रकाशन में उपकुलपति श्री गोविन्द नारायण टण्डन व संयोजक श्री रवीन्द्र मालव के सहयोग हेतु समाज उनका आभारी है।

दिगम्बर जैन निर्ग्रन्थ मुनियों व संत चन्दन मुनिजी ने निरन्तर उपदेश व आशीर्वाद दिये व श्री सरदार सिंह चोरड़िया ने तन मन धन से सहयोग देकर अत्याधिक परिश्रम के साथ प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान किया। म. प्र. के भ्रमण हेतु आए धर्मचक्र में भी ग्वालियर सम्भाग से ढाई लाख रुपयों का प्रशंसनीय सहयोग दिया गया। केन्द्रीय कार्यालय को भी काफी धनराशि सहयोगार्थ भिजवाई। मिश्रीलाल पाटनी का कार्य—सहयोग प्रशंसनीय रहा।

श्री २५०० वां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव दिगम्बर जैन समिति द्वारा प्रकाशित